चौखम्बा प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१

स्वतन्त्रकलाशास्त्र

द्वितीय भाग

पाश्चात्य

लेखक

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, एम्० ओ० एल्०, शास्त्री,

अवैतनिक संचालक

अभिनवगुप्त संस्थान स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय एवं शैवदार्शनिक,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

१९७८
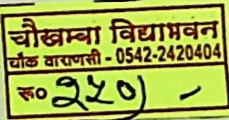
THE

CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES

1
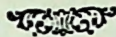
SVATANTRAKALĀ ŚĀSTRA

(Science and Philosophy of Independent Arts)

Vol. II

PĀŚCĀTYA

By

Dr. KĀNTI CHANDRA PĀNDEY,

M. A., Ph. D., D. Litt , M. O. L., Shastri.

Hony. Director,

Abhinavgupta Institute of Aesthetics and Śaiva Philosophy

Lucknow University, Lucknow (India)

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

1978

भूमिका

सोफ़िस्ट गोरजियास (प्राय: ४७० ई० पू०) और सुकरात (४६६–३६६ ई० पू०) से लेकर क्रोचे (१८६६–१६५८) तक के पाश्चात्य विचारकों के स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय सिद्धान्तों का सावधान अध्ययन करने से भारतीय स्वतन्त्र-कलाशास्त्र से सुपरिचित पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि भारतवर्ष और योरोप ने 'सुन्दर' की समस्या पर जिन विधियों से विचार किया है उनमें बहुत समानता है और इसी कारण स्वतन्त्रकलाशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन के लिए पर्याप्त अवकाश ओर क्षेत्र है।

उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करने के लिए इस ग्रन्थ में निम्नलिखित कला-सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है—अनुकृतिवाद, अनुमितिवाद, इन्द्रियसुखवाद, शिक्षकवाद, भावशोधनवाद, अध्यात्मवाद, बुद्धिप्राधान्यवाद, भावावेगप्राधान्यवाद, लोकोत्तरानुभावकतावाद, परतत्त्वानुभावकतावाद, सूक्ष्मसविकल्पगर्भितनिर्विकल्पता-वाद तथा अन्य सम्वन्धित सिद्धान्त। एक देशविशेष के विचारकों को एक साथ ही रखा गया है और प्राय: उन्हें ऐतिहासिक क्रम में ही प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक विचारक के सिद्धान्तों के परवर्त्तियों पर पड़ने वाले प्रभाव भी स्पष्ट कर दिये गये है। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में पश्चिमी विचारक या विचारकों के स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय विचारों के साथ समानविचारों वाले भारतीय चिन्तक या चिन्तकों के सिद्धान्तों की तुलना करके समानताएं प्रदर्शित की गई हैं और अन्तिम अध्याय में तुलनात्मक विवेचन का सारांश दिया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ पाश्चात्य स्वतन्त्रकलाशास्त्र की उन प्रमुख धाराओं को सम्मुख रखता है जो तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

स्वतन्त्रकलाशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही अङ्ग है और प्राय: सभी स्वतन्त्रकला-शास्त्री अपने कला सिद्धान्तों की स्थापना में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, मनोविज्ञान एवं आचारमीमांसा सम्बन्धी अपनी धारणाओं से प्रभावित हुए हैं। अत: प्रत्येक महान् विचारक के स्वतन्त्रकलासिद्धान्त की पृष्ठभूमि के रूप में उसकी दार्शनिक विचारधारा के आवश्यक अंश भी दिये गये हैं, चाहे उसने कोई नई विचारधारा चलाई हो अथवा पूर्व प्रचलित किसी विचारधारा का अनुसरण किया हो। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि उसके कला-सिद्धान्त पर उसके सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण का कहां तक प्रभाव पड़ा है।

'मूलग्रन्थ के आधार के विना कुछ भी न लिखना' यह सिद्धान्त पूर्व की भांति इस ग्रन्थ में भी दिशा-निर्देशक रहा है। पाठक को इस बात का विश्वास

दिलाने के लिए पुस्तक में समाविष्ट कथनों के आधारभूत मूलग्रन्थांशों का संकेत पादटिप्पणियों में दिया गया है। पादटिप्पणियां दो प्रकार की हैं तारांकित और अतारांकित। तारांकित टिप्पणियां संस्कृत के मूलग्रन्थांशों की सूचक हैं जिनको परिशिष्ट 'अ' में संगृहीत किया गया है और अतारांकित टिप्पणियां मूल अथवा अनूदित आंग्लग्रन्थों को सूचित करती हैं। अनेक पाश्चात्य विचारकों के मूलग्रन्थों तक मेरी पहुँच केवल उनके आंग्लानुवादों के माध्यम से ही हो सकी है क्योंकि उनके प्रणेताओं ने उन्हें जिन-जिन भाषाओं में लिखा है उन सभी का ज्ञान मुझे नहीं है। इस कमी के कारण उत्पन्न त्रुटियों को पाठक क्षमा करेंगे ऐसी मुझे आशा है।

वे दार्शनिक एवं स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय विचारधाराएँ जिनका इस पुस्तक में विवेचन किया गया है विभिन्न पाश्चात्य देशों में निकली हैं, भारतीय विचारधाराओं से कुछ अंशों में समानता रखते हुए भी अतीव भिन्न हैं और रोमन, ग्रीक, फ्रेंच, जर्मन आदि विभिन्न भाषाओं में लिखित ग्रन्थों में मुख्यत: उपलब्ध हैं। अत: इन सब भाषाओं को अच्छे प्रकार से न जानने वाले मेरे समान व्यक्ति के लिए इन विचारधाराओं का तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करना असम्भव होता यदि इनका प्रतिपादन करने वाले आवश्यक ग्रन्थों के अंग्रेजी में अनुवाद न उपलब्ध होते। प्रत्येक भाषा का शब्द भण्डार परिच्छिन्न होता है। अत: अनुवाद मूलग्रन्थ लिखित विचारों को यथावत् उपस्थित नहीं कर सकता है। फिर भी अनुवाद विभिन्न भाषागत विचारों को जानने के लिए एक महत्त्वपूर्ण एवं अकेला ही साधन है।

इन सब कठिनाइयों का सामना करते हुए मैं हिन्दी में इन विभिन्नदेशीय विचारधाराओं को उपस्थित करने का साहस हिन्दी के स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय साहित्य को समृद्ध करने की इच्छा से उत्प्रेरित होने के कारण कर रहा हूँ। और इनका अवगम सुलभ करने के लिए परिशिष्ट रूप में हिन्दी-अंग्रेजी एवं अंग्रेजी-हिन्दी शब्दावली दे रहा हूँ जिससे कि पाठक शब्दार्थ को समझने में कठिनाई आने पर उसे देखकर आसानी से आगे बढ़ सकें।

ग्रन्थ की संक्षिप्त रूपरेखा

सर्वप्रथम 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' के अर्थ पर विचार करके गोरजियास और सुकरात प्रभृति प्लेटो के पूर्ववर्ती विचारकों की स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय विचारधाराएँ दी गई हैं। तदनन्तर प्लेटो के कलाशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह बताया गया है कि उन्होंने सोफिस्ट गोरजियास के इस मत को माना था कि कला भ्रान्ति का सृजन करती है। इसी कारण से यद्यपि उनमें

उत्कृष्ट कला-सौन्दर्यबोधशक्ति थी फिर भी उन्होंने आदर्श लोकतन्त्र में कला को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए इस मत का प्रतिपादन किया था। अपनी दार्शनिक विचारधारा के अनुसार उन्होंने कला को विमर्शशून्य मानकर यह कहा कि कला मन को सशक्त नहीं करती अपितु उसे भ्रष्ट करती है। 'रिपब्लिक' ग्रन्थ में कला का यही सिद्धान्त उपस्थापित किया गया है। परन्तु उनके 'लाज़' नामक ग्रन्थ से ऐसा लगता है कि उन्होंने सुख के स्रोत के रूप में सभी कलाओं को आदर्श लोकतन्त्र में स्थान देना समुचित मान लिया था यदि उनका प्रदर्शन दृढ़तापूर्वक नियन्त्रित हो व उनका प्रयोग मनुष्यों की ऐन्द्रिय अभिलाषा की पूर्ति के लिए नहीं अपितु उनमें सौम्य आचरण की प्रवृत्ति जो बढ़ावा देने के लिए किया जाए। इसी कारण उनके मत को 'चरित्रोन्नायक इन्द्रियसुखवाद' कहते हैं।

इसके पश्चात् अरस्तू के 'दुःखान्तनाटक' सम्बन्धी अभिमत को प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि कला के प्रति प्लेटो का उपर्युक्त तिरस्कारात्मक दृष्टिकोण सर्वसामान्य को स्वीकार्य न हुआ क्योंकि कला के प्रति मानव में अत्यन्त कोमल भाव रहते हैं। अतएव अरस्तू ने एक मध्यमार्ग खोजा जिसके लिए प्लेटो ने स्वयं 'लाज़-भाग दो' में पथ प्रदर्शित कर दिया था। इस मध्यममार्ग ने कला के प्रसिद्ध 'शिक्षकवाद' का रूप ग्रहण किया। इस मत को उनकी दुःखान्त नाटक की परिभाषा के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। यह वाद इनके आचारशास्त्रीय 'अनतिरेक-सिद्धान्त' से अत्यन्त सम्बद्ध है क्योंकि इनके अनुसार दुःखान्त नाटक सामाजिक का नैतिक उत्थान करते हैं।

तदनन्तर, 'अनुकृति' के अर्थ; उपाय; विधि एवं विषय; दुःखात्मक भावों एवं कार्य का स्वरूप व मूल; तथा विपज्जनक भूल आदि पर विचार किया गया है। भावशोधन (**Katharsis**) के विभिन्न प्रकारों का ऐतिहासिक दृष्टिक्रम से उल्लेख कर प्लेटों के ग्रन्थों में प्राप्य भावशोधनवाद की परम्परा का उल्लेख किया गया है। साथ ही उन प्रभावों पर भी प्रकाश डाला गया है जिन्होंने अरस्तू के उस प्रसिद्ध भावशोधन सिद्धान्त के निर्माण में सहयोग दिया था जो दुःखात्मक प्रदर्शन के द्वारा सामाजिक पर पड़ने वाले नैतिक प्रभाव की व्याख्या करता है। अरस्तू के नाट्यरचनाविधान पर प्रकाश डालते हुए दुःखान्त नाटक का तर्कशास्त्रीय विश्लेषण गुणात्मक एवं परिमाण सम्बन्धी दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है। गुणात्मक विश्लेषण के सम्बन्ध में रङ्गसज्जा, वाक्य-विन्यास शैली, गीत, शिष्ट व्यवहार, युक्तिप्रदर्शनशक्ति, कार्य व उसकी अवस्थाएँ, कथानक, आमुख, संरक्षकराज्यवृद्धों का समूह (कोरस), इतिवृत्त, निष्क्रान्ति आदि का वर्णन किया गया है। साथ ही नाटक की कथावस्तु का अरस्तूकृत दृश्य एवं

सूच्यरूप द्विविध विभाजन तथा देश, काल व कथानक की अखण्डताओं की व्याख्या की गई है।

प्लोटाइनस के मत को उपस्थित करते हुए बताया गया है कि कलाकृति-जनित अनुभूति भावस्तर से परे लोकोत्तर स्तर की वस्तु है और ब्रह्मास्वाद सहोदर है। इस सहोदरता की व्याख्या उनके तत्त्वमीमांसाशास्त्र के आधार पर दी गई है। अरस्तू के भावशोधनसिद्धान्त से प्लोटाइनस के भावशोधनसिद्धान्त का अन्तर सूचित करके कला और परमार्थ सत् व चारित्रिक उत्थान के बीच सम्बन्धों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि न तो कला अनुकृति है और न सौन्दर्य सममिति है। कलाकृतिजनित अनुभव प्रत्यभिज्ञात्मक होता है और एक ही परमार्थ सत् बुद्धि, स्वतन्त्रेच्छा अथवा प्रेम के दृष्टिकोण से साक्षात्कृत होने के कारण सत्य, शिव अथवा सुन्दर कहा जाता है।

ईस्वी सन् के आदि काल की स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय विचारधारा का उल्लेख करते हुए सेन्ट आगस्टाइनकृत काव्य की प्रतिरक्षा, कलात्मक असत्य विषयक उनकी विशिष्ट - धारणा, कला में कुरूप का स्थान और काव्य-प्रयोजन आदि का विवरण दिया गया है। ईस्वी मध्यकाल की विचारधारा के सन्दर्भ में दिखलाया गया है कि सेन्ट थामस के अनुसार कला में आकर्षण का मूल क्या है, सौन्दर्य का लक्षण क्या है, सौन्दर्यबोधक इन्द्रियां कौन-कौन हैं और सौन्दर्यानुभूतिमें इच्छा का प्रशम किस प्रकार होता है। पुनर्जागरण काल के विचारकों के विचारों को प्रस्तुत करते हुए—'अनुकृति और कल्पना कलात्मक उत्पादन के साधन हैं', 'अनुकृति का अर्थ है अत्यन्तसाम्य', 'कला एक मानवीय उत्पादन है', 'भावावेग कला में अखण्डताजनक तत्त्व है' तथा 'कला से प्राप्त आनन्द मूलरूप से बौद्धिक होता है' इन मतों का प्रतिपादन किया गया है। ड्यूरर की कला-विषयक धारणा और फ्रैकेस्टोरो के सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धी विचार भी दिए गये हैं।

डेकार्ट के बुद्धि-प्रधान कलाशास्त्र को उपस्थि करते समय उनके कलासम्बन्धित दार्शनिक मतों का विवरण देने के पश्चात् निम्नलिखित पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है—

विभिन्न भावावेगों से सम्बन्धित शरीर के अंग, यांत्रिक प्रक्रिया, रक्त की गति, पाशविकचेतनवृत्ति व हृदय की अवस्था; भावावेग के कारणरूप में भाषा; भावावेगों का मूल व आश्रित रूप में विभाजन, उनके शारीरिक लक्षण तथा स्वेच्छाजनित व स्वयंभूत शारीरिक विकार जिनके माध्यम से उन्हें अभिव्यक्ति मिलती है, कहानी तथा कविता, मनोवृत्ति के रूप में हर्ष के ऐन्द्रिय, काल्पनिक, बौद्धिक व कलाजनित चार भेद; कलाकृतिजनित अनुभव; दुःखान्त नाटकजनित

अनुभूति, शुद्ध तथा कलाकृतिजनित हर्ष; इष्ट तथा सुन्दर एवं अनिष्ट तथा कुरूप में भेद; और अन्त में डेकार्ट के दर्शनशास्त्र का काव्यकृतियों पर प्रभाव।

ब्रिटेन के कलाशास्त्रियों के मतों के प्रतिपादन में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किए गए हैं—

(१) बेकन का मत कि कलाकार की रचनात्मक कल्पना प्रकृति को वक्रीकृत करती है।

(२) हाब्स का मत कि रचनात्मक कल्पनाशक्ति साध्य तथा साधन दोनों का साक्षात्कार करती है और केवल समानताओं को ही नहीं अपितु विषमताओं को भी खोजती है। साथ ही कला के सन्दर्भ में तादात्म्य और प्रतिभाविषयक उनकी धारणा भी दी गई है।

(३) लाक का मत कि सौन्दर्य एक मिश्रित ज्ञप्ति है जो मिश्रित प्रकार (mode) के अन्तर्गत लाई जा सकती है, 'आन्तरिक इन्द्रिय', व्यक्ति का 'एकत्व', दर्शनशास्त्र में सौन्दर्य का स्थान, सुखदछल के रूप में सौन्दर्यतत्त्व आदि से सम्बन्धित उनकी धारणायें भी स्पष्ट कर दी गई हैं।

(४) शाफ्ट्स्बरी की कलाविषयक 'युक्तिवादी उन्मुखता'।

(५) हच्सन् के 'रसिकत्व' एवं 'प्रतिमा' विषयक विचार।

(६) एडीसन् का कलाविषयक मत कि कल्पना वाह्य विषयों से रोचक ज्ञप्तियों को ग्रहण करती है, उन्हें संजोकर रखती है, उनमें से चुनाव करती है तथा चुनी हुई ज्ञप्तियों को एक अधिक आनन्ददायक पूर्णता में संयोजित करती है, कलाकृतिजनित अनुभव में आत्मविस्मृति या व्यक्तित्वपरिवर्तन संनिहित होता है और यद्यपि वह एक मिथ्या अनुभव है तथापि उसमें मिथ्यात्व का भान नहीं होता है।

(७) बर्कले का मत कि सौन्दर्य वह मूलभाव है जिसमें बुद्धितत्व का अंश वर्तमान होता है तथा सौन्दर्य का चरम स्रोत ईश्वर है।

(८) ह्यूम का युक्तिवाद के साथ समझौता, कला के प्रश्न पर विचार करते हुए उनका उपयोगितात्मक युक्तिवादी दृष्टिकोण, उनका यह मत कि सौन्दर्य सत्य नहीं है और वह सामान्यरूप न होकर विशेषरूप है; कि कलाकृतिजनित अनुभव स्वार्थशून्य व तादात्म्यजन्य है तथा यह एक सुखद भावावेग है जो विषयगत सन्तुलन एवं स्वास्थ्य सम्पन्नता से भावक में उद्भूत सहानुभूति के कारण उत्पन्न होता है।

(९) बर्क का रसिकत्व के सम्बन्ध में यह मत कि स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय निर्णय तार्किक निर्णय से भिन्न है; कलाकृति सामाजिक के हृदय को ठीक उसी रूप से प्रभावित करती है जिस रूप से प्रकृति का कोई विषय; और काव्य तथा

नाटच भावावेगों को हो प्रस्तुत करते हैं। साथ में उनकी 'भव्य' विषयक धारणा भी दी गई है।

जर्मनदेशीय स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय विचारकों में निम्नलिखित चिन्तकों के मत प्रस्तुत किये गये हैं :—

(१) लीवनीज़ का मत कि सौन्दर्य सामंजस्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है यद्यपि उसमें विरोधाभासों को अन्तर्भूत करने की क्षमता होती है; कि कलाकृति-जनित अनुभव के विभिन्न स्तर हैं और उच्चतम स्तर पर यह अनुभव कला के माध्यम से प्रतीक रूप में प्रस्तुत सामान्य सामंजस्य का अनुभव है।

(२) बामगार्टन का मत कि कलाकृतिजनित अनुभव एक स्पष्ट किन्तु अस्फुट बोध है। इसके साथ ही सैद्धान्तिक विज्ञानों के वुल्फ कृत विभाजन में एक और विज्ञान 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' (Æsthetic), जिसके नामकरण का भी प्रथम श्रेय उन्हीं को है, जोड़ने के रूप में उनका योगदान, काव्य की विषयवस्तु व उसका महत्त्व, अनुकृति के रूप में कला, सौन्दर्य व सत्य में भेद आदि विषयक उनकी धारणाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं।

(३) कान्ट के विचारों की व्याख्या में यह दिखाया गया है कि उनके मन में स्वतन्त्रकलाशास्त्र का विकास कैसे हुआ, किस प्रकार उन्होंने पूर्ववर्तियों का खण्डन किया और उनसे वे कितना आगे बढ़े। 'क्रिटीक आफ़ जजमेन्ट' की मूल समस्या, उसका समाधान, उसमें प्रयुक्त प्रविधि आदि का उल्लेख करते हुए कल्पना व बुद्धि के विभिन्न प्रकार, रुचि व प्रतिभा विषयक उनकी धारणा, कल्याणकारी व सुखदायक से सौन्दर्यपूर्ण का पृथक्करण आदि को स्पष्ट किया गया है। यह दिखाया गया है कि स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय निर्णय किस प्रकार स्वार्थवृत्तिशून्य, सर्वसामान्यरूप से प्रामाणिक एवं प्रयोजनशून्यप्रयोजनपरक होता है। अन्त में 'भव्य' विषयक उनकी धारणा दी गई है।

(४) हेगेल का मत कि कलाकृति मुख्यरूप से इन्द्रियों के अवबोध के लिए न होकर मन को प्रभावित तथा सन्तुष्ट करने के लिए होती है और इसी कारण ऐन्द्रिय विषयों के लिए होने वाली लालसा के बिना ही सामाजिक कला से सम्बद्ध हो जाता है। वह कला से उसी रूप से सम्बद्ध होता है जिस रूप से वह आत्मप्रतिबिम्बक उस विषय से जो दर्पण की भाँति आत्मजीवन के कुछ क्षणों को प्रतिबिम्बित करता है और जिसके साथ कलात्मक सम्बन्ध से उत्पन्न तोष शुद्ध आध्यात्मिक तोष होता है क्योंकि कलाकृति में संक्रान्त आत्मछाया पर ध्यान के माध्यम से स्वात्मप्रत्यभिज्ञा होती है।

हेगेल के अनुसार परतत्व की एक अवस्था के रूप में कला को प्रस्तुत करने के अनन्तर 'स्वतन्त्रकला-शास्त्र' (Æsthetics) का अर्थ, उनके दार्शनिक मत में

कला का स्थान एवं कलाकृति का प्रयोजन आदि की व्याख्या की गई है। 'अनुकृतिवाद' आदि कलाकृति के उत्पादन के सिद्धान्तों तथा 'भावशोधनवाद' 'उपदेशकवाद' आदि कलाकृति के प्रयोजन के सिद्धान्तों की आलोचना करके हेगेलकृत विविध प्रकारों में कला के वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि उन्होंने कला को विषय सामग्री के आधार पर प्रमातृनिष्ठ, प्रमेयनिष्ठ व परतत्त्वात्मक; उपादान सामग्री के आधार पर वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत व काव्य; तथा अन्तर्वस्तु एवं रूप के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर प्रतीकात्मक-शास्त्रीय व स्वच्छन्द इन विभागों में विभक्त किया है, साथ में महाकाव्य, गीत-काव्य, व नाटच रूप में उनके द्वारा किये गये काव्य का विभाजन, दुःखान्त नाटक से सम्बन्धित उनका मत एवं अरस्तू की अखण्डताओं की उनके द्वारा की गई व्याख्या भी दी गई है।

(५) शापेनहावर का मत प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि 'कलाकृति-जनित अनुभव' उस 'ज्ञप्ति' का अनुभव है जो 'इच्छाशक्ति' का अव्यवहित प्रकटरूप है तथा सभी सम्बन्धों से स्वतन्त्र है। यह अनुभव उस समय प्राप्त होता है जब 'ज्ञानशक्ति' 'इच्छाशक्ति' की सेवा से स्वतन्त्र होती है और प्रमाता भी व्यक्तित्व विधायक सभी तत्त्वों से स्वतन्त्र होता है। यह अनुभव इन्द्रियानुभवातीत है क्योंकि कला की सौन्दर्यपूर्ण कृति का बोध उस निर्विकल्प आन्तरबोध के रूप में होता है जो देश, काल, कारणता आदि बुद्धि के रूपों से स्वतन्त्र होता है। यह अनुभूति उस समय होती है जब भावक एक सुन्दर कलाकृति पर ध्यान केन्द्रित करता है, जब वह आत्मनिष्ठ व वस्तुनिष्ठ दोनों वैयक्तिकताओं से ऊपर उठकर इच्छाहीन शुद्ध आत्मरूप हो जाता है, जब वह 'कब, कहाँ, क्यों, किधर' आदि सम्बन्धों को भूलकर केवल और पूर्णतः 'क्या' पर अपने ध्यान को केन्द्रित करता है। कला के विषय के रूप में 'ज्ञप्ति' की उनकी धारणा, प्रतिभा, कल्पना, स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय मनन तथा कलानुभूति की इच्छाशून्यता आदि उनकी मान्यताएँ भी दी गई हैं।

क्रोचे के कलाशास्त्रीय अभिमत को प्रस्तुत करने में उनके द्वारा की गई हेगेल के दर्शन की, विशेष रूप से उनके ललितकला विषयक मत की आलोचना को प्रस्तुत करने के उपरान्त यह बताया गया है कि क्रोचे के अनुसार कलाजनित अनुभव प्रथम सैद्धान्तिक रूप है। अनुभविता एवं अनुभूयमान में भेद का अभाव तथा देश-काल की सीमाओं से रहित होना इसकी विशिष्टता है। यह शुद्ध प्रमातृनिष्ठ अनुभूति है जिसमें विधेयपदी सम्बन्ध तक वर्तमान नहीं होता है। बौद्धिक अंश से पूर्णतः रहित यह केवल सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प है। क्रोचे प्रतिपादित व्यावहारिक चिदात्मा के आलोक में हेमलेट के चरित्र तथा आर्थिक इच्छाशक्ति के आलोक में इयागो के चरित्र की समीक्षा की गई है। कला क्या है ? कला में आन्तरविषयवस्तु व रूप में क्या संबंध है ? तथा काल की अखण्डता का क्या स्वरूप है ? आदि प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला गया है।

अन्त में भारतीय तथा पाश्चात्य स्वतन्त्रकलाशास्त्र की संक्षिप्त तुलना करने

के लिए भारतीय नाटयरचनाविधि तथा एरिस्टाटल द्वारा प्रतिपादित यूनानी नाट्य रचना विधि की समानताओं को प्रदर्शित किया गया है। कलाकृतियों के उत्पादन के सिद्धान्त जैसे कि अनुकरण, प्रतिबिम्ब, भ्रान्ति, उत्कृष्टांशों की अनुकृति, ज्ञप्तीकरण, आविष्कृति, सत्याभासन, प्रतीकीकरण, व्यक्तीकरण आदि प्रस्तुत किये गए हैं। ध्वनि सिद्धान्त की तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से व्याख्या की गई है। इससे संबन्धित वामगार्टन एवं हेगेल आदि के मतों का उल्लेख किया गया है। यह दिखाया गया है कि भारतीय और पाश्चात्य स्वतन्त्र-कलाशास्त्रियों ने 'भाव' को काव्य अथवा नाटय से उत्पन्न अनुभूति में अवश्यंभावी तत्त्व माना है और यह कि भय की कलाकृतिजनित अनुभूति के विषय में मतभेद है। इस सम्बन्ध में लाक, एडीसन, बर्क एवं हेगेल के मत तथा उनकी आलोचना देते हुए अन्त में अभिनवगुप्त का मत दिया गया है।

❀ ❀ ❀ ❀

मैं हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान प्राध्यापक–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, डॉ० इन्द्रनाथ चौधरी आदि का : पत्र एवं पत्रिकाओं—स्वतन्त्र भारत, धर्मयुग, आजकल, परिषद्-पत्रिका आदि का जिनके स्वतन्त्रकलाशास्त्र भाग १ भारतीय पर लिखित मतों एवं समीक्षाओं ने स्वतन्त्रकलाशास्त्र की ओर इस विषय में रुचि रखने वाले सहृदयों का ध्यान आकृष्ट किया : उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति, पुरस्कार विभाग, का जिसने मुझे स्वतन्त्रकलाशास्त्र प्रथम भाग भारतीय के प्रकाशन पर पुरस्कार देकर हिन्दी में लिखने का मेरा उत्साह बढ़ाया तथा द्वितीय भाग, पाश्चात्य, लिखने के लिए मुझे उत्प्रेरित किया : विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, उत्तर प्रदेश सरकार और लखनऊ विश्वविद्यालय का जिनकी अतिवांछित सहायता से अभिनवगुप्त संस्थान स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय एवं शैवदार्शनिक स्थापित हुआ और इस प्रकार से चल रहा है कि इसमें किये गये अनुसन्धानों के फलों को एक ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित करना सम्भव हो सका है : श्री आदित्य प्रकाश मिश्र एम० ए० और श्रीमती लीला पाण्डेय बी० ए० का जिनके एतद्विषयक अनुसन्धान कार्य में अथक निःस्वार्थ परिश्रम के बिना इस ग्रन्थ का पूरा होना सम्भव न था, मैं अतीव आभारी हूँ।

इस अभिनवगुप्त-संस्थान ग्रन्थमाला के पुष्प तीन भाषाओं—अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत में होंगे। प्रथम पुष्प "कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स" द्वितीय भाग, वेस्टर्न, इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है। मुझे बड़ा हर्ष है कि हिन्दी प्रेमी स्वतंत्रकला-शास्त्र में रुचि रखने वाले सहृदयों के समक्ष इस द्वितीय पुष्प को जिसमें पाश्चात्य स्वतंत्रकलाशास्त्र चिन्तकों की विचारधाराओं का वर्णन किया गया है, उपस्थित करने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है।

सी–६६ बी निरालानगर,
लखनऊ
दीपावली, सं० २०२६

कान्तिचन्द्र पाण्डेय

संकेत-सूची

इन्जे : डब्लू० आर० इन्जे : दि फिलासफी आफ प्लोटाइनस् (लांगमैन्स् ग्रीन एण्ड कं० १९२३)

ईओन : ईओन : वर्क्स आफ प्लेटो : बी० जावेट द्वारा अनूदित (टयूडर पब्लिशिंग कं० न्यूयार्क)

ई० प्र० वि० : ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (काश्मीर संस्कृत सिरीज)

ई० प्र० वि० वि० : ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी (काश्मीर संस्कृत सिरीज)

एडी० : दि वर्क्स आफ् जोजेफ एडीसन, भाग ३ (लन्दन, हेनरी जी० वोन १८५६)

एन्० क्ला० ड्रा० : एन्सियन्ट क्लासिकल ड्रामा : रिचर्ड डी० मोल्टन (आक्सफोर्ड क्लेरण्डन प्रेस (१८९८)

एपो० : एपोलोजी : वर्क्स आफ् प्लेटो : बी० जावेट द्वारा अनूदित ।

ओइडि० : ओइडिपस, दि किंग : सोफ़ोक्लिज : दि ट्रेजेडीज़ आफ् सोफ़ो क्लिज : रिचर्ड सी० जेव द्वारा अनूदित ।

कम्० ईस० : कम्पेरेटिव ईस्थेटिक्स् : डा० के० सी० पाण्डेय (चौखम्वा प्रकाशन बनारस)

क० हे० इ० : कल्चरल हेरिटेज आफ् इण्डिया (श्री रामकृष्ण शताब्दी स्मारिका)

का० प्र० : काव्यप्रकाश (कलकत्ता १८८६)

कास० या कैस० : एच्० डब्लू० कासिरर : ए कमेन्ट्री आन कान्ट्स् क्रिटीक आफ् जजमेन्ट (लन्दन, मैथ्यू एण्ड कं० लि० १९३८)

केम्० स्मि० या कैम्० स्मि० : कैम्० स्मिथ : ए कमेन्टरी टु कान्ट्स् क्रिटीक आफ् प्योर रीज़न (मैकमिलन एण्ड कं० लि०)

को० अथवा क्रोचे : वेनिडेट्टो क्रोचे : एस्थेटिक्स् : डगलस एंस्ली द्वारा अनूदित (मैकमिलन एण्ड कं० लि० १९२२)

गिल० : गिल्बर्ट तथा कुन : ए हिस्ट्री आफ् एस्थेटिक्स् (न्यूयार्क : मैकमिलन कं० १९३७)

ग्रा० : एलेग्ज़ेन्डर ग्रान्ट : दि एथिक्स् आफ् अरिस्टाटल (लन्दन, लांगमैन्स, ग्रीन ऐन्ड कं० १८७४)

डि० एनी० या डी० एनी० : डी० एनिमा : एरिस्टाटल : आर० डी० हिक्स द्वारा अनूदित (कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस १९०७)

डिमी० स्टा० : डिमीट्रिअस आन स्टाइल : टी० ए० माक्सन सम्पादित (१९४१)

तं० लो० : तन्त्रालोक (काश्मीर संस्कृत सिरीज)

थिली० : फ्रैंक थिली : ए हिस्ट्री आफ् फिलासफी (हेनरी होल्ट एण्ड कं०, न्यूपार्क, १९२३)

द० रू० : दशरूपक (निर्णयसागर १९१७)

ध्व० लो० : ध्वन्यालोक (निर्णय सागर प्रेस १९२४ या चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १९४०)

नाक्स : इज़राइल नाक्स : दि एस्थेटिक थियोरीज़ आफ् कान्ट, हेगेल एण्ड शापेनहावर (कोलम्विया युनिवर्सिटी प्रेस १९३६)

ना० शा० : नाटयशास्त्र (चौखम्वा वनारस १९२९)

पीट० : निकोमैशिअन एथिक्स् आफ् एरिस्टाटल : एफ्० एच्० पीटर्स द्वारा अनूदित (केगनपाल, ट्रेंच ट्रून्नर एण्ड कं० १८८६)

पेट० : एच्० ए० जी० पेटन : कान्ट्स् मेटाफिजिक्स आफ् एक्स्पीरियन्स (जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि० १९३७)

पोय० : पोयटिक्स् : एरिस्टाटल : थियोडोर बक्ले द्वारा अनूदित (जार्ज वेल एण्ड सन्स १८८८)

प्रिच० या प्रि० : एच्० ए० प्रिचर्ड : कान्ट्स थियोरी आफ् नालेज (आक्सफोर्ड क्लेरन्डन प्रेस, १९०९)

फि० ई० वे० : हिस्ट्री आफ् फिलासफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न (जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि० १९५३)

फिल० आ० या फिला० आ० : हेगेल : फिलासफी आफ् फाइन आर्ट : एफ्० पी० बी० आस्मैस्टन द्वारा अनूदित (जी० वेल० एण्ड सन्स लि० १९२०)

फिला० रा० : फिलासफी आफ् राइट : हेगेल : एस्० डब्लू० डाइड द्वारा अनूदित (जार्ज वेल एण्ड सन्स १८९६)

फिला हे० : ह्वाट इज़ लिविंग एण्ड ह्वाट इज़ डेड इन दि फिलासफी आफ् हेगेल : क्रोचे : डगलस ऐंस्ली द्वारा अनूदित (मैकमिलन एण्ड कं० लि० १९१५)

फुल० : फुलर : ए हिस्ट्री आफ् फिलासफी (न्यूयार्क, हेनरी होल्ट एण्ड कं० १६३८)

फेडो० : फेडो : वर्क्स श्राफ् प्लेटो : बी० जावेट द्वारा अनूदित (टयूडर पब्लिशिंग कं०)

फेड्र० : फेड्रस : वर्क्स आफ् प्लेटो : बी० जावेट द्वारा अनूदित (टयूडर पब्लिशिंग कं०)

फ्रा० : दि फ्राग्स : अरिस्टोफ़ेन्स : प्लेज़ आफ् अरिस्टोफ़ेंस भाग २ : जे० हूखम् द्वारा अनूदित (लन्दन : जे० एम्० डेन्ट एण्ड सन्स लि० न्यूयार्क; ई० पी० डटन एण्ड कं० लि० इन्क० १६३८)

बर० : कान्ट : क्रिटीक आफ् जज्मेन्ट : बर्नार्ड द्वारा अनूदित (मैकमिलन एण्ड कं० लन्दन १८६२)

बर्क० : दि वर्क्स आफ् एडमन्ड बर्क : जज् विलिस की भूमिका के साथ

बु० आर्ट० : बुद्धिस्ट आर्ट : एम्० अनेसाकी (लन्दन, जान मरे. अल्बे-मार्लि स्ट्रेट वे १६१६)

बोसा० या बोसान् : बोसाँ के : हिस्ट्री आफ् एस्थेटिक्स् (लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि० १६२२)

भा० : भास्करी : डा० के सी० पाण्डेय (सरस्वती भवन संस्कृत सिरीज, बनारस १६३८–५४)

मिक० : हेगेल एण्ड सी० एल्० मिकेलेट : दि फिलासफी आफ् आर्ट : एन इन्ट्रोडक्शन टु साइन्टिफिक स्टडी आफ् एस्थेटिक्स, डब्लू हेस्टी बी० डी० द्वारा अनूदित

मेम० : मेमोराबिलिआ आफ् साक्रेटीस् : क्सनोफान (लन्दन, जार्ज बेल एण्ड सन्स १८८७)

मैक्स० मू० या मै० मू० : कान्ट : क्रिटीक आफ् प्योर रीज़न : मैक्समूलर द्वारा अनूदित (मैकमिलन एण्ड कं० लन्दन १६०७)

याज्ञ० : याज्ञवल्क्यस्मृति (निर्णय सागर प्रेस १६२६)

यूएबर० : यूएबरबेग : हिस्ट्री आफ् फिलासफी (होडर एण्ड स्टाउटान लन्दन १८७२)

रास : डब्लू० डी० रासः एरिस्टाटल् (मैथ्यून् एण्ड कं० लि० लन्दन १६२३)

रि० या रिप० : रिपब्लिक : प्लेटो : बी जावेट द्वारा अनूदित

रिटा० : रिटारिक : एरिस्टाटल : थ्योडोर वक्ले द्वारा अनूदित (जार्ज वेल एण्ड सन्स् १८८८)

लाज् : वर्क्स आफ् प्लेटो : जार्ज वर्गिस् द्वारा अनूदित भाग ५

व० जी० : वक्रोक्तिजीवित (कलकत्ता १९२८)

व० वि० आ० : वर्ल्ड ऐज् विल एण्ड आइडिआ : शापेनहावर : आर० बी० हाल्डेन और जान केम्प द्वारा अनूदित (लन्दन : केगन पाल, ट्रेंच ट्रूब्नर एण्ड कं० लि० १८९१)

वा० प० : वाक्यपदीय (चौखम्बा बनारस)

वि० धर्मो० : विष्णुधर्मोत्तर (वेंकटेश्वर १९१२)

वैं० या वेले : हेगेल : फिलासफी आफ् माइन्ड : विलियम वैलेस द्वारा अनूदित (आक्सफोर्ड, क्लैरेन्डन प्रेस १८९४)

साइकी : साइकी : एर्विन रोड (केगनपाल, ट्रेंच ट्रूब्नर एण्ड कं० लि० १९२५)

सिम्पो० : सिम्पोजियम : वर्क्स आफ प्लेटो : बी० जावेट द्वारा अनूदित (एक जिल्द में)

स्टा० या स्टे० : डब्लू० टी० स्टास : दि फिलासफी आफ् हेगेल (मैकमिलन एण्ड कं० लि० १९२४)

स्व० क० शा० : स्वतन्त्रकलाशास्त्र : डा० के० सी० पाण्डेय : प्रथम भाग चौखम्बा, वाराणसी

विषय-सूची

अध्याय ३

'कला को लोक चरित्र का उन्नायक होना चाहिए'

एरिस्टाटल का कलाविषयक सिद्धान्त

एरिस्टाटल का महत्त्व

अध्याय ४

नाटक का रचना-विधान

अध्याय ५

स्वतन्त्रकलाशास्त्र के प्रसंग में प्लोटाइनस् का अध्यात्मवाद (Mysticism)

अध्याय ६

ईशवीय संवत्सर के आदि काल, मध्यकाल के युगों एवं पुनर्जागरण काल में स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय विचारधाराएँ

अध्याय ७

डेकार्ट का बुद्धिप्रधान कलाशास्त्र (Intellectualistic Æsthetics)

डेकार्ट के दर्शनशास्त्र पर अन्य मतों के प्रभाव

अध्याय ८

ब्रिटेन के कलाशास्त्रीय दार्शनिक

अध्याय ९

जर्मनी में स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय विचारधाराएँ

अध्याय १०

कान्ट का लोकोत्तरीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र

अध्याय ११

हेगेल का परतत्ववादी कलाशास्त्र

(Absolutistic Aesthetics of Hegel)

अध्याय १२

शोपनहावर का स्वातन्त्र्यवादाश्रित स्वतन्त्र कलाशास्त्र

अध्याय १३

क्रोचे का सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पवादी (Intitive) स्वतन्त्रकलाशास्त्र

अध्याय १४

भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र तथा पाश्चात्य स्वतन्त्रकलाशास्त्र की संक्षिप्त तुलना

स्वतन्त्रकलाशास्त्र

द्वितीय भाग

(पाश्चात्य)

अध्याय १

प्लेटो के स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय सिद्धान्तों की भूमिका

१. विषयप्रवेश : स्वतन्त्रकलाशास्त्र का क्षेत्र

अंग्रेजी भाषा में एस्थिटिक्स शब्द यूनानी भाषा से लिया गया है। यूनानी भाषा में मूल शब्द 'एस्थिटिकोस (αἰσθητικός) है। इस शब्द का अर्थ है 'इन्द्रिय गोचर वस्तुओं से सम्बन्धित' अर्थात् अभौतिक मनोमात्रग्राह्य वस्तुओं से भिन्न उन भौतिक वस्तुओं से सबन्धित जिनका ज्ञान हमको इन्द्रियों से हो सकता है। 'एस्थिटिक्स' शब्द 'एस्थिटिक' शब्द का बहुवचन रूप है जिसका प्रयोग समुदायवाची एकवचन के रूप में करते हैं। सर्वप्रथम बामगार्टेन ने 'एस्थिटिक' शब्द के एकवचन रूप का व्यवहार डाक्टरेट के लिए लिखे गए अपने गवेषणात्मक ग्रन्थ में एक 'विशेष विज्ञान' के अर्थ में किया था। सन् १७५० ई० में उन्होंने एक बृहद् ग्रन्थ की रचना की जिसका शीर्षक 'एस्थिटिका' था। बामगार्टेन के मतानुसार 'एस्थिटिक' केवल 'संवेदनारूप—ज्ञानविषयक विज्ञान'[1] था। अथवा वह विज्ञान था जिसके अन्वेषण का विषय 'अस्फुट ज्ञान का अस्फुट रूप' अर्थात् 'संवेदनारूप ज्ञान' अतएव, 'शब्दों[2] में पर्य्याप्त रूप से अप्रकटनीय ज्ञान' था।

हेगेल के मतानुसार 'एस्थिटिक' शब्द का अर्थ 'ललित कलाओं का दर्शन' है। लोक-प्रचलित रूप में इस शब्द का अर्थ सामान्यरूप सौन्दर्यविषयक मत है—चाहे वह सौन्दर्य कलागत हो, चाहे प्रकृतिगत हो। जैसा कि हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में कह आए हैं भारतीय मत के अनुसार एस्थिटिक्स का अर्थ 'स्वतन्त्र कलाओं का दर्शन और विज्ञान' मात्र है। (१) 'स्वतन्त्र कलाओं का विज्ञान' इसलिए कहते हैं क्योंकि कला की समस्या आरम्भ में

---

१. क्रो० २१२।   २. फिं० ई० वे०, भा० १,४७२।

मूल रूप से 'कला कृति' के रचना—विधान की समस्या थी। जिन ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय 'कला' का दार्शनिक विवेचन है उनमें मुख्य रूप से कला के रचना-विधान की ही चर्चा की गई है और दार्शनिक विवेचन का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। (२) 'स्वतन्त्र कलाओं का दर्शन' इसलिए कहते हैं क्योंकि कला से जो अनुभव सहृदय को प्राप्त होता है उसकी व्याख्या भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों के विभिन्न मतों के आधार पर की गई है। इसका अन्य कारण यह भी है कि काव्य, संगीत एवं वास्तु तीन कलाओं के प्रामाणिक आचार्यों ने यह माना है कि उपर्युक्त कलायें उनसे प्रतिपादित परब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करती हैं। इस प्रकार से कला-दर्शन के तीन सिद्धान्त-सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ (अ) रसब्रह्मवाद, (आ) नादब्रह्मवाद एवं (इ) वास्तुब्रह्मवाद। (३) इस प्रसंग में स्वतन्त्रकला शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया है क्योंकि प्रतिपाद्यमान सिद्धान्त के अनुसार स्वतन्त्रकलाओं का एक निजी स्वतन्त्र महत्व है जिसके कारण इनकी कृतियों से ऐसा अनुभव प्राप्त होता है जो प्रकृतिगत किसी भी वस्तु से उस समय तक प्राप्त नहीं है जब तक कि उसको कला के स्वरूप में न देखा जाय और क्योंकि उपयोगिनी अथवा यांत्रिक कलाएँ स्वतन्त्रकलाओं से भिन्न हैं एवं दार्शनिक विवेचना की विषय-वस्तु केवल स्वतन्त्रकलाएँ ही हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में सामान्यतः इस शब्द का व्यवहार हम उपर्युक्त अर्थों में से अन्तिम अर्थ में ही कर रहे हैं क्योंकि 'सौन्दर्य' विषयक हमारी विवेचना केवल दार्शनिक दृष्टिकोण से ही नहीं है वरन् रचना-विधान के दृष्टिकोण से भी है। परन्तु इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिन लेखकों की चर्चा हमने इस ग्रन्थ में की है उनमें से कुछ शास्त्रकार सौन्दर्य–विषयक अपनी व्याख्या में केवल स्वतंत्रकलाओं का ही उल्लेख नहीं करते वरन् उपयोगिनी कलाओं का भी उल्लेख करते हैं। उदाहरण स्वरूप साक्रेटीज ने अपने वरिष्ठानुकृति के सिद्धान्त (Theory of selective imitation) की चर्चा केवल चित्रकार पर्हसीयस और मूर्तिरचनाकार क्लीटो से ही वार्तालाप करते हुए नहीं की है वरन् वस्त्रों की रचना करने वाले पिरिट्यास से भी की है। एडिसन का मत यह है कि कल्पनाजनित सुख (pleasure of imagination) कलाकृति तथा प्रकृति दोनों से सम्भव है। कान्ट ने 'सुन्दर' और 'भव्य' (sublime) के भेद को स्वीकार किया है और प्रकृतिजन्य दृश्य वस्तुओं का भव्यता के दृष्टान्तों के रूपों में उल्लेख किया है। वर्तमान संदर्भ

में एस्थिटिक्स शब्द का निम्नलिखित अर्थ अधिक सुष्ठु और विषयानुकूल मालूम पड़ता है :—वह विज्ञान एवं दर्शन जिसका प्रतिपाद्य विषय कलाकृतिगत और प्रकृतिगत 'सौन्दर्य्य' तथा भव्यता है ।

स्वतन्त्रकलाशास्त्रविषयक विभिन्न सिद्धान्त

स्वतन्त्रकलाशास्त्र के इतिहासकारों को इस शास्त्र के जो विभिन्न सिद्धान्त ज्ञात हैं उनका प्रतिपादन विभिन्न समयों में विभिन्न चिन्तकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से 'सौन्दर्य्य' के अध्ययन के आधार पर किया है । कलाविषयक प्राचीनतम सिद्धान्त—(अ) कला इन्द्रिय-सुख का साधन है (आ) कला दृढ़ नियन्त्रित चरित्रोन्नायक इन्द्रियसुख का साधन है (Rigoristic Hedonism) (इ) कला का लक्ष्य उपदेश देना अथवा चरित्र का उन्नयन है—कला के लक्ष्य के दृष्टिकोण से अर्थात् कलाकृति के उद्देश्य के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किए गए हैं । इसी प्रकार से कलाकार के दृष्टिकोण से (अ) अनुकृति (आ) भ्रान्ति एवं (इ) आदर्शीकृत का प्रतिनिरूपण (Idealized reproduction) के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । इन सिद्धान्तों से यह ज्ञात होता है कि कलाकार अन्तःप्रेरक वस्तु को कलाकृति में प्रतिनिरूपित करने के लिए क्या करता है । (अ) अस्फुटज्ञान (Confused cognition) (आ) अनुमान तथा (इ) अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन दर्शक के दृष्टिकोण से किया गया है । इन सिद्धान्तों से यह ज्ञात होता है कि दर्शक में कलाजनित बोध का स्वरूप क्या है । और बोध के उन साधनों अथवा प्रमाणों को ये सिद्धान्त स्पष्ट करते हैं जिनका उपयोग कलाजनित अनुभव को प्राप्त करने में किया जाता है ।

पाश्चात्य देशों में उपर्युक्त सिद्धान्तों की स्थापना वास्तु, मूर्त्ति, चित्र, संगीत, काव्य एवं नाट्य कलाओं के आधार पर करते हैं । परन्तु भारतवर्ष में इन्ही के समान सिद्धान्तों की स्थापना प्रधान रूप से नाट्यकला के आधार पर की गई है । वस्तुतः कलासिद्धान्तविषयक प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के लेखक भरतमुनि ने अन्य सब कलाओं को नाट्यकला के अधीन माना है । वे यह कहते हैं कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं, ऐसा कोई शिल्प नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, ऐसी कोई कला नहीं, ऐसा कोई योग नहीं और ऐसा कोई कर्म नहीं जिसका उपयोग किसी न किसी अवसर[1] पर नाट्य—प्रदर्शन में न किया

---

१. ना० शा०—९

जाता हो। परन्तु (अ) संगीत तथा (आ) वास्तु कलाओं के शास्त्रकारों ने यह प्रतिपादित किया है कि कलाजनित अनुभव को उत्पन्न करने में उपर्युक्त दो कलाएँ स्वतन्त्र हैं। फिर भी संगीत एवं वास्तु कलाविषयक ग्रन्थों में जो कला के भाव–पक्ष (Emotive aspect) की व्याख्या की गई है उस पर भरतप्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रभाव देखा जा सकता है।

हेगेल ने अपने ग्रन्थ 'फिलासफी आफ फाइन आर्ट' में मूर्त्तिरचनाकला और चित्रांकनकला को स्वतन्त्र कलाएँ माना है। परन्तु भारतीय कलाशास्त्र के प्रतिपादक यह स्वीकार नहीं करते। वे उनको वास्तुकला के अधीन मानते हैं। अतएव भारतीय दृष्टिकोण से स्वतन्त्रकलाओं की संख्या तीन है जब कि हेगेल के मतानुसार स्वतन्त्रकलाओं की संख्या पांच है।

धर्म और कला

धर्म और कला में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। हेगेल का मत भी यही है। क्योंकि उनके मतानुसार परतत्व (Absolute spirit) के त्रिकात्मक अन्तिम प्रकटीकरण में तार्किक दृष्टिकोण से कला धर्म की पूर्ववर्तिनी है। कला भावधर्मी (Thesis) है, धर्म प्रतिभावधर्मी (Antithesis) है और दर्शनशास्त्र समभावधर्मी (Synthesis) है।

यह सम्भव है कि उपर्युक्त त्रिक के अंशों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में मतभेद हो जैसे कि कला और धर्म के परस्पर सम्बन्ध के विषय में क्रोचे का हेगेल से मतभेद है। क्रोचे यह नहीं मानते कि एक त्रिक में कला भावधर्मी (Thesis) है तथा धर्म प्रतिभावधर्मी (Antithesis) है। परन्तु ऐसा लगता है कि धर्म के देवता प्राकृतिक वस्तुओं के कलापूर्ण प्रतिरूप हैं। भारतवर्ष की भूमि पर उत्पन्न धर्मों के विषय में यह सिद्धान्त निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। वेदों में हम यह देखते हैं कि प्राकृतिक वस्तुओं के कलापूर्ण प्रतिरूपों को ही देवता माना गया है। इन्हीं देवताओं को धार्मिक रूप में उपास्य भी मानते हैं। ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों में ज्योतिर्मान सूर्य, रात्रि के आकाश में ज्योत्स्नापूर्ण चन्द्रमा, चूल्हे और वेदी पर जलती हुई अग्नि और यहाँ तक कि मेघों से चमकती हुई सौदामिनी, दिवस का प्रकाशपूर्ण आकाश अथवा रात का नक्षत्रों से भरा हुआ व्योम, गरजती हुई आंधियाँ, सरिताओं में प्रवाहमान जल, प्रकाशमान उषा एवं फलों से परिपूर्ण भूमि को सम्बोधित किया गया है। इन सब प्राकृतिक वस्तुओं को उन्हीं के रूपों में

प्रतिष्ठित किया गया है, उनकी पूजा की गई है और स्तुतियों में उनका आह्वान किया गया है। परन्तु स्वयं ऋग्वेद के ही सूक्तों में समय बीतने के साथ-साथ इन प्राकृतिक वस्तुओं को देवकथाओं (Mythology) के पात्रों (देव और देवी) के रूप में प्रकट किया जाने लगा, जैसे सूर्य, सोम (चन्द्रमा), अग्नि, द्यौ (आकाश), मरुत् (आंधी), वायु, आपस् (जल), उपस् और पृथ्वी। देवताओं के इन नामों से ही यह स्पष्टरूप में ज्ञात हो जाता है कि अपने मूल रूप में ये देवता कौन सी प्राकृतिक वस्तु थे। अतएव ऋग्वेद के सूक्त निर्विवाद रूप से यह सिद्ध करते हैं कि देवकथाओं के प्रधानतम पात्रों का जन्म प्रकृति की अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं का मानुषीकरण (Personification) करने से हुआ था।

मानव जाति में अनुकरण करने की शक्ति जन्मजात है। मानव जाति से की गई प्रगति का अधिकांश भाग उसकी इसी शक्ति के कारण सम्भव हो सका है। हम उन बालकों की कहानियाँ सुनते हैं जिनका पालन-पोषण भेड़ियों ने किया था। इन बालकों का विकास पशुत्व के तल से अधिक नहीं हो सका था। इसका कारण केवल यह था कि उनके पास कोई अनुकरणीय वस्तु नहीं थी जिससे कि वे विलक्षण मानवीय क्रियाएँ जैसे पैरों के बल चलना और बोलना सीख जाते।

जब मानव जाति का और भी अधिक विकास होता है और वह वनवासियों की दशा को छोड़कर संस्कृति के प्रथम उन्मेष में प्रवेश करती है तो उसका ध्यान उच्चतर शक्तियों की ओर आकृष्ट होता है और वह देवताओं में विश्वास करने लगती है। परन्तु विकास की इस दशा में भी उसके जीवन का दृष्टिकोण आध्यात्मिक (Spiritual) नहीं हो सकता इसलिए परोक्ष शक्तियों पर उसका विश्वास भी नहीं जमता। यही कारण है कि इस युग के देवता जिनसे वह प्रेम करती है, भयभीत होती है और जिनकी वह पूजा करती है वे परोक्ष शक्तियों के रूप में नहीं होते। भारत में वैदिक धर्म के प्राचीनतम काल में ये देवता प्रत्यक्ष प्राकृतिक वस्तु रूप थे। यूनानी भी यही विश्वास करते थे कि देवता विशिष्ट गुणों और रूपों से युक्त होते हैं और वे किसी विशेष पर्वत पर अथवा किसी विशेष मन्दिर में निवास करते हैं। ये देवता जिन पर प्रसन्न होते थे उनको अपना सम्पूर्ण सौन्दर्यशाली रूप प्रत्यक्षतः दिखाते थे। जिनसे ये देवता अप्रसन्न हो जाते थे उनको ये अपना भयङ्कर रूप प्रदर्शित करते थे। क्योंकि देवताओं के विषय में ऐसा ही वर्णन

होमर तथा हेसिओद[1] ने किया है। प्रसिद्ध इतिहासकार हिरोडोटस के मत के अनुसार ये ही दो व्यक्ति थे जिन्होंने यूनानियों के धार्मिक विश्वासपात्र देवताओं के स्वरूप और गुणों को निर्धारित किया था।

मानव-जाति की प्रगति के साथ-साथ ज्यों-ज्यों उसकी अनुकरण करने की शक्ति परिपुष्ट होती गई त्यों-त्यों इस परिपुष्ट शक्ति को प्रयुक्त करने के लिए साधन रूप में उसको वह मिट्टी मिली जो सर्वत्र सुलभ एवं अनुकृतिमूलक प्रतिमाओं की रचना करने में अत्यन्त नम्य पदार्थ थी और अनुकरण करने के लिए सर्वाधिक उत्तम वस्तु उसको देवता ही मिले।

इससे इस बात का कारण स्पष्ट होता है कि क्यों यूनानी सभ्यता के प्रभातकाल में (गीली मिट्टी से बनाई गई) मूर्त्तिकला का जन्म हुआ और क्यों होमर से कल्पित देवों को अनुकृति का विषय माना गया। यह कला प्रतीकात्मक नहीं थी। इसका विषय किसी इन्द्रियागोचर पदार्थ के स्वरूप का निरूपण नहीं था। अतएव इसके विषय को प्रतिरूपित करना कठिन न था। यह भलीभाँति पूर्व निश्चित रूपों का अनुकरण मात्र ही थी।

भारत में भी कला और धर्म के घनिष्ठ सम्बन्धों के उदाहरण कम नहीं हैं। परन्तु यह निश्चित है कि इस प्रकार की कृतियों को गीली मिट्टी से न बना कर तक्षण कला से उनका निर्माण किया गया है। महात्मा बुद्ध ने इस साध्य की घोषणा की थी कि लोग अपने आध्यात्मिक अनुभव तथा नैतिक व्यवहारों के साधनों से मनुष्य एवं प्रकृति में व्याप्त जीवन की निरन्तरता और सभी मनुष्यों तथा जीवों में मैत्री (सहृदयता) का अनुभव करें। उनके अनुयायियों में उनकी पुण्य स्मृति के कारण बौद्ध-कला की कृतियों की प्रथम अन्तःप्रेरणा उत्पन्न हुई थी।

प्राचीनतम बौद्ध मूर्त्तियाँ सम्भवतः वे हैं जो भरहुत, बुद्धगया और सांची में भित्तिप्रस्तरों में खोद कर बनाई गई हैं। इन प्रस्तर चित्रों में अधिकांश रूपों में बौद्ध धर्म के अनुयायियों की सभा को महात्मा बुद्ध के सामने अंकित किया गया है। इस सभा के मध्य भाग में महात्मा बुद्ध को सदैव प्रतीकात्मक रूप[2] में अंकित करते हैं जैसे कि महात्मा बुद्ध से प्रकट किए गए शाश्वत सत्य के प्रतीक स्वरूप धर्मचक्र अथवा एक मूर्त्तिहीन आसन जिस पर महात्मा बुद्ध

---

१. बोसान०—११ २. बु० आर्ट० ११

बैठा करते थे अथवा बोधिवृक्ष जिसके नीचे बैठकर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था।

यदि हम आर्यसभ्यतापूर्व भारत की उस सभ्यता पर एक दृष्टि डालें जिसके भग्नावशेष हमको मोहेंजोदड़ों में प्राप्त होते हैं तो भी हमको कला और धर्म में उपर्युक्त घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होता है। इन भग्नावशेषों में हमको ३००० वर्ष ईसा पूर्व वर्तमान धार्मिक संस्कृति के चिह्न मिलते हैं। इन भग्नावशेषों में हमको मिट्टी की मूर्तियाँ[1] मिली हैं जिनमें मातृदेवी, लिंग तथा एक पुरुष देवता की मूर्ति है जिसको शिव मानते हैं।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि मानवजाति के इतिहास के आदिकाल में ही धर्म और कला ऐसे दो तत्त्व हैं जो परस्पर अनिवार्य रूप में सम्बन्धित हैं। धार्मिक विश्वास को अनिवार्य रूप से कला में प्रकट किया गया है और कला ने अपनी चरम सफलता की आन्तर प्रेरणा (Inspiration) धर्म से प्राप्त की है। इसके साथ यह भी स्पष्ट है कि सर्वाधिक प्राचीन कलाकृतियां अनुकृति-मूलक ही हैं।

कला में अनुकृति का सिद्धान्त

गत उपप्रकरण में हम यह कह आए हैं कि अत्यन्त प्राचीन समय में कलाकृति की रचना में कलाकार जिस सिद्धान्त का पालन करते थे वह सिद्धान्त पूर्वीय (भारतवर्ष) और पाश्चात्य देशों में समान रूप से 'अनुकृति का सिद्धान्त' था। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि कलाकार किसी प्रत्यक्ष वस्तु की प्रतिकृति की रचना गीली मिट्टी अथवा प्रस्तर की उपादान सामग्री में करता था। यह ध्यान देने योग्य है कि 'अनुकृति' शब्द का समानार्थक यूनानी शब्द 'मिमेसिस' है। इस शब्द का व्यवहार स्वतन्त्रकलाशास्त्र के परवर्ती लेखकों ने सतत रूप से किया है परन्तु प्रत्येक लेखक ने इस शब्द के मूल अर्थ में काफी मात्रा में परिवर्तन और संशोधन किया है जैसे कि भारतवर्ष में स्वतन्त्रकलाशास्त्र के सर्वप्रथम प्राप्य लेखक भरतमुनि ने 'अनुकृति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किया था और लगभग सभी परवर्ती लेखकों ने इस शब्द का व्यवहार विभिन्न अर्थों में किया है। सोफ़िस्ट गोरजियास के मतानुसार अनुकृति में 'भ्रान्ति' का तत्त्व भी होता है। साक्रेटीज के मत में 'अनुकृति' शब्द का अर्थ वरिष्ठानुकृति (वरेण्य अनुकृति) है। और

---

१. क० हे० इ०—६

एरिस्टाटल ने इस शब्द के अर्थ में अन्तिम संशोधन किया था। इसी प्रकार से भारतवर्ष में प्राचीन शास्त्रकारों ने 'अनुकृति' शब्द का अर्थ किसी विषयभूत वस्तुस्थिति की प्रतिकृति लगाया था। भट्टलोल्लट के सम्बन्ध में यह मानते हैं कि वे अनुकृति शब्द का अर्थ 'भ्रान्ति' मानते थे। श्री शंकुक ने 'अनुकृति' को 'अनुमान' से सम्बन्धित किया और अन्त में अभिनवभारती के प्रथम और छठे अध्याय में अभिनवगुप्त ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए इसके सम्पूर्ण वास्तविक अर्थ को निर्धारित किया।

२. प्लेटो के स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय सिद्धान्तों की भूमिका

प्लेटो को स्वतन्त्रकलाशास्त्र का सर्वप्रथम प्रतिपादक इसलिए नहीं मानते हैं कि उनके पूर्ववर्ती चिन्तक कला की समस्या के बारे में मौन रहे थे वरन् इसलिए मानते हैं कि उन्होंने सर्वप्रथम अपनी दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप कला के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। कला के 'अनुकृति' के सिद्धान्त का उल्लेख उन्होंने सबसे पहले नहीं किया था। प्लेटो के बहुत पहले गीली मिट्टी से वस्तुओं को रचने, मूर्त्ति गढ़ने, चित्र बनाने, कविता रचने और नाटक दिखाने की कलाओं के क्षेत्र में कलाकृतियों के रचनाकारों ने अनुकृति के इस सिद्धान्त का पालन अनजाने रूप में ही नहीं किया था वरन् वे उन कलाकृतियों की रचना करने में पूर्णतया सफल हो चुके थे जो मूल वस्तु के इतना अधिक समरूप होती थीं कि दर्शकों में भ्रान्ति उत्पन्न कर दें।

सोफ़िस्ट गोरजियास (लगभग ४७० ईसा पूर्व) ने यह पूर्ण रूप से स्वीकार किया है कि उनके समय में विभिन्न कलाएँ भ्रान्तिजनक होने की सीमा तक विकसित हो चुकी थीं। सोफ़िस्ट गोरजियास यह मानते थे कि "दुःखान्त[1] नाट्यप्रदर्शन एक छल है। इसमें छल करने वाला और छला जाने वाला दोनों ही गौरवान्वित होते हैं। ऐसे प्रदर्शन के समय यह न जानना कि अपने को किस प्रकार से छला जाता है और अपने को छले जाने से रोकना, दोनों ही लज्जास्पद हैं।"

साक्रेटीज (४६९-३९९ ई० पू०) को भी कला के अनुकृति सिद्धान्त का समर्थक मानते हैं। उन्होंने इस सिद्धान्त का व्यवहार चित्रकला और मूर्त्तिरचनाकला के सम्बन्ध में किया है। परन्तु साक्रेटीज के मतानुसार कला

---

१. फ्रो० १५८

के क्षेत्र में अनुकृति के सिद्धान्त का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृतिगत किसी वस्तु की बाह्याकृति की शुद्ध प्रतिकृतिमात्र ही कलाकृति है। अनुकृतिमूलक कला की सफलता भ्रान्ति के सृजन में नहीं है। तत्कालीन कलाकृतियों में उन्होंने वरिष्ठानुकृति (वरेण्य अनुकृति) को देखा। उनके मतानुसार कला की सुन्दर कृतियों की रचना वरिष्ठानुकृति (वरेण्य अनुकृति) पर निर्भर करती है। इसका तात्पर्य यह है कि उस रचना में प्रत्यक्षगत विभिन्न वस्तुओं के सौन्दर्यपूर्ण अंशों का सम्मिश्रण होता है। चित्रकार पर्हसीयस, मूर्त्तिरचनाकार क्लीटो[1] और वस्त्रसिलने वाले पिस्टियास से वर्त्तालाप करते हुए यही बात साक्रेटीज ने बताई है। ऐसा लगता है कि कालिदास इसी सिद्धान्त को प्रतिध्वनित करते हैं जब उन्होंने कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में उमा के सौन्दर्य का वर्णन किया है। वे लिखते हैं :—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन
यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा
प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्य्यदिदृक्षयेव॥ कु० सं० १-४९

(उमा की श्रमसाध्य रचना में मानों ब्रह्मा ने एक ही स्थल पर सम्पूर्ण सौन्दर्य को देखने की इच्छा से उत्प्रेरित होकर सभी उपमानों को एक सामंजस्यपूर्ण कृति में एकत्रित कर दिया था।)

साक्रेटीज ने अपने समय की कलाकृतियों में सबसे पहले प्रतीकांश का पता लगाया था। उनके मतानुसार केवल प्रत्यक्षगत वस्तु की प्रतिकृति बनाना ही कला नहीं है वरन् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से परे जो दुःख, सुख और मैत्री की मानसिक दशाएँ हैं वे भी कलागत अनुकृति का क्षेत्र हैं। परन्तु इनका स्वरूप ऐसा है कि इनको प्रत्यक्षतः कलाकृति में प्रकट[2] नहीं कर सकते। इनको केवल अप्रत्यक्षरूप में ही प्रकट कर सकते हैं अर्थात् शरीरगत बाह्य चेष्टाओं को दर्शित करने से ही उनकी अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है। भरत और उनके अनुयायी शास्त्रकारों ने सुख दुःख प्रकट करने वाली शारीरिक चेष्टाओं को शास्त्रीय भाषा में अनुभाव कहा है।

साक्रेटीज के मतानुसार सौन्दर्य्य पूर्णतया निरपेक्ष न होकर प्रयोजन—

---

१. मेम० अ० ३—१०   २. मेम० अ० ३—१०

सापेक्ष है। वह वाण[1] जो लक्ष्यभेद करने में सुन्दर है, शत्रु के बाणों से स्वरक्षा करने में सुन्दर नहीं है। एक वह व्यक्ति जिसके शरीर की बनावट कुश्ती लड़ने के लिए सुन्दर है, उस व्यक्ति से भिन्न है जिसके शरीर की बनावट दौड़ने के लिए सुन्दर है।

साक्रेटीज के मतानुसार कला का साध्य 'सुख' है। वे कलाशास्त्र में इन्द्रियसुखवाद के सिद्धान्त को मानते थे। यह उनके चित्रकार पर्हसीयस से किए गए निम्नलिखित प्रश्नों से प्रकट होता है :—

१—'क्या तुम यह मानते हो कि लोग उन चित्रों को अधिक 'आनन्द' से देखते हैं जिनमें सुन्दर, कल्याणकारी एवं आकर्षक व्यक्तियों को चित्रित किया गया है ?'

२—'क्या किसी काम में लगे हुए व्यक्ति के भावावेगों का प्रकटन दर्शकों को कोई 'आनन्द' प्रदान करता है ?'

मूर्त्तिरचनाकार क्लीटो से साक्रेटीज ने निम्नलिखित प्रश्न किया था जिसका उत्तर भी वही है :—

'तुम अपनी मूर्त्तियों में उसका समावेश कैसे करते हो जो दर्शकों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करता हैं।'

इस प्रकार से हमें यह ज्ञात होता है कि प्लेटो ने जब अनुकृति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उससे पूर्व इस सिद्धान्त के उस आदि रूप में काफ़ी संशोधन हो चुका था जिसका अर्थ प्राकृतिक वस्तु के इन्द्रियप्रत्यक्ष बाह्यांश का किसी भौतिक माध्यम में प्रतिरूपण मात्र था। सोफ़िस्ट गोरजियास ने यह प्रतिपादित किया कि अनुकृति का अर्थ केवल मूल वस्तु के समान ऐसी प्रतिकृति का उत्पादन नहीं है जिसकी समानता के ज्ञान से अनुकृत मूल वस्तु की स्मृति सम्भव हो सकती है वरन् इसका अर्थ इस प्रकार का सर्वांगीण प्रतिरूपण है कि दर्शक कलाकृति को प्रकृतिजनित मान ले।

होमर की कलाकृतियों में 'विस्तृत रूपक' (Allegory) के दृष्टिगोचर हो जाने के बाद लोगों को इस विषय में शंका होने लगी थी कि तत्कालीन समझ के अनुसार अनुकृति का सिद्धान्त कलाकृतियों की रचना करने का एकमात्र साधन था। इसका कारण यह था कि होमर की कलाकृतियों में अप्रत्यक्ष एवं मनोमात्रग्राह्य अर्थ और उसके इन्द्रियग्राह्य मूर्त्तरूप एक दूसरे में घुलमिल नहीं गये हैं वरन् समानान्तर रेखाओं पर विलगभूत होकर चले हैं। साक्रेटीज़ ने अनुकृति

१. मेम० अ० ३—८

सिद्धान्त के क्षेत्र को और भी अधिक व्यापक बनाया और यह प्रतिपादित किया कि इन्द्रियानुभव के परे मानसिक दशाओं को भी इसी सिद्धान्त के आधार पर प्रकट कर सकते हैं तथा उन्होंने कला को प्रतीकोन्मुखी बनाया। साक्रेटीज़ ने 'सर्वांगीण अनुकरण' के सिद्धान्त के स्थान पर 'वरिष्ठानुकरण' के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया और सापेक्ष सौन्दर्य के तात्विक स्वरूप की स्थापना की। परन्तु जहाँ तक कला के लक्ष्य का प्रश्न था साक्रेटीज़ ने भी उसको इन्द्रियसुखदायी ही माना है। प्लेटो के स्वतन्त्रकलाशास्त्रविषयक सिद्धान्तों की यही भूमिका थी जिसका वर्णन हमने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है। इसी भूमिका पर प्लेटो ने जिन सिद्धान्तों को अंकित किया उनका वर्णन हम आगामी अध्याय में करेंगे।

अध्याय २

प्लेटो का चरित्रोन्नायक इन्द्रियसुखवाद

प्लेटो का महत्त्व

तुलनात्मक स्वतन्त्रकलाशास्त्र के दृष्टिकोण से प्लेटो (४२७–३४७ ई० पू०) का महत्त्व यह है कि उन्होंने मूलतत्त्वदर्शन (Metaphysics) और स्वतन्त्रकलाशास्त्र दोनों स्थलों पर प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इन्द्रियगोचर संसार ज्ञप्तियों के लोक (World of ideas) का भूतपदार्थ (Matter) पर प्रतिबिम्ब मात्र है और कलाकृति प्राकृतिक वस्तु का प्रतिबिम्ब मात्र है। कश्मीर के शैवमत में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि इन्द्रियगोचर लोक प्रतिबिम्ब मात्र[1] ही है परन्तु इस भारतीय प्रसंग में 'प्रतिबिम्ब' शब्द का अर्थ प्लेटो के अर्थ से अत्यन्त भिन्न है। और कश्मीर के आनन्दवर्धन[2] तथा अभिनवगुप्त जैसे स्वतन्त्रकलाशास्त्र के प्रतिपादकों ने कलाकृति में प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त का उल्लेख किया है और उसको अमान्य ठहराया है यद्यपि उन्होंने उन युक्तियों का खण्डन नहीं किया है जिनका व्यवहार प्लेटो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में करते हैं।

कला में प्रतिबिम्ब और अनुकृति के सिद्धान्त परस्पर घनिष्ठरूप से सम्बन्धित हैं। क्योंकि अनुकृति सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले कलाकार के लिए प्रतिबिम्ब एक पथप्रदर्शक नियम है। वह अपनी कृति में प्राकृतिक वस्तु का उतना ही अंश प्रकट करता है जितना स्वच्छ जल अथवा दर्पण के निर्मल तल पर वह द्रष्टव्य रूप से प्रतिबिम्बित होता है। अतएव प्लेटो ने जब 'प्रतिबिम्ब' शब्द के स्थान पर 'अनुकृति' शब्द का प्रयोग किया तब उनका मत बहुत कुछ उस सिद्धान्त के समरूप हो गया जिसका प्रतिपादक श्री शंकुक को मानते हैं। श्री शंकुक भारतवर्ष में वे प्रथम शास्त्रकार थे जिन्होंने प्लेटो की ही भाँति कलासिद्धान्त का प्रतिपादन अपने दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर किया था। अनुकृतिमूलक कला की निन्दा प्लेटो ने

---

१. तं० लो० भाग २—४   २. ध्व० लो० ५४६—७

जिन युक्तियों के सहारे की है लगभग उन्हीं युक्तियों के आधार पर श्री शंकुक[1] के अनुकृति सिद्धान्त का खण्डन अभिनवगुप्त ने किया है। प्लेटो ने कला के जिस भ्रान्तिसिद्धान्त को सोफिस्ट गोरजियास से प्राप्त किया था वह उसी सिद्धान्त के समरूप है जिसका प्रतिपादनकर्त्ता विश्वनाथ[2] जैसे परवर्ती शास्त्रकार भट्टलोल्लट को मानते हैं।

प्लेटो के हाथ में स्वतन्त्रकलाशास्त्र की समस्या पूर्ण रूप से एक दार्शनिक समस्या बन गई थी। सर्वप्रथम उन्होंने स्वतन्त्रकलाशास्त्र को मूलतत्त्वदर्शन के सिद्धान्तों के अनुकूल बनाने की चेष्टा की थी। उन्होंने कलाशास्त्रीय समस्या का समाधान तीन दृष्टिकोणों से किया था—१. मूलतत्त्वदर्शन, २. कर्त्तव्य मीमांसा शास्त्र एवं ३. कलातत्त्वचिन्तन।

प्लेटो के स्वतन्त्रकलाशास्त्र का मूलतत्त्वदार्शनिक आधार

सब प्रकार से विमर्शशून्य (Irrational) होने के कारण प्लेटो ने कला को निन्दनीय घोषित किया है। कला उसको प्रकट करती है जो विमर्शशून्य है और जो स्वयं विमर्शरहित हैं उनकी ही रुचि को वह अपनी ओर आकर्षित करते हुए मुग्ध करती है। प्लेटो के मतानुसार कलाकृति एक छाया की छाया है, प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में यह पुष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि दुःखान्त नाटक एवं अन्य कलाकृतियों की हेयता की समर्थक सम्पूर्ण युक्ति को पूर्णतया समझने के लिए 'आत्मा' के विलक्षण स्वरूप को समझना अनिवार्यरूप से आवश्यक है। अतएव प्लेटो के उन दार्शनिक सिद्धान्तों को स्पष्टरूप में परन्तु संक्षेपतः बताना आवश्यक है जो उनके स्वतन्त्रकलाशास्त्र के उन अभिमतों से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं जिनके आधार पर कलाविषयक समस्याओं का समाधान उन्होंने किया है।

प्लेटो का द्वैतवाद

अपने कलाशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में प्लेटो ने द्वैतवाद का परित्याग कभी नहीं किया है। प्लेटो का मत यह है कि ज्ञप्तियों का लोक और एरिस्टाटल ने जिसको प्लेटो-प्रतिपादित भूतपदार्थ कहा है उसका लोक परस्पर एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में स्थित हैं। ज्ञप्तियों का लोक यथार्थ

---

१. स्व० क० शा० भाग १—७७—९२ २. स्व० क० शा० भाग १—७२

है, पर भौतिक लोक अयथार्थ है। ज्ञप्तियाँ आत्मस्थित तथा आत्मसिद्ध होती हैं। उनकी सत्ता पराश्रित और परार्थ नहीं होती। वे द्रव्यरूप होती हैं। वे वास्तविक सामान्यरूप होती हैं, वे प्रतिबिम्बस्वरूप लौकिक वस्तुओं के मूलबिंब हैं, वे शास्वत, लोकोत्तर तथा प्रतिबिम्बित होने वाले रूप हैं। लौकिक वस्तुओं से वे पूर्वकालीन, विलग तथा स्वतन्त्र होती हैं। ज्ञप्तियों का यह लोक उन परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता जिनके वशीभूत लौकिक वस्तुएँ हैं।

इसके विपरीत भूततत्त्व (Matter) इन्द्रियगम्यलोक, अर्थात् प्रकृति का अधिकरण (Substratum) स्वरूप है। इस तत्त्व के ऊपर ज्ञप्तियों का लोक अपने रूपों को अंकित करता है। ज्ञप्तियों से अप्रभावित भूततत्त्व सभी गुणों से हीन है। यह रूपरहित, अपरिभाषेय एवं अप्रत्यक्षणीय है।

धार्मिककथांश

प्लेटो का दर्शनशास्त्र धार्मिककथाओं के अंश से सर्वथा मुक्त नहीं है। प्रत्येक द्वैतवादीदर्शन के सामने यह प्रश्न सर्वाधिक मुख्यरूप से रहता है कि 'दो स्वतन्त्र मूलतत्त्व-ज्ञप्तिलोक एवं भूततत्त्व—लोक—परस्पर किस प्रकार से सम्बन्धित हैं ?' प्लेटो ने इस प्रश्न का उत्तर केवल धर्मकथा के आधार पर ही दिया है। इन दोनों मूलतत्त्वों को सम्बन्धित करने के लिए उन्होंने डेमिअर्ज नामक सृजनकारी देव का सहारा लिया है। प्लेटो के दार्शनिक मत के आवश्यक अंश के रूप में जो तीन कोटि की आत्माएँ हैं—१. विश्वआत्मा (World-soul), २. ग्रहसम्बन्धी आत्माएँ (Planetary soul) एवं ३. मनुष्य की आत्माएँ (Human soul) उनका सृजन भी इसी देव डेमिअर्ज ने किया है। ऐसा प्लेटो मानते हैं।

ज्ञप्ति-लोक (World of ideas)

ज्ञप्तियाँ वस्तुओं का सारतत्त्व हैं। वे उनके आवश्यक रूप हैं। अनेक विशेषों में जो आवश्यक सामान्य गुण हैं वे इन ज्ञप्तियों में संगृहीत रूप में विद्यमान रहते हैं। ये ज्ञप्तियाँ सामान्य स्वरूप हैं। ये मनुष्य या देवता के मन में वर्तमान केवल मानसिक प्रक्रिया अथवा विचार स्वरूप ही नहीं हैं। ये ज्ञप्तियाँ इन दोनों से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि मनुष्य और देवताओं के मन (Minds) ज्ञप्तिलोक पर निर्भर हैं। ये ज्ञप्तियाँ शाश्वत हैं। विशिष्टरूप लौकिक वस्तुएँ इन्हीं ज्ञप्तियों का प्रतिबिम्ब मात्र अथवा अपूर्ण प्रतिकृतियाँ मात्र हैं। प्रत्येक वर्ग की विशिष्ट वस्तुओं के

लिए एक ज्ञप्ति होती है। प्रकृति के लोक में कोई भी वस्तु इतनी तुच्छ नहीं है कि उसकी कोई ज्ञप्ति न हो। अतएव संख्या के हिसाब से ये ज्ञप्तियाँ असंख्य हैं।

सर्वव्यापी परम प्रयोजन

परन्तु ज्ञप्तियाँ अस्तव्यस्त दशा में नहीं हैं। वे भली भांति संगठित और पूर्णतया व्यवस्थित स्वरूप हैं। तर्कसंगत रूप में ये ज्ञप्तियां व्यवस्थित हैं। वे एक उपपत्तिपूर्ण सम्पूर्णता की रचना करती हैं। परम ज्ञप्ति 'कल्याण' (The Good) के अन्तर्गत अन्य सभी ज्ञप्तियां संगठित एवं समन्वित हैं। यह परम ज्ञप्ति सभी ज्ञप्तियों का आधार है और इसके परे किसी की सत्ता नहीं है। इसको ब्रह्माण्ड व्यापी परमप्रयोजन (logos) कहते हैं। अतएव ज्ञप्तियों का लोक एक सजीव शरीर जैसी आध्यात्मिक अखण्डता है जिसका अनुशासन ब्रह्माण्ड व्यापी परमप्रयोजन करता है।

प्रकृति-लोक

सामान्य अनुभव का कारण बताने के लिए प्लेटो ने यह प्रतिपादित किया है कि ज्ञप्तियों के लोक के अतिरिक्त प्रकृति के लोक का अस्तित्व भी है। ये दोनों लोक मूलतः परस्पर भिन्न हैं। गत उपप्रकरण में वर्णित ज्ञप्तियों के लोक के विपरीत प्रकृति का लोक क्षणभंगुर, परिवर्तनशील और विमर्शशून्य (Irrational) है।

प्रकृति के लोक तथा ज्ञप्तियों के लोक में वर्तमान मूलभेद को स्पष्ट करने के लिए प्लेटो ने एक अन्य तत्त्व की परिकल्पना की है। एरिस्टाटल ने अपनी व्याख्या में इसको भूततत्त्व (Matter) कहा है। यह भेदशून्य एक पिण्ड है। यह रूपों को ग्रहण करने वाला है। सभी सम्भावित रूपों को ग्रहण करने की इसमें अपरिमित अव्यक्त शक्ति है। रूपों के प्रभाव अथवा दृढ़निवेशन (Impression) या अंकन के कारण भूततत्त्व के मूल स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। यह तत्त्व सभी रूपों से अंकित होकर भी अपने मूलस्वभाव का परित्याग उसी प्रकार से नहीं करता जिस प्रकार से स्वर्ण विविध अलंकारों के रूप में होकर भी अपने मूल स्वभाव को बनाए रखता है। भूततत्त्व पर रूपों के प्रभाव क्षणिक होते हैं। ये प्रभाव आते और जाते रहते हैं। भूततत्त्व पर रूप की निरन्तरता का कारण एक ही रूप का अनेक बार अंकन है।

भूततत्त्व के संसर्ग में आने पर एक ज्ञप्ति उसी प्रकार से अनेक विशेषों में

खण्डित हो जाती है जिस प्रकार से सूर्य की एक किरण समपार्श्व कांच (Prism) के अन्दर से संचलित होने पर विभिन्न रंगों की अनेक किरणों में टूट जाती है। जब प्रत्येक ज्ञप्ति अनेक विशेष रूपों में खण्डित होती है तो हमको वे अनेक वस्तुएं प्राप्त होती हैं जिनकी गणना हम एक 'सामान्य' के अन्तर्गत करते हैं। इस प्रकार से प्रकृति के सम्पूर्ण लोक का कारण बाह्य भूततत्त्व पर ज्ञप्तियों का प्रभाव अथवा अपूर्ण अंकन मात्र है। ज्ञप्तियों के अस्तित्व के कारण ही वस्तुओं का अस्तित्व है।

अपूर्णता का स्पष्टीकरण

यद्यपि ज्ञप्तियां विषयभूत जगत की वस्तुओं का अंश हैं फिर भी ये लौकिक वस्तुएँ अपूर्ण और क्षणभंगुर हैं। विषयभूत जगत को ज्ञप्तियों के लोक से अधिक निम्नकोटि का बनाने वाली अपूर्णता, परिवर्तनशीलता, भिन्नता एवं अन्य सभी वस्तुओं का कारण वह भूततत्त्व (Matter) है जो ज्ञप्तियों के पूर्णतया प्रकट होने का अवरोधक है।

इस प्रकार से प्लेटो के मतानुसार दो मूलतत्त्व हैं—१. ज्ञप्तियों का लोक एवं २. भूततत्त्व। 'ज्ञप्तियों का लोक' नित्य (तत्त्व) है। यह सत्यरूप यथार्थ है। यह विषयरूप संसार की प्रत्येक वस्तु का रूप और सारतत्त्व है। यह विषयरूप जगत का नियामक और व्यवस्थापक तत्त्व है। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह व्यावहारिक जगत की वस्तुओं का निमित्त कारण (Active Cause) है।

'भूततत्त्व' एक अप्रधान तत्त्व है। यह प्रकृति के लोक का सहयोगी कारण (Co-operative Cause) है। यह निश्चेष्ट तथा जड़ है। यह ज्ञप्तियों के लोक के प्रभाव का प्रतिरोधक है। यह भूततत्त्व रूपों को केवल आंशिक रूप में ही ग्रहण करता है। अतएव यह भूततत्त्व (Matter) शारीरिक एवं नैतिक सभी बुराइयों, सभी परिवर्तनों और अपूर्णताओं का कारण है।

आत्मा का स्वरूप

प्लेटो के मतानुसार आत्माएँ तीन प्रकार की हैं। १. विश्वात्मा (World soul) भौतिक जगत् में विधि (Law) एवं व्यवस्था (Order) का तत्त्व है। इसकी रचना अखण्डनीय एवं खण्डनीय, अभिन्नता तथा भिन्नता और परमात्मा एवं भूततत्त्व के सम्मिलन से हुई है। अतएव प्लेटो ने जो यह सिद्धान्त अपने पूर्वजों से पाया था कि 'समान ही समान को जान सकता है'

(Like knows the like) उसके अनुसार यह विश्वात्मा ज्ञप्तियों को जानने और भूततत्त्व (Matter) को प्रत्यक्ष करने में समर्थ है। इसकी अपनी मूलगति है और यह (आत्मा) संसार में सौन्दर्य, व्यवस्था तथा सामंजस्य (Harmony) का कारण है। यह ज्ञप्तिलोक एवं व्यावहारिक लोक के मध्य में स्थित है। यह अपने निर्धारित स्वभाव के अनुसार गतिमान रहती है। २. ग्रहों की आत्माएँ (Planetary souls) ग्रहों में निवास करती हैं। ये पूर्णतया विमर्शपूर्ण (Rational) हैं। ३. मनुष्य की आत्माएँ आंशिक रूप से सविमर्श तथा आंशिक रूप से निर्विमर्श हैं। उनके सविमर्श अंश का सृजन स्रष्टा-देव (Demiurge) ने किया था परन्तु जब उन्होंने शरीरों में प्रवेश किया तो उनमें विमर्शशून्य अंश जोड़ दिया गया। शरीर के ही कारण ये आत्माएँ संसार में रहने के योग्य हैं। इनका विमर्शशून्य अंश दो भागों में विभाजित है (अ) अधिक भद्र प्रवृत्तियाँ जैसे कि क्रोध और शक्ति से प्रेम आदि। ये प्रवृत्तियाँ हृदय में निवास करती हैं तथा (आ) निम्नकोटि की रुझान या एषणाएँ (Appetites) जैसे वासनाएँ, भावनाएँ एवं इन्द्रियों की कामनाएँ।

इन्द्रिय बोध (Sensation) और अभिमत (Opinion) के प्रसंगों में आत्मा उस शरीर पर निर्भर है जो उसका विमर्शशून्य अंश है। शुद्धस्वरूप ज्ञप्तियों को प्राप्त करने के लिए यह अपने उस विमर्शपूर्ण अंश पर निर्भर है जो शुद्धबोध स्वरूप है। सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने में शरीर बाधास्वरूप है। अतएव यह आवश्यक है कि अपने को शरीर से मुक्त करने के लिए यथाशक्ति चेष्टा की जाय। इस स्वतन्त्रता को पाने का उपाय यह है कि अधिक भद्र प्रवृत्तियों और निम्नकोटि की रुझानों दोनों का नियन्त्रण किया जाय। उस दिव्य लोक को लौट जाना ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति है जहाँ से आत्माएँ इन्द्रियजनित सुख से आकर्षित होकर ही इस लोक में पतित होती हैं।

आत्मा की अमरता

शरीर में प्रवेश करने के पूर्व आत्मा के पास ज्ञप्तियाँ होती हैं। लौकिक नामरूपात्मक वस्तुओं का इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञप्तियों को केवल जाग्रत अथवा उत्तेजित ही करता है। यह इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञप्तियों का सृष्टिकर्त्ता नहीं है। जिस प्रकार से इन्द्रियप्रत्यक्ष से उन ज्ञप्तियों का स्मरण हो जाता है जिनका अनुभव हमने अपने पूर्वकालीन जीवन में किया है उसी प्रकार से लौकिक सौन्दर्य का इन्द्रियबोध वास्तविक सौन्दर्य की ज्ञप्ति को जाग्रत करता है। इस प्रकार से अतीतकालीन स्मृतियाँ ही आत्मा की अमरता को सिद्ध करती हैं।

ज्ञान के स्वरूप

(१) ज्ञप्तिमूलक ज्ञान (Ideal knowledge) :—यह वह ज्ञान है जो विवाद की तार्किक विधि (Dialectical method) के साधन से प्राप्य है। यह आत्मा के विमर्शमय अंश का वह साधन है जिसका अवलंबन कर आत्मा विशिष्ट वस्तुओं के प्रत्यक्ष से उस सामान्य (Universal) का ज्ञान प्राप्त करती है जो ज्ञप्तियों के लोक का साक्षात्कार करने की शक्ति आत्मा को प्रदान करता है। केवल यही विमर्शपूर्ण यथार्थमूलक ज्ञान है।

(२) सविकल्प प्रत्यक्ष (Sense-perception) :—इससे यथार्थ—ज्ञान प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह आत्मा के उस विमर्शशून्य अंश की क्रिया से उत्पन्न है जो केवल बाह्य स्वरूप को ही जान सकता है तथा यथार्थ को जानने की शक्ति इसमें नहीं होती।

(३) अभिमत (Opinion) :—यह भी यथार्थ का स्पर्श नहीं करता क्योंकि इसके आधार व्यक्ति के विश्वास एवं प्रलोभन हैं।

मानवीय आत्मा के तीन विशेष स्वरूप

(१) गति :—मानवीय आत्मा की अपनी एक मूल गति है। यह अपने को स्वयं संचालित करती है। इसका संचालन किसी अन्य बाहरी वस्तु से कभी नहीं किया जा सकता। इसीलिए अपने को गतिमान कर यह शरीर का संचालन करती है।

(२) काम (Eros):—यह मूल उत्प्रेरणा अथवा अन्तःप्रेरणा है। यह अपने को ऐन्द्रियक प्रेम (Sensuous love) तथा वास्तविक सौन्दर्य एवं वास्तविक कल्याण (Good) के प्रति आकर्षण में प्रकट करता है। ऐन्द्रियक प्रेम के कारण आत्मा अपने पूर्व निवासग्रह से इस भूमि पर गिरती है परन्तु वास्तविक सौन्दर्य तथा वास्तविक कल्याण से आकर्षित होने के कारण यह अपने मूल निवास स्थान को फिर से लौट जाती है।

(३) जटिलता (Complexity) :—हम यह कह आए हैं कि प्लेटो ने अपने पूर्वजों से यह सिद्धान्त पाया था कि समान ही समान को जान सकता है (Like knows the like) अर्थात् ज्ञाता की ज्ञेय के साथ जो समानता है उस पर ही ज्ञेय का ज्ञान निर्भर है। अतएव ज्ञप्तियों का ध्यान और मनन एवं यथार्थ का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष दोनों जिस आत्मा से सम्भव हैं वह मानवीय आत्मा मिश्रित स्वभाव की है। इसकी रचना मन और भूततत्त्व,

सविमर्श तथा निर्विमर्श, भेद और अभेद एवं खण्डता और अखण्डता को मिलाकर हुई है।

प्लेटो का कर्त्तव्यमीमांसा-शास्त्र

प्लेटो का कला-सिद्धान्त या अधिक उचित शब्दों में कहें तो प्लेटो का कला का खण्डन उनके कर्तव्यमीमांसा-शास्त्र (Ethics) के उन सिद्धान्तों पर निर्भर है जो स्वयं उनके मूलतत्त्वदर्शन पर अवलम्बित है। अतएव उनके कर्त्तव्यमीमांसा-शास्त्र पर हम एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

साक्रेटीज़ ने कर्त्तव्यमीमांसा सम्बन्धी निम्नलिखित समस्याओं को उठाया था :—

परम कल्याण क्या है? बुद्धिमान मनुष्य के लिए पथप्रदर्शक सिद्धान्त कौन से होने चाहिए?

प्लेटो ने अपने मूलतत्त्वदर्शन में यह प्रतिपादित किया था कि इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ नित्य और अपरिवर्तनशील ज्ञप्तियों की क्षणभंगुर छायाएं मात्र ही हैं। उनका कोई वास्तविक महत्त्व नहीं। 'विमर्श' (Reason) ही चरम-मूल्यवान है और यही परम-कल्याणकारी है क्योंकि यही मानवीय आत्मा का अमर अंश है।

परन्तु यह शरीर एक वन्दीगृह के समान है। अतएव शरीर से आत्मा की स्वतन्त्रता एवं ज्ञप्तियों के लोक का चिन्तन जीवन का परम-लक्ष्य है। इसलिए आत्मसंयम अर्थात् विमर्श का अनुशासन (Rule of reason) जीवन का पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त होना चाहिए। क्योंकि अनुशासित जीवन कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्र सम्बन्धी सिद्धि का साधन है। यह कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्र सम्बन्धी सिद्धि का साधन आत्म-संयम अर्थात् किन्हीं प्रकार की वासनाओं एवं कामनाओं के ऊपर स्वामित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह अपनी इच्छाशक्ति एवं हार्दिक रुझान को उस विमर्श के प्रभुत्व के सामने समर्पण करना है जो एक प्रधान सेनापति के समान है। यह विमर्श, इच्छा एवं रुझानों के सामंजस्यपूर्ण मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह विमर्श का शासन है जो इच्छा एवं रुझानों पर विमर्श, साहस, आत्मसंयम और न्याय रूपी सद्‌गुणों का प्रभुत्व स्थापित करता है।

आत्मानन्द (Happiness) एवं इन्द्रिय सुख (Pleasure)

आत्मानन्द पुण्यवान जीवन में ही सम्भव है। विमर्श के अनुशासन को सर्वेसर्वा मानने में, आत्मा के निम्न कोटि के कर्मों को उसके उच्चतम कोटि

के कर्मों के अधीन बनाने में एवं विमर्शशून्य रुझानों तथा वासनाओं के नियंत्रण में ही आत्मानन्द निहित है। यह आनन्द आत्मा के जीवन की उत्कृष्ट दशा है। परन्तु इसके विपरीत इन्द्रिय सुख, विमर्श के आदेशों का तिरस्कार कर निम्न कोटि की रुझानों को तृप्त करने तथा आत्मा के अत्यन्त क्षणभंगुर और उस विमर्शशून्य अंश को प्रधान बनाने से होता है जिसको केवल आत्मा के उत्कृष्ट अंश के अधीन ही नहीं बनाना है वरन् जिसका अन्त में परित्याग करना है।

स्वतन्त्रकलाशास्त्र के विषय में प्लेटो की समस्या

उपर्युक्त मूलतत्त्वदर्शन एवं कर्तव्यमीमांसाशास्त्र के आधार पर प्लेटो ने स्वतन्त्रकलाशास्त्र की समस्या का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है। 'क्या कलाकृति अनुकृति[1] मात्र (Mimesis) है? क्या यह सविमर्श (Rational) अथवा निर्विमर्श (Irrational) है? क्या कला आत्मा के उस अंश में वास करती है जिसमें तत्त्वदर्शन तथा पुण्य निवास करते हैं? अथवा यह (कला) आत्मा के उस निम्न अंश में निवास करती है जिसमें इन्द्रियपरायणता एवं असंस्कृत लोलुपताएँ निवास करती हैं।'

अनुकृति का सिद्धान्त

प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' के तीसरे और दसवें अध्याय में काव्य एवं चित्र कलाओं के प्रसंग में 'अनुकृति' शब्द की व्याख्या की है और उसके अर्थ को स्पष्ट किया है। 'अनुकृति' के विषय में जो अभिमत पूर्वकाल से चला आ रहा था उसमें प्लेटो ने कोई सुधार या संशोधन नहीं किया वरन् उन्होंने केवल उस परम्परासिद्ध अर्थ को और भी अधिक विशद रूप में स्पष्ट ही किया है।

काव्य में अनुकृति

प्लेटो के मत के अनुसार काव्य में 'अनुकृति' काव्यगत विभिन्न[2] पात्रों को इस प्रकार से बोलते हुए प्रदर्शित करने में होती है जिससे पाठक अथवा श्रोता को यह विश्वास हो जाता है कि स्वयं पात्र ही बोल रहे हैं। अनुकृति इस बात में होती है कि कवि स्वयं काव्य का प्रत्येक पात्र बन लेता है, वह दूसरा व्यक्ति बन कर बोलता है, वह अपनी शैली को दूसरे व्यक्ति की शैली में

१. क्रौचे—१५८   २. रिप० ९५

ढाल देता है और इस प्रकार से पाठक की दृष्टि से वह अपने को पूर्णतया छिपा लेता है। 'अनुकृति' के अर्थ को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें इसकी तुलना 'वर्णन' से करना चाहिए। 'वर्णन' करने में कवि स्वयं बोलता सा प्रतीत होता है, वह पाठक से अपने व्यक्तित्व को नहीं छिपाता है। इसका उदाहरण होमर कृत ईलिअड का आरम्भिक अंश है। आरम्भ से लेकर यूनानियों के विरुद्ध क्रीसेस की प्रार्थना तक का भाग वर्णन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस अंश को पढ़ते समय पाठक को यह ज्ञात होता रहता है कि कवि ही बोल रहे हैं परन्तु प्रार्थना में वे होमर के रूप में न बोल कर क्रीसेस व्यक्ति के रूप में बोलते हैं। अतएव यह अनुकृति है।

इस प्रकार से काव्य आंशिक रूप में अनुकृतिस्वरूप होता है और काव्यगत अनुकृति केवल भाषा शैली तक ही सीमित रहती है। परन्तु नाटक पूर्णतया अनुकृतिस्वरूप होते हैं और जब उनको रंगमंच पर प्रदर्शित करते हैं तो इङ्गित, स्वरविन्यास आदि भी अनुकृतिरूप होते हैं।

चित्रकला में अनुकृति

प्लेटो के मत के अनुसार चित्रकला चक्षुर्ग्राह्य किसी वस्तु के बाह्यरूप की अनुकृति मात्र है। यह वस्तु चाहे प्रकृतिजन्य हो या किसी कारीगर, बढ़ई, लुहार, सुनार आदि से बनाई गई हो। चित्रकला से हमको वस्तु की बाह्याकृति मात्र ही प्राप्त होती है क्योंकि चित्रकला केवल वैसा ही बाह्यरूप अंकित कर सकती है जैसा कि किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उसके सामने रक्खे हुए दर्पण पर पड़ता है। इससे अधिक चित्रकला और कुछ अङ्कित नहीं कर सकती।

कला की निन्दा

प्लेटो ने कला की जो निन्दा की है तथा उसको अपने आदर्शलोकतन्त्र में जो उन्होंने कोई स्थान नहीं दिया है उसका मूलकारण उनकी मूलतत्त्वदर्शनगत, कर्तव्यमीमांसाशास्त्र सम्बन्धी एवं राजनीति सम्बन्धी मान्यताएं हैं। सोफिस्ट गौरजियास ने कलाकार के दृष्टिकोण से कला के जिस भ्रान्तिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वह हमको भलीभांति ज्ञात है। हमको यह भी ज्ञात है कि प्लेटो के गुरु सात्रेटीज़ तक ने यह मान लिया था कि कलाकृति का प्रभाव अर्थात् वह प्रभाव जो किसी कलाकृति का उसके पाठकों अथवा दर्शकों पर पड़ता है 'इन्द्रिय सुख' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार से प्लेटो ने अपने पूर्वजों से कला सम्बन्धी जिन दो सिद्धान्तों को पाया था ये 'अनुकृतिवाद' तथा 'इन्द्रिय सुखवाद' (Hedonism) ही थे। प्लेटो की

कर्तव्यमीमांसाशास्त्रीय प्रवृत्ति इन्द्रियसुख विरोधिनी थी और उन्होंने तत्कालीन प्रचलित अनुकृति के सिद्धान्त को अपने पूर्वजों से पाया था इसलिए उन्होंने इन दोनों सिद्धान्तों अर्थात् इन्द्रियसुखवाद एवं अनुकृतिवाद का विरोध और खण्डन करने की चेष्टा की थी।

अनुकृति-सिद्धान्त का खण्डन

जैसा कि हम एक गत उपप्रकरण में स्पष्ट कर आए हैं प्लेटो के मूलतत्त्व-दर्शन के मतानुसार प्रकृति-लोक जड़भूतपदार्थ पर ज्ञप्तियों के लोक का एक अनुकृतरूप, एक अपूर्ण प्रतिरूप अथवा केवल प्रतिबिम्ब मात्र ही है। बाह्य भूतलोक में जो भी विमर्श (Reason) अथवा सामंजस्य हमको प्राप्त है वह ज्ञप्तियों के लोक का प्रभावमात्र है। अतएव यदि कलाकृति इन्द्रियगोचर भौतिक वस्तु का अनुकृत रूप मात्र ही है अथवा वह किसी एक ज्ञप्ति की अपूर्ण अनुकृति का अनुकृतरूप है तो वह (कलाकृति) छाया की छाया है या दूसरे शब्दों में यह कहें कि वह प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब है। यह कलाकृति यथार्थ से तीन क्रम दूर है। यह कलाकृति प्रकृतिजन्य वस्तुओं और बढ़ई, लोहारों आदि कारीगरों तक से बनाई गई वस्तुओं के समान व्यावहारिक रूप में उपयोगी भी नहीं है। क्योंकि प्रकृतिजन्य और कारीगरों से बनाई गई वस्तुएँ व्यावहारिक रूप में उपयोगी होती है—वृक्ष धूप की गरमी से रक्षा करता है, गाय दूध देती है, कुर्सी पर सुखपूर्वक बैठा जा सकता है। चित्रगत वृक्ष, गाय और कुर्सी का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। और अगर अनुकृतियाँ उसी प्रकार के इन्द्रियबोधों एवं भावों को उत्पन्न करती हैं जैसे कि मूल वस्तुओं से उत्पन्न होते हैं तो अनुकृतियों की रचना करना मानवीय शक्ति का अपव्यय ही है। क्योंकि कलाकार की कृति जिस उद्देश्य को पूरा करने की चेष्टा करती है वह लक्ष्य सुन्दरतर रूप में प्रकृति पहले ही पूरा कर लेती है।

अनुकरणकर्ता केवल बाह्यरूप अर्थात् इन्द्रियगोचर अंश भर ही जानता है। वह वस्तु के आदर्श (Ideal) को, उसके मर्म को अथवा यथार्थ को नहीं जानता। अतएव कलाकार केवल इन्द्रियग्राह्य अंश को अपनी कलाकृति में प्रकट करता है। दर्शक में जिस प्रभाव को वह कलाकार उत्पन्न करना चाहता है उसको उत्पन्न करने के लिए कलाकार को मानवीय दुर्बलता का सहारा लेना पड़ता है जैसे रंगों से चाक्षुषभ्रान्ति का सहज ही उत्पन्न हो सकना। अतएव चित्रकला बौद्धिकदोष से उत्पन्न होती है और इन्द्रियदोष के कारण प्रभावशालिनी बनती है। इस प्रकार की इन्द्रियदुर्बलता अथवा इन्द्रियदोष

से जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है उसका संशोधन अथवा निराकरण ,नाप-तौल तथा गणना आदि से हो जाता है। यह संशोधन अथवा निराकरण आत्मा के विमर्शांश से ही संभव है। आत्मा का अधिक श्रेष्ठ अंश वह है जो नाप-तौल और गणना में विश्वास करता है।

हम यह बता आए हैं कि शरीर तथा इन्द्रियां भी निर्विमर्श (Irrational) हैं। अतएव इन्द्रिय ज्ञेय वस्तु के इन्द्रियानुभव से उत्पन्न और नेत्र इन्द्रिय को विशेषतया उसकी दुर्बलता को अर्थात् उसके भ्रान्ति में पड़जाने के स्वभाव को रुचिकारी लगने वाली चित्रकला प्रत्येक अंश में विमर्शशून्य है और इसी लिए प्लेटो के मतानुसार सर्वथा गर्हणीय है। इसी कारण आदर्शलोकतन्त्र में इस कला को कोई स्थान न देना चाहिये।

नाटक और काव्य में विमर्शशून्यता

यह हम बता चुके हैं कि सांक्रेटीज़ ने पहले पहल कला में प्रतीकांश के अस्तित्व को स्थापित किया था। उन्होंने सबसे पहले इस बात का भी पता लगाया था कि कलाकृति में केवल इन्द्रियगम्य वस्तुओं को ही प्रदर्शित नहीं करते वरन् उसमें मानसिक दशाएं भी व्यक्त की जाती हैं। इन मानसिक दशाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट नहीं कर सकते इसलिए उनको उनके प्रत्यक्ष-प्रभाव के रूप में व्यक्त करते हैं जैसे कि अश्रु भरे नयन और मलिन अथवा खिला हुआ मुख। नाटक और काव्य में इस प्रकार के प्रधानभूत प्रतीकांश के अस्तित्व का ज्ञान प्लेटो को था और उन्होंने इसकी विमर्शशून्यता (Irrationality) को निम्नरूप में सिद्ध किया था।

जिस समय एक ही वस्तु हमको दो परस्पर विरोधी दिशाओं में खींचती हैं उस समय हमको स्वभावतया दो परस्पर विरोधी प्रवर्तक मानसिक शक्तियों की स्थापना करनी पड़ती है। उदाहरणतया जब किसी उत्तमस्वभाव व्यक्ति पर कोई दारुण विपत्ति पड़ती है तो वह शान्त होकर उसको सहन करता है—रोता और छाती पीटता हुआ नहीं घूमता। वह अपने मनोवेगों को प्रकट होने से रोक लेता है। इस प्रकार का संयमित आचरण वह समाज में वर्तमान होने पर करता है। परन्तु अकेले में वह अपने दुःख को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट कर लेता है।

अतएव व्यक्ति के अन्तःकरण में दो प्रवर्तक शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं (१) नियम और विमर्श रूप शक्ति। यह उसके मनोवेगों को प्रकट होने से-रोक लेती है। (२) दुःख की संवेदना रूप शक्ति। यह उसे स्वीय वेदना को

अतिरञ्जित रूप में प्रकट करने के लिए बाध्य करती है। पहली प्रवर्तक शक्ति सविमर्श (Rational) है और दूसरी निर्विमर्श (Irrational) है।

नाटक और काव्य या तो दुःख प्रधान होते हैं या सुख प्रधान। उनका प्रकटनीय विषय या तो सुख है या दुःख है। कवि अथवा नाटककार जो प्रधान पात्र चुनते हैं वे शान्त, सौम्य और मृदु स्वभाव के नहीं होते, वरन् इस प्रकार के होते हैं जिनमें विमर्श और मृदुता का पूर्ण अभाव है। ये प्रधान नायक इस प्रकार के व्यक्ति होते हैं जो विमर्शशून्य और दुर्बल स्वभाव के हैं क्योंकि वे अपने सुख और दुःख को अतिरञ्जित रूप में प्रकट करने में सुख का अनुभव करते हैं। बुद्धिमान और शान्त स्वभाव के व्यक्तियों का अनुकरण करना कठिन है और लोकरुचि को उससे सन्तुष्ट करना भी कठिन है। सामान्यतः इस प्रकार के प्रधान नायकों की ओर से लोग उदासीन ही रहते हैं।

प्लेटो ने अपने 'लोकतन्त्र'[1] (रिपब्लिक) नामक ग्रन्थ में स्वयं यह लिखा है कि इस बात की युक्तियुक्तता को पूर्णतया समझने के लिए कि क्यों दुःख-प्रधान नाटकों एवं उन कलाकृतियों को जो सम्पूर्णतया अनुकृति स्वरूप हैं त्याज्य निर्धारित किया गया है, आत्मा के विशिष्ट स्वरूप के स्पष्ट ज्ञान की आवश्यकता है। आत्मा के तात्त्विक स्वरूप के विषय में प्लेटो के मत को हम लिख चुके हैं। उसमें से निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं। मानवीय आत्मा आंशिक रूप में विमर्शपूर्ण तथा आंशिक रूप में विमर्शशून्य है। उसके विमर्शशून्य अंश को दो वर्गों में विभाजित करते हैं (१) उत्तम कोटि की चित्तवृत्तियां जैसे क्रोध, शक्ति से प्रेम आदि, (२) अधम कोटि की रुझान जैसे वासनाएँ, संवेदनाएँ (Feelings) एवं इन्द्रियविषयों की इच्छाएँ। अतएव काव्य और नाटक विमर्शशून्य हैं क्योंकि वे इन्द्रिय-रंजक वस्तु को प्रदर्शित करते हैं। और उस समय भी जब कलाकृतियों में इन्द्रियातीत भाव प्रकट किए जाते हैं वे प्रतीकस्वरूप ही होती हैं। कलाकृति आत्मा के विमर्श-शून्य अंश के विधायक इन्द्रियातीत भावावेगों, संवेदनाओं (Feelings) तथा इन्द्रियविषयपरायण इच्छाओं को प्रदर्शित करती है एवं जिस माध्यम से इनको प्रदर्शित करती है वे अनुभाव (भावप्रकटनकारी मुख तथा शरीर के विकार) भी विमर्शशून्य होते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यकृतियां एवं नाट्य-प्रदर्शनों का लक्ष्य आत्मा के विमर्शशून्य अंश अर्थात् भावावेगों, संवेदनाओं, एवं इच्छाओं को परितुष्ट करना होता है क्योंकि नाटककार का उद्देश्य इन

---

१. रि० ३७८

भावावेगों आदि को जगाना मात्र है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार से किसी राज्य में दो परस्पर विरोधी शक्तियां होने पर उनमें से यदि किसी एक शक्ति का समर्थन शासन करने के लिए किया जाय तो उसका अर्थ दूसरी शक्ति को प्रथम शक्ति पर बलिदान कर प्रथम शक्ति को पुष्ट करना होता है, उसी प्रकार से आत्मा के विषय में भी है। उसके विमर्शशून्य अंश को उत्तेजित करने का अर्थ उसके विमर्शपूर्ण अंश को दुर्बल करना है। इस प्रकार[1] से काव्य एवं नाटक भावावेगों तथा वासनाओं को पोषित कर पुष्ट करते हैं तथा आत्मा के विमर्शपूर्ण अंश को दुर्बल बनाते हैं। आत्मा में जो विमर्शशून्य अंश है उसको ये कलाकृतियां नष्ट करने के स्थान पर पुष्ट करती हैं!

इस प्रकार से कवि एवं नाटककार दो प्रकार से चित्रकारों के समान हैं—

(१) उनकी कृतियों में सत्य का निम्नांश ही होता है।

(२) उनकी कृतियों का सम्बन्ध आत्मा के निम्नांश के साथ होता है।

प्लेटो का कला का सामान्य खण्डन उनके इस मत पर आधारित है कि कलाकृतियां उस विशेष को प्रदर्शित करती हैं जो विमर्शशून्य है और सामान्य, आदर्श तथा विमर्श की सम्पूर्णतया उपेक्षा करतीं हैं।

दुःखान्त नाटक को देखने से आनन्दप्राप्ति का कारण

दुःख-प्रधान अथवा दुःखान्त नाटक के प्रदर्शन को देखकर सर्वोत्तम व्यक्ति भी अपनी सहानुभूति की भावना को प्रकट करने में आनन्द लेते हैं। इसका कारण निम्नलिखित है :—

संकट पड़ने पर हमारे अन्तःकरण में स्वाभाविक रूप से यह इच्छा उत्पन्न होती है कि हम उसको स्वतन्त्रतापूर्वक क्रन्दन एवं विलाप में प्रकट करें। परन्तु विमर्श के नेतृत्व के कारण और इसलिए भी कि समाज में हम नारी के समान स्वभाववाले न मान लिए जांय हम इन व्यक्तिगत भावों को प्रकट नहीं करते। परन्तु दुःखप्रधान नाटक को देखने पर[2] यह जान कर कि संकट दूसरे व्यक्ति का है और सहानुभूति की भावना को प्रकट करने में कोई लज्जास्पद बात नहीं है हम अपने दुःख के उस प्रवाह को उन्मुक्त रूप से बहने देते हैं जिसको हमने अपने व्यक्तिगत संकटकाल में रोक रखा था। अतएव आनन्द का कारण यह है कि चिरकाल से अवरुद्ध प्रवाह के उन्मुक्त हो जाने से प्रवाह के रोधनजन्य कष्ट से एक छुटकारा सा मिल जाता है। सुखप्रधान

---

१. रि० ३९५—६ २. रि०—३९४।

नाटकों को देखने से जो आनन्द प्राप्त होता है उसका भी यही कारण है। इस प्रकार से एरिस्टाटल ने जिस भावशोधन सिद्धान्त (Kathartic theory) का प्रतिपादन किया था उसके लिये प्लेटो ने पहले से ही मार्ग तैयार कर दिया था।

अनुकरण का वांछनीय क्षेत्र

यद्यपि प्लेटो ने सामान्यतः अनुकरणमूलक कला को और विशेषतः चित्रकला तथा दुःखप्रधान नाट्यकला को दूषित सिद्ध किया था फिर भी मानवीय जीवन में अनुकरण के महत्त्व को वे भलीभांति जानते थे। उनको यह ज्ञात था कि 'अनुकरण' शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्य साधन है और बालक बोलना और चलना 'अनुकरण' से ही सीखते हैं। वे इस बात को भी जानते थे कि चिरकाल तक किया गया अनुकरण आदत में बदल जाता है और उपस्वभाव बन कर मन, बुद्धि और वाणी को प्रभावित करता रहता है। अतएव राजनीतिक कारणों से उत्प्रेरित होकर उन्होंने अनुकरण के वांछनीय क्षेत्र को निर्धारित किया था।

उनके मत के अनुसार लोकतन्त्र के संचालकों को निन्दनीय वस्तुओं का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अनुकरण[1] केवल उसी का करना चाहिए जो भला है, और इन उत्तम वस्तुओं में से भी विभिन्न व्यक्तियों के लिए केवल वे ही अनुकरणीय हैं जो उनसे अपनाये गए विविध पेशों के लिए कल्याणकारी हैं। एक व्यक्ति केवल एक ही काम को भली प्रकार से कर सकता है। यदि वह अनेक कामों में एक साथ हाथ डालेगा तो सभी में वह असफल होगा। अतएव एक व्यक्ति को एक उत्तम वस्तु का ही अनुकरण करने की अनुमति मिलनी चाहिए।

स्वतन्त्रकलाशास्त्र की समस्या के समाधान का सारांश

प्लेटो के पास कला की उत्कृष्ट मर्मज्ञता थी। कला के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति थी। अपने ग्रन्थ रिपब्लिक (अध्याय १०, उपखण्ड–६०७ डी) में उन्होंने यह घोषणा की थी कि उनको इस बात से बड़ी प्रसन्नता होगी कि कला के औचित्य को सिद्ध करें, उसकी विमर्शपूर्णता प्रमाणित करें और अपने लोकतन्त्र में उसको उचित स्थान दें, यदि कोई यह बता दे कि इसको किस प्रकार से किया जा सकता है। परन्तु ऐसा लगता है कि कलाकृति के उत्पादन

१. रि०—९८-१००।

के सिद्धान्त 'अनुकरण' एवं उसके लक्ष्य तथा कलाकृतियों के प्रेमियों की इन्द्रियसुख को प्राप्त करने की लोकव्याप्त उत्कण्ठा और कलाकृतियों के उन पर पड़े हुए प्रभावों के विषय में जो कुछ उन्होंने कहा था वह इतनी मात्रा में सत्य था कि कोई भी गम्भीर चिन्तक कला के औचित्य को सिद्ध नहीं कर सकता था। उनकी कर्तव्यमीमांसीय चेतना (Ethical consciousness) तत्कालीन कला के प्रकट रूपों के प्रति विद्रोह करती थी और उनका मूलतत्त्व-दर्शन का सिद्धान्त ऐसा था जिसने उनको अपने आदर्श लोकतन्त्र से कला को बहिष्कृत करने पर बाध्य कर दिया था।

इस समाधान को हम संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से कह सकते हैं। कला सब प्रकार से विमर्शशून्य है।

१—क्योंकि भूततत्त्व (Matter) और वह प्रकृतिलोक जो ज्ञप्तियों के लोक का भूततत्त्व पर अपूर्ण अंकन अथवा प्रतिबिंब मात्र है दोनों विमर्श-शून्य हैं।

२—क्योंकि यह शरीर भी विमर्शशून्य है जिसके अधीन सभी संवेदनाएँ, मनोवेग और भावनाएँ हैं।

३—क्योंकि मानवीय बोध के तीन प्रकारों अर्थात् (अ) ज्ञाप्तियों का बोध (आ) इन्द्रिय-बोध और (इ) अभिमत (Opinion) में से अन्तिम दो विमर्शहीन हैं।

४—क्योंकि अनुकरणमूलक कलाकृतियों में व्यावहारिक जगत की वस्तुओं का केवल आंशिक अनुकरण मात्र ही होता है और ये कलाकृतियां इन्द्रिय-बोध का विषय होती हैं तथा मनोवेगों और भावनाओं की उद्बोधक हैं, अतएव यह कला विमर्श को पुष्ट करने के स्थान पर उसको भ्रष्ट करती है। इसलिए आदर्श लोकतन्त्र में इस कला को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए।

इस रूप में प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में कला के स्वरूप का निरूपण किया है। परन्तु ऐसा लगता है कि 'लाज़' नामक अपने ग्रन्थ में जिसका उल्लेख हम अगले अध्याय में करेंगे इन्द्रियसुख की स्रोत रूप सभी कलाओं को उन्होंने अपने आदर्श लोकतन्त्र में निवास करने की अनुमति इस शर्त पर दे दी है कि उनके प्रदर्शनों का संचालन दृढ़ नियंत्रित रूप से किया जाय अर्थात् उनका उपयोग केवल शारीरिक कामनाओं की तृप्ति के लिए नहीं वरन् लोगों में सौम्य आचरण को उत्साहित करने के लिए ही किया जाय। इसी लिए कला के विषय में जो उनका अभिमत है उसको 'दृढ़ नियन्त्रित इन्द्रिय-

सुखवाद' (Rigoristic Hedonism) के नाम से पुकारते हैं। क्योंकि कलाओं से सुख प्राप्त करने को और कलाकृतियों के प्रदर्शनों को ये अत्यन्त कठोर और दृढ़ नियमों से संचालित करने के अदम्य पक्षधर हैं। परन्तु यदि हम अपना ध्यान उनके वार्तालापस्वरूप ग्रन्थों जैसे कि आईओन, फेडो, फ्रेड्स पर दें और उन सब मतों का संकलन करें जो उन्होंने कला की समस्याओं के विविध रूपों—विशेषकर भावशोधन (Katharsis) के विषय में लिखे हैं तो हमें एक विभिन्न मत मिलता है। इन स्थलों पर ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने एरिस्टाटल के मत को पहले ही जान लिया था। आगामी अध्याय में हम प्लेटो के ग्रन्थों में भावशोधनविषयक कलासिद्धान्त शीर्षक उपप्रकरण में भावशोधन की व्याख्या करते हुए इस विषय को और भी अधिक स्पष्ट करेंगे।

अध्याय ३

'कला को लोक चरित्र का उन्नायक होना चाहिए'

एरिस्टाटल का कलाविषयक सिद्धान्त

एरिस्टाटल का महत्त्व

एरिस्टाटल (३८४–३२२ ई० पू०) तुलनात्मक दृष्टि से अपने मूलतत्त्व-दर्शन एवं स्वतन्त्र कलाशास्त्र के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। उनके मत के अनुसार ज्ञप्तियां इन्द्रियबोधातीत और भौतिक संसार से परे (Transcendent) न होकर सांसारिक विषयों के अन्तर्वर्ती (Immanent) हैं। वे वस्तुओं के अन्तरस्थ रह कर उनका स्वरूपविधायक तत्त्व हैं। ये ज्ञप्तियां सामान्य स्वरूप हैं। भारतवर्ष में वैशेषिक मत के अनुयायी यह मानते हैं कि ज्ञप्ति-स्वरूप सामान्य और विशेष में समवाय सम्बन्ध है। परन्तु वैशेषिक मत के अनुसार सामान्य कोई वस्तुओं के स्वरूप का विधायक तत्त्व नहीं है। यह कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो उस भूततत्त्व की उन्नयन दिशा अथवा विकास दिशा का निर्धारक हो जिसके अन्दर वह समवायी रूप में निवास करता है। यह केवल इस ज्ञान का कारण है कि कोई वस्तु किस विशेष वर्ग की है और एक सामान्य के बोधक शब्द का प्रयोग उसके लिए क्यों किया जाता है। वैशेषिक मत में सामान्य एक प्रमाणमीमांसागत तत्त्व मात्र है जब कि एरिस्टाटल के मत में यह मूलतत्त्वदर्शन गत एक तत्त्व है।

अपने कलाशास्त्र में एरिस्टाटल 'कला का लक्ष्य चारित्रिक एवं नैतिक उत्थान है' इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि कलाकृति का लक्ष्य अपने भक्त का चारित्रिक उत्थान करना है। शास्त्रीय भाषा में एरिस्टाटल के इस सिद्धान्त को 'शिक्षकवाद' (Pedagogism) कहते हैं। परन्तु इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्होंने दुःखान्त नाटक के सम्बन्ध में किया है। एरिस्टाटल का मत यह है कि दुःखान्त नाटक को देखने से दर्शक का चरित्रबल बढ़ता है। चरित्रबल की यह बढ़ती इस कारण से नहीं होती कि नाटक के महत्त्वपूर्ण पात्रों के मुख से उपदेश कहलवाए जाते हैं वरन् यह बढ़ती भावशुद्धि अर्थात् भावों के अत्याधिक्य के निराकरण अथवा उनके शुद्धीकरण से की जाती है। इस शुद्धीकरण में भावावेग अपने

अवांछनीय अंश से मुक्त हो जाते हैं और भावों में परस्पर विषमता नष्ट हो जाती है अर्थात् उनका अतितीव्र रूप नष्ट हो जाता है और वे अतिरहित दशा (Mean) में आ जाते हैं। इस प्रकार से सबसे पहले एरिस्टाटल ने यह पता लगाया था कि कलाकृति का प्रभाव ऐसा होता है कि उससे व्यक्तित्व के कुछ अंश नष्ट हो जाते हैं। आत्मशुद्धि के विषय में प्लोटाइनस का यह मत है कि 'यह पूर्णतया व्यक्तित्व का निराकरण (Deindividualization) है' प्लोटाइनस के इस मत के लिए एरिस्टाटल ने मार्ग तैयार कर दिया था।

भारतवर्ष के स्वतन्त्रकलाशास्त्र में भी कला के विषय में यह मत वर्तमान था परन्तु इसको 'भावशोधन' के रूप में प्रकटन नहीं किया गया था। 'कला का लक्ष्य नैतिक एवं चारित्रिक उत्थान है इसको दो दृष्टिकोणों से प्रतिपादित किया गया है। इनमें से एक मत का प्रतिपादन काव्यलक्षणकारों ने और दूसरे मत का प्रतिपादन नाट्यशास्त्र के प्रतिपादकों ने किया है। काव्य-लक्षणकारों का यह मत है कि कविता अपने भक्त का चारित्रिक उत्थान उस पर्दा-व्याख्यान (Curtain lecture) के समान करती है जिसके लिए यह लोकप्रसिद्ध है कि धार्मिक मञ्च से दिए गए व्याख्यान की तुलना में यह सौ गुना अधिक प्रभावशाली होता है (कान्तासम्मिततयोपदेश युजे)। परन्तु नाट्य-शास्त्रकार यह कहते हैं कि नाटक से दर्शक के चारित्रिक बल की बढ़ती इस कारण से होती है कि उसका तदात्म्य नाटक के प्रधानपात्र, नायक, के साथ हो जाता है और इस प्रकार से उसको इस बात का ज्ञान निजी अनुभव से होता है कि पुण्य का पंथ भला और पाप का पंथ बुरा है।

'कुरूप' (Ugly) के बोध के प्रसंग में एरिस्टाटल ने कला के अनुभव को प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतिपादित किया है तथा यह माना है कि कलाकृति के अनुभव में एक प्रकार का अनुमान होता है। इन दोनों बातों में भी शंकुक के साथ उनका मत अद्भुत रूप से मिलता-जुलता है। नाटक के रचनाविधान के विषय में भी एरिस्टाटलीय तथा भारतीय मत अद्भुत रूप में परस्पर समान रूप हैं।

एरिस्टाटल के 'शिक्षकवाद' (Pedagogism) की भूमिका

हम यह कह चुके हैं कि पाश्चात्य देशों में उस समय से कलाशास्त्र की समस्याओं के समाधान की चेष्टा तीन दृष्टिकोणों से की गई है जब से कलाशास्त्र के इतिहास का आरम्भ होता है। प्लेटो ने साफिस्ट गौरजियास के इस मत को स्वीकार कर लिया था कि कलाकृति भ्रान्तिजनक होती है और इसलिए

एक सहृदय कलाप्रेमी होते हुए भी वे इसके लिए बाध्य हो गए थे कि अपने ग्रन्थ 'लोकतन्त्र' में प्रतिपादित आदर्शस्वरूप लोकतन्त्र में कला को कोई स्थान न दें। इसका आंशिक कारण यह था कि उनका मूलतत्वदर्शन एक विशिष्ट दर्शन था और उन दिनों कला रसिकों में इन्द्रियसुख की तरफ रुझान अद्भुत रूप में अतिमात्रा में थी।

परन्तु अपने ग्रन्थ 'लोकतन्त्र' में कला के विषय में जो निर्णय उन्होंने किया था उससे वे स्वयं पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। उनका सहृदयत्व स्वयं इस निर्णय का विद्रोही था। 'लोकतन्त्र' में ही उन्होंने अपने इस कठोर मत को थोड़ा बदल-सा दिया था। उन्होंने अपने 'लोकतन्त्र' से कम से कम दो प्रकार के काव्यों को बहिष्कृत नहीं किया था—(१) देवताओं की स्तुतियां एवं (२) महापुरुषों की प्रशस्तियां। परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि अपने ग्रन्थ 'लाज़' के दूसरे अध्याय में उन्होंने निश्चय ही अपने इस मत को बदल दिया था। यह ज्ञात होता है कि उन्होंने यह निर्धारित किया था कि उनके आदर्श 'लोकतन्त्र' में सभी कलाओं के रहने और विकसित होने का आदेश है यदि उनके प्रदर्शनों को भली भांति अनुशासित किया जाय और उनका उपयोग केवल इन्द्रिय सुखेच्छा की पूर्ति के लिए नहीं वरन् सामान्य लोगों को 'सौम्य' बनने में उत्साहित करने के लिये और इसमें उन्हें सहायता देने के लिये किया जाय। अपने ग्रन्थ 'लाज़' के दूसरे अध्याय के अन्तिम भाग में जहां पर उन्होंने 'मदिरापान' के विषय में अपना अन्तिम निर्णय लिखा है उनका कथन निम्नलिखित है :—

'मैं यह कहूँगा कि यदि कोई नगर गम्भीरतापूर्वक उचित नियमों के अधीन और अतिवर्जित आचरण (Moderation) को उत्पन्न करने के लिए मदिरा के उपयोग की अनुमति देता है तो ठीक ही है। इसी प्रकार से और इसी सिद्धान्त के आधार पर इन्द्रियसुख उत्पन्न करने वाली सभी वस्तुओं का उन इन्द्रियसुखों पर विजय प्राप्त करने के लिए उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार से उन सबका प्रयोग करना उचित है।' (जोवेट्—भाग ४–४०६)

सत्य तो यह है कि एक कलाकृति से जो प्रभाव दर्शक के चित्त पर पड़ता है उसमें इन्द्रियसुख और तुष्टि आवश्यक रूप से होते हैं। इनका अस्तित्व संसार भर में उन सब स्थानों पर माना गया है जहां पर कला का विकास हुआ है। नेत्रों और कानों को, जिनको कलाग्राही इन्द्रियां[1] माना जाता है,

---

* १. ना० शा० २

३ स्व०

तृप्त करने के लिए ही सब देवताओं ने मिलकर एक साथ सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से वह प्रार्थना की थी जिससे अभिभूत होकर उन्होंने उस नाट्यकला को उत्पन्न किया जिसका वर्णन भरतमुनि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में किया है। अतएव कला के विषय में जो निर्णय प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'लोकतन्त्र' में दिया था उसका समर्थन सामान्य लोग नहीं कर सकते थे। स्वीकृत तर्कसंगत तथा कर्तव्यमीमांसाशास्त्रीय सिद्धान्तों की उपेक्षा करते हुए सामान्य लोग कला के प्रति अत्यन्त पक्षपातपूर्ण होते हैं और वे किसी भी दशा में उसका परित्याग नहीं कर सकते।

अतएव एरिस्टाटल ने समन्वय करने की चेष्टा की। इस समन्वयपथ की रचना स्वयं प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'लाज़' के दूसरे अध्याय में, जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में कह आए हैं, और उस 'सिम्पोज़ियम' में की थी जिसका उल्लेख हम आगामी पृष्ठों में करेंगे। इस समन्वय ने 'शिक्षकवाद' नामक प्रसिद्ध कलासिद्धान्त का स्वरूप लिया जिसका सम्बन्ध एरिस्टाटल के नाम के साथ केवल इसलिए नहीं जोड़ा जाता है क्योंकि उनके पूर्व किसी को कला के नैतिक लक्ष्य का ज्ञान नहीं था, इसका कारण यह है कि एरिस्टोफेन ने अपने नाटक 'फ्राग्स' में पहले ही घोषित किया था कि 'जो सम्बन्ध[1] पाठशाला के गुरू का अपने बालक शिष्यों के साथ है वही सम्बन्ध कवि का नवयुवकों के साथ है' बल्कि इसलिए जोड़ा जाता है क्योंकि एरिस्टाटल वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने 'शिक्षकवाद' नामक कलासिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी सम्पूर्ण सैद्धान्तिक योजना की पृष्ठभूमि पर किया था।

उदाहरण के लिए एरिस्टाटल के मत में कला में 'अनुकरण' करने का अर्थ यह नहीं है कि वस्तुओं का चित्रण कला में ठीक वैसा ही किया जाय जैसा कि प्रकृति के क्षेत्र में वस्तुतः मिलतीं हैं वरन् यह है कि उनका आदर्शीकरण (Idealization) किया जाय अर्थात् उनको उस रूप में प्रकट किया जाय जैसा कि उनको अन्तरस्थ (Emmanent) ज्ञप्तियों (Ideas) के नियन्त्रण में रहने से बनना चाहिए। कलाकृति का लक्ष्य 'अतिरहित मध्यदशा' (Mean) को प्रदर्शित करना भर ही है और कला की सर्वोत्कृष्ट कृतियां वे हैं जो इस सूक्ष्म 'लालित्य' को प्रदर्शित करती हैं। एरिस्टाटल यह मानते हैं कि दुःखप्रधान नाटक के नायक को एक पुण्यात्मा पात्र होना चाहिए और वे भाव (Emotion), जिनका अतिमात्रा से शोधन (Katharsis) दुःख-प्रधान नाटकों के प्रदर्शन

१. फ्रा० ५७

से किया जाता है, आत्मा के एक अंश से सम्बन्धित होते हैं। भूततत्त्व की उस शक्ति को जिससे वह अपने ऊपर ज्ञप्ति के स्वरूप को अंकित नहीं होने देती है, एरिस्टाटल कुरूपता का कारण मानते हैं। इस प्रकार से उनका कलाविषयक सिद्धान्त उनके मूलतत्त्व दर्शन, मनोविज्ञान एवं कर्त्तव्यमीमांसा-शास्त्र पर आधारित है। अतएव हम यहां संक्षिप्त रूप में एरिस्टाटल के ऐसे दार्शनिक मतों का उल्लेख करेगें जिनका सीधा सम्बन्ध उनके कलाविषयक सिद्धान्त से है।

एरिस्टाटल के कलाशास्त्र की दार्शनिक पृष्ठभूमि

एरिस्टाटल प्लेटो के शिष्य थे। वे अपने गुरू के मूलतत्त्वदर्शन सम्बन्धी और कलाशास्त्रसम्बन्धी सिद्धान्तों की दुर्बलताओं को जानते थे। अपनी बुद्धि के अनुसार उन्होंने उनको दोषमुक्त करने की चेष्टा की। प्लेटो के दर्शनशास्त्र ने निम्नलिखित समस्याओं को उत्पन्न किया था :—

१—यदि ज्ञप्तियाँ वास्तव में इन्द्रियज्ञानातीत हैं, यदि उनका अस्तित्त्व नक्षत्रों के लोक के परे है, यदि वे भूततत्त्व-लोक से विलग हैं और भूततत्त्व क्रियाशून्य, प्राणहीन, एवं भेदहीन पिण्डमात्र है तो ये ज्ञप्तियाँ भूततत्त्व को किस प्रकार से अंकित करती हैं? वहिर्भूत संसार अथवा प्रकृति का यह अस्तित्त्व किस प्रकार से सम्भव होता है?

२—मनुष्य की आत्माओं के अस्तित्त्व और शरीर के साथ में उनके सम्बन्ध की व्याख्या किस प्रकार से की जा सकती है?

३—वस्तुओं के प्रगतिशील रूप-परिवर्तनों की व्याख्या कैसे की जा सकती है? इन समस्याओं का समाधान करने के लिए धर्मकल्पित-व्यक्ति 'डिमीअर्ज' का सहारा लेना उपर्युक्त समस्याओं का वास्तविक दार्शनिक समाधान करने में अपनी असफलता को मान लेना है।

ज्ञप्तियों की अन्तरस्थता

अतएव एरिस्टाटल ने ज्ञप्तियों को नक्षत्रोपरिलोक से भूमि पर उतारा था। उनके मत के अनुसार ये ज्ञप्तियाँ इन्द्रियातीत-लोकोपरि (Transcendental) न होकर लोकान्तरस्थ (Immanent) हैं। इनका अस्तित्त्व भूततत्त्व से विलग न होकर भूततत्त्व के अन्दर है। वे तात्त्विक रूप (forms) हैं और इसलिए वस्तुओं का मूल, सार अथवा कारण हैं। ये ज्ञप्तियाँ वस्तुओं की

संचालन शक्तियां अथवा प्रयोजन हैं। वस्तुओं का जो भी स्वरूप है वह सभी इन्हीं ज्ञप्तियों के कारण है। शप्तियां ही वस्तु को रूप और प्राण देतीं हैं। भूततत्त्व में उनका विकास क्रमशः होता है। ये ज्ञप्तियां केवल वस्तुओं का मूलतत्त्व और नियामक तत्त्व मात्र ही नहीं हैं वरन् विमर्श (reason) का भी मूलतत्त्व और नियामक तत्त्व हैं। ये ज्ञप्तियां अव्यक्त रूप से मन में निवास करती हैं। उनको प्रकट करने के लिए अथवा उनको बोधगम्य बनाने के लिए 'अनुभव' आवश्यक है। ये ज्ञप्तियाँ चित्त में अन्तर्भूत (Implicit) हैं और अनुभव से बहिर्भूत होती हैं। वे वस्तुओं के भी तात्त्विक रूप (Forms) हैं और स्वयं 'सत्य' के भी तात्त्विक रूप हैं। ज्ञप्ति अथवा तात्त्विक रूप भूततत्त्व की अव्यक्त सम्भावना या शक्यता है। रूप का पूर्णग्रहण करने में भूततत्त्व अपने ही अव्यक्त रूप को पूर्णतया व्यक्त करता है।

प्लेटो से उनका मतभेद

हमारा अनुभवलोक ज्ञप्तियों के लोक की छाया मात्र ही नहीं है। यह केवल आभासों का (Appearances) संसार मात्र नहीं है। यह केवल प्राणशून्य वह भूततत्त्व मात्र नहीं है जिस पर ज्ञप्तियाँ किसी न किसी प्रकार से अपूर्ण रूप में अंकित होती हैं जैसा कि प्लेटो ने प्रतिपादित किया था। एरिस्टाटल के मतानुसार यह अनुभवलोक रूपतत्त्व और भूततत्त्व का अखण्ड रूप से मिला-जुला लोक है। यही लोक विज्ञान का यथार्थ विषय है।

भूततत्त्व

भूततत्त्व कोई असत् स्वरूप और जड़ पदार्थ नहीं है। यह सक्रिय है। अनुभवलोक में यह सदैव रूप तत्त्व के साथ मिला-जुला प्राप्त होता है। यह रूपतत्त्व को अपने में प्रकट करता है। यह भूततत्त्व गतिमान, परिवर्तनशील एवं परिवर्धनशील है। यह क्रमशः विकसित होता है। यह भूततत्त्व दो प्रकार का है (१) मूल (Primary) अथवा अमूर्त एवं (२) स्थूल अथवा मूर्त (Concrete)। केवल मूल भूततत्त्व ही ऐसा है जिसके विषय में हम विचार ही कर सकते हैं। यह हमारे अनुभव में कभी नहीं आता। यह केवल संभावनामात्र ही है, अर्थात् यह केवल तर्कशास्त्र की मान्यता भर ही है। स्थूल भूततत्त्व सदैव रूपवान होता है। एक अर्थ में यही व्यक्तरूप वास्तविकता है। परन्तु अन्य रूप (वह रूप जो उसने नहीं लिया है) के सम्बन्ध में यह संभाव्यता (Potentialiy) मात्र है।

परिवर्तन के आधार के रूप में भूततत्त्व

परिवर्तन एक सर्वव्यापी व्यापार है। हमारे इन्द्रियबोध में जो कुछ भी आता है वह सब परिवर्तनशील है। वस्तुएं एक क्षण में अस्तित्वपूर्ण और दूसरे क्षण में अस्तित्वशून्य होती हैं। उनके गुण बदलते हैं। इसकी व्याख्या किस प्रकार से की जाय? इस परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या किन रूपों में की जा सकती है? एरिस्टाटल का उत्तर यह है कि भूततत्त्व ही परिवर्तन का आधार है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो परिवर्तनों के मध्य में सर्वदा विद्यमान रहता है। यह अनेक प्रकार के गुणों से युक्त तत्त्व है। यह लुप्त नहीं होता। यह बिना गुणों के अनुभवलोक में नहीं आता। एक ज्ञप्ति के विधायक कुछ उन गुणों का इसमें होना सदैव आवश्यक है जो एक वर्ग की अनेक विशिष्ट वस्तुओं में अपने को प्रकट करते हैं। इस प्रकार से जब हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु अपना रूप परिवर्तित करती है तो एरिस्टाटल के मतानुसार हमारा अर्थ यह नहीं होता कि 'रूप' बदलता है। वरन् हमारा अर्थ यह होता है कि भूततत्त्व एक नया रूप ले लेता है जो उसको व्यवस्थित और संगठित करता है। जब कोई वस्तु पूर्णतया विकसित हो जाती है अर्थात् जब वह अपने रूप का समग्र रूप से ग्रहण कर चुकती है तो दूसरा रूप उसको व्यवस्थित करने लगता है।

विकलांग, कुरूप एवं दानवाकृति के कारण के रूप में भूततत्त्व

यदि रूप वे संचालक शक्तियां हैं जो भूततत्त्व में अपनी स्फुट सत्ता को प्राप्त करती हैं, यदि प्रत्येक सजीव शरीर अपने स्वरूप को 'रूप' की क्रिया से प्राप्त करता है, यदि 'रूप' भूततत्त्व के विकास का परिचालन करता है तो यह कैसे सम्भव है कि प्राकृतिक वस्तुएं ज्ञप्तियों को इतने अपूर्ण और आंशिक रूप में प्रकट करती हैं? यह कैसे सम्भव होता है कि हम इतनी अधिक संख्या में प्रकृति लोक में कुरूप, विकलांग और दानवाकृतियों को देखते हैं?

इसका उत्तर एरिस्टाटल यह देते हैं कि भूततत्त्व कोई निश्चेष्ट रूपग्राही वस्तु नहीं है। यह रूपविरोधी है। एक वर्ग की व्यक्तियों की बहुलता और अनेकरूपता का कारण भूततत्त्व की रूपविरोधिनी शक्ति है। भूततत्त्व की इसी शक्ति के कारण प्रकृतिलोक में हमको विकलांगता, कुरूपता और दानवाकृति के दर्शन होते हैं।

आत्मा

इन्द्रियबोध्य संसार से ज्ञप्तियां विलगरूप नहीं हैं यह हम गत उपप्रकरण में कह चुके हैं। वे उस लोक के आवश्यक अंश[१] हैं। वे उसके अन्तरस्थ हैं। ये ज्ञप्तियां उसको रूप और जीवन प्रदान करतीं हैं। और क्योंकि आत्मा जीवन के मूलतत्त्व[२] (Principle of life) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है इसलिए यह वस्तुतः 'ज्ञप्ति' से अधिक और कुछ नहीं है। यह आत्मा सप्रयोजन गति का एक प्रयोजक कारण है, अर्थात् जीवन का वह मूलतत्त्व है जो उन सब स्थलों पर व्याप्त है जहां पर जीवन के चिन्ह हैं। यह आत्मा शरीर के रूप और गति को निर्धारित करती है तथा शरीर के साथ ठीक उसी प्रकार से सम्बन्धित है जैसे ज्ञप्ति भूततत्त्व के साथ सम्बन्धित होती है।

आत्मा के विभिन्न क्रमिक-स्वरूप (Grades)

एरिस्टाटल के मतानुसार जीवन के महत्त्वपूर्ण व्यापार आत्मा के विभिन्न अंशों के केवल प्रकटीभवन मात्र ही हैं। इसलिए वे आत्मा के गुणों का वर्णन जीवन के व्यापारों के रूप में करते हैं। उनके मत के अनुसार आत्मा के विभिन्न अंश निम्नलिखित हैं :—

(१) पोषणात्मक (Nutritive), (२) इन्द्रियबोधात्मक (Sensitive), (३) कल्पनात्मक (Imaginative), (४) एषणात्मक (Appetitive) एवं (५) प्रज्ञात्मक (Intellective)।

यद्यपि अन्य दार्शनिकों ने आत्मा के दो अन्य[3] स्वरूपों का वर्णन किया है—१. कामात्मक (concupiscent) एवं २. मनोवेगात्मक (Passionate) फिर भी एरिस्टाटल के मतानुसार आत्मा के ये अंश उसके एषणात्मक अंश से इतने अधिक भिन्न नहीं हैं कि उनकी गणना अलग से की जाय। इस प्रकार से मनोवेग और इसलिए भाव आत्मा के एषणात्मक अंश से सम्बन्धित हैं। एषणा के साथ भावावेग अथवा मनोवेग के इस सम्बन्ध का स्पष्टीकरण उन्होंने अपने 'रिटारिक' नामक ग्रन्थ में भावावेग की व्याख्या करते हुए पूर्णतया किया है। 'रिटारिक' में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक भावावेग में विशिष्ट इच्छा वर्तमान रहती है और वह एषणा का ही रूप है।

---

१. थिली ७८ २. थिली ८७ ३. डि० एनी० १४७

विभिन्न स्वरूपों के जीवन के अनुकूल आत्मा के विभिन्न क्रमिक स्वरूप होते हैं। विभिन्न आत्माएं विभिन्न प्रकार के विशिष्ट शरीरों में होती हैं। पोषण, विकास, वृद्धि और सन्तानोत्पत्ति के व्यापारों का नियमन करने वाली वृक्षात्मा से लेकर उच्चतर शक्तियों से युक्त मानवीय आत्मा तक उर्ध्वगामी क्रमिक रूप से विकसित आत्माओं की एक श्रृङ्खला है।

मनुष्य की आत्मा

मनुष्य सूक्ष्म ब्रह्माण्डरूप (Microcosm) है और प्रकृति का अन्तिम साध्य लक्ष्य है। अन्य प्राणियों से उसका भेद यह है कि उसके पास बुद्धिबल है। मनुष्य की आत्मा उस सीमा तक वृक्षात्मा (Plant-soul) के समान है जहाँ तक वह पोषण, विकास, वृद्धि और सन्तानोत्पत्ति के व्यापारों का नियन्त्रण करती है। मनुष्य की आत्मा पशु की आत्मा से इस बात में मिलती-जुलती है कि उसके पास इन्द्रियप्रत्यक्ष, सामान्यज्ञान, कल्पना एवं स्मृति की शक्तियां तथा सुख-दुःख, इच्छा और द्वेष होते हैं।

मानवीय आत्मा का विशिष्ट लक्षण विमर्श है

मानवीय आत्मा में वृक्ष और पशु आत्माओं के समान व्यापार नियमित करने की शक्ति के अतिरिक्त तात्त्विक स्वरूप सम्बन्धी सूक्ष्म विचार को भी करने की शक्ति है अर्थात् वह शक्ति भी है जो सामान्य और वस्तुओं के आवश्यक रूपों का विचार करती है। अपने पशु आत्मा के रूप में यह इन्द्रियबोध्य को जानती है और अपने विमर्शांश द्वारा यह वस्तुओं के सामान्यों (Concept) का मानसप्रत्यक्ष करती है या उन्हें समझती है।

दो प्रकार का विमर्श

एरिस्टाटल के मतानुसार ऐसी कोई भी वस्तु वास्तविक नहीं हो सकती जिसका कोई वास्तविक कारण न हो। अतएव वे यह मानते हैं कि वास्तविक कारण 'रूप' प्रत्येक भौतिक वस्तु में वर्तमान रहता है जिसको स्थूल भूततत्त्व अर्थात् एक विशेष शरीर अपने में अभिव्यक्त करता है। अतएव वे यह स्वीकार करते हैं कि विमर्श दो प्रकार का है (१) निष्क्रिय (Passive) और (२) सक्रिय (Active)। निष्क्रिय-विमर्श में सामान्य अव्यक्त रहते हैं। यह भूततत्त्व के समान है। इसको 'रूप' अर्थात् सक्रिय-विमर्श अपनी क्रिया से प्रभावित करता रहता है। वे 'रूप' जो निष्क्रिय-विमर्श में अव्यक्त रहते हैं सक्रिय-

विमर्श से व्यक्त किए जाते हैं। जिस प्रकार से इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना शरीर के साथ सम्बन्धित हैं और उसी के साथ ये नष्ट होते हैं उसी प्रकार से यह निष्क्रिय-विमर्श भी जिसमें इन्द्रियबोध से उत्पन्न संस्कारों के अंश निवास करते हैं, शरीर से सम्बन्धित है और उसी के साथ नष्ट हो जाता है। इन संस्कारों के अंशों का सहारा लेकर ही सक्रिय-विमर्श निष्क्रिय-विमर्श में अव्यक्तरूप में वर्तमान सामान्यों को अपनी क्रिया से अभिव्यक्त होने के लिए प्रेरित करता है। सृजनशील (Creative) अथवा सक्रिय-विमर्श शुद्ध वास्तविकता (Pure actuality) है। 'सामान्य' इसमें अभिव्यक्त रूप में वर्तमान रहते हैं। यह सक्रिय-विमर्श उनका साक्षात्कार अव्यवहित रूप से करता है। इसमें विचार (thought) और सत्ता (being) एकात्म रहते हैं। यह प्लेटो-प्रतिपादित उस शुद्धात्मा के समान है जो ज्ञप्तियों के लोक का चिन्तन और मनन करती है। आत्मा की ऊर्ध्व गति में इन्द्रियबोध जैसे अन्य व्यापारों के समान इसका उदय नहीं होता। यह शरीर के उत्पन्न होने के पहले और उसके अन्त हो जाने के बाद भी वर्तमान रहता है। यह अभौतिक और अनश्वर है। यह दिव्य आत्मा (Divine Mind) की वह चिन्गारी है जो बाहर से आत्मा में आती है।

एरिस्टाटल का कर्तव्यमीमांसाशास्त्र

साक्रेटीज़ ने कर्तव्यमीमांसाशास्त्र सम्बन्धी इस समस्या को उठाया था कि 'सर्वोपरि कल्याणकारी कर्तव्य क्या है?' एरिस्टाटल ने इसका समाधान अधिक दार्शनिकता से किया है। हम यह लिख आए हैं कि एरिस्टाटल के मतानुसार किसी वस्तु की ज्ञप्ति अथवा 'रूप' उस वस्तु के अन्तरस्थ ही होता है। यह वह प्रयोजक शक्ति अर्थात् उत्प्रेरक शक्ति है जो अपने अधिकरण स्वरूप उस भूततत्त्व की उन्नयन दिशा को निर्धारित करती है। अतएव उनके मतानुसार किसी वस्तु की कल्याणकारिता इस बात में है कि वह अपने प्रयोजन, सारतत्त्व, रूप, विचार अथवा ज्ञप्ति को यथार्थ रूप में सिद्ध करे।

यदि यह सिद्धान्त हम मानवीय व्यापारों पर प्रयुक्त करें तो हम यह कह सकते हैं कि मानवीय व्यापार की कल्याणकारिता उसके प्रयोजन को सिद्ध करने (Realization) पर निर्भर है। परन्तु एक कार्य और उसके प्रयोजन की सिद्धि उस दूसरे कार्य और उसके प्रयोजन की सिद्धि की ओर ले जाती है जो अन्य कार्यों और प्रयोजनसिद्धियों के साथ श्रृंखला रूप में जुड़ी हैं। परन्तु यह श्रृङ्खला तर्क विरुद्ध न हो जाय इसलिए इस प्रयोजनश्रृङ्खला का अन्त कहीं न कहीं अवश्य होना

चाहिए। अतएव सर्वोपरि कल्याण वह है जो प्रयोजनों की शृङ्खलाओं के चरम विन्दु का स्पर्श करता है। मनुष्य एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है और वह प्रकृति का चरम लक्ष्य है। वह अपनी सविमर्शता के कारण अन्य सब प्राणियों से भिन्न है और इसी कारण से केवल मनुष्य ही चरम कल्याण का भागी हो सकता है। परन्तु मनुष्य का वह विशिष्ट गुण जिसके कारण वह अन्य प्राणियों से भिन्न है सविमर्शता है। इसलिए मनुष्यजाति का चरम कल्याण केवल शारीरिक सत्ता मात्र ही नहीं है और न केवल वृक्षों एवं पशुओं के व्यापारों का करना मात्र ही है वरन् अपने विमर्शरूप विशिष्ट गुण का सहज रूप से निरन्तर प्रयोग करना ही है।

परन्तु मनुष्य केवल विमर्श (Reason) मात्र नहीं है। उसकी रचना सविमर्श (Rational) और निर्विमर्श (Irrational) दोनों अंशों को मिलाकर हुई है। और सविमर्शांश की क्रिया निर्विमर्शांश पर निर्भर है। चरम कल्याण की सिद्धि सम्भव हो सके इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के निर्विमर्शांश के विधायक शरीर और वे सब वस्तुएँ जो अनिवार्य रूप से उसके साथ जुड़ी हैं जैसे इन्द्रिय बोध, संवेदनाएँ, इच्छाएँ और रुझाने अपने को सविमर्शांश के निर्देशन और नियन्त्रण को समर्पित कर दें।

पुण्यशीलता (Virtue) और कल्याण

साहस, उदारता एवं शालीनता कल्याणकारी हैं, क्योंकि आत्मा के सविमर्शांश तथा उसके निर्विमर्शांश का परस्पर उचित सम्बन्ध, शरीर, इन्द्रियां तथा रुझानों के प्रति उचित उन्मुखता एवं (१) दुःसाहस तथा कायरता (२) अतिव्यय और कृपणता (३) अतिलज्जा और निर्लज्जता के अतिरेकों की मध्यस्थ दशाएं पुण्यशीलता की विधायक हैं।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति

एरिस्टाटल के मतानुसार अव्यक्त शक्ति (Potentiality) दो प्रकार की है (१) भौतिक एवं (२) मानसिक। मानसिक अव्यक्त शक्ति की विलक्षता इस बात में है कि वह दो परस्पर विरोधियों में से किसी एक को उत्पन्न कर सकती है। परन्तु इसके विपरीत भौतिक अव्यक्तशक्ति दो परस्पर विरोधियों में से केवल एक को ही उत्पन्न कर सकती है जैसे अग्नि केवल उष्णता को ही उत्पन्न कर सकती है। इस प्रकार से मानसिक अव्यक्त शक्ति समान रूप से भला अथवा बुरा, पाप अथवा पुण्य दोनों को उत्पन्न कर सकती है। अतएव यह स्पष्ट

है कि मन किसी भौतिक आवश्यकता से बन्धा हुआ नहीं है और वह स्वतन्त्र है। क्योंकि भौतिक अव्यक्त शक्ति के लिए यह आवश्यक है कि आवश्यक दशाओं के वर्तमान होने पर वह एक विशेष प्रकार से कार्य करे, परन्तु मानसिक अव्यक्त शक्ति के लिए ऐसा आवश्यक नहीं है। अतएव किसी ऐसे दूसरे नियन्त्रक को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है जो मानसिक अव्यक्तशक्ति का नियन्त्रण करता है और यह निर्धारित करता है कि दो परस्पर विरोधियों में से किस को विकसित करना चाहिए। यह नियन्त्रक या तो १. इच्छा है या २. सविमर्श प्रयोजन है। दो निर्धारणकारी तत्त्वों में से एक को चुन लेना जिस तत्त्व से सम्भव है वह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है।

पुण्यशीलता स्वाभाविक नहीं वरन् साध्य तत्त्व है

इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि केवल नैतिक शक्ति (Moral Capacity) के व्यवहार और प्रयोग में ही व्यक्ति केवल बाह्य और भौतिक नियन्त्रण से परे नहीं है वरन् इस नैतिक शक्ति की प्राप्ति ही[1] व्यक्ति पर निर्भर है। क्योंकि नैतिकशक्ति जन्मजात न होकर एक साध्य तत्त्व है।

पुण्यशीलता एक स्वभाव है

पुण्यशीलता एक स्वभाव (Habit) है[2] अथवा यह चुनने की वह शक्ति है जो सदैव विमर्श से परिचालित होती है। इसका विशेष गुण यह है कि यह उस व्यक्ति को जिसमें यह विद्यमान है समुचित अति-रहित मध्य (Mean) का अनुसरण करने में प्रवृत्त करता है।

एरिस्टाटल के मतानुसार प्रत्येक मानसिक तत्त्व या तो १. भावावेग या भाव या २. शक्ति अथवा कार्य-शक्ति या ३. स्वभाव या प्रशिक्षित कार्य-शक्ति होता है।

१—भावावेग या भाव का अर्थ रुझान, क्रोध, भय, विश्वास, ईर्ष्या, प्रसन्नता, प्रेम, घृणा, कामना, प्रतिस्पर्धा और करुणा है। परन्तु सामान्यतः भावावेग का अर्थ वह है जिसके साथ सुख और दुःख लगे रहते हैं।

२—शक्ति अथवा कार्य-शक्ति का अर्थ वह है जिसके कारण हममें उपर्युक्त प्रकार के भावों में से किसी एक से प्रभावित होने का सामर्थ्य होता है।

---

१. ग्रा० भाग १, २३८-४०   २. पीट० ४६-७

३—अतएव पुण्यशीलता न तो 'भाव' स्वरूप है और न कोई मानसिक क्रियाशक्ति ही है। यह केवल मन का वह शिक्षाप्राप्त स्वभाव है जो दो अतियों के बीच में वर्तमान 'मध्य' को चुनता है।

'मध्य' (Mean) का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के विविध प्रयोग एवं निहितार्थ हैं। 'अनतिरेकः सर्वतो भद्रः' 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' आदि लोक सूक्तियाँ इसी सिद्धान्त की ओर संकेत करती हैं। इन लोकप्रचलित और व्यवहारसिद्ध सूक्तियों का जो अर्थ है वह निश्चित रूप से अनतिरेक अथवा 'अतिरहित मध्य' के सिद्धान्त में निहित है। यह सिद्धान्त एरिस्टाटल के कर्तव्यमीमांसाशास्त्र की मानों रीढ़ है।

परन्तु यदि हम यह पूर्णतया जानना चाहते हैं कि अनतिरेक (Mean) के सिद्धान्त का अर्थ एरिस्टाटल के मतानुसार क्या था तो हमें इसका अध्ययन प्लेटो के उन कथनों से सम्बन्धित करते हुए करना चाहिए जो उन्होंने तत्संबंधी विषयों के बारे में कहे हैं। अपने ग्रन्थ फिलेबस में प्लेटो ने साक्रेटीज़ से प्रतिपादित 'अस्तित्व' (Existence) के एक नये वर्गीकरण को निम्नलिखित रूप में लिखा है:—

१. निस्सीम २. सीमा ३. निस्सीम और सीमा को मिलाकर रची गई वस्तुएं ४. इस मिश्रीकरण का कारण।

१—निस्सीम वह है जिसके विषय में अभी तक परिमाण का निश्चित स्वरूप ध्यान में नहीं आया है जैसे कि थोड़ा और बहुत, बृहत्तर और लघुतर।

२—सीमा का अर्थ है परिमाण का निश्चित विचार जैसे बराबर या दुगना।

३—इन दोनों के मिश्रण से उत्पादित वस्तुएं सीमाहीन में सीमा के नियम के प्रयोग की उपयोगिता प्रदर्शित करतीं हैं। उदाहरणतया :—

(अ) मनुष्य के शरीर में 'सीमाहीन' अति, अव्यवस्था और रुग्णता की ओर उन्मुखता है। परन्तु इसमें सीमा को लाने से समावस्था (Balance) और स्वास्थ्य उत्पन्न होते हैं।

(आ) मनुष्य के मन में 'सीमा' उच्छृंखल और अनियंत्रित भावावेगों की गति को रोकती है और उनको नियमित करती है तथा उस सबको उत्पन्न करती है जो कल्याणकारी है।

(इ) शारीरिक और चारित्रिक वस्तुओं में निस्सीम और सीमा दोनों विरोधी तत्व एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। ये दोनों मिलकर सौन्दर्य और

उत्कृष्टता के कारण बनते हैं। इन्हीं दोनों के संयोग से वैषम्य-शून्यता (Symmetry) समानुपात (Proportion) समावस्था, सामंजस्य सौम्यता आदि की झलियाँ उद्भूत होतीं हैं।

यह ज्ञात होता है कि एरिस्टाटल ने इस विचार को अपनाकर उसमें किंचित संशोधन किया था। उन्होंने इस को और भी अधिक संशुद्ध एवं विविध परिस्थितियों में अधिक सूक्ष्म विश्लेषणात्मक प्रयोग के लिए और भी अधिक योग्य बना दिया था। इस संशोधन ने अतिरेकताओं के सिद्धान्त (Doctrine of extremes) और उसके अतिरहित 'मध्य' के साथ सम्बन्ध के रूप को ग्रहण कर लिया था।

उपर्युक्त नियम के लौकिक और कला से सम्बन्धित प्रयोजन की उपेक्षा एरिस्टाटल ने नहीं की। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि नैतिक पुण्यशीलता (Moral virtue) उसी नियम अर्थात् 'मध्य' के अनुसरण से उत्पन्न होती है जिसको हम प्रकृति और कला के क्षेत्रों में अनुसृत देखते हैं। यह सिद्ध करने के लिए कि पुण्यमय कर्म दो अतिरेकों के मध्य में रहनेवाली समावस्था का आश्रयणमात्र है एरिस्टाटल की पहली युक्ति शरीर के व्यावहारिक जीवन के उपमान पर आधारित है। उदाहरण के लिए वे यह कहते हैं कि 'अमूर्त' वस्तुओं के वर्णन के लिए हमको मूर्त उपमानों का प्रयोग करना चाहिए। अतिरेक और न्यूनता समान रूप से स्वास्थ्य और शक्ति को नष्ट करते हैं, जब कि जो समानुपातिक (Proportionate) है वह स्वास्थ्य और शक्ति को संरक्षित रखता है और बढ़ाता है।

इसके पश्चात् वे यह कहते हैं कि कलाकृति का लक्ष्य इसी 'मध्य' का अभिव्यक्तीकरण है और उनका मत यह ज्ञात होता है कि कला की उत्कृष्ट कृतियाँ वे हैं जिन्होंने उस सूक्ष्म लालित्य का अभिव्यक्तीकरण कर लिया है जो उस कृति के किसी भाग में थोड़ा जोड़ने से या उसके किसी अंश को निकालने से नष्ट हो सकता है।

एरिस्टाटल प्रतिपादित अतिरहित मध्य (Mean) के सिद्धान्त की विलक्षणता

उनके अतिरहित मध्य (Mean) शब्द के प्रयोग में विलक्षणता यह है कि उन्होंने इस नियम को गणितशास्त्र की भाषा में अर्थात् सम्पूर्णतया परिमाणात्मक तात्त्विक रूप के तल पर ले जाकर प्रदर्शित किया है।

उनके मत के अनुसार सभी परिमाणों को चाहे वे दिक् सम्बन्धी हों और चाहे संख्या सम्बन्धी हों—'अधिक', 'कम' और 'समान' शब्दों में प्रकट कर सकते हैं। इन शब्दों को सापेक्ष रूप में देखने से हमको अत्याधिक्य, न्यूनता, अतिरहित मध्य प्राप्त होते हैं। अतएव अतिरहित मध्य का रेखागणितगत-समानुपात (Proportion) में वही स्थान है जो स्थान समान (Equal) का गणितशास्त्रगत अनुक्रम (Progression) में है।

अतिरहित मध्य का 'अत्यधिक' और 'अत्यल्प' से विरोध एक ऐसा नियम है जिसका उपयोग लगभग सब क्षेत्रों में कर सकते हैं। यह केवल निषेधात्मक नियम ही नहीं है। यह केवल अतिरेकों की उपेक्षा मात्र ही नहीं है वरन् यह एक विध्यात्मक नियम है। जब एरिस्टाटल यह कहते हैं कि पुण्य[1] कर्म दो अतिओं का 'मध्य' है तो उनका यह अर्थ होता है कि हमारा कर्म उस आदर्श के अनुकूल होना चाहिए जो ठीक रूप से व्यवस्थित चित्त में वर्तमान है। प्रमातृनिष्ठ रूप में जो नियम अथवा आदर्श है वही विषयनिष्ठ रूप में 'मध्य' है।

आदर्श का निवासस्थान

एरिस्टाटल के मतानुसार हमारी प्रत्येक इन्द्रिय स्वबोध्य वस्तु का या तो एक प्रकार का मापदण्ड है या इसके पास एक मापदण्ड होता है। यही मापदण्ड उसको निर्णय करने की शक्ति प्रदान करता है। उनके मत के अनुसार हमारे पास इसी प्रकार की नैतिक आचरण के सम्बन्ध में एक विवेक शक्ति है। उनका मत यह है कि मनुष्य में यह विलक्षणता है कि उसको अच्छे और बुरे, न्याय और अन्याय का ज्ञान होता रहता है। नैतिक बोध (Moral sense) उस संगीतग्राही कर्णेन्द्रिय के समान है जो किसी न किसी मात्रा में सभी व्यक्तियों के लिए स्वाभाविक है। परन्तु विभिन्न व्यक्तियों में वह बोध विभन्न मात्रा में होता है। थोड़ी-बहुत मात्रा में इसका उपार्जन[2] भी कर सकते हैं।

प्लेटो के स्वतन्त्र कलाशास्त्र का एरिस्टाटलकृत विकास

एरिस्टाटल के मूलतत्त्वदर्शन और कर्तव्यमीमांसाशास्त्र से सम्बन्धित सिद्धान्तों के वर्णन के उपरान्त यह स्पष्ट रूप से बताना आसान हो जाएगा कि अपने गुरु के स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय मत के विभिन्न अंशों को एरिस्टाटल ने

---

१. ग्रा० भा० १–२५६ २. ग्रा० भाग १–२५७

कितना विकसित किया था। अतएव निम्नलिखित उन विशेष बातों को हमें अपने ध्यान में रखना चाहिए जिनकी व्याख्या प्लेटो ने तद्विषयक समस्या के समाधान को करते हुए की है :—

१. कलाकृति क्या प्रदर्शित करती है।

२. अनुकरण का सिद्धान्त।

३. कलाकृति का दर्शक पर प्रभाव।

४. कलाकृतियों का तात्विक स्वभाव।

५. दु:ख-प्रधान नाटक के प्रदर्शन से सुख-प्राप्ति का स्पष्टीकरण।

६. वे कलाकृतियां जिन पर उनका सिद्धान्त आधारित है।

एरिस्टाटल वे प्रथम स्वतन्त्रकलाशास्त्र प्रणेता थे जिन्होंने उसी मार्ग का अनुसरण किया था जिसको उन भरत मुनि ने अपनाया था जो भारतवर्ष के वे सर्वप्रथम कलाशास्त्रकार थे जिनकी कृति हमें आज प्राप्त होती है। वे कलाकृतियाँ जिनके आधार पर उन्होंने अपने मत की रचना की थी चित्रकला, मूर्तिकला, शिल्पकला एवं वास्तुकला की कृतियां न थीं। उनका मत सामान्य रूप से काव्य कृतियों और विशेष रूप से दु:खप्रधान नाटकों पर आधारित है। असलियत यह है कि उनका कलाशास्त्रीय पूर्णमत उनकी दु:खप्रधान नाटक की सुप्रसिद्ध परिभाषा में साररूप से वर्तमान है। इस परिभाषा में उन्होंने उन सब विषयों का स्पर्श किया है जिनकी व्याख्या उनके गुरु ने अलग-अलग रूपों में अपने ग्रन्थों में की थी। यह हम अभी कह चुके हैं।

बक्ले के अनुवाद के अनुसार दु:खप्रधान अथवा दु:खान्त नाटक की एरिस्टाटल कृत परिभाषा निम्नलिखित है :—

'दु:खप्रधान नाटक गौरवपूर्ण अथवा विश्रुत एवं उस पूर्ण 'कार्य' का सुखदायी भाषा में अनुकरण है जिसमें अपनी एक विशालता है। इसके विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के अनुकरणों का समावेश अभिनेता वर्णन से नहीं वरन् अभिनय से अलग-अलग करते हैं। यह करुणा तथा भय के प्रदर्शन से इन्हीं भावों को शुद्ध करता है।'

यह परिभाषा सूत्रात्मक है। इसमें अनेक शास्त्रीय शब्द हैं जिनकी व्याख्या करना परमावश्यक है। एरिस्टाटल ने स्वयं इन शब्दों के पूर्ण अर्थों को अपने 'पोयटिक्स', और 'रिटॉरिक' नामक ग्रन्थों में स्पष्ट करने की चेष्टा की है। अतएव हम उन सब शब्द-व्याख्याओं को एक स्थान पर रखेंगे जो हमें एरिस्टाटल तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त हुई हैं।

'अनुकरण' शब्द का अर्थ

उनके गुरु प्लेटो से प्रतिपादित 'अनुकरण' शब्द का अर्थ यह था कि कलाकृति की ऐसी रचना की जाय जो एक बाह्य विषयरूप वस्तु के बाहरी रूप की ऐसी प्रतिकृति हो जो अपने दर्शकों को भ्रम में डाल सके और दर्शक में मूलवस्तु की भ्रान्ति उत्पन्न कर उन भावसमूहों को प्रवाहित कर सके जो मूल वस्तु से जगाए जाते हैं। अनुकरण की इसी अर्थ सम्बन्धी व्याख्या के कारण ही उन्होंने कला एवं कलाकृति को निन्दनीय बताया था और इसलिए यह निर्धारित किया था कि कला और कलाकृति भ्रान्ति एवं छल मात्र ही होती हैं। एरिस्टाटल ने अनुकरणविषयक इस मत को विकसित किया। उन्होंने अनुकरण शब्द की व्याख्या तीन दृष्टिकोणों से की है—(१) विषय वस्तु, (२) साधन एवं (३) प्रकार।

१. अनुकरणीय विषयवस्तु

यदि हमको एरिस्टाटल के मूलतत्त्वदर्शनगत सिद्धान्त याद हैं तो अनुकरण के अर्थविषयक उस मतभेद को समझने और स्पष्ट करने में अधिक कठिनता नहीं होगी जो एरिस्टाटल एवं प्लेटो में वर्तमान है। प्लेटो के लिए बाह्य संसार केवल एक विमर्शशून्य वह भूतपदार्थ मात्र है जिस पर किसी प्रकार से रूपों अथवा ज्ञप्तियों का अपूर्ण अंकन होता है। यह ज्ञप्तियाँ नक्षत्रों के लोक के परे बसती हैं, इसलिए अनुकरणकारी कलाकार की पहुँच के बाहर हैं। अतएव प्लेटो के मतानुसार विषयरूप संसार ज्ञप्तियों के संसार का केवल भौतिक प्रतीक, केवल एक भ्रान्ति एवं केवल एक इन्द्रियबोध्य जगत मात्र है। अतएव उनके मतानुसार अनुकरण का अर्थ स्वभावतया इन्द्रियबोध्य वस्तुओं की भ्रान्तिजनक प्रतिकृतियों का उत्पादन मात्र है।

परन्तु एरिस्टाटल के मतानुसार विषयभूत संसार ज्ञप्ति और भूतपदार्थ का मिला-जुला रूप है। जिस वस्तु में जो ज्ञप्ति निवास करती है वह उस वस्तु की आत्मा, सारतत्त्व, प्रयोजन अथवा वह प्रेरक शक्ति है जो भूतपदार्थ की बाढ़, विकास अथवा उन्नति की दिशा का निर्धारक है। यह ज्ञप्ति सृजनकारी कलाकार के लिए पहुँच के बाहर नहीं होती। क्योंकि कला दो प्रकार की पुण्यशीलताओं अर्थात् (१) चरित्र सम्बन्धी पुण्यशीलता एवं (२) बुद्धि[1] सम्बन्धी पुण्यशीलता में से एक प्रकार की पुण्यशीलता है। कला बुद्धि सम्बन्धी पुण्यशीलता

१. पीट० १८४

है। यह बुद्धिसंचालित एक सृजनात्मक क्रिया है। अतएव अपनी सृजनात्मक क्रिया में यदि कोई कलाकार बुद्धि से संचालित नहीं होता, यदि वह अपना ध्यान केवल इन्द्रियबोध्य जगत तक ही सीमित रखता है, यदि वह इन्द्रियबोध्य वस्तु को ही प्रकट करता है और बुद्धिग्राह्य ज्ञप्ति की पूर्ण उपेक्षा कर देता है तो वह कोई कलाकार नहीं है। अतएव एरिस्टाटल के मतानुसार अनुकरण का अर्थ ज्ञप्तीकरण अथवा आदर्शीकरण है अर्थात् वस्तुओं के केवल उस स्वरूप को ही प्रदर्शित करना अनुकरण नहीं है जो उपलब्ध है वरन् वस्तु को वैसा प्रदर्शित करना अनुकरण है जैसा कि उस वस्तु को होना चाहिए। अथवा इन्द्रियबोध्यरूप को ही प्रकट करना नहीं वरन् उस रूप को प्रकट करना अनुकरण है जिसका साक्षात्कार बुद्धि कर सकती है। अन्य शब्दों में कहें तो कहेंगे कि बाह्य जगत में वर्तमान वस्तुओं के स्वरूप को ही प्रदर्शित करना अनुकरण नहींहै वरन् उनके उस रूप को प्रदर्शित करना अनुकरण है जो रूप ज्ञप्तियों की नियन्त्रक शक्ति के नियन्त्रण में उनका होना चाहिए।

काव्य-प्रतिभाजनित कृतियों पर आदर्शीकरण के सिद्धान्त को प्रयुक्त करने में हमें दो बातों को अपने ध्यान में रखना चाहिए (१) आत्मा के विषय में उनका अभिमत और (२) कर्तव्यमीमांसा प्रतिपादित पुण्यशीलता तथा 'दर्शन' में भेद। दुःखप्रधान नाटक शुद्ध अमूर्त (Abstract) ज्ञप्ति का प्रकटीकरण नहीं है। क्योंकि इस प्रकार की ज्ञप्ति का साक्षात्कार केवल दार्शनिक चिन्तन में ही होता है। दुःखप्रधान नाटक कोई दर्शनशास्त्र नहीं है। यह एक गौरवपूर्ण अथवा सुप्रसिद्ध और पूर्ण कार्य का अनुकरण है। अतएव इसका उद्देश्य मानवीय आत्मा के शुद्ध बौद्धिक अंश का प्रदर्शन नहीं है। इसका उद्‌देश्य आत्मा के एषणात्मक अंश को प्रदर्शित करना भर है। आत्मा के इसी अंश में वे सभी भावावेग एवं भाव रहते हैं जो सभी कार्यों के स्रोत स्वरूप हैं। यह (दुःखप्रधान नाटक) मानवीय आत्मा को इन्द्रिय-सन्तोषजनक वस्तु के पीछे अन्धे होकर दौड़ते हुए नहीं वरन् उसको विमर्श के नियन्त्रण और संचालन में दो अतिरेकों के 'मध्य' को पाने की चेष्टा करते हुए दर्शित करता है। अथवा यह कहें कि उस आत्मा को दुःखप्रधान नाटक व्यक्त करता है जो विमर्श के आदेशों का बहुत काल तक निरन्तर पालन करने से दो अतिरेकों के 'मध्य' का सदैव अनुगमन करने की आदी हो गई है, वह आत्मा जो पुण्यवान् गौरवपूर्ण अथवा प्रतिष्ठित है और प्रत्येक कार्य में अपने गौरव को प्रकट करती है।

परन्तु दुःखप्रधान नाटक काव्यप्रतिभा की एकमात्र रचना नहीं है, महाकाव्य एवं सुख-प्रधान नाटक भी इसकी रचनाएँ हैं। अनुकरण शब्द का वह अर्थ जिसको अभी हमने स्पष्ट किया है, विशेष रूप से दुःखप्रधान नाटक से सम्बन्धित है। परन्तु सामान्य रूप से अनुकरण शब्द का अर्थ समान रूप से सुयोग्य एवं प्रतिष्ठित अथवा धूर्त और दुष्ट व्यक्ति के कार्यों का प्रदर्शन है। मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं (१) हमारे समान, (२) हम से अधिक भले एवं (३) हम से अधिक नीच। उदाहरणतया होमर कृत महाकाव्य में हमसे अधिक श्रेष्ठ व्यक्तियों की अनुकृति प्रदर्शित की गई है। दुःखप्रधान और सुखप्रधान नाटकों में परस्पर भेद का कारण अनुकरणीय वस्तुओं की परस्पर भिन्नता है। दुःखप्रधान नाटक में अधिक श्रेष्ठ व्यक्तियों का एवं सुखप्रधान नाटक में नीचतर प्रकृति के व्यक्तियों का अनुकरण होता है। दुःखप्रधान नाटक सुन्दरता को और सुखप्रधान नाटक कुरूपता को व्यक्त करते हैं।

सुखप्रधान नाटक में अनुकरण

कुरूपता के विषय में एरिस्टाटल के मत को भलीभाँति याद रखने पर ही हम पूर्ण रूप से सुखप्रधान नाटक का अर्थ समझ सकते हैं। जैसा कि हम गत पृष्ठ में कह आये हैं एरिस्टाटल के मतानुसार दो तत्त्व हैं।—१ ज्ञप्ति एवं २ भूततत्त्व। और यद्यपि ये दोनों तत्त्व सदैव एक दूसरे में मिले-जुले रूप में रहते हैं फिर भी भूततत्त्व सदैव अपने को ज्ञप्ति के नियन्त्रण और परिचालन के अधीन नहीं कर देता। यह भूततत्त्व ज्ञप्तिशक्ति का विरोधक है। इस प्रकार से जिस समय भूततत्त्व ज्ञप्ति के सर्वथा अधीन नहीं हो जाता और विमर्श के आदेशों का विरोध करता है उस समय हमको विकलांग एवं कुरूप की प्राप्ति होती है। अतएव दुःखप्रधान नाटक का लक्ष्य भूततत्त्व के ऊपर ज्ञप्ति के प्रभुत्व को व्यक्त करना है परन्तु सुखप्रधान का लक्ष्य विमर्श के आदेशों की उपेक्षा कर अपना प्रभुत्व स्थापन करने वाले भूततत्त्व का प्रकटीकरण है।

परन्तु अनुकरण का वह सिद्धांत समान रूप से दुःखप्रधान एवं सुखप्रधान नाटकों पर सफलतापूर्वक प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ मूलवस्तु का संशोधित अथवा आदर्श रूप दर्शित करना है। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि दुःखप्रधान नाटक बाह्य-जगत में प्राप्य ज्ञप्ति से अधिक उन्नत दशा में ज्ञप्ति का भौतिक साधनों में प्रकटीकरण है परन्तु सुखप्रधान नाटक विमर्श

के आदेशों की अवहेलना करने वाले भूततत्त्व की स्वात्मस्थापन (Self-assertion) शक्ति की उस उन्नत दशा का प्रकटीकरण है जो सामान्य लोक में अप्राप्य है।

यद्यपि सुखप्रधान नाटक सौन्दर्य का प्रकटीकरण न कर कुरूपता को प्रकट करते हैं तथापि वह आनन्दप्रद ही होते हैं। मनुष्य में यह एक मूल प्रवृत्ति है कि वह अनुकृति को देखकर आनन्दित होता है। उसको इस बात का ध्यान नहीं रहता कि सौन्दर्य या कुरूपता का अनुकरण किया गया है। केवल इसी बात का बोध कि हमारी दृष्टि के सामने उपस्थित कलाकृति किसी उस वस्तु की अनुकृति है जो प्रकृतिलोक में वर्तमान है चाहे वह वस्तु कुरूप ही क्यों न हो मनुष्य के चित्त को आनन्दित करने के लिए पर्याप्त है। वस्तुतः 'यह वस्तु वही है' इस प्रकार का कलाकृति में प्राकृतिक वस्तु का प्रत्यभिज्ञात्मक बोध ही आनन्द का कारण है। इस बोध में एक प्रकार की अनुमान क्रिया भी होती है इसलिए इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञात्मक बोध के लिए बुद्धि की कुछ क्रिया आवश्यक है। और सुखप्रधान नाटक इसलिए आनन्ददायक हैं क्योंकि मनुष्य की आत्मा के उत्कृष्टांश अर्थात् विमर्शांश की क्रिया उसके चित्त को सदैव आनन्दित करती है।

एरिस्टाटल वे व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान दिया था कि आदर्शप्रदर्शक अथवा प्रतिकृतिरूप (Representative) कला में कुरूपता के प्रदर्शन का एक अपना आकर्षण है। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम प्लेटो के इस मत का खण्डन किया था कि कलाकृति हमको उसी प्रकार से प्रभावित करती है जिस प्रकार से व्यावहारिक जगत की तत्समान यथार्थ वस्तु प्रभावित करती है। एरिस्टाटल के मतानुसार प्रतिकृति में अनुकृत वस्तु के विधायक तत्त्वों की सत्ता नहीं वरन् प्रतिकृति की मूल वस्तु से समानता ही सुखप्रधान नाटक के आकर्षण का रहस्य है।

'अनुकृति' शब्द का विशालतर अथ

अतएव प्लेटो की अपेक्षा एरिस्टाटल प्रतिपादित 'अनुकृति' शब्द का अर्थ विशालतर है। यह केवल एक ऐसी वस्तु की ही रचना नहीं है जो प्रकृति क्षेत्र में प्राप्त मूलवस्तु से इतना अधिक समान रूप है कि उसमें मूलवस्तु की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, वरन् ऐसी वस्तु की रचना है जो बाह्यजगत में प्राप्त वस्तु से या तो अधिक अच्छी होती है या अधिक बुरी होती है। यह वास्तविक जगत में प्राप्त मूलवस्तु के उन्नत और विकसित रूप को प्रकट करती

है। केवल वाह्येन्द्रियग्राह्य का ही नहीं वरन् मनोमात्रग्राह्य का भी अनुकरण होता है। भावावेग, भावनाएँ, उच्चरित ध्वनियाँ एवं आकृति समानरूप से अनुकरणीय हैं।

२ अनुकृति के साधन

रङ्ग, आकृतियाँ, स्फुट ध्वनियाँ, लयानुगति (Rhythm) शब्द एवं सामंजस्य अनुकृति के साधन हैं। इन साधनों का प्रयोग अलग-अलग अथवा समुदाय रूप में कर सकते हैं। उदाहरण के लिए बांसुरी और सितार बजाने की कलाओं में लयानुगति एवं सामंजस्य होता है परन्तु नृत्यकला में सामंजस्य नहीं होता है। केवल लयानुगति ही होती है। साकार लयानुगति से नर्तक भाव, व्यवहार और कार्यों का अनुकरण करता है। केवल महाकाव्य ही एक ऐसी कलाकृति है जिसमें केवल शब्द अथवा छन्द के साधनों से ही अनुकरण किया जाता है। इसकी रचना में या तो किसी विशेष रूप के छन्द का अथवा अनेक रूपों के छन्दों का मिले-जुले रूप में उपयोग करते हैं। परन्तु दुःखप्रधान तथा सुखप्रधान नाटकों एवं भावावेगमय काव्यों में तीन साधनों का उपयोग करते हैं—लयानुगति, राग (Melody) और पात्रानुरूप 'कार्य' (Measure)।

अनुकृति को उत्पन्न करने के साधनों के अनुसार ये कलाएँ परस्पर भिन्न हैं। अनुकृति का यह विशेष गुण कि 'कलाकार की मानसिक दृष्टि के सामने वर्तमान आदर्श के अनुरूप रचना करना' सभी प्रकार के अनुकरणों में समान रूप से वर्तमान है।

३ अनुकृति के प्रकार

शब्दों के साधन से अनुकरण तीन प्रकारों से किया जा सकता है (१) किसी भी प्रकार से अपने व्यक्तित्व को बिना छिपाए हुए स्वयं कवि आदि से लेकर अन्त तक पूरी वस्तु का वर्णन करता है। (२) कवि अपनी व्यक्ति को काव्यरचना के लिए स्वीकृत कथावस्तु के पात्र अथवा पात्रों में इस प्रकार से निमजित कर देता है तथा श्रोताओं और पाठकों की दृष्टि से वह अपने व्यक्तित्व को इतना छिपा लेता है कि वे यह मानने लगते हैं कि जो कुछ कहा जा रहा है उसको कवि नहीं वरन् कथावस्तु के पात्र बोल रहे हैं। दुःखप्रधान और सुखप्रधान नाटकों में ऐसा ही होता है। (३) कवि उपर्युक्त दोनों

प्रकारों को एक में मिला सकता है जैसा कि महाकाव्य में करते हैं। उदाहरण के लिए इलियड में होमर यही करते हैं।

इस विषय में एरिस्टाटल का मत प्लेटो से भिन्न है। प्लेटो का यह अभिमत है कि वर्णन अनुकरण नहीं है वरन् कवि का कथावस्तु के पात्रों से तादात्म्यीभवन ही अनुकरण है। परन्तु एरिस्टाटल का यह मत है कि वर्णन और कवि का कथावस्तु के पात्रों से तादात्म्यीभवन दोनों ही समान रूप से अनुकरण की साधनविधियाँ हैं। इसका कारण स्पष्ट है। प्लेटो के मतानुसार अनुकृति का अर्थ उस वस्तु की जो प्रकृति के क्षेत्र में वर्तमान है भ्रान्तिजनक प्रतिकृति की रचना है। यह रचना ऐसे साधन से की जाती है जो उसी इन्द्रिय का ही विषय है जिससे मूलवस्तु प्रत्यक्ष की जाती है। परन्तु वर्णन ऐसे मूलशब्दों के समान शब्दों में नहीं किया जाता कि श्रोता को यह भ्रान्ति हो जाय कि ये मूलशब्द हैं। क्योंकि यदि हम अन्य भेदों की ओर ध्यान न भी दें तो भी 'पुरुष भेद' इतना अधिक स्पष्ट होता है कि हम बिना उससे प्रभावित हुए नहीं रह सकते और यह हमको मूल से इसके भेद को निरन्तर ज्ञात कराता रहता है। यही कारण था कि प्लेटो ने वर्णन को अनुकृति का एक प्रकार नहीं माना है।

अनुकरणप्रवृत्ति एवं अनुकरण के प्रति आकर्षण स्वभावजात हैं

हम यह देखते हैं कि बालक अनुकरण करना चाहते हैं। वे सबसे अधिक अनुकरणशील होते हैं। शैशवकाल में ज्ञान की सभी उपलब्धियाँ अनुकृति से ही होती हैं। हमको केवल उन्हीं अनुकृतियों को देखकर सुख प्राप्त नहीं होता जो हमारी दृष्टि को आनन्ददायी लगतीं हैं वरन् उनके अनुकरण को भी देखकर प्रसन्नता होती है जो पीड़ाजनक अथवा भयोत्पादक हैं, उदाहरण के लिए कुरूप कीटों एवं मृत शरीरों की अनुकृतियाँ।

आनन्द का कारण यह है कि शिक्षा अर्थात् ज्ञानलोक की प्रसारवृद्धि दार्शनिकों एवं सामान्य लोगों के लिए समानरूप से सुखदायी है। और अनुकरणमूलक उत्पादन की सहायता से हम बाह्य पदार्थ के उस बोध को पाने में समर्थ हो जाते हैं जो विशेष परिस्थितियों में बिना इस सहायता के प्राप्त नहीं हो सकता है। इस बात का ज्ञान कि हमारे सामने प्रदर्शित वस्तु अनुकृति मात्र है उस वस्तु को यथार्थमूलक भयंकरता एवं बीभत्सता से शून्य कर देता है। अतएव बीभत्स की अनुकृतियाँ भी सुखदायी होती हैं।

अनुकृतियाँ उसी दशा में सुखदायी होती हैं जब हमको यह ज्ञात होता रहता है कि वे ज्ञात यथार्थ वस्तुओं की अनुकृतियाँ हैं अन्यथा अनुकृति से उद्भूत आनन्द का कारण यह नहीं होता है कि वह अनुकृतिस्वरूप है वरन् यह होता है कि उसमें कारीगरी अथवा रङ्गों की उत्कृष्टता है।

एरिस्टाटल के अनुकृति-सिद्धान्त के प्रयोगक्षेत्र के सम्पूर्ण कलालोक का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त हम अपना ध्यान उस दुःखप्रधान नाटक पर लगाते हैं जिसकी व्याख्या उन्होंने प्रधान रूप से अपने 'पोयटिक्स' नामक ग्रंथ में की है।

दुःखप्रधान नाटक के प्रसङ्ग में कार्य का स्वरूप

दुःखप्रधान नाटक में अनुकृति का विषय कार्य है। परन्तु दुःखप्रधान नाटक प्रत्येक कार्य का अनुकरण नहीं करता। दुःखप्रधान नाटक में केवल एक ही प्रकार का कार्य अनुकरणीय है—अर्थात् वह कार्य जो गरिमामय—सर्वांगपूर्ण तथा विश्रुत है। दुःखप्रधान नाटक की परिभाषा के इस अंश को बुद्धिसात् करने के लिए हमको उस आत्मा के स्वरूप के विषय में एरिस्टाटल के मत को याद रखना चाहिये जो जीवन का आधारभूत तत्त्व है और इसी कारण से प्रत्येक कार्य का स्रोत है।

एरिस्टाटल ने आत्मा के जिन पाँच अर्थात् (१) पोषणात्मक, (२) बोधात्मक, (३) एषणात्मक (४) कल्पनात्मक एवं (५) प्रज्ञात्मक स्वरूपों को स्वीकार किया है वे सभी किसी न किसी प्रकार के कार्य के स्रोत हैं। इनमें से प्रथम स्वरूप सर्वथा विमर्शशून्य है। दूसरा, तीसरा और चौथा स्वरूप आंशिक रूप में विमर्शशून्य तथा आंशिक रूप में विमर्शपूर्ण है क्योंकि वे विमर्श की प्रभुता को स्वीकार करते हैं। परन्तु उनकी यह स्वीकृति आवश्यक रूप से सर्वदा एक-सी नहीं होती। पाँचवाँ स्वरूप शुद्ध विमर्शपूर्ण है। आत्मा के प्रथमस्वरूप से गति अथवा बढ़ने की, सन्तानोत्पादन की एवं क्षीण होने की क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। आत्मा का यह स्वरूप वृक्षादि में परिलक्षित होता है। आत्मा का दूसरा और तीसरा स्वरूप उस सीमा तक पशुओं की आत्माओं में मिलता है जहाँ तक वे विमर्श के नियन्त्रण में नहीं हैं। पशुओं में बोधशक्ति होती है। पशु विषयरूप संसार की विभिन्न वस्तुओं को देखता है, सूँघता है तथा अनुभवों के अनुकूल होने से सुख एवं प्रतिकूल होने से दुःख का अनुभव करता है। अतएव वह इन्द्रियसुख प्राप्त करने की इच्छा से उत्प्रेरित होकर विभिन्न रूपों के अनेक कार्यों को उन वस्तुओं को प्राप्त

करने के लिए करता है जिनके विषय में वह यह जानता है अथवा अनुभव से यह पता लगा लेता है कि वे सुखदायी हैं। परन्तु वह दुःखदायी वस्तुओं का परित्याग करता है अथवा उनसे दूर रहता है।

दुःखान्त नाटक के 'कार्य' का उपर्युक्त प्रकार के कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दुःखान्त नाटक वृक्षादि अथवा पशु के कार्यों का अनुकरण नहीं है—यहाँ तक कि वह मनुष्यजनित उन कार्यों का भी अनुकरण नहीं है जिनका स्वरूप वृक्षादि अथवा पशु के कार्यों का है अर्थात् वह कार्य जिसमें आत्मा के पोषणात्मक, बोधात्मक एवं एषणात्मक अंश विमर्श के अनुशासन को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। दुःखान्त नाटक में केवल वही कार्य प्रदर्शित किया जाता है जिसका स्वरूप विशेष रूप से मानवीय है; वह कार्य जो दो विरोधी शक्तियों के अर्थात् एक ओर पोषणात्मक, बोधात्मक और एषणात्मक आत्मा के अंश और दूसरी ओर उसके विमर्शपूर्ण अंश के बीच चिरकालीन तथा निरन्तर संघर्षण के फलस्वरूप[1] आत्मा के प्रथम तीन स्वरूपों पर अन्तिम स्वरूप की विजय से एवं प्रथम तीन का अन्तिम के अनुशासन को स्वभावतः मानने से उत्पन्न होता है।

आत्मा के पूर्व स्वरूपों और परस्वरूपों के बीच जो सम्बन्ध है वह बहुत कुछ उस सम्बन्ध के समान है जो बाह्य प्रकृति में भूततत्त्व तथा 'रूप' (Form) में वर्तमान है। जिस प्रकार से भूततत्त्व सदैव रूप के नियमों के अधीन स्वेच्छापूर्वक अपने को नहीं कर देता वरन् उसका विरोध करता है और परिणामस्वरूप विकलांग एवं कुरूप को जन्म देता है उसी प्रकार से आत्मा के पोषणात्मक, बोधात्मक एवं एषणात्मक स्वरूप आवश्यक रूप से विमर्श के आदेशों को सदैव स्वीकार नहीं कर लेते—अवसरवश वे विमर्श का विरोध करते हैं और उन कार्यों को उत्पन्न करते हैं जो मनुष्य जाति में अनैतिक और पापपूर्ण हैं।

दुःखप्रधान नाटक के अनुकरण का कोई सम्बन्ध अनैतिक एवं पापपूर्ण कार्यों से नहीं है। इसका कोई सम्बन्ध दैवयोग से उत्पन्न एवं एकाकी उस कार्य से भी नहीं है जो समानरूप से दैवयोगवश एवं एकाकी उस विजय से उत्पन्न होता है जो आत्मा का सविमर्शांश निर्विमर्शांश एवं अंशतः सविमर्शांश पर प्राप्त करता है और जिसके परिणाम स्वरूप निर्विमर्शांश एवं अंशतः सविमर्शांश अनिच्छापूर्वक क्षुब्ध मन से सविमर्शांश के आदेशों का पालन करते हैं। इसके

---

१. पेट०—४१

विपरीत दुःखप्रधान नाटक में एक उस कार्य-शृङ्खला का अनुकरण करते हैं जो निर्विमर्शांश एवं अंशतः सविमर्शांश से शुद्ध एवं पूर्ण विमर्शांश के आदेशों के स्वभावजात पालन करने से उत्पन्न है। यह वह कार्यशृङ्खला है जो एक लक्ष्य की ओर ले जाती है।

उत्कृष्ट कार्य

गत उपप्रकरण में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि एरिस्टाटल के मतानुसार आत्मा केवल विमर्शमय ही नहीं है। इसकी रचना निर्विमर्श और सविमर्श दोनों अंशों से मिलकर हुई है। मानवीय आत्मा केवल विमर्श ही नहीं है वरन् उसके पोषणात्मक, बोधात्मक तथा एषणात्मक अंश भी हैं। अतएव कार्य की उत्कृष्टता इस बात में है कि आत्मा के उपर्युक्त दोनों अंशों में से दूसरे अंश का पहले अंश से दासता का सम्बन्ध न हो वरन् इन विरोधी शक्तियों की क्रियाएँ पारस्परिक विरोध से रहित हों एवं इन शक्तियों में पूर्ण परस्पर सहयोग वर्तमान हो। मानवीय जीवन के लक्ष्य को पूर्णतया प्राप्त करने के लिए आत्मा के विभिन्न अंशों का उचित रूपों में क्रियावान होना आवश्यक है, अर्थात् विमर्श, संवेदना और इच्छा में उचित सम्बन्ध वर्तमान होना चाहिए। अतएव वह उत्कृष्ट कार्य जिसका अनुकरण करना दुःखप्रधान नाटक का उद्देश्य है स्वयं विमर्शांश से उद्‌भूत कोई उत्कृष्ट कार्य नहीं है अर्थात् यह शुद्ध ज्ञप्तियों का वह चिन्तन नहीं है जो बुद्धि की योग्यता, विज्ञता अथवा अन्तर्दृष्टि का द्योतक है वरन् यह आत्मा के भावात्मक (Emotive) अंश का उत्कृष्ट कार्य है। आत्मा का यह अंश शारीरिक एषाणाओं, भय, संकट, क्रोध, आर्थिक कल्याण की इच्छाएँ, यश आदि के प्रति विमर्शपूर्ण मनोवृत्ति (Rational attitude) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह दो अतियों के 'मध्य' का अनुसरण करता है। संक्षिप्त रूप से यदि कहना हो तो यह कहेंगे कि उत्कृष्ट कार्य वह पुण्य कार्य है जो नैतिक मनोवृत्ति अथवा इच्छाशक्ति के स्वभाव से उद्भूत होता है। यह कार्य स्वेच्छा-पूर्वक किया जाता है। यह कार्य प्रयोजन के पूर्ण ज्ञान से उत्प्रेरित होता है। इस कार्य को कर्ता स्वतन्त्रतापूर्वक करता है। यह वह कार्य है जो मानवीय विशिष्ट स्वभाव की अभिव्यक्ति है। यह वह कार्य है जो स्वयं मनुजत्व के तात्त्विक स्वभाव को प्रकट करता है। यह वह कार्य है जो मनुष्य को अन्य प्राणियों से विलक्षण प्रमाणित करता है। और यह वह कार्य है जो केवल शारीरिक अस्तित्व अथवा इन्द्रियबोध शक्ति अर्थात् वृक्षादि एवं पशुओं की

कार्यशक्तियों से उत्पादित नहीं होता वरन् इसकी उत्पत्ति आत्मा के विमर्शपूर्ण और विमर्शशून्य अंशों के सामंजस्यपूर्ण सहयोग से होती है ।

मानसिक प्रतिच्छाएँ (Images) और कार्य

प्रश्न यह है कि 'आत्मा में ऐसा क्या है जो कार्य को मूलतः उत्प्रेरित करता है ।' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि केवल एषणा कार्य का कारण है । जिस समय इन्द्रियाँ बाह्य वस्तुओं से प्रभावित होती हैं और यह प्रभाव सुख अथवा दुःख के रूप में प्रत्यक्षतः अनुभूत होता है (इस सुख अथवा दुःख का कारण वस्तु का इन्द्रियप्रवृत्ति का उत्प्रेरक अथवा अवरोधक होना है) उस समय वस्तु को छोड़ने अथवा उसको प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है । गत उपप्रकरण में हमने इस बात की व्याख्या की है । परन्तु कार्य आवश्यक रूप से सदैव इन्द्रियों पर तत्कालीन प्रभाव से उत्पन्न नहीं होता । मनुष्य सदैव प्रत्यक्षवस्तु से उत्प्रेरित होकर कार्योन्मुख नहीं होता । उत्तम प्रकार के कार्य अर्थात् मानव के विशिष्ट कार्य वे नहीं हैं जिनके करने में मनुष्य इन्द्रियप्रत्यक्ष वस्तु से साक्षात् रूप में बाध्य किए जाते हैं । वरन् वे कार्य उत्कृष्टकोटि के हैं जिनको वह तत्कालीन इन्द्रियउत्प्रेरणाओं से स्वतन्त्र रहकर सम्पन्न करता है । अतएव अब यह प्रश्न उठता है कि 'वह क्या है जो कार्य की स्वतन्त्र उत्प्रेरणा का कारण है ?' इस प्रश्न का उत्तर एरिस्टाटल यह देते हैं कि मानसिक प्रतिच्छाएँ हमें कार्य करने को उत्प्रेरित करती हैं ।

एरिस्टाटिल यह मानते हैं[1] कि जिस समय इन्द्रियाँ प्रत्यक्षबोध कर रही हों उस समय केवल इन्द्रियाँ ही प्रभावित नहीं होतीं वरन् अन्तरतर भी उस समय प्रभावित होता रहता है । और यह प्रभाव उस समय भी बना रहता है जब कि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष नहीं कर रही होतीं । यह प्रभाव इन्द्रियों की सतह पर और उनके आन्तरिक भाग पर भी पड़ता है । यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष बहुत समय तक होता रहता है । क्योंकि जिस समय हम प्रत्यक्ष करती हुई इन्द्रिय को दूसरी दिशा में लगाते हैं उस समय भी प्रभाव बना रहता है । उदाहरण के लिए जिस समय हम सूर्य पर से अपनी दृष्टि को हटा लेते हैं उस समय भी नेत्रों में ज्योति से उत्पन्न कम्पन होते रहते हैं । यथार्थ यह है कि प्रत्यक्ष से शरीर और आत्मा दोनों[2] ही प्रभावित होते रहते हैं । यह प्रभाव जो प्रत्यक्ष से अधिक

---

१. डी० एनी० ४६३ २. रास० १४३

चिरस्थायी है संस्कार रूप में अवशिष्ट रह जाता है। यह मन की ऐसी दशा नहीं होती जिसका कि बोध हो वरन् यह ऐसी दशा है जिसका कि बोध नहीं होता। इस संस्कार को उद्बुद्ध कर सकते हैं और इसे अबोध्य दशा से बोध्य दशा में ला सकते हैं। अतएव इन्द्रियप्रत्यक्ष से कम सजीव और कम विश्वसनीय मानसिक प्रतिच्छायाओं की रचना की जाती है और उनकी ओर ध्यान दिया जाता है। वह शक्ति जो इनको जाग्रत करती है कल्पना शक्ति है। अतीतकालीन इन्द्रियबोधों के संस्कारों से निर्मित स्वप्न, स्मरण एवं अनुचिन्तन इसी कल्पना शक्ति के कारण होते हैं। विना कल्पनाशक्ति के विचार और इच्छाओं का जन्म नहीं हो सकता। विना भले[1] अथवा सुखदायी की कल्पना के इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती। और जब तक मन के सामने प्रतिच्छायाएँ वर्तमान न हों तब तक विचार करना असम्भव है। विचार करने में प्रतिच्छायाओं का उपयोग होता है इस कथन का तात्पर्य यह है कि वह विचार-प्रक्रिया मानसिक प्रतिच्छायाओं के विना नहीं हो सकती है जिसमें बुद्धि वर्तमान को भविष्य के बांटों से तौलती है और एक विशिष्ट कार्यपथ को निर्धारित करती है।

इस प्रकार से कार्य की उत्प्रेरणा में जो प्रक्रिया[2] और शक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं उनका वर्णन संक्षिप्त रूप से निम्नरूप में कर सकते हैं:—

१. एषणा शक्ति एक लक्ष्य निश्चित करती है।

२. चिन्तनात्मिका शक्ति से भिन्न व्यवसायात्मिका बुद्धि लक्ष्य के साधनों को निर्धारित करती है और कार्यपथ का निर्णय करती है।

३. कल्पना शक्ति दोनों से सहयोग करती है। अतएव एरिस्टाटल के मतानुसार व्यवहारात्मिका बुद्धि और एषणा का कल्पना शक्ति से सहयोग कार्य को उत्प्रेरित करता है।

कार्य के स्रोत

दुःखप्रधान नाटक कार्य को प्रदर्शित करता है। विना उस कर्त्ता के कोई कार्य नहीं हो सकता जिससे वह किया जाता है। अतएव प्रश्न यह उठता है 'कर्त्ता में ऐसी कौन सी बात है जो दुःखप्रधान नाटक में प्रदर्शित कार्य का कारण है?' और इसका उत्तर यह है कि शिष्टव्यवहार (Manners) एवं युक्तिप्रदर्शनशक्ति (Sentiments) ऐसे कार्य का मुख्य स्रोत हैं।

---

१. डी० एनी० LVIII २. डी० एनी० १५१

शिष्टव्यवहार

शिष्टव्यवहार नैतिकस्वभाव (Moral habit) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य में नैतिक स्वभाव की उत्पत्ति का कारण उसका उन विभिन्न परिस्थितियों में जिनमें उसे काम करना पड़ता है आत्मा के निर्विमर्शांश को सविमर्शांश के अधीन बनाने का सतत उद्योग ही है। नैतिक स्वभाव 'कार्य' के उत्पत्तिस्रोतों में एक स्रोत है। यह कार्य को एक विशिष्टता प्रदान करता है।

शिष्टव्यवहार की चार अपरिहार्य विशेषताएँ

१. उसको कल्याणकारी होना चाहिए। उसकी कल्याणकारिता का अर्थ यह है कि कार्य को करने में संकल्पात्मक अन्तरकामना को कल्याणकारी होना चाहिए। कल्याणकारी शिष्टता का प्रदर्शन आवश्यक रूप से संकल्पात्मक अन्तरकामना (Deliberate intention) को शब्दों और कार्यों में प्रकट करने से करते हैं।

२. इस शिष्टव्यवहार को कर्त्ता के अनुरूप होना चाहिए। उसे कर्त्ता के लिंग एवं सामाजिक मर्यादा के अनुकूल होना चाहिए। जैसे कि एक नारी[1] को बलवान् एवं भयंकर प्रदर्शित करना अनुचित है।

३. तीसरी विशेषता के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। बक्ले का मत है कि उसको एक सा होना चाहिए। बूचर के मतानुसार इस शिष्टता को जीवन के अनुरूप होना चाहिए। बोसान्केट यह कहते हैं कि उसको स्वाभाविक होना चाहिए। इससे यह ज्ञात होता है कि बोसान्केट बूचर के मत को स्वीकार करते हैं।

४. इस शिष्टता को एकरूप होना चाहिए। नाटक के प्रधान पात्र को जिन भी नैतिक गुणों से युक्त प्रदर्शित करना अभीष्ट हो उसको उन गुणों को सदैव सभी परिस्थितियों और कार्यों में प्रकट करते हुए प्रदर्शित करना चाहिए। एक व्यक्ति को समान परिस्थितियों में विभिन्न रूपों में आचरण करते हुए प्रदर्शित करना अनाटकीय है।

शिष्टव्यवहार और कार्य की सापेक्ष (Relative) स्थिति

शिष्टव्यवहार (Manners) नायक को एक प्रकार की चारित्रिक विशिष्टता प्रदान करता है। परन्तु उसके कार्य उसके दुःख और सुख के कारण

---

१. पोय० ४३५–६

होते हैं। अतएव कार्यप्रदर्शनकारी दुःखप्रधान नाटक बिना कार्य के अस्तित्व में नहीं आ सकता। शिष्टव्यवहार के बिना उसका अस्तित्व सम्भव है। दुःखप्रधान नाटक का लक्ष्य शिष्टव्यवहार का अनुकरण नहीं है। कार्य के होने के कारण उसमें शिष्टव्यवहार समाविष्ट हो सकता है। कार्य और इतिवृत्त का प्रदर्शन दुःखप्रधान नाटक का लक्ष्य है। इस प्रकार के दुःखप्रधान नाटकों का अस्तित्व है जिनमें शिष्टव्यवहार वर्तमान नहीं है। शब्द और कार्य दोनों के विवेकपूर्ण चुनाव का कारण यह शिष्टता ही है। अतएव वे कथन और कार्य शिष्टव्यवहार रहित हैं जिनमें किसी भी प्रकार का विवेक पूर्ण चुनाव परिलक्षित नहीं होता।

युक्तिप्रदर्शनशक्ति

युक्तिप्रदर्शनशक्ति (Sentiment) वह साधन है जिससे वक्ता 'किसी बात को सिद्ध करता है अथवा अपने अर्थ को स्पष्ट करता है।' सामान्य रूप से इसकी परिभाषा यह हो सकती है कि यह विमर्श की युक्ति प्रदर्शनशक्ति है। परन्तु यदि अधिक ठीक रूप से कहें तो कहना होगा कि यह आत्मा की वह शक्ति है जो बुद्धि से प्रदर्शित तर्कपूर्ण सिद्धान्त को अपनाते हुए वैज्ञानिक रूप में युक्तियों का प्रयोग करती है। यह परवर्ती परिभाषा यूनानी भाषा के उस शब्द 'डियानोइया' के अधिक अनुकूल है जिसका प्रयोग एरिस्टाटल ने इस प्रसंग में किया है। इसी शब्द का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में 'सेन्टीमेन्ट' (Sentiment) शब्द से किया गया है। इसका कारण यह है कि आत्मा की यह शक्ति अपनी युक्तिपरकता में कल्पना एवं अभिमतों से प्रभावित नहीं होती। परन्तु कार्य के प्रसङ्ग में यह अर्थ उपयुक्त नहीं लगता। अतएव बक्ले के मतानुसार इस शब्द का अर्थ विमर्श की वह अप्रकट युक्तिप्रदर्शनशक्ति है जो अन्तःकरण में स्थित होकर कार्य[1] का स्रोत बनती है। ऐसा ज्ञात होता है कि बोसान्केट ने इसी अभिमत का अनुसरण किया है। वे 'डियानोइया' शब्द का अर्थ 'बुद्धिकृत सोचविचार'[2] मानते हैं।

दुःखप्रधान कार्य की विशिष्टता

गत पंक्तियों में हम सर्वांगपूर्ण (Perfect) कार्य की व्याख्या कर चुके हैं और यह सिद्ध कर चुके हैं कि यह पुण्यकार्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अर्थात् इस सर्वाङ्गपूर्ण कार्य का विशेष गुण यह है कि इसमें कर्त्ता स्वाभाविक

---

१. पोय० ४१७-८ २. बोसान्० ६९

रूप से आत्मा के विमर्शशून्य अंश को विमर्शपूर्ण अंश के अधीन कर देता है और दो अतिरेकों के मध्यपथ का अनुसरण करता है। हम यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि इस प्रकार के कार्य केवल इन्द्रियबोध्य वस्तुओं और परिस्थितियों से ही उद्भूत नहीं होते वरन् व्यावहारिक बुद्धि एवं एषणात्मक अंश के साथ कल्पना का सहयोग होने से भी उत्पन्न होते हैं। परन्तु सर्वाङ्गपूर्ण कार्य और दुःखप्रधान नाटक में प्रदर्शित कार्य एक ही वस्तु नहीं है। क्योंकि दुःखप्रधान नाटक एक पूर्ण कार्य को प्रदर्शित करता है और कार्य की यह पूर्णता इस बात में निहित है कि उसके उस परिणाम अथवा फल को प्राप्त किया जाय जो कर्त्ता का लक्ष्य है। परन्तु नायक की लक्ष्य-प्राप्ति का प्रदर्शन नाटकदर्शकों के चित्त में करुणा और भय के दुःखप्रधान भावों को कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकता। स्पष्ट रूप में यह सिद्ध करने के लिए कि क्यों यह दुःखप्रधान भावों को उत्प्रेरित नहीं कर सकता हमें स्वयं दुःखप्रधान भावावेग (Emotion) के स्वरूप और उन कारणों की व्याख्या करनी होगी जिनसे ये भावावेग उत्पन्न होते हैं।

भावावेग की सामान्यप्रकृति

दुःखप्रधान नाटक का कार्य जिस करुणा और भय को उत्प्रेरित करता है वे भावावेग हैं। और एरिस्टाटल के मतानुसार यथार्थ भावावेगों का स्वरूप मानसिक-शारीरिक है। क्योंकि एरिस्टाटल के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार वस्तु के दो स्वरूप होते हैं (१) रूपात्मक (Formal) एवं (२) भूतात्मक (Material) यहाँ तक कि जीवधारी प्राणी भी भूतपदार्थ से संलग्न 'रूप'[1] है। अतएव प्रत्येक कार्य एवं भावावेग के स्वभावतया आत्मा से सम्बन्धित होने के कारण रूपात्मक अंश तथा शरीर से सम्बन्धित होने के कारण भूतात्मक अंश होते हैं। प्रत्येक भावावेग एक आध्यात्मिक तथ्य (Fact) है और साथ ही साथ एक शारीरिक तथ्य भी है। उदाहरण के लिए 'क्रोध' के भाव पर अगर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि आध्यात्मिकांश के आधार पर इसकी परिभाषा यह होगी 'आघातकारी पर आघात करने की इच्छा' और शारीरिक अंश के आधार पर इसकी परिभाषा होगी 'रक्त का उबलना और हृदय के चारों ओर आसपास गरमी का अनुभव करना।' इस प्रकार से जीवधारी प्राणी में जो भावावेग उत्पन्न होता है वह एक जटिल तत्त्व है जिसके

१. क्रो० ४५९

दो अंश हैं।—ये दोनों अंश परस्पर घुले-मिले रहते हैं यद्यपि उनका तर्क-शास्त्रीय विश्लेषण करना सम्भव है।

भावावेगों का वासस्थान[1] मन है। दुःख और सुख उनके अनुचर हैं। भावों की क्रियाशीलता से जीवधारी प्राणियों में परिवर्तन उत्पन्न होता है और उनकी निर्णय शक्ति प्रभावित होती है। एरिस्टाटल ने इन भावों की व्याख्या तीन शीर्षकों के अन्तर्गत की है। दुःखप्रधान नाटक का लक्ष्य जिन भावावेगों को जाग्रत करता है उन करुणा और भय के भावों पर अपने ध्यान को केन्द्रित करते हुए हम इन शीर्षकों का वर्णन निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

१. करुणा और भय के भावावेगों से अनुभवकर्त्ता किस प्रकार से प्रभावित होते हैं?

२. सामान्यतः वे किस पर करुणा करते हैं और किससे भय का अनुभव करते हैं?

३. ये भावावेग किस अवसर पर जाग्रत होते हैं?

भय

भय एक प्रकार की पीड़ा अथवा क्षोभ है जो इस विचार से उत्पन्न होता है कि एक ऐसी अनिष्टकारी स्वभाव[2] की वस्तु हमारे आसन्न है जिसमें या तो हमको नष्ट करने की शक्ति है या जिसमें पीड़ित करने की क्षमता है। केवल ऐसी ही अनिष्टकारी वस्तुओं से भय उत्पन्न होता है जिनमें प्रभूत वेदना प्रदान करने की शक्ति अथवा नष्ट करने की शक्ति है। ऐसी अनिष्टकारी वस्तुओं को दूरवर्ती न होकर निकटवर्ती होना चाहिए। दूरवर्ती अनिष्टकारी से भय उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार के अनिष्टकारी उन लोगों की घृणा और क्रोध के भावावेग हैं जिनमें हानि पहुँचाने की पर्याप्त शक्ति है और जिनके पास वे इच्छा तथा शक्ति दोनों हैं जिनके कारण वे किसी भी क्षण अपनी इच्छा को कार्यान्वित कर सकते हैं। शक्तिवान् अन्यायी, अपमानित पुण्यात्मा, पापकर्म के सहयोगी, अन्यायपात्र, वे व्यक्ति जो एक ही वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा कर रहे हों एवं सामान्यतः वे सभी वस्तुएँ जो दूसरे पर घटित होने से हममें करुणा के भावावेग को उत्प्रेरित करती हैं भयदायक वस्तुएँ हैं। वे व्यक्ति जो यह विचारते हैं कि उनको कोई वस्तु पीड़ा नहीं पहुँचा सकती भयशून्य

---

१. रिटा० १०५ २. रिटा० १२१–३

होते हैं। क्योंकि भय तभी उत्पन्न होता है जब हम किसी नाशकारी अनिष्ट का अनुभव करते हैं।

आत्मविश्वास भय का विपरीत भाव है। जो वस्तु आत्मविश्वास को उत्पन्न करती है वह भयदायक वस्तु के विपरीत होती है। आत्मविश्वास सुरक्षा की ओर ले जाने वाली उन वस्तुओं की आशा का भाव है जिनके निकटवर्ती होने का बोध हमको होता रहता है।

करुणा

करुणा उस अनिष्टवस्तु से उत्पन्न एक प्रकार की वेदना है[1] जिसके पास चोट करने अथवा नष्ट करने की शक्ति है, जो उन व्यक्तियों पर चोट करती है जिन पर उसको आघात नहीं करना चाहिये और जिसके विषय में यह भावना हो कि वह हमारे या हमसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित व्यक्तियों के ऊपर भी चोट लगा सकती है। निकटवर्ती होने पर ही वस्तु करुणोत्पादक होती है।

साहस के भावावेग में निमज्जित प्राणी करुणा के भावावेग का अनुभव नहीं करते। इसका कारण यह है कि वे भविष्य का हिसाब-किताब नहीं रखते। जो व्यक्ति भय से अत्यन्त पीड़ित होते हैं उनमें भी करुणा का भाव जाग्रत नहीं होता।

करुणा का भाव मित्रों और परिचित व्यक्तियों के प्रति उत्पन्न होता है यदि वे हमारे घनिष्ठतम सम्बन्धी नहीं है। उन व्यक्तियों के प्रसङ्ग में जो हमसे घनिष्ठतम रूप में सम्बन्धित हैं हम वैसा ही अनुभव करते हैं जैसे वह घटना स्वयं हम पर ही घटित हो रही हो। पूर्वकथित परिस्थिति में करुणा का भाव उत्पन्न होता है परन्तु परकथित दशा में भीषण भय का अनुभव होता है। भीषण भय का भावावेग (Horror) करुणा के भावावेग से भिन्न है और इसकी प्रवृत्ति करुणा के भावावेग को चित्त से दूर करने की होती है।

अनिष्ट जिस समय निकटवर्ती लगता है उस समय करुणा के भावावेग का अनुभव होता है। यह उन व्यक्तियों के प्रति जाग्रत होता है जो समवयस्क, समस्वभाव, सममानसिकवृत्ति, समानपद एवं समान सामाजिक प्रतिष्ठा के हैं। क्योंकि इन सभी प्रसङ्गों में अनिष्ट को अपने पर भी पतित होने की सम्भावना के कारण अधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है। अपने सम्बन्ध

---

१. रिटा० १३६

में जिस वस्तु से भय उत्पन्न होता है वह जब दूसरों पर घटित होती हुई दिखाई देती है तो करुणा के भाव को उत्पन्न करती है।

पीड़ा सहने वाले व्यक्ति के कार्य तथा वस्त्रादि करुणा के भावावेग को उत्प्रेरित करते हैं। करुणा का भावावेग विशेष रूप से उस समय जाग्रत होता है जिस समय कोई पुण्यात्मा व्यक्ति उसको सहन करता है।

नाट्यप्रदर्शन का प्रभाव

समुपस्थित विपत्ति ही करुणाजनक होती है। अतीतकालीन तथा दूरवर्ती भविष्य की विपत्तियाँ करुणा को उत्पन्न नहीं करतीं और यदि करतीं भी हैं तो बहुत हल्के रूप में करतीं हैं। अतएव नाटक के वे पात्र करुणा के भावावेग को अधिक प्रभावशाली ढङ्ग से उत्पन्न करते हैं जो अङ्गपरिचालन, ध्वनि, वस्त्रभूषादि एवं अभिनय का समुचित उपयोग करते हैं। क्योंकि अभिनय की सहायता से अनिष्ट अधिक सन्निकट ज्ञात होता है।

मैत्री का भाव

एरिस्टाटल यह मानते हैं[1] कि करुणा का भावावेग मित्रों और परिचितों के प्रति उत्पन्न होता है। अतएव करुणा के विषय में उनके मन्तव्य को स्पष्टतया समझने के लिए यहाँ पर संक्षिप्त रूप में यह बताना आवश्यक है कि मैत्री के विषय में उनका क्या अभिमत था? मैत्री का भाव अपने लिए नहीं वरन् दूसरे किसी व्यक्ति के लिए इष्ट की चिन्तना करने और यथाशक्ति उसको सिद्ध करने की चेष्टा करने में अभिव्यक्त होता है। अतएव मित्र वह है जो हमारे इष्ट की चिन्तना करता है और उसको सिद्ध करने का उद्योग करता है, हमारे सुख-दुःख में समान रूप से भागी होता है, जिसके लिए इष्टकारी एवं अनिष्टकारी वस्तुएँ वही हैं जो हमारे लिए हैं, जिसके मित्र और शत्रु वे ही हैं जो हमारे हैं।

मैत्री का भाव उन व्यक्तियों के प्रति उत्पन्न होता है जिनके विचार और आदर्श समान हैं, जिनके शत्रु और मित्र समान हैं, जिनके लक्ष्य और जिनकी रुचियाँ समान हैं और जिनके लिए समान वस्तुएँ इष्टकारी एवं अनिष्टकारी हैं। यह मैत्री का भाव उन लोगों के प्रति उत्पन्न होता है जिनमें नैतिक उत्कृष्टता है और जो भले हैं, जिनके चरित्र के विषय में शङ्का नहीं है, जो

---

१. रिटा० ११६–८

अपनी वेशभूषा और सम्पूर्ण रहन-सहन में स्वच्छ हैं, जो हममें भय के भाव को उत्पन्न नहीं करते और जिनके निकट हम आत्मविश्वास का अनुभव करते हैं।

नायक के मित्र के रूप में 'कोरस'

एरिस्टाटल के मतानुसार दुःखप्रधान नाटक से करुणा का भावावेग उन्हीं दर्शकों में उत्पन्न होता है जिनके मन में नायक के प्रति मैत्री का भाव वर्तमान है। इस कथन का अर्थ तभी स्पष्ट होगा जब हमें कोरस (Chorus) के स्वरूप के विषय में एरिस्टाटल के अभिमत का स्मरण हो। कोरस नाटक के आदर्श दर्शक होते हैं। अतएव एक नाट्यप्रदर्शन से दर्शकों में करुणा की अनुभूति के लिए आवश्यक मानसिक-शारीरिक दशाएँ वे ही हैं जिनमें कोरस को प्रदर्शित करते हैं। वे नायक के मित्र होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नायक तथा कोरस के उद्देश्यों, भावनाओं और सम्बन्धों तथा रुचियों और मानसिक प्रतिक्रियाओं में समानता होती है। संक्षिप्त रूप में यदि कहना हो तो कहेंगे कि करुणा की अनुभूति बिना नायक के साथ दर्शक के तादात्म्य के नहीं होती। यह तादात्म्य इस मात्रा में नहीं होता कि दर्शक का व्यक्तित्व नायक के व्यक्तित्व में पूर्णतया निमज्जित हो जाय। क्योंकि ऐसा होने पर करुणा का वह भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा जो करुणाजनक वस्तु के विषयरूप प्रत्यक्ष से उद्भूत होता है। करुणा की अनुभूति के लिए रुचियाँ और मानसिक प्रतिक्रियाओं की केवल समानता आवश्यक है। इस अनुभूति में दर्शक का व्यक्तित्व स्थायी बना रहता है।

करुणोत्पादक भूल (Error)

अब प्रश्न यह है 'यदि करुणाजनक नाटक सर्वाङ्गपूर्ण कार्य का और इसलिए वह एक पूर्ण व्यक्ति का प्रदर्शन है तो फिर उस कार्य में ऐसी कौन सी वस्तु हो सकती है जो करुणा के भाव को उत्पन्न करने का कारण है?' क्योंकि पीड़ित को देखकर ही करुणा उत्पन्न होती है। परन्तु नैतिकरूप से पूर्ण निर्दोष व्यक्ति पर करुणाजनक विपत्ति कैसे आ सकती है। इस प्रकार के व्यक्ति को वैभवशाली दशा से सङ्कट की दशा में पतित प्रदर्शित करना पाप है। इस प्रकार का प्रदर्शन न तो करुणा का भावावेग उत्पन्न करता है और न भय[1] को ही उत्पन्न करता है।

---

१. पोय० ४३०–१

ऐसा लगता है कि इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एरिस्टाटल ने दुःखान्त नाटक की परिभाषा में किंचित संशोधन किया था। वे यह मानते हैं कि करुणाजनक नाटक के उस नायक को, जो वैभव सम्पन्नता से संकट की दशा में गिरता है, न तो परमयोग्य अथवा नैतिक रूप से पूर्ण निर्दोष व्यक्ति होना चाहिए और न उसको अधम व्यक्ति ही होना चाहिए। वरन् उसको इन दोनों स्वरूपों की अति-दशाओं का मध्यवर्ती होना चाहिए। उसको ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो न तो असाधारण रूप से पुण्यात्मा तथा न्यायशील है और न उसको दुष्टता और अधमता के कारण वैभव की दशा से संकट की दशा में पतित होना चाहिए। वरन् उसको इस दशापरिवर्तन का अनुभव किसी महान भूल के कारण होना चाहिए। उदाहरण के लिए ओइडिपस् ऐसा ही अनुभव करता है। एरिस्टाटल के इस कथन का स्पष्ट अर्थ क्या है यह तभी ज्ञात हो सकता है यदि हम उनके मिथ्याज्ञान विषयक उस सिद्धान्त को समझ लें जिसकी व्याख्या उन्होंने अपने 'इथिक्स' नामक ग्रन्थ में की है और उसको ओइडिपस् के कार्य तथा उसके परिणामस्वरूप उसके भाग्य पर प्रयुक्त करें।

कार्य के तीन भेद

कार्य के तीन भेद हैं। १. स्वेच्छाजनित, २. परेच्छा (परवशता अथवा अज्ञान) जनित, ३. अनिच्छाजनित। स्वेच्छाजनित कार्य वे हैं जिनके कारण कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्रविषयक सिद्धान्तों के आधार पर कर्त्ता की या तो प्रशंसा की जाती है या निन्दा की जाती है। इसके विपरीत परेच्छा (परवशता अथवा अज्ञान) जनित कार्य वे हैं जिनके लिए कर्ता को या तो क्षमा कर देते हैं या दयनीय समझते हैं। इसके दो भेद हैं—

१. परवशता में किया गया कार्य और २. अज्ञानवश किया गया कार्य।

१. परवशता में किया गया कार्य

परवशताजनित कार्य वह है जो एक ऐसी बाह्य परिस्थिति से उद्भूत होता है जिसकी रचना में कर्त्ता का कोई हाथ नहीं है। यह वह कार्य है जिसको करने में वह पूर्ण रूप से विवश है अथवा यह वह कार्य है जिसको कोई प्रभूतशक्तिसम्पन्न व्यक्ति किसी से बलपूर्वक करा लेता है। परन्तु ऐसे भी कार्य हैं जिनको करने के लिए यद्यपि बाह्य परिस्थितियाँ बाध्य करतीं हैं फिर भी बाध्यकारी शक्ति इतनी अधिक नहीं होती कि कर्त्ता के पास कोई दूसरा

मार्ग न रह जाय। उदाहरण के लिए एक अत्याचारी शासक किसी एक व्यक्ति को उस कार्य को करने पर बाध्य करता है जो निश्चित रूप से अपयश-जनक है और आदेश न पालन करने पर उसके घनिष्ठतम सम्बन्धियों, माता, पिता और बालकों के बध की धमकी देता है। अथवा एक दूसरा उदाहरण लें—एक जलपोत प्रभंजन में फँस गया है। यात्रियों और नाविकों के प्राणों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि जलपोत में जो भारस्वरूप वस्तुएँ हैं उनको बाहर फेंक दिया जाय। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न यह उठता है कि 'क्या यह अधम कोटि का कार्य अथवा विशिष्ट परिस्थिति में जलपोत की भारस्वरूप वस्तुओं को बाहर फेंकना स्वेच्छाजनित है या परवशताजनित है? यह स्वेच्छाजनित कार्य इसलिए नहीं है क्योंकि ऐसी बाह्य परिस्थिति की बाध्यता[1] से इसको किया गया है जिसकी ओर से उदासीन रहना बाध्य हो जाने से अधिक अनिष्टकारी है। परन्तु बाध्यता के साथ-साथ कर्त्ता के लिए एक दूसरा कार्य पथ भी खुला हुआ है। अतएव इस प्रकार के कार्य मिश्रित स्वभाव के होते हैं उनका एक अंश स्वेच्छाजनित और उनका दूसरा अंश परवशताजनित है।

२. अज्ञानमूलक कार्य

परेच्छाजनित कार्य की दूसरी कोटि का कार्य वह है जो अज्ञानवश किया जाता है। यह अज्ञान उस सिद्धान्त के विषय में नहीं होता जो कार्य को मनोनीत करने का नियामक है, और न तो यह अज्ञान सामान्य के विषय में होता है। वरन् यह अज्ञान विशेष, कर्त्ता, विषय, साधन, परिस्थिति, लक्ष्य, कार्य अथवा कार्य की नैतिकरूपता के विषय में होता है। वह कार्य परेच्छाजनित है जो उपर्युक्तों में से एक के भी अज्ञानवश किया गया है यदि कर्त्ता उस के विषय में अज्ञान के दूर हो जाने पर सचमुच दुःखी होता है और पश्चात्ताप करता है। इस प्रकार के कार्य करुणा और क्षमा के भावों को जाग्रत करते हैं। क्योंकि इस प्रकार के कार्य वस्तुतः परेच्छाजनित होते हैं।

इस प्रकार से जिस समय एरिस्टाटल उस मिथ्याज्ञान की व्याख्या करते हैं जो नायक को उन्नत दशा से पतित दशा में पहुँचा देता है और यह स्वीकार करते हैं कि दर्शक में करुणा के भाव को जगाने का प्रधान श्रेय इसी

---

१. पेट० ५८–९

कार्य को है तो उनका मतलब यही होता है कि कार्य के कुछ विशेष अंशों के विषय में उसको अज्ञान है। यह और भी स्पष्टता से समझाया जा सकता है यदि हम अज्ञानवश किए गए कार्य के विषय में जो कुछ हमने कहा है उसको ओइडिपस् के सम्बन्ध में प्रयुक्त करें।

ओइडिपस् का तथ्यविषयक अज्ञान

थेबीस् के राजा लाइयस् को डेल्फी में दिव्यवाणी से यह ज्ञात हुआ था कि उनके एक ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा जो उनको मार डालेगा और उनकी पत्नी से विवाह करेगा। अतएव लाइयस् की पत्नी ईओकास्टा ने जब एक पुत्र का प्रसव किया तो राजा की आज्ञा से उसको एक गड़ेरिये को इसलिए सौंप दिया गया कि वह उसको पर्वत पर मरने के लिए छोड़ आए। करुणा-प्लावित होकर इस गड़ेरिये ने उस शिशु को एक दूसरे गड़ेरिये को दे दिया। वह उस शिशु को कोरिन्थ नामक राज्य में ले गया और उस देश के राजा पोलिवस् के पुत्र के रूप में उसका पालनपोषण किया गया। उसका नाम ओइडिपस् रखा गया।

वर्ष के बाद वर्ष बीतते गए। एक बार एक सहभोज में युवक ओइडिपस् से किसी ने यह कह कर व्यंग्य किया कि वह पोलिवस् का असली पुत्र नहीं है। व्यंग्य से व्यथित होकर वह डेल्फी के देवमन्दिर की ओर दिव्यवाणी से यह पूछने के लिए चल दिया कि यथार्थ में उसके माता-पिता कौन हैं। दिव्यवाणी से उसको यह ज्ञात हुआ कि उसके भाग्य में पिता को मार डालना और अपनी माता से विवाह करना लिखा हुआ है। भाग्य की इस भीषणता से बचने के लिए ओइडिपस् ने यह संकल्प किया कि वह जीवन भर कोरिन्थ राज्य को नहीं जाएगा। पूर्व दिशा की ओर जो मार्ग गया था उसी पर वह चलने लगा। उसी मार्ग पर उसकी भेंट अपने असली पिता लाइयस् से हुई। उसको यह नहीं ज्ञात था कि जो व्यक्ति उसके सामने वर्तमान है वही उसका पिता है। दोनों में साधारण-सी बात को लेकर झगड़ा हो गया जिसमें लाइयस् अपने तीन साथियों के साथ मारे गए। केवल वही गड़ेरिया जीवित रहकर भाग सका जिसको राजा ने शिशु को पर्वत की निर्जनता में छोड़ आने की आज्ञा दी थी। ओइडिपस् थेबीस् में उस समय पहुँचा जब स्फिन्क्स (Sphinx), पंखयुक्त देवी, जिसका मुखभाग नारी का और अवशिष्ट शरीर सिंह का था, ने राज्य भर में कोहराम मचा रखा था। वह थेबीस् के

निवासियों से एक प्रश्न पूछती थी और जो उत्तर नहीं दे पाता था उसको मार डालती थी। ओइडिपस् ने उसके प्रश्न का ठीक उत्तर दिया और वह स्फिन्क्स जिस प्रस्तरशिला पर बैठी थी उस पर से कूद कर मृत्यु को प्राप्त हो गई। ओइडिपस् थेबीस् का राजा हुआ और उसने इओकास्टा से अपना विवाह कर लिया। सोलह वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद थेबीस् राज्य पर एक महान् संकट आ गया। इसी समय से नाटक आरम्भ होता है। नाटक के प्रथम दृश्य में रंगमंच पर ओइडिपस् एक पुरोहित के नेतृत्व में एकत्रित हुई भीड़ के सम्मुख खड़ा है।

हमें यह ज्ञात होता है कि ओइडिपस् का जीवन भूलों की एक शृङ्खला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह अपने पिता की हत्या करता है और अपनी मां के साथ विवाह करता है। परन्तु यह सब कार्य वह विशेष के विषय में अज्ञानवश ही करता है। जिस समय वह अपने पिता को मार रहा है उसको यह ज्ञात नहीं होता कि वह व्यक्ति उसका पिता है जिस पर वह आघात कर रहा है। अपनी मां के साथ विवाह करने में भी वह उसी प्रकार के अज्ञान के वश में है। वस्तुस्थिति यह है कि ओइडिपस् उस कोरिन्थ राज्य से इसी लिए भागा था (जहाँ उसका पालन-पोषण राजपुत्र के रूप में किया गया था) कि उसके वहाँ रहने से डेल्फी की दिव्यवाणी के सत्य होने की सम्भावना रह जायगी। उसका चरित्र शक्तिवान् और कर्त्तव्यमीमांसीय आचरणसम्बन्धी उसके सिद्धान्त दृढ़ हैं। परन्तु उस भाग्य से वह शासित है जो यथार्थ को विशेप रूप में उसे जानने नहीं देता। अतएव ओइडिपस् के दोषपूर्ण कार्य विशेष के अज्ञान से उद्भूत होते हैं। उसके कार्य स्वेच्छाजनित इसलिए नहीं है क्योंकि जिस समय उसको अज्ञात विशेषों का बोध कराया जाता है उसको अपार पश्चात्ताप होता है और वह स्वयं अपने को कठोरतम दण्ड देता है। इसीलिए वह अपने दर्शकों में करुणा और भय के भावों को जगा लेता है। इस स्वरूप में वह दुःखान्त नाटक का नायक बनने के सर्वथा योग्य है।

अभी तक हमने दुःखान्त नाटक की एरिस्टाटल लिखित परिभाषा के उस अंश की व्याख्या की है जिसमें दुःखान्त नाटक से प्रदर्शित कार्य के स्वरूप की विवेचना की गई है। अब हम परिभाषा के उस अंश को स्पष्ट करेंगे जिसमें दुःखान्त नाटक के लक्ष्य को एरिस्टाटल ने निर्धारित किया है। दुःखान्त नाटक का लक्ष्य करुणा और भय के समान भावों को उनके अतिरेकांशों से शून्य करना अथवा शुद्ध करना है।

आत्मशुद्धि

आत्मशुद्धि (Katharsis) का सिद्धान्त जटिल तथा विवादास्पद है। एरिस्टाटल से उपयोग में आने के पूर्व इसका चिरकाल से ऐतिहासिक विकास होता आ रहा था। इसके विकास का आरम्भ अत्यन्त प्राचीनकाल में मान्य इस सिद्धान्त से हुआ था कि मृत व्यक्ति के घर पर जाने के अनन्तर आत्मशुद्धि करना आवश्यक है। यूनान के धर्म पर डियोनीसस के सम्प्रदाय का जो प्रभाव पड़ा उसका भी प्रमुख हाथ इसके विकास में रहा है। प्लेटो ने अपने संलापों में अनेक स्थानों पर आत्मशुद्धि के सिद्धान्त के अनेक पक्षों का उल्लेख किया है और एरिस्टाटल के मत को उनके पहले ही स्थापित-सा किया है। अतएव यह आवश्यक है कि आत्मशुद्धि के सम्पूर्ण अर्थ को 'आत्मशुद्धि' के सिद्धान्त का ऐतिहासिक विवरण देते हुए और प्लेटो से इस विषय में कहे गए कथनों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया जाय।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि एरिस्टाटल ने आत्मशुद्धि के सिद्धान्त की एक मौलिक नए सिद्धान्त के रूप में रचना नहीं की थी। यूनान देश में जब दार्शनिक चिन्तना का आरम्भ भी नहीं हुआ था और इस लिए कलाशास्त्र का जन्म भी नहीं हुआ था उससे बहुत काल पूर्व धार्मिक सिद्धान्त के रूप में यह सिद्धान्त प्रचलित था। एरिस्टाटल ने कुछ संशोधनों के उपरान्त इस सिद्धान्त को इसलिए अपनाया था कि वे दुःखान्त नाटक को देखने से दर्शक में उत्पन्न प्रभाव का स्पष्टीकरण कर सकें। आत्मशुद्धिविषयक एरिस्टाटल के सिद्धान्त को समझने के लिए आवश्यक है कि हम स्पष्टता से यह समझ लें कि उनके पूर्वजों ने इस शब्द का क्या अर्थ लगाया था? उस पूर्वकालीन सिद्धान्त में ऐसे कौन से अंश थे जिनको उन्होंने ग्रहण किया था, ऐसे कौन से अंश थे जिनका उन्होंने परित्याग किया था एवं वे कौन से अंश थे जिनमें उन्होंने प्रयोजनानुकूल संशोधन किया था।

कथार्सिस (Katharsis) शब्द का लोकप्रचलित अर्थ शुद्धीकरण है। यह उस अंश का निराकरण है जो अवांछनीय है। इस प्रकार से इस सिद्धान्त के तीन तत्त्वांश हैं—१. वह अंश जिसका परित्याग होता है, २. वह वस्तु जिससे वह अंश अलग किया जाता है एवं ३. इस प्रकार की शुद्धता को सिद्ध करने का साधन। आत्मा की या शरीर की शुद्धि होती है। वह मल ही है जिससे शुद्धि होती है। परन्तु शुद्धीकरण के साधन उस मल की भिन्नता

के आधार पर भिन्न-भिन्न होते हैं जिससे आत्मा अथवा शरीर की शुद्धि की जाती है।

आत्मशुद्धि के भेद

१. अन्त्येष्टि क्रिया में भाग लेने वालों की आत्मशुद्धि।

यूनान के निवासी यह विश्वास करते थे कि मृतक के घर को जाने से, शव के सम्पर्क में आने के कारण लोग धार्मिक रूप में अशुद्ध हो जाते हैं। उस कमरे के बाहर जिसमें शव रखा होता था किसी दूसरे घर से लाए हुए पानी को एक पात्र में भरकर रख देते थे। जो लोग शवदर्शन के उपरान्त अपने घर को लौटते थे इसी जल से अपनी शुद्धि कर लेते थे।

२. मृतक-परिवार की आत्मशुद्धि।

अन्त्येष्टि क्रिया का अन्त होने पर मृतक-परिवार के वे लोग जो अन्य आगन्तुकों की अपेक्षा अधिक अशुद्ध हो जाते थे बलिदान किए गए पशुओं के रक्त को पात्रों में लेकर धार्मिक[1] शुद्धीकरण की गम्भीरतर विधियों की सहायता से आत्मशुद्धि करते थे। यह विश्वास कि अन्त्येष्टि क्रिया में भाग लेने वाले व्यक्ति अशुद्ध हो जाते हैं और धार्मिक कृत्यों को करने के पूर्व उनको शुद्ध होने की आवश्यकता पड़ती है—याज्ञवल्क्य[2] तथा अन्य स्मृतिकारों ने भी अपने धर्मग्रन्थों में प्रकट किया है। मिताक्षरा के मतानुसार इस प्रकार से जो व्यक्ति अशुद्ध हो जाता है उससे वह व्यक्ति केवल धार्मिक कृत्यों के करने के ही अयोग्य नहीं हो जाता वरन् उसके कारण उसमें एक भावधर्मी तत्त्व आ जाता है। मृतक के निकट अथवा दूर के सम्बन्धी होने के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों का अशुद्धिकाल और शुद्धिकारी विधियाँ भिन्न-भिन्न हैं। भारतवर्ष में यह विश्वास आज भी प्रचलित है।

३. वध किये गये व्यक्ति के रक्तपात से शुद्ध होने के उपाय।

हत्या का प्रतिशोध अथवा बदला लेना मारे गये व्यक्ति के परिवार के घनिष्ठतम सम्बन्धियों का कर्तव्य था। राज्य-व्यवस्था भी अपना यह कर्तव्य समझती थी कि हत्या से उद्भूत झगड़ों का निपटारा वैधानिक रीति से करे। तात्त्विक रूप से यह मुकदमा एक धार्मिक कृत्य होता था। इसका लक्ष्य परोक्ष शक्तियों, मारे गये व्यक्तियों की घायल आत्माओं अथवा उनके

---

१. साइकी—१९४ २. याज्ञ० २९४

प्रतिनिधिभूत प्रेतों को सन्तुष्ट करना था। अतएव[1] मुकदमे के विषय में मानवीय निर्णय से ही और उसके कार्यान्वित हो जाने पर ही सभी बातों का अन्त नहीं हो जाता था। निर्वासन से लौटने के बाद अनैच्छिक नरहत्या के अपराधी व्यक्ति को मारे गये व्यक्ति के सम्बन्धियों से क्षमा प्राप्त करने के उपरान्त भी दो अन्य कृत्यों को करना बाकी रह जाता था—उसको शुद्ध होना पड़ता था और शान्तिकारी मंगलदायक कृत्यों को करना होता था। मारे गये व्यक्ति के रक्तपात से शुद्ध होने के लिए उस मल से शुद्ध होना आवश्यक था जो नरहत्याकारी व्यक्ति से लगा रहता था जिससे कि वह राज्य और परिवार के धार्मिक उत्सवों में भाग ले सके।

होमर कृत काव्यों में यद्यपि इस प्रकार के धार्मिक शुद्धीकरण अथवा आत्मशुद्धि[2] का उल्लेख प्राप्त नहीं होता फिर भी प्लेटो को इन धार्मिक प्रायश्चित्तों का पूरा ज्ञान था जैसा कि हमको उनके ग्रन्थ लाज़ से ज्ञात होता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने यह घोषणा की है कि उनका राज्यशासन आत्मशुद्धि एवं मंगलदायक विधियों को डेल्फी से ग्रहण करेगा।

४. इल्यूसीनी आध्यात्मिक पूजा में धार्मिक आत्मशुद्धि।

इल्यूसिस के राजकुमारों को दिमीतर देवी ने अपनी पूजा की विधियों[3] में दीक्षित किया था। इन पूजा विधियों को वे राजकुमार प्रच्छन्न इसलिए रखते थे क्योंकि वे यह मानते थे कि अपने परिवार से बाहर किसी व्यक्ति को उन विधियों के विषय में बताना उनकी पवित्रता को नष्ट करना है। इन पूजा-विधियों को करने से इहलोक एवं परलोक दोनों स्थानों पर कर्त्ता का जीवन अवश्यमेव सुखमय होता है यह दृढ़ विश्वास था।

परन्तु एथेन्स का जब इल्यूसिस से मिलन हुआ तो इल्यूसीनी आध्यात्मिक पूजाविधियाँ भी एथेन्स में प्रचलित हो गईं। और एक दिन ऐसा आया कि इल्यूसीनी पूजाविधियाँ एथेन्स में प्रधान रूप में मान्य हो गईं। यद्यपि एथेन्स के साथ इल्यूसिस के मिलन होने पर इल्यूसीनी आध्यात्मिक पूजा-विधियाँ थोड़े ही समय में लोक प्रचलित हो गयी थीं और कोई भी व्यक्ति उन पूजाओं में भाग ले सकता था, फिर भी इनमें भाग लेने के लिए धार्मिक रूप से आत्मशुद्ध होना परमावश्यक था। अतएव वे व्यक्ति जो नरहत्या[4] के अपराधी थे अथवा रक्तपात के भी अपराधी थे और जिनके विषय में उस

१. साइकी—१७९ २. साइकी—१८१
३. साइकी—२१९ ४. साइकी—२२२

काल में भी प्रचलित विश्वास के अनुसार यह मानते थे कि उनका शुद्ध होना असम्भव है, इन आध्यात्मिक पूजाओं से बहिष्कृत होते थे।

५. भावावेग सम्बन्धी आत्मशुद्धि एवं डिओनीसस का सम्प्रदाय।

अभी तक हमने चार प्रकार की आत्मशुद्धियों का वर्णन किया है। इन आत्मशुद्धियों में उस अशुद्धता के किसी उस तत्त्व से शुद्ध हुआ जाता था जो किसी व्यक्ति में शवों के अपवित्रकारी संसर्ग से अथवा नरहत्या के समान महापातकों से प्रवेश करता था। इन आत्मशुद्धियों के साथ एरिस्टाटल के आत्मशुद्धि के सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने इनका वर्णन आत्म-शुद्धि के सिद्धान्त के विकास का ऐतिहासिक उल्लेख करने के लिए ही किया है। आत्मशुद्धि के इस सिद्धान्त का चरम विकास भावावेग सम्बन्धी आत्मशुद्धि में हुआ था। एरिस्टाटल मुख्य रूप से दुःखान्त नाटक की अपनी परिभाषा में इसी (भावावेग सम्बन्धी) आत्मशुद्धि का उपयोग करते हैं।

भावावेगसम्बन्धी आत्मशुद्धि का उद्भव तीन कारणों से हुआ था— १. यूनानियों का डिओनीसस धार्मिक सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेना २. इस सम्प्रदाय का उन पर मानसिक भावावेगात्मक प्रभाव और ३. पुरोहितों तथा चिकित्सकों से की गई इस बात की खोज कि धार्मिक उन्माद से पीड़ित व्यक्तियों को डियोनीसस की धार्मिक विधियों में दीक्षित करना उनके उद्बुद्ध धार्मिक भावावेगों में शुद्धता अथवा विषमताशून्यता लाने के लिए अमोघ उपाय है। इस प्रकार की शुद्धि के उपरान्त धार्मिक उन्माद का रोगी स्वस्थ हो जाता है।

यूनान के एपोलोपंथी धर्म को डिओनीसस के सम्प्रदाय ने अत्यधिक मात्रा में प्रभावित किया था। इसी सम्प्रदाय के लोकप्रचलित हो जाने पर आत्मा के विषय में लोगों का अभिमत बदल गया था जिसके परिणामस्वरूप अध्यात्मवाद और अन्तर्प्रेरित (Inspired) भविष्यवाणी लोकप्रिय होने लगे थे। जैसा कि हम कह चुके हैं प्लेटो के ग्रन्थों में 'आत्मशुद्धि' तथा 'डिओनीसस' के सम्प्रदाय का उल्लेख बहुधा किया गया है जिनसे एरिस्टाटल के आत्मशुद्धि के सिद्धान्त को अत्यधिक स्पष्ट करने में सहायता मिलती है। अतएव हम एरिस्टाटल के आत्मशुद्धि के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के पूर्व डिओनीसस सम्प्रदाय के विशेष अंशों का, यूनानियों से उसकी स्वीकृति और उन पर उसके प्रभाव का एवं प्लेटो के ग्रन्थों में इस सिद्धान्तसम्बन्धी उल्लेखों का परिचय देंगे।

इस सम्प्रदाय के विशेष लक्षण

डिओनिसस के सम्प्रदाय का जन्म थ्रास में हुआ था। देश के सुदूर दक्षिण के निवासियों में यह धर्म विशेष रूप से प्रतिष्ठित था। यूनान के निवासी अत्यन्त प्राचीनकाल से असंख्य अवसरों पर थ्रास के निवासियों के सम्पर्क में अनेक प्रकार से आते थे और इसलिए इस सम्प्रदाय[1] का परिचय उनको मिल चुका था।

होमर के काव्यों से यूनान में प्रचलित जो देवपूजा की विधि ज्ञात होती है वह डिओनीसस के सम्प्रदाय की पूजाविधि से मूलतः भिन्न थी। डिओनीसस सम्प्रदाय की पूजाविधि का सम्पर्क फ्रीजिया के कीबेली सम्प्रदाय से था। यह पूर्ण रूप से धार्मिक उन्माद का जनक थी। अंधकारमयी रातों में पर्वतों की चोटियों पर यह देवपूजा की जाती थी। अनेक प्रकार के वाद्यों जैसे कांसे का बना करताल, दुंदुभि और विशेष रूप से फ्रीजिया की बाँसुरी का उपयोग इसमें होता था। इस स्वच्छन्द वादन से आवेशपूर्ण होकर पूजा में भाग लेने वाले लोगों के समूह तारस्वर से चीखते हुए और आनन्दोन्मत्त होकर नृत्य करते थे। नृत्य में भाग लेने वाले प्राणियों में अधिकतर नारियाँ ही होती थीं। वे वृत्त बनाती हुई तब तक नाचा करती थीं जब तक थक कर भूमि पर गिर नहीं पड़ती थीं[2]। वे पवन में उड़ने वाले विलक्षण प्रकार के वस्त्रों को धारण करती थीं। वे हाथों में सर्पों को लिए रहती थीं और कृपाणों को हवा में चमकाती थीं। इस प्रकार से वे उस उन्मत्त नृत्य में तब तक लगी रहती थीं जब तक उत्तेजना के चरमबिन्दु से उनका अंगप्रत्यङ्ग ओतप्रोत नहीं हो जाता था। इस पवित्र धार्मिक उन्माद की दशा में वे चुने गये बलिपशु पर टूट पड़ती थीं, उसके टुकड़े-टुकड़े कर देती थीं और उसका कच्चा ही मांस खा जाती थीं।

पूजकों पर इसका प्रभाव

इस नृत्योत्सव का वांछित लक्ष्य धर्मोन्मादजन्य प्रहर्ष (Ecstasy) को उत्पन्न करना था। इसकी विलक्षणतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) इन्द्रियों का अत्यधिक संक्षोभण। यह संक्षोभण इतनी अधिक मात्रा में होता था कि उन लोगों को भ्रान्तिजनित चित्र (Hallucination) दिखाई पड़ने लगते थे जिनको डिओनिसस की पूजा के विलक्षण अंगस्वरूप

१. साइकी २५६ २. साइकी २५७

उन्मादपूर्ण नृत्य, स्वच्छन्द तीव्र वाद्य, अन्धकार आदि उन्हें देखने के योग्य बना देते थे। अतएव पूजकों को सभी बाह्य वस्तुएँ अपनी मति और कल्पना-शक्ति के अनुकूल ही दिखाई पड़ती थीं। वे यथार्थमूलक जगत से भिन्न कल्पना के लोक में पहुँच जाते थे।

(२) अत्यधिक इन्द्रियसंक्षोभण का एक धार्मिक लक्ष्य था। इसके कारण पूजक देवता और उसके आध्यात्मिक अनुचरों के साथ सम्बन्धित और एकात्म हो जाता था।

(३) इससे पूजक के शारीरिक अवरोध नष्ट हो जाते थे। सामान्य लोकजीवन की भूमि से उच्च भूमि पर उठ जाने का अनुभव उसको होने लगता था। दैवी और पाशवी शक्तियाँ उसके व्यक्ति में घुल-मिल जाती थीं।

(४) उसमें ऐसी शक्तियाँ[1] जाग जाती थीं जिनके विषय में पूजक इसलिए कुछ नहीं जानता था क्योंकि सामान्य लोकजीवन में शरीर के कारण वे प्रतिरुद्ध थीं। इस प्रकार की पूजा पूजक को देश और काल की सीमाओं से मुक्त कर देती थी अतएव उसको वह दृष्टिगोचर होता था जिसको केवल आध्यात्मिक नेत्र ही देख सकते थे।

यूनान में डिओनीसस के धर्म की स्वीकृति और कला पर उसका प्रभाव

यूनानियों ने डिओनीसस के धर्म को थ्रास से अपनाया था और एपोलो पंथी धर्म में उसको मिला दिया था। अब वह प्राचीन थ्रास का डिओनीसस नहीं रह गया था। अब वह ओलिम्पस निवासी यूनानी देवों के साथ उन्हीं में से एक देवता के रूप में प्रतिष्ठित था। उसका स्वरूप पूर्ण रूप से यूनानी देवताओं जैसा हो गया था। उसकी पूजा प्राकृतिक जीवन और शक्ति के अवतार के रूप में एवं जीवन के उत्कट आनन्दों को विशेष रूप से उत्पन्न करने वाले देवता के रूप में होती थी। (१) डिओनीसस की पूजा से कला ने भी असीम की ओर उन्मुख होने की अधिकांश अन्तर्प्रेरणा[2] और उत्प्रेरणा पायी थी। (२) डिओनीसस सम्बन्धी उत्सव के गायकों से ही नाटक का जन्म हुआ था। (३) अपने को अन्य व्यक्ति में ढालने की वह अद्भूत शक्ति जिसको डिओनीसस सम्बन्धी उत्सवों में भाग लेने वाले वस्तुतः अन्तरप्रेरित व्यक्ति अपनी उन्मत्तता की दशा में प्राप्त करते थे

---

१. साइकी—२६०   २. साइकी—२८५

उस अभिनयकला के विकास और परिपुष्ट दशा का कारण थी जिसकी विलक्षणता अभिनेय व्यक्ति से तादात्म्य कर उसी के समान बोलना और कार्य करना थी। 'बकान्टस्' नामक अपने नाटक में यूरीपिडिस् ने उस भावोन्माद का वर्णन अत्यन्त सुन्दरता से किया है जो डिओनीसस के शक्तिवान् प्रभाव को आत्मसमर्पण करने वाले बकान्टों (डिओनीसस के उपासकों) के इन्द्रियों पर पूर्णतया प्रभुत्व स्थापित कर उनकी इच्छाशक्ति एवं चेतनाशक्ति को अपने वश में कर लेता था।

यूनानियों पर इस धर्म का भावात्मक मानसिक प्रभाव

डिओनीसस का धार्मिक उत्सव यूनान में डेल्फी के मन्दिर में वसन्त ऋतु में वर्ष में एक बार मनाया जाता था। इसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी। अधिक संख्या में यूनानी लोग इस उत्सव में भाग लेने लगे। यह उत्सव बहुत दिनों तक मनाया जाता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक उन्माद-जन्य प्रहर्ष (Ecstasy) को प्राप्त करने का बार-बार ऐच्छिक प्रयास करने के कारण इस प्रकार के उन्माद में निमज्जित होने की मानसिक प्रवृत्ति लोगों में बढ़ती गई और वह मन की विकारग्रस्त दशाओं में प्रकट होने लगी। धार्मिक भावावेग से ग्रस्त हो जाना और ऐसी वस्तुओं का प्रत्यक्ष करना जिनका यथार्थ जगत में कोई मूल नहीं है, इस विकार का निदान था। एक समय ऐसा आया कि इस धार्मिक मति-भ्रष्टता (Religious mania) के शिकार इतने अधिक लोग थे कि वह एक संक्रामक रोग-सी दिखाई पड़ने लगी। इस धार्मिक मति-भ्रष्टता के अस्तित्व को मनोवैज्ञानिकों और चिकित्सकों ने भली-भाँति स्वीकार किया था।

धार्मिक मतिभ्रष्टता का उपचार

धार्मिक मतिभ्रष्टता के रोगी को निरोग करने का साधन रोगी को डिओनीसस सम्बन्धी धार्मिक पूजा विधान में दीक्षित करना था। इस पूजाविधान के मुख्य अंग फ्रीजिया का वह सुप्रतिष्ठित संगीत जिसकी चरमबिन्दु तक भावोन्माद उत्पन्न करने में प्रभावशालिता विख्यात थी, वेगवान् नृत्य और सुगन्धपूर्ण सामग्री के धूम थे। इन उपादानों से अत्यन्त संवर्धित धार्मिक भावावेग को प्रकट होने का, शुद्ध होने का अथवा निर्मल होने का अवसर मिलता था और इस प्रकार से रोगी का मन स्वस्थ हो जाता था। पूजा का यह विधान धार्मिक भावावेग की प्रवृत्ति को इस बात का

अवसर प्रदान करता था कि वह इतनी अत्यधिक मात्रा में अपने को प्रकट करले कि उसकी अति मात्रा समाप्त हो जाय और अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाय। धार्मिक लोग यह विश्वास करते थे कि बाकुस के रूप में डिओनीसस धार्मिक[1] उन्माद को पहले परमोच्च बिन्दु तक पहुँचा देता था और फिर स्वयं लीसिअस् एवं मीलीकीओस के रूप में उसको क्षोभशून्य और परिशान्त कर देता था।

एपोलोसंबंधी धर्म पर डीओनीसस के सम्प्रदाय का प्रभाव

१. अन्तरप्रेरित दिव्य भविष्यवाणी :—ग्रास के डिओनीसस के सम्प्रदाय के प्रभाव में आने के पूर्व यूनान का धर्म अन्तरप्रेरित दिव्य भविष्यवाणी के विषय में अनभिज्ञ था। वस्तुतः उसको उस दिव्य अन्तरप्रेरणा का भी कोई ज्ञान नहीं था जिससे मानव देवत्व प्राप्त करता है। क्योंकि इस धर्म का मूल विश्वास यह था कि मनुजत्व और देवत्व में ऐसा मूल भेद है कि दोनों एक दूसरे से सदैव भिन्न ही रहते हैं। अतएव देवत्व में मनुजत्व की परिणति का न तो कोई प्रश्न ही उठ सकता था और न दोनों में एकात्म होने की ही सम्भावना थी। इसलिए इस प्रकार की एकात्मता से उद्भूत किसी ज्ञान को प्राप्त करने का भी कोई प्रश्न नहीं उठता था।

यूनानी लोगों को भविष्यवाणी का ज्ञान था। परन्तु यह भविष्यवाणी दूसरे प्रकार की थी। उनका विश्वास था कि ईश्वर की इच्छा अपने को दैवयोगवश कुछ भौतिक चिह्नों में प्रकट करती है और कभी-कभी मनुष्य किसी प्रयोजन सिद्धि के लिए भी ईश्वरेच्छा के चिह्नों को जानने का उद्योग करते हैं। इस प्रकार के चिह्नों का बुद्धिसंगत अर्थ निकालना ही भविष्यवाणी का कहना होता था। अतएव भविष्यवाणी केवल एक कलामात्र थी जिसकी शिक्षा भावी भविष्यवक्ताओं को दी जा सकती थी। इस प्रकार की भविष्यवाणी का उल्लेख होमर ने किया है। जीयस और एपोलो के मन्दिरों में इस प्रकार के भविष्यवक्ता रहते थे। 'यूनानियों को दिव्य अन्तरप्रेरणा से प्रेरित भविष्यवाणी' का ज्ञान तभी हुआ जब डिओनीसस का धर्म यूनान में प्रचलित हुआ और लोगों ने उसको स्वीकार कर लिया।

२. अध्यात्मवाद (Mysticisn) :—ग्रास का डिओनीससपंथियों का सम्प्रदाय मूलरूप से आध्यात्मिक था। यह सम्प्रदाय यह विश्वास करता था—

१. साइकी—२८७

१. धार्मिक भावोन्माद, उत्साह अथवा प्रहर्ष मानव की आत्मा को सामान्य व्यावहारिक ज्ञान के स्तर से उच्चस्तर तक उठाने में सक्षम है। यह व्यक्ति विधायक सभी तत्वों से उसको मुक्त कर सकता है और उसको देवस्तर तक ऊपर उठा सकता है एवं केवल कल्पनालोक में ही नहीं वरन् यथार्थ में दिव्य जीवन को कुछ समय तक व्यतीत करने का अवसर प्रदान कर सकता है।
२. मूलरूप से मनुजत्व और देवत्व में कोई भेद नहीं है अतएव जैसे ही मानवात्मा अपने को शरीर के बन्दीखाने से मुक्त कर लेती है उसका बोधक्षेत्र देशकाल से सीमित क्षेत्र के परे तक पहुँच जाता है और यह व्यक्ति आध्यात्मिक नेत्रों से पूर्णतया स्पष्टरूप में भूत और भविष्य की वस्तुओं को देखने लगता है।

जब तक यूनान के निवासी 'आत्मा' के स्वरूप के विषय में प्राचीन अभिमत को मानते रहे तब तक उनमें 'आत्मा' के स्वरूप के विषय में यह विश्वास सम्भव नहीं था। अतएव डिओनीसस पन्थियों का सम्प्रदाय यूनान में अध्यात्मवाद को लाया था। इसी सम्प्रदाय के कारण दिव्य अन्तरप्रेरणाप्रेरित भविष्यवाणी का सूत्रपात हुआ जिसने होमरकथित आत्मा के स्वरूप के विषय में प्राचीन अभिमत को आध्यात्मवादी स्वरूप में पूर्णतया बदल दिया। परवर्ती काल में एरिस्टाटल ने इसी अभिमत के आधार पर आत्मा का वर्णन 'दिव्य ज्योति का अग्निकण' कह कर किया है।

३. डिओनीसस के गुणों से एपोलो का मण्डनः—यूनान में थ्रास के डिओनीसस धार्मिक सम्प्रदाय के प्रचारित होने के पूर्व एपोलो के पूजक सन्त शकुनों[1] (पूर्व-लक्षणों) के द्योतित अर्थों के आधार पर भविष्यवाणी कर सकते थे। धार्मिक प्रहर्ष (उन्माद) दशा में की गई भविष्यवाणी के विषय में उनको कोई ज्ञान नहीं था। परन्तु इस प्रकार की भविष्यवाणी के पहले भविष्य सूचक स्वप्नों की सहायता से भविष्यवाणी की जाती थी। प्लेटो लिखित क्रीटो ग्रन्थ में साक्रेटीज़ ने अपने मित्र क्रीटो से (यह व्यक्ति साक्रेटीज़ का परम मित्र था जिसकी यह उत्कट इच्छा थी कि साक्रेटीज़ को उस जेल से वह बाहर निकाल लाए जहाँ पर उनको मृत्युदण्ड देने का राजकीय आदेश दिया गया था) बातचीत करते हुए यह बताया था कि स्वप्न में उन्हों ने एक नारी[2] को देखा था जिसने भविष्य में घटने वाली बातों को बताया था और वे सत्य प्रमाणित हुई थीं। ऐसा ज्ञात होता है कि साक्रेटीज़ भविष्यवक्ता उस भूमि-

१. साइकी—२८९ २. क्रीटो—१४२ (जोवेट)

देवी पाईथोन का उल्लेख करते हैं जो भविष्यसूचक स्वप्नों की सहायता से भविष्यवाणी करती थी। डेल्फी के देवमन्दिर की एक कथा के अनुसार भूमि की इस देवी को एपोलो ने परास्त किया था। दोनों प्रकार की भविष्यवाणियों के अर्थात् स्वप्न-विचार एवं (पूर्वलक्षण) शकुनविचार के स्थान पर एपोलो के मन्दिर में भविष्यवाणी करने वाली पूजिका के मुख से उन्मादपूर्ण अन्तर प्रेरणा से प्रेरित दशा में प्रत्यक्ष स्वरूप भविष्यवाणियाँ होने लगीं।

उपरोक्त भविष्यवाणी के विषय में हम यह कह सकते हैं कि थ्रास के डिओनीसस के विशेष गुणों से एपोलो को मण्डित करने का यह आरम्भ था। परवर्ती समय में इसीलिए प्राचीन यूनान में प्रतिष्ठित एपोलो भावविकारशून्य, और अतिगम्भीर एपोलो नहीं रह गये वरन् उनको ऐसे नामों से सम्बोधित किया जाने लगा जिनसे क्षुब्धता, उन्मादपूर्णता एवं विषयरक्तता के भाव ध्वनित होते थे, जिनका सम्बन्ध मदिरा–देव वाकुस से था।

४. पुरोहितों के कर्त्तव्यों में वृद्धि :—थ्रास के डिओनीसस का धार्मिक सम्प्रदाय यूनान में उस समय प्रचलित हुआ जब कि वहाँ के लोगों के मन अंधविश्वासपूर्ण थे। वे सभी प्रकारों के परोक्षगत भूत-प्रेतादिकों में विश्वास करते थे। वे यह मानते थे कि रोगों का कारण प्रेतादिकों का प्रभाव है। तत्कालीन यूनानियों के मतानुसार मृत व्यक्तियों के प्रेत उनके चारों ओर मंडराया करते थे और उनको दूषित करते रहते थे। अतएव जिस समय यूनान में धार्मिक उन्माद का सिद्धान्त प्रचलित हुआ और जिस समय परोक्ष प्रेतजगत दिव्योन्माद से उन्मत्त पुरोहितों को प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा तो उनका कर्त्तव्य केवल भविष्यवाणियाँ करना ही नहीं रह गया वरन् उनके दो कर्त्तव्य और बढ़ गए—(१) विविध प्रकार के रोगों—विशेषकर मानसिक रोगों का उपचार करना एवं (२) आत्मशुद्धि के साधन से अशुद्धि जनित प्रत्येक प्रकार के अनिष्ट को नष्ट करना। क्योंकि रोगों और अशुद्धियाँ के जनक उन प्रेतात्माओं के प्रभाव थे जो यद्यपि साधारण लोगों की आँखों से दिखाई नहीं पड़ते थे फिर भी दिव्योन्मादी पुरोहित के आध्यात्मिक नेत्रों के सामने वे दिखाई पड़ते थे।

आत्मशुद्धि का नैतिकदोष से सम्बन्ध नहीं

आत्मशुद्धि की विधियों का प्रयोग अनेक स्वरूपों के दोषों को दूर करने के लिए करते थे। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की आत्मशुद्धि का कोई सम्बन्ध नैतिकदोष के साथ नहीं था। कृत-प्रसवा नारी, नवजात शिशु, मृतक

और वे सब लोग जो शव को स्पर्श करते थे या उसके साथ श्मशान तक जाते थे अशुद्ध हो जाया करते थे और उनको आत्मशुद्धि की आवश्यकता पड़ती थी। इसी के समान दुःस्वप्न को देखने के बाद, रुग्णावस्था से स्वस्थ होने के उपरान्त एवं पाताल लोक की अथवा शवसमाधियों की प्रेतात्माओं की पूजा में समर्पित सामग्री का स्पर्श करने के अनन्तर भी आत्मशुद्धि की आवश्यकता पड़ती थी। इन अवस्थाओं को कोई भी व्यक्ति नैतिक दोष पूर्ण नहीं मानेगा।

इसमें शङ्का नहीं है कि आत्मशुद्धि का प्रयोग हत्या एवं रक्त बहाने के सम्बन्ध में भी किया जाता था परन्तु यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि नरहत्या के सम्बन्ध में भी आत्मशुद्धि का विधान नैतिकदोष को दूर करने के लिए नहीं करते थे। क्योंकि इसकी आवश्यकता समान रूप से स्वेच्छाजनित हत्या, स्वेच्छारहित नरहत्या एवं न्याय तथा अन्यायपूर्ण रक्त बहाने के सम्बन्ध में होती थी। पश्चात्ताप और कर्ता की भूल सुधारने की इच्छा को आत्मशुद्धि की सफलता के लिए कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे। यह माना जाता था कि विकार अथवा मल एक ऐसी वस्तु है जो बाहर से आती है, संक्रामक रोग की भाँति फैल सकती है और किसी ऐसी वस्तु, जैसे विशेष निर्झर के जल, से उसका निराकरण हो सकता है। इन बातों से भी उपर्युक्त मान्यता ही सिद्ध होती है।

प्लेटो के ग्रन्थों में आत्मशुद्धि का सिद्धान्त

एरिस्टाटल प्लेटो के एक प्रसिद्ध शिष्य थे। प्लेटो के ग्रन्थों में जिस आत्मशुद्धि की परम्परा का उल्लेख है उसका संक्षिप्त रूप में वर्णन करना इसलिए आवश्यक है कि हमें यह ज्ञात हो सके कि दर्शक पर दुःखान्त नाटक के प्रभाव के स्पष्ट करने के लिए एरिस्टाटल द्वारा स्थापित आत्मशुद्धि के सिद्धान्त पर प्लेटो का प्रभाव किस स्वरूप में पड़ा था।

वर्तमान आत्मशुद्धि के प्रयोगों के कुछ स्वरूपों की निन्दा

(१) ग्लोकोन तथा एडीमान्टुस दो भाई जिस समय साक्रेटीज़ से यह विनय कर रहे थे कि वे न्याय एवं अन्याय के यथार्थ स्वरूपों तथा उनके सापेक्षिक लाभों को जानने में उनकी सहायता करें उस समय वे आत्मशुद्धि-कारी पुरोहितों की चर्चा करते हैं और गुप्त धार्मिक क्रियाओं द्वारा आत्मा को शुद्ध करने के उनके दावे की निन्दा करते हैं। उनके कथन से यह स्पष्ट ज्ञात

होता है कि उस समय में भविष्यवक्ता[1] भिक्षुओं का अस्तित्व था जो धनी व्यक्तियों के घरों पर जाते थे और उनको यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करते थे कि उनके पास देवताओं से दी गई ऐसी एक शक्ति है जो बलिपूजाओं और अभिचार मन्त्रों की सहायता से उनको स्वयं किये गये एवं उनके पूर्वजों से किये गये पाप कर्मों से शुद्ध कर सकती है तथा अभिचार कला से एवं मन्त्र-जाप की सहायता से वे अपनी इच्छा की पूर्ति देवताओं से बलपूर्वक करा सकते हैं।

(२) इसी प्रकार की निन्दा का भाव हमको साक्रेटीज और ग्लोकोन के वार्तालाप में मिलता है। साक्रेटीज़ ने यह प्रश्न किया था कि क्या उनका (साक्रेटीज़ का) यह कथन ठीक है कि 'वह व्यक्ति जिसकी जिज्ञासा प्रत्येक प्रकार के ज्ञान की ओर जाग्रत हो जाती है और जो ज्ञानप्राप्ति करने के लिए सदैव तत्पर रहता है तथा जिसकी जिज्ञासा कभी भी सन्तुष्ट नहीं होती उचित रूप में 'दार्शनिक' कहलाने के योग्य है।' ग्लोकोन ने इसका उत्तर यह दिया था यदि केवल जिज्ञासा ही 'दार्शनिक' बनाने के लिए पर्याप्त कारण है तो बहुत से विलक्षण व्यक्ति 'दार्शनिक' कहलाने के योग्य हो जायेंगे। उदाहरण के लिए संगीतकला के वे प्रेमी जो डिओनीसस के उत्सवों में इधर-उधर[2] दौड़ते हैं मानों कि उनके कान प्रत्येक प्रकार के समवेत गान (Chorus) को सुनने के लिए सशक्त हैं।

(३) लासेडमोन के निवासी मेगिल्लुस इन्द्रिय सुखों के विषय में स्पार्टा की शासनविधियों की प्रशंसा करते हुए इस बात की ओर श्रोताओं का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते हैं कि डिओनीसस के उत्सवों में मदिरापान को स्पार्टा के निवासी अक्षम्य अपराध मानते हैं। उनके कथनानुसार स्पार्टा का कोई भी पदाधिकारी किसी भी मदिरापान से आनन्द मनाते हुए व्यक्ति को बिना दण्डित किये हुए नहीं छोड़ सकता। डीओनीसस के उत्सव का बहाना[3] भी किसी मदिरोन्मत व्यक्ति की रक्षा राजदण्ड से नहीं कर सकता था।

प्लेटो अनुमोदित आत्मशुद्धि के स्वरूप

प्लेटो डीओनीसस के सम्पूर्ण धार्मिक सम्प्रदाय को गर्हित नहीं मानते थे। वे केवल उसके उसी स्वरूप को गर्हित मानते थे जो उनके नैतिक सिद्धान्त

१. रिप०–५३–६ २. रिप० २१४–५

३. लाज बुक् १–२०

से विरुद्ध था अथवा सैद्धान्तिक रूप में उनसे स्थापित राज-व्यवस्था के लिए जो हानिकर था।

हम एक पूर्व प्रकरण में कह आये हैं कि किस प्रकार से यूनान में थ्रास के डिओनीसस के धार्मिक सम्प्रदाय के प्रभाव से डेल्फी का एपोलोपंथी धर्म प्रभावित एवं संशोधित हुआ था। स्वेच्छारहित आघात करने के जो दोषी हैं उनको शुद्ध करने में आत्मशुद्धीकरण की अमोघता को प्लेटो स्वीकार करते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति युद्ध अथवा सार्वजनिक खेलों में बिना अपनी इच्छा के अपने मित्र को मार डालता है तो उसका शुद्धीकरण डेल्फी से लायी गयी इस प्रकार के मामलों से सम्बन्धित विधि[1] के अनुसार किया जा सकता है। इस प्रकार से यदि कोई पति भावावेग में अपनी पत्नी को या कोई पत्नी भावावेग में अपने पति को मार डाले तो उनको शुद्धीकरण की विधियों से शुद्ध होना आवश्यक था।

धार्मिक शुद्धीकरण में 'निर्वासन' की अपरिहार्यता

उस अत्यन्त प्राचीनकाल से जिसका ज्ञान हमको हो सका है निर्वासन एक ऐसा मान्य दण्ड था जिसको नरहत्या एवं इसी के समान अन्य अपराध करने वाले व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लेते थे। अतएव प्लेटो ने अपने ग्रन्थ लाज़ के नवें परिच्छेद में यह प्रतिपादित किया है कि अकेला धार्मिक शुद्धीकरण पापी को पाप से शुद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। उनके मतानुसार दण्ड अथवा शारीरिक पीड़ाजनक प्रायश्चित्त स्वयं पापी के लिए कल्याणकारी थे। क्योंकि उस युग में यह लोक प्रसिद्ध विश्वास था कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति[2] है, जिसने स्वतन्त्रतापूर्वक अपने देश में जीवन व्यतीत किया है और अन्यायपूर्वक मारा गया है एवं जिसको मरे बहुत दिन नहीं हुए हैं तो उसकी आत्मा उस देश में भ्रमण करता रहता है, अपने हत्याकारी पर कुपित होता रहता है और इसलिए जब वह यह देखता है कि उसकी हत्या करने वाला व्यक्ति उसके देश में ही रहता हुआ अपना समय व्यतीत कर रहा है तो उसको भयभीत और क्षुभित करता रहता है। इसलिए अपराधी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह पीड़ित व्यक्ति से अपने को दूर कर ले और अपने अपराध की गुरुता के अनुरूप विभिन्न समयावधियों के लिए अपने सभी स्थानों का परित्याग कर दे।

---

१. लाज बुक् ९, पृ० ३७३   २. लाज बुक् ९, पृ० ३७४

परन्तु यदि कोई व्यक्ति नियम का पालन नहीं करता और अशुद्ध होता हुआ भी देवालयों और बलिपूजाओं में जाकर भाग लेता है और निर्वासन के दण्ड को स्वीकार नहीं करता तो हत किये हुए व्यक्ति के घनिष्ठतम सम्बन्धी को चाहिये कि वह हत्यारे पर मुकदमा चलाये और यदि न्यायालय में उसका अपराध सिद्ध हो जाय तो उसको दूना दण्ड दिया जाय।

प्लेटो के ग्रंथों में डीओनीसस एवं कोरीवेन्ट सम्बन्धी उपमितियाँ

एरिस्टाटल के आत्मशुद्धीकरण के सिद्धांत पर टीका करने वाले विद्वानों में परस्पर मतभेद है। इस मतभेद का कारण यह है कि एरिस्टाटल ने दुःखप्रधान नाटक की परिभाषा में जिस उपमिति का प्रयोग किया है उसे वे चिकित्साशास्त्र से अथवा धर्मशास्त्र से सम्बन्धित मानते हैं। एरिस्टाटल के स्वयं 'पोयटिक्स' नामक ग्रन्थ में (जो हमें खण्डित रूप में प्राप्त है) इन दोनों मतों का कोई समर्थन प्राप्त नहीं होता। अतएव हमें यह देखना चाहिये कि प्लेटो ने अपने ग्रंथों में डिओनीसस एवं कोरीवेन्ट संबन्धी उपमितियों का जो प्रयोग किया है उससे इस सम्बन्ध में कोई सहायता प्राप्त हो सकती है या नहीं?

(१) शिशुओं का पालन-पोषण करने वाली माताओं और दाइयों के लिये पालनीय नियमों को निर्धारित करते हुए प्लेटो यह कहते हैं कि—

(अ) 'गति' (Motion) प्रत्येक व्यक्ति के विशेषतः शिशुओं के शरीर और आत्मा दोनों के लिए कल्याणकारी है।

(आ) कोई भी व्यक्ति कर्तव्य का अनुमान इस वस्तुस्थिति से लगा सकता है कि माताओं और दाइयों दोनों ने एवं कोरीबेन्टीस से सम्बन्धित उपचार कला में दीक्षित लोगों ने 'गति' की इस उपयोगिता को अनुभव के आधार पर स्वीकार किया है। क्योंकि[1] जिस समय कठिनता से सोने वाले शिशुओं को माताएँ सुलाती हैं तो वे यह चेष्टा नहीं करतीं कि उनके चारों ओर शान्त दशा और नीरवता फैल जाय वरन् वे बालक को लगातार गोद में लेकर हिलाने-झुलाने से और निरन्तर गाने से उत्पन्न हलचल और ध्वनि द्वारा निद्रामग्न कर देती हैं। इस प्रकार से शिशु मृदु रूप में हिलाने से एवं मधुर संगीत से उसी प्रकार से क्षोभशून्य कर दिये जाते हैं जिस प्रकार से उन्मत बैकान्ट वेगवान नृत्यों और फ्रीज़िया के बांसुरी—स्वर से क्षोभरहित हो जाते हैं।

---

१. लाज़—२५३

प्लेटो के मतानुसार क्षोभपूर्ण व्यक्ति पर गति और ध्वनि के प्रभाव का मानसिक–शारीरिक विवरण हम निम्नलिखित रूप में दे सकते हैं—

शिशु में अशान्ति एवं पूर्ण रूप से तरुण व्यक्ति में बाकुस सम्बन्धी उन्मत्तता का कारण भय है। और मानवीय आत्मा की नैसर्गिक भ्रष्टता के कारण प्रत्येक प्राणी में भय स्वाभाविक है। स्वापराधज्ञ एक मूढ़विश्वासी युवक में भी प्रत्यपकारी परोक्षशक्तियों के कोपानल की कल्पना करने से भय उत्पन्न हो सकता है।

प्लेटो के मतानुसार क्षोभ मानसिक या शारीरिक कारणों से उत्पन्न होता है। इस प्रकार के आन्तरिक कारण भी हो सकते हैं जो शिशु को सहज रूप में सोने नहीं देते अथवा जो पूर्ण रूप से तरुण व्यक्ति में बाकुस सम्बन्धी उन्मत्तता उत्पन्न करते हैं। यह बाह्य कारणों से भी हो सकता है जैसे कि शिशु के सम्बन्ध में 'गति' और गीत तथा बाकुस सम्बन्धी उन्मत्तता से ग्रस्त युवक के सम्बन्ध में वेगगामी नृत्य तथा बांसुरी की ध्वनि।

प्लेटो यह मानते हैं कि आन्तरिक कारणों से उद्भूत क्षोभ बाह्य कारणों से उद्भूत क्षोभ से अभिभूत हो जाता है। इस प्रकार की अभिभूतता का प्रभाव मानसिक इसलिए है क्योंकि आत्मा शान्ति का अनुभव करती है और शारीरिक इसलिए है क्योंकि दोनों प्रकार की दशाओं में दुःख-पूर्ण उछलते हुए हृदय में शान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार से बहिर् कारणों से उद्भूत क्षोभ का शिशु पर अन्तिम प्रभाव यह पड़ता है कि वह चिरकाल तक गम्भीर निद्रा में निमग्न हो जाता है और बाकुस सम्बन्धी उन्मत्तता से ग्रस्त तरुण व्यक्ति पर चरम प्रभाव यह पड़ता है कि उसकी उन्मत्त दशा सामान्य स्वस्थ दशा में बदल जाती है।

(२) प्लेटो लिखित 'सिम्पोज़ियम' ग्रन्थ में एलसीबियाडीस साक्रेटीज़ की प्रशंसा करते हुए उनकी उपमा कोरीबेन्टीस के उत्सव में बांसुरी–वादक के साथ देते हैं। वे कहते हैं :—

"क्या तुम बांसुरी–वादक नहीं हो? तुम भी एक बांसुरी–वादक हो और तुम उस मरस्यास से जिसकी शिक्षा से ओलीम्पस के गीतराग उद्भूत हुए हैं कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण रूप में उसे बजाते हो। अपने वाद्य के साधन से और अपनी श्वास की शक्ति से उसने मनुष्य की आत्माओं को मुग्ध कर लिया था। उसके गीत के स्वर अन्तरप्रेरित थे। इसलिए वे मनुष्यों की

आत्माओं को अपने वश में कर लेते थे और उन व्यक्तियों की कमियों को प्रकट कर देते थे जिनको देवताओं और आध्यात्मिक पूजाओं की आवश्यकता थी।

परन्तु तुम वही प्रभाव विना बांसुरी के केवल अपने शब्दों से उत्पन्न करते हो। यहाँ तक कि तुम्हारे व्याख्यानों के खण्ड भी जब अन्य व्यक्तियों से अपूर्ण रूप में दोहराये[1] जाते हैं तो भी वे प्रत्येक पुरुष, नारी और बालक श्रोता को चमत्कृत कर देते हैं और उसकी आत्मा को अपने वश में कर लेते हैं।"

एलसीवियाडीस ने अपने ऊपर पड़ते हुए साक्रेटीज़ के व्याख्यानों के मानसिक–शारीरिक एवं नैतिक प्रभावों का वर्णन बहुत रोचक रूप में किया है। वे कहते हैं :—

"साक्रेटीज़! तुम्हारा व्याख्यान सुनने का परिणाम यह होता है कि मेरे हृदय की गति किसी भी कोरीबेन्टीस के उत्सव में भाग लेने वाले व्यक्ति से अधिक तीव्र हो जाती है, मेरे नयनों से आँसुओं की वर्षा होने लगती है और मेरी आत्मा में कम्पन होने लगता है एवं मैं अपनी दासता की दशा को विचार कर स्वयं कुपित हो उठता हूँ। मैं इस सत्य को भली भांति जानता हूँ कि तुम्हारे व्याख्यान इतने अधिक रोचक हैं कि यदि मैं उनको सुनना न बन्द कर दूँ तो मैं वृद्ध होने तक बैठे-बैठे उनको सुनता ही रह जाऊँ। तुम्हारे व्याख्यानों का नैतिक प्रभाव ऐसा है कि मुझे यह मानना पड़ता है कि जिस प्रकार से जीवन मैं व्यतीत कर रहा हूँ अर्थात् अपने आध्यात्मिक कर्तव्यों की ओर से विमुख होकर मैं अपना सारा जीवन एथेन्सवासियों के कामों में लगाए रखता हूँ उस प्रकार से मुझको व्यतीत नहीं करना चाहिए। तुमको छोड़ कर इस संसार में दूसरा कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसने मुझे अपने पर लज्जित कर दिया हो।"

इस प्रकार से सिद्ध यह होता है कि इन उपमितियों का निहितार्थ धर्म और चिकित्सा सम्बन्धी है।

प्लेटो के कर्तव्यमीमांसाशास्त्र पर डीओनीसस संबंधी आत्मशुद्धि विषयक विचारधारा का प्रभाव

हम पूर्व प्रकरणों में यह कह आए हैं कि श्वास से भावावेग सम्बन्धी आत्म-शुद्धि की विचारधारा के आने के पूर्व यूनान में शुद्ध सभ्यरीति के रूप में आत्मशुद्धि का प्रचलन था। और इसका भी उल्लेख कर चुके हैं कि यूनानियों

---

1. सिम्पो० ३४८

ने जब भावावेग सम्बन्धी आत्मशुद्धि के सिद्धान्त को अपना लिया तभी उनको धार्मिक उन्माद के उपचार करने का एकमात्र साधन ज्ञात हो सका था। यह साधन रोगी को डिओनीसस की पूजाविधि में केवल दीक्षित भर ही करना था। इसके अनुष्ठान में धार्मिक उन्माद की उन्मुखता को पूर्णरीति से आत्म-प्रकटन का अवसर मिलता था। अतः इससे धार्मिकोन्माद का अत्याधिक्य नष्ट हो जाता था। इस प्रकार से आत्मशुद्धिविषयक प्राचीन विचारधारा विशालतर हो गई थी क्योंकि इसका लक्ष्य अब केवल हत्या एवं अन्य इस प्रकार के अपराधों के प्रभाव से आत्मा को शुद्ध करना ही नहीं रह गया था वरन् धार्मिक उन्माद की अतिमात्रा से भी आत्मा को शुद्ध करना था।

प्लेटो ने आत्म-शुद्धि के सिद्धान्त को कर्तव्यमीमांसा शास्त्र पर प्रयुक्त कर और भी अधिक विशाल बनाया। उनके मतानुसार चार प्रमुख सद्गुण हैं—(अ) बुद्धिमत्ता (आ) साहस (इ) सौम्यता एवं (ई) न्यायप्रियता। जिस प्रकार से वास्तविक ज्ञप्तियां व्यवहारगत लोक में अपनी प्रतिच्छायाओं से मूलतः भिन्न हैं उसी प्रकार से वास्तविक सद्गुण अपनी प्रतिच्छायाओं से मूलतः भिन्न हैं।

हमारे वर्तमान प्रतिपाद्य विषय के लिए यह भेद विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि इस भेद को आत्मशुद्धि के सम्बन्ध में साक्रेटीज़ ने उस समय स्पष्ट किया है जब कि एक अत्यन्त गम्भीर प्रसंग में दार्शनिक के विशेष गुणों को प्रतिपादित करने के लिए वे वार्तालाप कर रहे हैं।

साक्रेटीज़ के जीवन का अन्तिम दिवस था। उनके मित्र उनके निकट एकत्रित हो गए थे परन्तु वे कठिनता से यह विश्वास कर पा रहे थे कि वे अपने एक मित्र की मृत्यु के अवसर पर एकत्रित हुए हैं। उस समय उनकी वाणी एवं उनके आचरण इतने अधिक भद्र एवं भयहीन थे कि ऐसा लगता था कि मानो वे आत्मानन्द का अनुभव कर रहे थे। ऐसा ज्ञात होता था जैसे कि किसी दिव्य शक्ति ने उनको संसार से परलोक में वापस बुलाया था जहाँ पर वे सुखी रहेंगे। अतएव उन मित्रों ने साक्रेटीज़ पर अपनी दया प्रकट नहीं की। स्वाभाविक रूप से उन लोगों में परस्पर 'एक दार्शनिक के विशेष गुण' के विषय में वार्तालाप का आरम्भ होता है। यह बताया जाता है कि साहस और सौम्यता एक दार्शनिक के विशेष गुण हैं।

दार्शनिक व्यक्ति वह है जो इन्द्रियसुखों की परवाह नहीं करता। प्राकृतिक आवश्यकताओं से जो अधिक है उसको वह उदासीन दृष्टि से देखता है। वह

प्रत्येक सम्भावित उपाय से शरीर से आत्मा को पृथक करने की चेष्टा करता है। शारीरिक सुखों के प्रति वह मृत व्यक्ति के समान उदासीन रहता है। वह इस तथ्य का साक्षात्कार कर लेता है कि सब इन्द्रियों में प्रधान चक्षु तथा श्रवण इन्द्रियों में भी कोई सारतत्त्वग्राहिता नहीं है और सम्पूर्ण शरीर यथार्थज्ञान की प्राप्ति में बाधक है। अतएव वह शरीर से मुक्त होने के लिए अत्यन्त आतुर रहता है। वह इस बात को भली भाँति जानता है कि चरम न्याय, परम सुन्दरता एवं परम कल्याण का साक्षात्कार केवल मन से ही हो सकता है। उसको इस बात में कोई शंका नहीं होती कि जब तक उसकी आत्मा का सम्बन्ध गर्ह्य पिण्ड अर्थात् शरीर के साथ है तब तक सत्यप्राप्ति की उसकी इच्छा सन्तुष्ट नहीं होगी। वह सत्य के निकटतम तभी पहुँचता है जब उसका मन शरीर से ऊपर उठकर गम्भीर चिन्तना में निमग्न होता है। शरीर के प्रति उसको कोई मोह नहीं होता, शारीरिक प्रकृति में वह निमज्जित नहीं होता और यह विश्वास करता है कि जब ईश्वर उसको शरीर से मुक्त करने की कृपा करेगा तभी उसको शुद्धता प्राप्त होगी और तभी शुद्ध आत्माओं के साथ उसका सम्पर्क स्थापित हो सकेगा क्योंकि 'उस दशा में ही उसके मन की शुद्धि हो चुकी होगी।' उसके लिए आत्मा का शरीर से पृथक होना ही आत्मशुद्धि[1] है। अथवा यह कहें कि आत्मशुद्धि का अर्थ आत्मा का अपने में रमण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है या आत्मा का केवल आत्मस्थ होना है अथवा शृङ्खला स्वरूप शरीर से आत्मा की मुक्ति है।

साहस तथा आत्म-संयम

हमें यह ज्ञात होता है कि निजमतानुसार दार्शनिक के तात्त्विक स्वरूप का वर्णन करते हुए प्लेटो ने 'आत्मशुद्धि' शब्द को धार्मिक विधि सम्बद्ध अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है वरन् इस शब्द का प्रयोग अनिष्ट को इष्ट से विलग करने के विशालतर अर्थ में किया है। उन्होंने इस अर्थ का प्रयोग उस समय दो प्रधान सद्‌गुणों के सम्बन्ध में किया जब उन्होंने वास्तविक साहस और आत्म-संयम (temperance) एवं व्यावहारिक लोकगत उनकी प्रतिच्छायाओं में भेदरेखा खींची थी।

प्रत्येक प्रकार के भय से शून्य होना ही यथार्थ साहस है। उसी प्रकार से 'भावावेगों को शान्त[2] और संयमित रखना एवं उनको घृणित समझना' ही

---

१. फेडो १९९ २. फेडो २००

यथार्थ आत्म-संयम है। इस प्रकार से उपर्युक्त दोनों सद्‌गुण केवल शरीर के प्रति मोहशून्य दार्शनिकों में ही हो सकते हैं। परन्तु वे व्यक्ति जो दार्शनिक नहीं हैं वस्तुतः साहसी एवं आत्मसंयमी नहीं हो सकते। उनका साहस और उनका आत्म-संयम वास्तव में स्वात्म-विरोधी होते हैं क्योंकि न तो उनका साहस पूर्णतया भयशून्य होता है और न उनका आत्मसंयम ही इच्छाविहीन होता है। वे मृत्यु का सामना इसलिए करते हैं क्योंकि वे एक ऐसे अनिष्ट से भयभीत रहते हैं जो उनके मतानुसार मृत्यु से भी अधिक अनिष्टकारी है जैसे कि निन्दा, अपमान एवं अपयश। उसी प्रकार से कुछ इन्द्रियसुख ऐसे हैं जिनको वे किसी भी मूल्य पर प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव वे एकवर्ग के इन्द्रियसुखों से उदासीन इसलिए रहते हैं क्योंकि अन्य इन्द्रिय सुखों के वे वशीभूत होते हैं। परन्तु एक भय का दूसरे भय से विनिमय करना वास्तविक साहस नहीं है और न एक इन्द्रियसुख का दूसरे इन्द्रियसुख से विनिमय करना वास्तविक आत्मसंयम है। भयों, इन्द्रियसुखों, एवं पीड़ाओं अथवा तत्समान अन्य इष्टों तथा अनिष्टों से असंबद्ध वास्तविक साहस एवं वास्तविक आत्मसंयम बुद्धिमत्ता (Wisdom) के आवश्यक सहचर हैं। परन्तु एक प्रमुख सद्‌गुण चाहे वह साहस हो या आत्मसंयम हो या अन्य कोई हो यदि इन्द्रियसुख आदि की सिद्धि के विचार से प्रभावित होता है तो वह सद्‌गुण की प्रतिच्छाया मात्र ही है। वास्तविक साहस एवं वास्तविक आत्मसंयम वस्तुतः सभी प्रकार की शारीरिक अनुचिन्ताओं और इन्द्रियसुखों से आत्मा को शुद्ध करना ही है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि प्लेटो अपने कर्तव्यमीमांसाशास्त्र के सिद्धान्तों को निर्धारित करने में आत्मशुद्धि के सिद्धान्त से प्रभावित हुए थे। उन्होंने शुद्ध रूप से एक धार्मिक सिद्धान्त का उपयोग अपने कर्तव्य-मीमांसाशास्त्र के मूल तत्त्वों अर्थात् प्रमुख सद्‌गुणों के आवश्यक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए किया था।

प्लेटो के कलाशास्त्र पर डिओनीसस सम्प्रदाय के धर्मोन्मादजन्य प्रहर्षांश का प्रभाव

प्लेटो के संलापस्वरूप ग्रन्थों में पात्र रूप साक्रेटीज़ फ्रेड्रस से लीसीअस लिखित 'प्रेम' विषयक निबन्ध के विषय में बातचीत करते हुए साहित्यिक समीक्षा के दो तत्त्वों का उल्लेख निम्नलिखित प्रसंग में करते हैं :—

अपने युग का सर्वश्रेष्ठ अलंकारशास्त्रज्ञ लीसिअस साक्रेटीज़ का समकालीन था। उसने एक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें उसने यह सिद्ध किया था कि

प्रेमी व्यक्ति की अपेक्षा अप्रेमी व्यक्ति को स्वीकार करना चाहिए। 'प्रेम' के विषय में प्रवचन को सुनकर फ्रेड्रस जब लीसिअस के पास से लौट कर आया तो साक्रेटीज़ से उसने भेंट की। साक्रेटीज को जब यह ज्ञात हुआ कि 'प्रेम' के विषय में लीसिअस लिखित संलापरूप निबन्ध को सुनकर फ्रेड्रस लीसिअस के पास से आया है तो उन्होंने फ्रेड्रस से यह विनयपूर्वक कहा कि वह लीसिअस के प्रवचन को सुना दे। जब वे परस्पर बातचीत कर रहे थे साक्रेटीज़ ने फ्रेड्रस के लबादे के नीचे बांये हाथ में हस्तलेख को मुड़ा हुआ देखा और जैसा उनका अनुमान था वह एक लिखा हुआ प्रवचन ही था। वे एक सुन्दर ग्रामीण प्राकृतिक स्थली में चले गए। वहाँ पर बैठ कर फ्रेड्रस ने पूरा प्रवचन पढ़ा और यह कहते हुए साहित्यिक समीक्षा का आरम्भ किया—

'क्या यह प्रवचन उत्कृष्ट नहीं है? विशेषतया भाषा की दृष्टि से?'

प्लेटो के ग्रन्थों में पात्र रूप में अंकित साक्रेटीज़ ने प्रवचन के जिन दो पक्षों की ओर ध्यान देने को कहा है वे (१) प्रतिपाद्य मूल-भाव (sentiment) एवं (२) भाषा हैं। उनके मत के अनुसार मूल-भाव (sentiment) के कारण श्रोता में 'प्रहर्ष'[1] उत्पन्न होता है। उस प्रहर्ष का कारण जिसे वर्तमान प्रसंग में काव्यजनित प्रहर्ष कहते हैं निर्णय शक्ति का चिरकाल तक कार्यशून्य रहना और काव्यजनित हर्षपूर्ण पाठक की दशा का अनुगमन करना है। यह प्लेटो से प्रतिपादित चार प्रकार के प्रहर्षों (Ecstasy) में से एक प्रहर्ष है। इन प्रहर्षों का वर्णन हम अगले उपप्रकरण में करेंगे। इस प्रहर्ष का प्रभाव डिओनीसस् उत्सव में भाग लेने वाले व्यक्तियों के 'प्रहर्ष' के प्रभाव के समान ही होता है जैसे कि (१) इन्द्रियों की इतनी अधिक उत्प्रेरणा कि भ्रान्तिमूलक दृश्य दिखाई देने लगे (२) देवता के साथ में सम्बन्ध और एकात्मता (३) शारीरिक अवरोधों का निराकरण एवं (४) दिक्काल के अवच्छेदकों से मुक्ति। प्लेटो यह भी मानते हैं कि कवि अथवा नाटककार, वाचक या अभिनेता एवं श्रोता या दर्शक की काव्यजनित प्रहर्ष की दशा बहुत अंशों में समान ही होती है। प्लेटो ने इस बात को अपने ग्रन्थ 'आईओन' में पूर्णतया स्पष्ट किया है। इसकी विवेचना हम आगामी एक उपप्रकरण में करेंगे जिसका शीर्षक 'चुम्बक और लोहे के छल्ले' है।

प्लेटो ने यह लिखा है कि साक्रेटीज़ ने फ्रेड्रस के मुख से जब 'प्रेम' विषयक प्रवचन सुना तो वे उसके मूल-भाव (sentiment) सम्बन्धी अंश के

---

१. फेड्र० ३८८

कारण स्वयं प्रहर्ष की दशा में हो गए। काव्यात्मक अन्तरप्रेरणा से साक्रेटीज़ इतना अधिक प्रेरित[1] हुए कि तुरन्त ही उन्होंने 'प्रेम' विषयक एक अपना प्रवचन रच कर सुना दिया जिसको सुनकर स्वयं फ्रेड्रस ने यह मान लिया कि साक्रेटीज़ का प्रवचन लिसीअस के प्रवचन से अधिक उत्तम है।

प्लेटो से स्वीकृत 'प्रहर्ष' के भेद

१—भविष्यवाणी सम्बन्धी धर्मोन्मादजन्य प्रहर्ष :—यह उन्माद दिव्यशक्ति का विशेष वरदान[2] है। मनुष्य जाति में उत्कृष्ट कल्याणों का यह स्रोत है। यह उन्माद स्वप्रभावित व्यक्ति को इन्द्रियबोधशून्य कर देता है एवं लोगों के भविष्य को बताने की और ठीक मार्ग प्रदर्शन की शक्ति प्रदान करता है।

२—देवपूजक की 'प्रहर्ष' दशा :—यह मूलरूप से वही दशा है जिसका वर्णन हमने डिओनीसस के धार्मिक सम्प्रदाय के प्रसंग में किया है।

३—काव्य सम्बन्धी प्रहर्षदशा :—प्रतिभा देवी जब अन्तःकरण में आ बसती हैं तब इस प्रकार की प्रहर्ष दशा उत्पन्न होती है। दिव्य प्रतिभाओं से उत्पन्न यह प्रहर्ष दशा मृदु एवं पवित्र अन्तःकरणों में प्रवेश करती है। इस दशा में एक विशेष प्रकार की उन्माद दशा उत्पन्न होती है। इस दशा में श्रृङ्गार तथा अन्य विषयक छन्दोबद्ध काव्य, जिन में प्राचीन महापुरुषों के असंख्य कार्यों का अलंकृत भाषा में इस प्रकार का वर्णन होता है कि भावी मनुष्य जाति को इनसे शिक्षा प्राप्त होती है, काव्य प्रतिभाविष्ट पुरुष के मुख से अनायास निकलने लगते हैं।

४—सौन्दर्य के प्रेमी का प्रहर्ष :—इस प्रकार के 'प्रहर्ष' को उचित रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम आत्मा के विषय में प्लेटो के मत को स्पष्टरूप से स्मरण कर लें—

'प्रहर्ष' के प्रसंग में आत्मा

आत्मा नाशहीन है क्योंकि केवल वही वस्तु जो अन्य शक्ति से चालित है गति के अन्त हो जाने पर सजीव नहीं रहती। परन्तु आत्मा आत्मपरिचालित है और इसलिए अनन्त है। यह अनादि है। लाक्षणिक रूप में इसको पंखों से युक्त कहा गया है। लाक्षणिक अथवा औपचारिक रूप में आत्मा को पंखों से युक्त मानने के आधार पर प्लेटो ने मनुष्य और देवता के भेद को स्पष्ट

१. फेड्र० ३९३ २ फेड्र०—४०१—२

किया है। यह आत्मा जब पूर्ण रूप में सब प्रकार से पंखों से युक्त होती है तो ऊर्ध्व दिशा में उड़ती है। परन्तु एक अपूर्ण आत्मा अपने पंखों को खो देती है और उड़ने में असमर्थ होकर अन्त में ठोस भूमि पर गिर कर वहां की निवासिनी हो जाती है। यहां पर वह एक लौकिक शरीर प्राप्त करती है जो यद्यपि स्वसंचालित ज्ञात होता है परन्तु वस्तुतः वह आत्मा की शक्ति से संचालित होता है। आत्मा और शरीर की इस मिश्रित वस्तु को सजीव और नाशवान प्राणी कहते हैं। सौन्दर्य, ज्ञान (wisdom) एवं सुचरित्रता (goodness) को छोड़कर जब आत्मा की अनिष्ट, कपट, छल आदि की तरफ प्रवृत्ति हो जाती है तो उसके पंख नष्ट हो जाते हैं।

मन आत्मा का स्वामी है। इसमें इतनी शक्ति है कि यह उस रंगहीन, एवं स्पर्शहीन मूलतत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है जिसके चारों ओर वह स्वर्ग का भी स्वर्ग बसा हुआ है जो यथार्थ ज्ञान का लोक है। उचित रूप में पोषित और शुद्ध ज्ञान से पुष्ट आत्मा सत्य का साक्षात्कार करती है।

बहुधा प्लेटो आत्मा के विषय में औपचारिक अथवा लाक्षणिक भाषा का प्रयोग करते हुए उसका वर्णन पंख युक्त रूप में न कर एक उस रथ के सारथी के रूप में करते हैं जिसके अनुशासन में रथ में जुते हुए पंखयुक्त दो घोड़े हैं। इस प्रकार के प्रसंग में वे निम्नलिखित रूप में देवता और मनुष्य के भेद को स्पष्ट करते हैं :—

'देवताओं के रथों के सारथी और पंखयुक्त घोड़े सभी उत्तम और श्रेष्ठ जाति के हैं जब कि हमारे अश्व मिश्रित[1] स्वभाव के हैं। और हमारे पास एक सारथी है जो उस घोड़ों के युग्म को संचालित करता है जिसमें एक घोड़ा दोषहीन और उच्चजातीय है परन्तु दूसरा अश्व दोषपूर्ण और अधम जाति का है। स्वभावतया ऐसी दशा में उनको व्यवस्थित रूप से संचालित करना अनेक प्रकार से बाधापूर्ण है।'

जो आत्माएँ ईश्वर का अनुगमन करती हैं और उसी ईश्वर के समान हैं वे सत्य[2] का साक्षात्कार उतनी ही मात्रा में करने में सक्षम हैं जितनी मात्रा में लौकिक सुखों की इच्छा उनको अभिभूत नहीं कर लेती। परन्तु जब कोई आत्मा ईश्वर का अनुगमन नहीं करती, तब वह सत्य के स्वरूप को देखने में असफल हो जाती है। वह विस्मरण एवं पाप के दोहरे भार के नीचे पतित होती है, अपने पंखों को खोकर भूमि पर आ गिरती है और प्रतिफल प्रदायिनी

---

१. फेड्र० ४०३　　२. फेड्र० ४०६

दिव्य शक्ति के नियमानुकूल वह आत्मा सर्वप्रथम मनुष्य के रूप में जन्म लेती है।

वह आत्मा जिसने सत्य का अधिकांश में साक्षात्कार किया है इस लोक में दार्शनिक, कलाकार, संगीतज्ञ अथवा प्रेमी के रूप में जन्म लेती है। परन्तु वह आत्मा अनुकरणकर्त्ता के रूप में जन्म लेती है जिसने सत्य का साक्षात्कार छठे अनुक्रम पर किया है।

इस प्रसंग में ऐसा ज्ञात होता है कि प्लेटो वास्तविक कलाकृति की रचना करने वाले उस व्यक्ति का जिसका लक्ष्य सत्य का प्रकटीकरण है उस व्यक्ति से भेद स्पष्ट करते हैं जो इन्द्रियबोध्य वस्तुओं की एक प्रतिकृति ही बनाना चाहता है। पहले की गणना वे दार्शनिकों के साथ में करते हैं और दूसरे की कृतियों की निन्दा करते हुए अपने आदर्श लोकतन्त्र में उसको कोई स्थान देना नहीं चाहते।

प्लेटो प्रतिपादित 'सुन्दरताप्रेमी' के तात्विकस्वरूप के आलोक में कलाकृति जन्य कला-अनुभव

चौथे प्रकार की उन्माद अथवा प्रहर्ष की दशा सौन्दर्य-प्रेमी के साथ संबंधित की गई है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रेम-विषयक पूरे प्रवचन में एक काल्पनिक युवक को सम्बोधित किया गया है। अतएव उसमें कामजनित प्रेम के भी उल्लेख हैं। परन्तु यदि हम प्रवचन के काल्पनिक प्रसंग को हटा दें तो यह मान सकते हैं कि यह प्रवचन कलागत सौन्द्रर्य के प्रेम के विषय में लिखा गया है। प्रवचन के काल्पनिक प्रसंग के कारण जो कामजनित प्रेम का अंश उसमें आ गया है उसको छोड़ कर यदि पूरा प्रवचन पढ़ें तो हमको यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि प्लेटो के मतानुसार कलाकृति से उद्भूत अनुभव का स्वरूप क्या था। इस अनुभव के विशेष अंश निम्नलिखित हैं :—

१ वास्तविक सौन्दर्य की स्मृति

प्लेटो प्रतिपादित आत्मा के तात्विक स्वरूप का उल्लेख हम कर चुके हैं। उनके अभिमत के अनुसार एक समय ऐसा था जब मनुष्य की आत्माएं देवताओं के साथ निवास करती थीं और अपने पास पंख होने के कारण वे देवताओं के साथ उड़ सकती थीं तथा वास्तविक सौन्दर्य को देख सकती थीं।

परन्तु लौकिक सुखों की इच्छा से प्रभावित होने के कारण उनके पंख नष्ट हो गये और वे पृथ्वी पर आ गईं। यदि उन्होंने सत्य का प्रत्यक्ष चरमरूप में किया है तो इस लोक में वे दार्शनिक, कलाकार अथवा प्रेमी के रूप में जन्म लेती हैं। सौन्दर्य का प्रेमी (क्या हम यह कहें कि यह सुन्दरता कलाकृति की सुन्दरता है? यद्यपि स्वयं प्लेटो ने काल्पनिक प्रसंग के कारण मनुष्य के प्राकृतिक शारीरिक सौन्दर्य का ही उल्लेख किया है) जब भूमि पर सौन्दर्य को देखता है तो वह उस वास्तविक सौन्दर्य की स्मृति[1] के कारण जिसका अनुभव उसने देवताओं के साथ रह कर किया था कुछ समय के लिए इस लोक का परित्याग कर उस लोक में पहुँच जाता है। वह उस लोक को उड़ जाने की इच्छा करता है परन्तु पंख न होने के कारण वह उड़ नहीं सकता। वह ऊर्ध्व दिशा में देखता है और सांसारिक व्यवहारों की ओर अपना ध्यान नहीं देता। अतएव लोग उसको पागल समझते हैं। यह सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वश्रेष्ठ भावावेगमूलक अन्तरप्रेरणा है। उस व्यक्ति को जिसमें यह अन्तर-प्रेरणा अल्पांश अथवा प्रभूतांश में विद्यमान है लोग सौन्दर्य का प्रेमी कहते हैं।

परन्तु सभी व्यक्ति सरलतापूर्वक परलोकगत वस्तुओं का स्मरण नहीं कर सकते। इसका कारण यह हो सकता है कि या तो उन्होंने परलोकगत सौन्दर्य को अल्पकाल तक ही देखा है या उन पर किसी दोष अथवा भ्रष्टता का प्रभाव है जिससे कि परलोक में जो कुछ उन्होंने देखा है उसको वे भूल गए हैं। कुछ ही ऐसे व्यक्ति हैं जो पर्याप्त रूप में उसकी स्मृति बनाए रख सकते हैं। इसलिए जिस समय वे परलोक में मूल रूप में देखी गई वस्तु की प्रतिच्छाया को इस लोक में देखते हैं तो वे आश्चर्य से उन्मत्त हो जाते हैं। परन्तु वे उसके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकते क्योंकि उनमें स्पष्ट साक्षात्कार करने की शक्ति नहीं होती।

२. मानसिक-शारीरिक प्रभाव

लोकगत सौन्दर्य को देखकर वास्तविक सौन्दर्य की स्मृति के लिए आवश्यक बातें या परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं (अ) नूतन दीक्षा एवं (आ) भ्रष्टता के प्रभावों से रहित होना। उस व्यक्ति को जिसमें ये बातें वर्तमान हैं उस समय आश्चर्य होता है जब वह देवता के समान[2] उस मुख अथवा आकृति

१. फेड्र० ४०८ २. फेड्र० ४१०

को देखता है जो दिव्य सौन्दर्य का प्रकट रूप अथवा प्रतिकृति रूप है। सबसे पहले उसके शरीर में एक कम्प उत्पन्न होता है और परलोकगत सौन्दर्य की शंका का भाव उसमें अज्ञात रूप से जाग जाता है। शरीर में व्याप्त यह कम्पन स्वभावतया एक असाधारण ऊष्णता और श्रमविन्दुजनक दशा में बदल जाता है। इस प्रक्रिया में सम्पूर्ण आत्मा अशान्त और संक्षुभित दशा में हो जाती है। जिस समय पृथ्वी पर आत्मा सुन्दरता को देखती है उस समय वह अपनी ओर आते हुए इन्द्रियज्ञेय सजीव आकर्षक कणों को प्राप्त करती है। इन्हीं कणों को उनकी आकर्षकता के कारण 'आकर्षण' कहते हैं। उनसे वह जागरूक, सजीव और नूतन जीवन से पूर्ण हो जाती है और इसी कारण वह प्रसन्न हो जाती है एवं उसकी पीड़ा का अन्त हो जाता है। उस समय सब प्रकार के हर्षों में मधुरतम हर्ष यही होता है।

३, रुचि भेद

जिस प्रकार से प्रकृति की एक वस्तु का सौन्दर्य्य प्रकृति की दूसरी वस्तु के सौन्दर्य से भिन्न है उसी प्रकार से एक कलाकृति का सौन्दर्य्य दूसरी कलाकृति के सौन्दर्य्य से भिन्न है। और जिस प्रकार से प्राकृतिक वस्तु के सौन्दर्य्य के प्रति विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न रुचियाँ होती हैं उसी प्रकार से कलाकृति के सौन्दर्य के प्रति भी विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न रुचियाँ होती हैं। व्यक्तियों के इस रुचिभेद का कारण उनका चरित्र है। इस चरित्र का निर्माण उस देवता के प्रभाव से होता है जिसका अनुसरण मनुष्यात्मा ने परलोक में किया है। प्रत्येक आत्मा एक उस विशेष देवता का अनुकरण करती है जिसकी जीवन-प्रणाली का एवं सामान्य व्यवहार का यथा संभव वह प्रत्येक प्रकार से अनुसरण करती है। इस प्रकार से व्यक्ति का चरित्र पूर्वनिर्धारित है, इसकी रचना पृथ्वी पर जन्म लेने से पहले ही हो जाती है। यह चरित्र रुचि का निर्धारक है। यही कारण है कि विभिन्न व्यक्ति प्रकृति के क्षेत्र में और कलाकृतियों के क्षेत्र में विभिन्न वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते हैं और उनसे प्रेम करते हैं। एक विशिष्ट कलाकृति अथवा प्राकृतिक वस्तु एक विशिष्ट चरित्र के व्यक्ति के लिए ही रुचिकारी है क्योंकि यह परलोक में अनुसरण किए देवता के समान होती है।

४. देवता के साथ तादात्म्य

जिस समय आत्मा किसी विशिष्ट देवता के साथ होती है उस समय वह

उसको निर्निमेष देखने[1] के लिए बाध्य होती है। अतएव उस देवता की स्मृति आत्मा में बनी रहती है। उस देवता के समानरूप की जब कोई वस्तु उस व्यक्ति को दिखाई देती है तो वह स्मृति सजीव हो उठती है। अतएव बाकुस की अप्सराओं की भांति उससे भावात्मक अन्तरप्रेरणा प्राप्त कर वह आत्मा उस देवता से आविष्ट हो जाती है और उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है।

भावात्मक अन्तरप्रेरणा (Inspiration) से उत्प्रेरित काव्य

दर्शक में भावात्मक अन्तरप्रेरणा कला के क्षेत्र में सौन्दर्ययुक्त वस्तु के चिन्तन अथवा मनन से उद्भूत होती है। परन्तु स्वतः उद्भूत भावात्मक अन्तरप्रेरणा से कलाकृति का जन्म होता है। क्योंकि कविगण[2] काव्य की रचना बुद्धिबल से न कर एक प्रकार की प्रतिभा अथवा भावात्मक अन्तर-प्रेरणा के बल करते हैं। वे उसी प्रकार से प्रतिभाविष्ट होते हैं जिस प्रकार से निमित्तज्ञ अथवा भविष्यवक्ता उन देवताओं से आविष्ट होते हैं जिनके नाम पर वे भविष्यवाणियां कहते हैं। महान कवि अपनी कलाकृतिरूप सुन्दर कविताओं की रचना रचनाविधान सम्बन्धी नियमों के ज्ञान के कारण नहीं वरन् भावात्मक अन्तरप्रेरणा के कारण करते हैं। जिस समय वे अपने सुन्दर छन्दों की रचना करते हैं उस समय वे अपनी बुद्धि की सामान्य लौकिक दशा में नहीं होते परन्तु कोरीवेन्टीस[3] के उत्सव में भाग लेने वाले व्यक्तियों के समान वे भावावेग प्रेरित होते हैं। प्रतिभाओं के लोक की बाटिकाओं और कन्दराओं के मधुमय निर्झरों से वे अपने गीत छन्दों को एकत्रित करते हैं। उस लोक में मधुमक्खियों की भांति वे प्रवेश करते हैं। जब तक वे भावात्मक अन्तरप्रेरणा से प्रेरित एवं इन्द्रियबोधशून्य नहीं हो जाते तब तक उनमें नूतन कलाकृतियों को उत्पन्न करने वाली काल्पनिकता नहीं आती।

कवियों के अन्तःकरणों को ईश्वर अपने वश में कर लेता है और उनका उपयोग अपने मन्त्रियों के रूप में करता है। कवि अमूल्य शब्दों का प्रयोग स्वतः नहीं करते, वरन् ईश्वर ही उनके माध्यम से बोलता है। कवि उन देवताओं[4] के मानसिक भावों के केवल व्याख्याता हैं जो उनके अन्तःकरण को पूर्णतया अपने वश में कर लेते हैं।

---

१. फेड्र० ४१२ २. एपो० १०८

३ ईओन–२८६ ४. ईओन–२८८

चुम्बक और लोहे के छल्लों की उपमिति

इस तथ्य का स्पष्टीकरण चुम्बक तथा लोहे के छल्ले की उपमिति के आधार पर किया गया है कि कलाकृति को उत्पन्न करते हुए कवि, उसका पाठ करते हुए वाचक, अथवा गायक एवं उसको रंगमंच पर प्रदर्शित करते हुए अभिनेता तथा उसके श्रोता अथवा दर्शक सभी प्रतिभाविष्ट हो जाते हैं। उपमिति का प्रयोग निम्नलिखित बातों को स्पष्ट करता है :—

१. जिस प्रकार से लोहे का पहला छल्ला चुम्बक से अपनी शक्ति साक्षात् प्राप्त करता है उसी प्रकार से कवि किसी विशेष प्रतिभा[1] से अपनी शक्ति साक्षात् प्राप्त करता है।

२. काव्यपाठी, अभिनेता एवं श्रोता उसी प्रकार प्रतिभा से परम्परया प्रभावित होते हैं जिस प्रकार प्रथम छल्ले में जुड़े हुए दूसरे छल्ले मध्यवर्ती छल्लों द्वारा परम्परया अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। यद्यपि काव्यपाठी, अभिनेता और श्रोता अन्तरप्रेरणा देने वाले प्रतिभा देवता से आविष्ट होते हैं, फिर भी यह प्रतिभा-देवताविष्टता साक्षात् नहीं अपितु परम्परया ही होती है। काव्यपाठी एवं अभिनेता में प्रतिभावेश के लिए कवि ही केवल एक मध्यस्थ साधन है परन्तु दर्शक में प्रतिभावेश के लिये कवि और काव्यपाठी अथवा अभिनेता दोनों ही मध्यस्थ साधन होते हैं।

प्रतिभा-देवताविष्ट होने का मानसिक–शारीरिक प्रभाव

जिस प्रकार से चुम्बक से उद्भूत शक्ति क्रमशः प्रत्येक परवर्ती छल्लों में क्षीणतर होती जाती है उसी प्रकार से प्रतिभाविष्टता भी मध्यवर्तियों की संख्या के अनुसार क्षीण से क्षीणतर होती जाती है। कवि सबसे अधिक प्रतिभाविष्ट होता है, अभिनेता उससे कम तथा दर्शक उससे कम प्रतिभाविष्ट होते हैं। इस प्रकार से कवि पूर्णतया प्रतिभाविष्ट होता है। उसका व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से बदल जाता है। वह पूर्णरूप से अपने को भूल जाता है। जो कुछ वह प्रकट करता है उसका भी अर्थ वह नहीं जानता। उसको भौतिक तल का कोई बोध नहीं होता। परन्तु अभिनेता अभिनय के नियमन में रहता है इसलिए उसमें इतनी अधिक तल्लीनता अथवा आत्मविस्मृति नहीं होती क्योंकि ऐसी दशा में सभी प्रकार के ज्ञानजन्य शारीरिक अभिनय

---

१. ईओन–२८९

असम्भव हो जायगे। उसके शारीरिक ज्ञान का लोप नहीं होता। परन्तु वह कुछ अवसरों पर आत्मबोध से शून्य हो जाता है। उसकी आत्मा प्रहर्षोन्माद पूर्ण हो जाती है और ऐसा लगता है कि वह उन व्यक्तियों के बीच अथवा उन स्थानों पर वास करता है जिनका वह वर्णन करता है अथवा जिनको रंगमंच पर चित्रपटों की सहायता से चित्रित देखता है। दुःखप्रधान कथा को सुनकर उसकी आंखें आंसुओं से भर आती हैं और जब वह भयंकरता का वर्णन करता है तो उसके सर के केश तक खड़े हो जाते हैं। उसके हृदय की गति वेगपूर्ण हो उठती है। कोरीबेन्टीस उत्सव में भाग लेने वाले व्यक्ति के समान वह भी प्रतिभाविष्ट हो जाता है। दर्शकों पर भी ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। नाट्यप्रदर्शन को देखते और सुनते समय उनके मुखों पर करुणा, भय और आश्चर्य के विविध भावावेग अंकित हो जाते हैं।

सारांश

आत्मशुद्धि के सिद्धान्त के विविध पक्षों की कुछ विस्तृत व्याख्या करने के उपरान्त हम एरिस्टॉटल के विवादास्पद आत्मशुद्धि के सिद्धान्त के विषय में संक्षिप्त सारांश रूप से अपने मत को निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं :—

अत्यन्त प्राचीन समय से आत्मशुद्धिविषयक अभिमतों का उत्थान आत्मा के तात्विक स्वरूप के विषय में विभिन्न अभिमतों के आधार पर हुआ है। आत्मशुद्धिविषयक सिद्धान्त का विकास विभिन्न प्रभावों के कारण आत्मस्वरूप-विषयक सिद्धान्त के विकास के अनुकूल हुआ है। शरीरहीन आत्मा से सम्बन्धित जो अनेक प्रकार की आत्मशुद्धियाँ हैं जैसे कि (१) मृतक के घर जाने वाले व्यक्तियों की आत्मशुद्धि (२) मृतक के परिवार के व्यक्तियों की आत्मशुद्धि (३) वध किए हुए मनुष्य के रक्त से आत्मशुद्धि एवं (४) इल्यूसीनी आध्यात्मिक पूजा से सम्बन्धित आत्मशुद्धि, उनका हमारे लिए केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही है। ऐसा ज्ञात होता है कि एरिस्टॉटल के आत्मशुद्धिविषयक सिद्धान्त को उपर्युक्त प्रकार की आत्मशुद्धियों ने अधिक प्रभावित नहीं किया था। क्योंकि उनके सिद्धान्त की पूर्वमान्यता यह नहीं है कि मनुजत्व एवं देवत्व अपने मूल रूप में भिन्न हैं। इसी पूर्वमान्यता के आधार पर उपर्युक्त प्रकार की आत्मशुद्धियां मानी गई थीं। इस पूर्वमान्यता के स्थान पर वे यह मानते थे कि मनुजत्व और देवत्व में कोई मूलभेद नहीं

है। इसी मूल विश्वास के आधार पर ग्रास से आया हुआ आत्मशुद्धि का सिद्धान्त रचा गया था। अतएव ज्ञात यह होता है कि एरिस्टाटल का आत्म-शुद्धि का सिद्धान्त उस धर्ममूलक आत्मशुद्धि से अधिक प्रभावित नहीं हुआ जो यूनानियों को ग्रास के डिओनीसस् के धार्मिक सम्प्रदाय को स्वीकार करने और अपने एपोलीनी धर्म में उसको मिलाने के पूर्व ज्ञात था। उनके सिद्धान्त को जिस प्रभाव ने प्रधानतया सुनिश्चित रूप दिया है वह भावावेग सम्बन्धी आत्मशुद्धि थी जिसकी आधारभूत पूर्वमान्यता आत्मा की वास्तविक अमरता थी जिसमें प्रहर्षोन्माद अवश्यमेव आ जाता था और इसी कारण (१) इन्द्रियों की विषयप्रभावग्राहिता एवं विक्षोभ इतना अधिक हो जाता था कि भ्रान्तिमूलक आकृतियां प्रत्यक्ष होने लगतीं थीं और अन्तःकरण व्याव-हारिक लोक को छोड़कर कल्पनालोक में पहुँच जाता था। (२) शारीरिक अवरोध भग्न हो जाते थे (३) दिक्‌काल के अवच्छेदकों से मुक्ति प्राप्त हो जाती थी (४) कुछ अंशों में देवता से तादात्म्य हो जाता था।

"एरिस्टाटल का आत्मशुद्धि (katharsis) विषयक अभिमत ग्रास के डिओनीसस् के धार्मिक सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ था" हमारे इस मत की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि विभिन्न प्रामाणिक लेखकों ने इस धार्मिक सम्प्रदाय के प्रभाव को दुःखान्त नाटक के समान अन्य क्षेत्रों में भलीभांति स्वीकार किया है : उदाहरण के लिए वे यह मानते हैं कि (१) डिओनीसस् के धार्मिक सम्प्रदाय के प्रहर्षांश ने यूनानी कला को असीम की ओर उन्मुख होने की अधिकांश अन्तरप्रेरणा प्रदान की थी (२) डिओनीसस् के उत्सव के अंश स्वरूप 'कोरस' ने यूनानी नाटक को जन्म दिया। (३) अन्य व्यक्ति के साथ उस तादात्म्य को स्थापित करने की शक्ति के कारण जिसको डिओनीसस् के उत्सव में भाग लेने वाले अन्तरप्रेरित व्यक्ति वस्तुतः प्राप्त करते थे, अभिनय कला का विकास एवं उन्नयन हुआ था। इस प्रकार से एरिस्टाटल से बहुत पहले डिओनीसस् के धार्मिक सम्प्रदाय ने कलाकृतियों के उत्पादन को प्रभावित किया था। परन्तु वह प्रतिभा एरिस्टाटल की ही थी जिसने सबसे पहले इस बात का पता लगाया कि एक कलाकृति का प्रभाव सुन्दरता प्रेमी दर्शक पर वही पड़ता है जो डिओनीसस् के उत्सव का प्रभाव उसमें भाग लेने वाले एक व्यक्ति पर पड़ता है। एरिस्टाटल के ध्यान में विशेष रूप से यह बात थी कि आत्मशुद्धि धर्ममूलक–उन्मत्तता का उपचार (इलाज) है। वह धर्ममूलक उन्मत्तता कभी-कभी संक्रामक रोग का रूप ले लेती थी और

मनोवैज्ञानिकों तथा शारीरिक रोगों के चिकित्सकों ने उसके अस्तित्व को मान लिया था। इस उन्माद का एकमात्र मान्य उपचार यह था कि रोगी को डिओनीसस् की पूजाविधियों में दीक्षित किया जाय। धर्म-मूलक उन्मत्तता का उपचार करने में रुग्ण व्यक्ति के धर्ममूलक भाव को इतना प्रोद्दीप्त कर देते थे कि उसकी अति नष्ट हो जाती थी और इसी कारण रोगी स्वस्थ दशा में लौट आता था। अतएव एरिस्टाटल के सिद्धान्त में जो उपमिति निहित है वह धार्मिक एवं चिकित्सा शास्त्र सम्बन्धी है।

एरिस्टाटल के मतानुसार पुण्यशीलता (virtue) दो अतिरेकों का 'मध्य' है—अर्थात् वह अतिरेक शून्य दशा है। यूनान के धार्मिक व्यक्ति यह विश्वास करते थे कि वाकुस के रूप में डिओनीसस् धर्ममूलक उन्मत्तता को पहले चरम दशा तक जाग्रत करता है और फिर निसीओस एवं भीलीकिओस के रूप में स्वयं क्षोभशून्य तथा शान्त कर देता है। इससे एरिस्टाटल की प्रतिभा को 'कला का लक्ष्य शिक्षा देना है' इस कलाविषयक सिद्धान्त की रचना करने का संकेत प्राप्त हुआ। क्योंकि वे प्रत्येक प्रकार की अतिरेकता को दोष मानते थे। अतएव यदि डिओनीसस् सम्बन्धी उत्सव में भाग लेने से भावातिरेक नष्ट हो जाता था और चित्त शान्त तथा स्वस्थ हो जाता था तो डिओनीसस् के धार्मिक सम्प्रदाय से उत्पन्न दुःख-प्रधान नाटक का भी वैसा ही प्रभाव पड़ना आवश्यक था।

इस विषय में एक बात को स्पष्टतया याद रखना चाहिये। यद्यपि यूनान के धार्मिक व्यक्तियों के प्राचीन विश्वास के अनुसार केवल वे ही व्यक्ति भावातिरेक से मुक्त होते थे जो डिओनीसस् के उत्सव में भाग लेते थे फिर भी एरिस्टाटल यह मानते थे कि दुःखप्रधान नाटक दर्शक को उसके प्रबल भावातिरेक से मुक्त कर आत्मशुद्ध करता है। आत्मशुद्धि के सिद्धान्त के क्षेत्र को विस्तृत बनाने में एरिस्टाटल ने अपने गुरु प्लेटो से प्रेरणा प्राप्त की थी। क्योंकि प्लेटो ने अपने इओन नामक ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया था कि एक नाट्य प्रदर्शन को देखने से दर्शक की मानसिक–शारीरिक दशा लगभग वैसी ही होती है जैसी कि एक नाटक की रचना करते समय एक नाटककार की तथा नाटक का अभिनय करते समय एक अभिनेता की दशा होती है।

यहाँ तक कि एक साहित्यिक कृति के पाठक अथवा श्रोता पर जो आचारिक (ethical) प्रभाव पड़ता है उसको भी प्लेटो ने अपने सिम्पोजियम नामक ग्रन्थ में कोरीवेन्टीस के उत्सव में उन्मत्त क्रीडक (खिलाड़ी) पर पड़ने

वाले प्रभाव के समान माना है। क्योंकि एलसीबियाडीस ने अपने ऊपर साक्रेटीज़ के व्याख्यान का प्रभाव इसी प्रकार का माना है।

वस्तुस्थिति यह है कि एरिस्टाटल के सिद्धान्त का आंशिक पूर्वप्रतिपादन उनके पूर्वशास्त्रकारों ने सामान्यतः और उनके गुरु प्लेटो ने विशेष रूप से किया था। परन्तु प्लेटो काव्यलक्षणशास्त्रकार नहीं थे। मूल रूप से वे एक राजनीतिक दार्शनिक थे। सम्भवतः उन्होंने इन्द्रियसुख के पीछे दौड़ने वाले रंगशाला के असंख्य प्रेमियों को देखा होगा। जैसा कि हम कह आए हैं प्लेटो के मत के अनुसार वास्तविक सौन्दर्य के वास्तविक प्रेमी ये लोग नहीं थे। इसीलिए उन्होंने राजनीतिक एवं दार्शनिक कारणों से अपने लोकतन्त्र में कलाकृतियों को निन्दनीय ठहराया था यद्यपि ऐसा करने में उन्होंने संकोच का अनुभव किया था। ऐसा ज्ञात होता है कि एरिस्टाटल ने अपने गुरु के उस कथन को स्वीकार कर लिया था जिसमें उन्होंने उस शर्त को बताया था जिसके पूरा होने पर वे कला को अपने लोकतन्त्र में स्थान दे सकते थे (लाज़ बी २)। इस कथन के अनुसार आत्मशुद्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उन्होंने दार्शनिक रूप में यह सिद्ध किया कि कम से कम दुःखप्रधान नाटक में अपने दर्शकों में स्वास्थ्यप्रद समावस्था उत्पन्न करने की शक्ति है। अपने अधिक पूर्ण दर्शन शास्त्र की सहायता से एवं राजनीतिक पक्षपात से रहित होकर एक सच्चे काव्यलक्षणशास्त्रकार के रूप में एरिस्टाटल ने कलाशास्त्र के क्षेत्र में एक गतिशील कदम उठाया और कला तथा आचार शास्त्र में एक दृढ़ सम्बन्ध स्थापित किया।

यदि हम एरिस्टाटल के कर्तव्यमीमांसाशास्त्र सम्बन्धी अतिरेक रहित मध्य के सिद्धान्त की ज्योति में आत्मशुद्धि के सिद्धान्त को देखें तो हमको दुःख-प्रधान नाटक के प्रभाव का स्वरूप स्पष्टरूप से ज्ञात हो सकेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार दुःख-प्रधान नाट्यप्रदर्शन का उत्तमप्रकृति के दर्शकों पर जो प्रभाव पड़ता है वह समावस्था, अतिरेकशून्यता, विषमताहीनता तथा मध्यवर्ती होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही कारण है कि उनका कलाशास्त्रीय सिद्धान्त 'शिक्षकवाद' (Pedagogism) नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार से एरिस्टाटल ने अपने गुरु प्लेटो के कलाशास्त्रीय सिद्धान्त का संशोधन किया और 'कला इन्द्रिय सुख मात्र का साधन है' इस सिद्धान्त के स्थान पर 'कला चारित्रिक उन्नयन का साधन है' इस सिद्धान्त को स्थापित किया।

अध्याय ४

नाटक का रचना-विधान

दुःखप्रधान नाटक का तर्कशास्त्रीय विश्लेषण

गत अध्याय में हमने दुःखप्रधान नाटक की एरिस्टाटल कृत परिभाषा के आदि भाग तथा अन्तिम भाग की व्याख्या की है। इन दोनों अंशों में एक तर्क संगत सम्बन्ध है। परिभाषा के पूर्वभाग में कारण का उल्लेख एवं उसके अन्तिम भाग में 'कार्य' का उल्लेख है। परिभाषा के पूर्व भाग में उस 'नाटकीय कार्य' का वर्णन है जिसको दुःखप्रधान नाटक में प्रधानतया प्रदर्शित करना चाहिए तथा परिभाषा के दूसरे भाग में उस प्रभाव का वर्णन है जिसको दर्शक में उत्पन्न करना नाटक का लक्ष्य है। परिभाषा के ये दोनों अंश मिल कर दुःखप्रधान नाटक की दार्शनिक व्याख्या करते हैं। यदि पाठक इस व्याख्या को पूर्णरूप से हृदयंगम करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि वे भलीभांति उनके मूलतत्त्वदर्शन एवं कर्तव्यमीमांसाशास्त्र के सिद्धान्तों को समझ लें। अतएव अपने पाठकों को स्मरण कराने के लिए ही हमने गत अध्याय में उनके दर्शनशास्त्र के कुछ प्रमुख अंशों का संक्षिप्त रूप में परिचय दिया था।

इस प्रकार से मूलतत्त्वदर्शन एवं कर्तव्यमीमांसाशास्त्र से सम्बन्धित दुःख-प्रधान नाटक की व्याख्या करने के उपरान्त अब हम उसकी तर्कशास्त्रीय व्याख्या करेंगे। वास्तविकता यह है कि एरिस्टाटल ने स्वयं तर्कशास्त्रीय व्याख्या की है। एरिस्टाटल ने पदार्थों की संख्या दस मानी है। इनमें से चार प्रथम पदार्थ निम्नलिखित हैं :—(१) द्रव्य (२) परिमाण (३) सम्बन्ध एवं (४) गुण। वर्तमान प्रसंग में हमारे लिए ये ही चार पदार्थ आवश्यक हैं।

एरिस्टाटल के मतानुसार तर्कशास्त्रीय प्रतिज्ञावाक्य (Proposition) का कर्ता प्रथम पदार्थ अर्थात् द्रव्य स्वरूप ही होता है। अन्य पदार्थ उन सम्भावित प्रश्नों के केवल उत्तरमात्र होते हैं जो प्रथम पदार्थ के सम्बन्ध में उठ सकते हैं। अतएव एरिस्टाटल ने पहले दुःखप्रधान नाटक को द्रव्य स्वरूप प्रतिपादित कर तर्कशास्त्रीय प्रतिज्ञा वाक्य के कर्ता के रूप में रखा और फिर

सम्बन्ध सूचक पदों में उसकी परिभाषा देते हुए यह कहा कि यह एक 'कार्यानुकृति' है।

दुःखप्रधान नाटक की परिभाषा जिस अध्याय में लिखी गई है उसके आगामी अध्यायों में मुख्य रूप से दुःखप्रधान नाटक की व्याख्या गुण तथा परिमाण के अनुसार की गई है और उन तत्वों का विशद वर्णन किया गया है जो इस प्रकार के विश्लेषण से प्रकट हुए हैं।

तथ्य यह है कि स्वयं एरिस्टाटल अपने पाठकों को जैसे यह जताने के लिए कि दुःखप्रधान नाटक का जो विश्लेषण उन्होंने किया है वह पूर्ण रूप से तर्कशास्त्रीय है अपने ग्रन्थ के बारहवें अध्याय के आरम्भ में कहते हैं :—

'परन्तु हम गत पृष्ठों में दुःखप्रधान नाटक के उन अंशों का वर्णन कर आए हैं जो उसके गुणात्मक स्वरूप की रचना के लिए परमावश्यक हैं। परन्तु दुःखप्रधान नाटक के परिमाणानुसार वे अंश जिनमें इसका विभाजन पृथक रूप से किया गया है निम्नलिखित हैं।'

हम इन दोनों प्रकार के विश्लेषणों की व्याख्या क्रमशः करेंगे।

दुःखप्रधान नाटक का गुणात्मक विश्लेषण

दुःखप्रधान नाटक के निम्नलिखित छ भाग हैं जो उसको उसके गुण प्रदान करते हैं :—

१. चित्रपट रूपी अलंकरण अथवा रंगसज्जा।
२. भाषा। वाक्यविन्यास शैली (Diction)
३. गीत।
४. शिष्टव्यवहार के प्रभावशाली रूप।
५. युक्ति प्रदर्शन शक्ति (sentiment)
६. इतिवृत्त अथवा कथानक।

अनुकृति के साथ में ये छ भाग तीन प्रकार से संबंधित हैं—(१) साधन स्वरूप में (२) प्रकारस्वरूप में एवं (३) विषय स्वरूप में। रंगसज्जा एवं वाक्यविन्यास शैली (भाषा आदि) अनुकृति के साधन हैं। दुःखप्रधान नाटक दो इन्द्रियों अर्थात् नेत्र एवं कान के माध्यम से ही दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करता है। दृश्य को प्रकट करने का साधन रंगसज्जा[1] है।

---

१. पोय० ४१७

इसमें रंगशाला के चित्रपट, वस्त्रादि एवं नाटक सम्बन्धी सभी दृश्य सामग्री आ जाती है।

रंगसज्जा सामग्री की अनावश्यकता

दुःखप्रधान नाटक के जिन छः अंगों का उल्लेख हमने गत उपप्रकरण में किया है उनमें से रंगसज्जा अथवा रंगशाला के उपकरण सर्वाधिक अनावश्यक हैं। इसमें संशय नहीं कि रंगसज्जा अत्यन्त आकर्षक होती है फिर भी यह अधिकांशतः यंत्रकला से उत्पन्न होती है। इसकी रचना में कवि का कुछ भी हाथ नहीं होता। दुःखप्रधान नाटक के लिए यह आवश्यक नहीं है क्योंकि भावों को जाग्रत करने, उनको चरमोत्कर्ष बिन्दु तक पहुँचाने और उनको समदशा में लाने की दुःखप्रधान नाटक की शक्ति पर रंगसज्जा की सामग्री और अभिनेता का अभाव कोई प्रभाव नहीं डालता। दुःखप्रधान नाटक के सहृदय पाठक पर आराम कुर्सी पर लेट कर एक दुःखप्रधान नाटक को पढ़ने से वही प्रभाव पड़ता है जो रंगमंच पर उसको अभिनीत देखकर उस पर पड़ता है।

वाक्यविन्यास शैली (भाषा)

जिस प्रकार से रंगशाला के उपकरण दृश्य वस्तुओं को दर्शित करने के साधन हैं उसी प्रकार से वाक्य विन्यास शैली, भाषा, आदि श्रोतव्य के अनुकरण के साधन हैं। यह वाक्य विन्यास शैली, भाषा, मुख्य रूप से आन्तरिक अथवा बाह्य उत्प्रेरणाओं से जनित उन समग्र अनुभवों को प्रकट करती है जो कथानक के विविध पात्रों में उत्पन्न होते हैं। यह प्रकटन ऐसे शब्दों में होना चाहिये जिनकी पाठकों में अथवा श्रोताओं में ज्ञप्तियों को उत्प्रेरित करने की शक्ति एक सी ही हो चाहे उन्हें गद्य अथवा पद्य के रूप में संगठित किया जाय।

परन्तु अनुभवों और अनुभवजनक सामग्रियों आदि का वर्णन इतना सविस्तर होना चाहिए कि पाठकों के सामने एक ऐसा पूर्ण लेखनी-चित्र उपस्थित हो जाए कि वे दुःखप्रधान नाटक का मानस प्रत्यक्षीकरण बिना रंगशाला की सज्जासामग्री और अभिनेताओं के कर सकें।

कवि अथवा नाटककार के लिए इस प्रकार के लेखनी-चित्र को सफलता-पूर्वक प्रस्तुत करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

(१) उसे अपनी कृति को दर्शक के दृष्टिकोण से देखना चाहिए। क्योंकि

यही अकेला एक उपाय है जिससे कोई कलाकार यह जान सकता है कि कलाकृति में क्या संगत है और क्या असंगत है। पूरे दुःखप्रधान नाटक का लेखनी-चित्र (Pen-Picture) इतना अधिक स्पष्ट होना चाहिए कि यह ज्ञात होने लगे कि उसके कार्यकलापों के घटने के समय वह लेखक उनको प्रत्यक्ष देख रहा था।

(२) जहाँ तक संभव हो लेखक अथवा नाटककार को उन भावावेगों से सम्बन्धित मुखविकारों एवं अंगविक्षेपों को स्वयं आत्मसात् करते हुए भावनिमग्न हो जाना चाहिए जिनको वह प्रकट करना चाहता है। क्योंकि जो कलाकार भावावेग का स्वयं अनुभव करते हैं वे ही अपनी 'अनुकृतियों' को अत्यन्त संभावनीय और सत्यपूर्ण बना सकते हैं तथा कोई भी अन्य व्यक्ति मानसिक भाव-विक्षोभ का उतने स्वाभाविक रूप में वर्णन नहीं कर सकता जितना कि वह व्यक्ति कर सकता है जो स्वयं भावावेग से क्षुभित है।

कथानक से सम्बन्धित नायक तथा अन्य पात्रों की मानसिक—शारीरिक दशाओं एवं उनकी समुचित परिस्थितियों को शब्दों में प्रकट करना दुःखप्रधान नाटक का लक्ष्य है। मानसिक प्रत्यक्षीकरण तथा स्पष्ट रूप से विषयी-करण (objectification) की शक्ति शारीरिक दशाओं एवं परिस्थितियों को प्रकट करने में सहायक होती है। मूलपात्रों से तादात्म्य स्थापित करने की शक्ति मानसिक दशाओं को अंकित करने में सहायक होती है। अतएव सफल और प्रभावशाली शब्द समुदायों में इनको प्रकट करने के लिए यह दो शक्तियाँ पूर्णतया आवश्यक हैं। एरिस्टाटलकृत पोयटिक्स नामक ग्रन्थ का वह बींसवा अध्याय प्रक्षिप्त अंश माना जाता है जिसमें भाषा के विधायक अंश[1] वर्ण से लेकर वाक्य तक का उल्लेख है। अतएव यहाँ पर उस अध्याय में प्रतिपादित विषयों का उल्लेख करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है।

प्रसादगुण—भाषा की उत्कृष्टता

भाषा की प्रसादता 'अधमता' से विलग गुण है। यह गुण तब उत्पन्न होता है जब 'लोक व्यवहृत संज्ञा शब्दों' के अर्थात् उन संज्ञा शब्दों के, जिनका प्रयोग सामान्यजन लोक प्रसिद्ध अर्थों में करता है, एकमात्र प्रयोग को त्याग देते हैं। तथा समुचित समानुपात (proportion) में असामान्य शब्दों अर्थात् उन शब्दों का प्रयोग करते हैं जो विदेशी, आलंकारिक अथवा लाक्षणिक हैं।

---

१. पोय० ४४७ पृष्ठ टिप्पिणी

क्योंकि अलंकारों का बहुशः प्रयोग उस कूटोक्ति (enigm) को उत्पन्न करता है जिसमें वास्तविक रूप में सत्य परन्तु प्रत्यक्ष रूप में असंभव वस्तुओं को परस्पर मिलाया जाता है। इसी प्रकार से विदेशी शब्दों का अत्यधिक प्रयोग बर्बरता का आभास देता है। अतएव सुन्दर प्रसादता[1] वही है जो दुःखप्रधान नाटक लिखने में विदेशी, आलंकारिक एवं लाक्षणिक शब्दों के समुचित समानुपातिक मिश्रण से उत्पन्न होती है। लोक व्यवहृत संज्ञाशब्दों के प्रयोग से कलाकृति को केवल ग्रामीण अथवा अधम कोटि की प्रसादता प्राप्त होती है, सुन्दर प्रसादता नहीं उपलब्ध होती।

गीत

गीत का सम्बन्ध अनुकरण[2] के प्रकार (manners) के साथ है। यद्यपि एरिस्टाटल ने दुःखप्रधान नाटक के अन्य पाँच भागों का वर्णन एक-एक कर पाँच अध्यायों में किया है परन्तु प्राप्त ग्रन्थ में (जो खण्डित है) 'गीत' का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से एक अध्याय में प्राप्त नहीं होता है। उनके मत के अनुसार गीत नाटक का सर्वोत्कृष्ट अलंकरण है और इसकी शक्ति सर्वविदित है।

शिष्ट व्यवहार (manners) एवं युक्ति प्रदर्शन शक्ति (sentiment)

इतिवृत्त अथवा कथानक के साथ-साथ शिष्टव्यवहार विधि तथा युक्ति प्रदर्शन शक्ति अनुकरण के विषय हैं। गत अध्याय में हमने उनका वर्णन कार्य के श्रोतों के रूप में किया है। अतएव इनका वर्णन हम इस स्थान पर नहीं करेंगे।

कथानक

इस प्रसंग में एरिस्टाटल के मतानुसार कथानक का अर्थ तर्कसंगत रूप में सम्बन्धित घटनाओं की एक श्रृङ्खला है। घटनाओं में कार्य निहित होते हैं क्योंकि ये घटनाएँ या तो कार्यों की फलस्वरूप होती हैं अथवा उनसे परिस्थितियों आदि के रूप में सम्बन्धित होती हैं। अतएव एरिस्टाटल का मत यह है कि कथानक तत्त्वतः कार्यानुकृति[3] है। यही कथानक दुःखप्रधान नाटक का लक्ष्य है क्योंकि एक अकेले, अपूर्ण एवं अल्पांगी कार्य से किसी

---

१ पोय० ४५४–५ २. पोय० ४१८

३. पोय० ४१८

दुःखप्रधान नाटक की रचना नहीं की जा सकती और न कार्यों की वह क्रमबद्ध श्रृंखला ही दुःखप्रधान नाटक का सृजन कर सकती है जिसकी कड़ियां तर्कसंगत रूप में सम्बद्ध नहीं हैं यद्यपि उसका सम्बन्ध एक ही व्यक्ति के साथ है। दुखःप्रधान नाटक के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अपने में पूर्ण कार्यों की एक श्रृंखला हो परन्तु वे सब कार्य तर्कसंगत रूप में परस्पर सम्बन्धित हों और एक अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में परस्पर सहयोगी हों। जिस प्रकार से एक चित्रफलक पर विभिन्न रंगों को बिना किसी रूपरेखा के बिखेरना अधिक चिन्ताकर्षक नहीं होता उसी प्रकार से विश्रृंखल कार्यकलाप भी प्रभावहीन होते हैं। इतिवृत्त अथवा कथानक इस आवश्यकता को उत्पन्न करता है कि कार्यों को तर्कसंगत रूप में सम्बद्ध किया जाय और कार्यों के अङ्गों को इस प्रकार से व्यवस्थित किया जाय कि यदि उनमें से एक का भी विपर्यास कर दिया जाय अथवा उसको निकाल लिया जाय तो सम्पूर्ण कथानक एक दूसरा[1] ही कथानक हो जाय। अतएव यह कथानक दुःखप्रधान नाटक का प्रमुख अंश अथवा आत्मास्वरूप होता है। इसके आत्ममुग्धकारी सबसे बड़े अंग दशापरिवर्तन तथा रहस्यज्ञान हैं। दुःखप्रधान नाटक में जिस कार्य का अनुकरण करते हैं उसको सर्वांगीण तथा विशाल होना चाहिए। क्योंकि कार्य की विशालता से ही नाटक को एक प्रकार की विशालता प्राप्त होती है और विशालता उसको सुन्दर बनाती है क्योंकि समुचित विशालता युक्त ही कथानक सुन्दर होता है। अतएव यहां पर यह आवश्यक है कि कार्य की लम्बाई अथवा उसकी विशालता का वर्णन किया जाय।

कार्य की लम्बाई

वह कार्य जिसे दुःखप्रधान नाटक में प्रदर्शित किया जाता है ऐसा न होना चाहिए जो तुरन्त ही करुणा एवं भय के भावों को उत्पन्न कर दे। इस कार्य में एक विशालता भी होनी चाहिए। क्योंकि परिमाण में जो अत्यन्त छोटा है वह सुन्दर नहीं हो सकता क्योंकि अत्यन्त छोटा होने के कारण उसका पर्यवेक्षण अलक्ष्य अत्यल्प समय में और अस्पष्टरूप में होता है। और न वही सुन्दर है जिसका आकार इतना अधिक विशाल है कि उसका पर्यवेक्षण एक दृष्टि में नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसका सुव्यवस्थित सर्वांगीण आकार दर्शक की दृष्टि से ओझल हो जाता है।

---

१. पोय० ४२३

अतएव कार्य की लम्बाई ऐसी होनी चाहिए कि उसका स्पष्टरूप से पर्यवेक्षण एक निश्चित समयावधि में किया जा सके एवं सरलतापूर्वक उसे याद रखा जा सके। कार्य की लम्बाई जितनी अधिक होगी उतना ही अधिक वह सुन्दर होगा यदि उसमें स्पष्टता गुण वर्तमान है। कार्य में लम्बाई[1] तभी होती है जब कि उसको प्रदर्शित करने का समय—परिमाण इतना हो कि उसमें उन्नत दशा से पतन दशा अथवा पतन दशा से उन्नत दशा प्राप्त करना संभव हो।

प्रमुख रूप से कार्य का सर्वांगीण होना ही कार्य को लम्बाई प्रदान कर सकता है। क्योंकि जिस कार्य का मनोगत प्रत्यक्ष सर्वांगीण है उसी में क्रमदशाएं स्पष्टरूप से होती हैं। इस प्रकार के कार्य की व्याख्या पूर्वीय एवं पाश्चात्य नाट्यकला विषयक ग्रन्थों में की गई है। उदाहरण के लिए शेक्सपीयर के नाटकों के समीक्षकों[2] से स्वीकृत क्रमदशाओं के समान भरतमुनि ने कार्यों की पांच दशाओं को स्वीकार किया है। परन्तु एरिस्टाटल ने तीन क्रम दशाओं को ही माना है। (१) आरम्भ (२) मध्य एवं (३) अन्त।

आरम्भ

एरिस्टाटल ने यद्यपि अपने काव्यलक्षणशास्त्र में इसका वर्णन संक्षिप्त रूप में किया है और केवल इतना ही कहना पर्य्याप्त समझा है कि आरम्भ वह है जिसके पूर्व कुछ न हो परन्तु जिसके पश्चात् कुछ होने की आशा हो, फिर भी उनके कर्तव्यमीमांसाशास्त्र पर ध्यान देने से इसका स्पष्ट स्वरूप हमें ज्ञात हो सकता है। अतएव प्रश्न यह उठता है कि 'कार्य का वह कौन सा अंश है जिसके पूर्व और कुछ नहीं होता है। कार्य का आरम्भविन्दु क्या है? अथवा किस विन्दु से कार्य का आरम्भ होता है? इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है यदि हमको यह स्मरण हो कि एरिस्टाटल के मत में कार्य का स्वरूप शारीरिक मात्र ही नहीं है वरन् मानसिक-शारीरिक है। कार्य का शारीरिक पक्ष अर्थात् एक लक्ष्य को पाने के लिए आवश्यक विभिन्न शारीरिक अंगों का संचालन स्वतन्त्र रूप में नहीं होता वरन् वह सदैव उस इच्छा शक्ति से नियंत्रित एवं निर्देशित होता है जो एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक साधनों को निश्चित करती है। अतएव दुःखप्रधान नाटक में प्रदर्शित कार्य की प्रथम क्रमदशा उस मानसिक चिन्तन से निर्मित होती है जो इष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए

---

१. पोय० ४२१ २. स्व० क० शा० भाग १–३५६

साधनों के चयन एवं उनकी उपयुक्त प्रयुक्ति के लिए आवश्यक है। अतएव अब हम यह जानने की चेष्टा करेंगे कि साधनों के चयन में क्या किया जाता है।

परिस्थितियां अथवा विभाव एवं साधन-चयन

जैसा कि हम एक गत उपप्रकरण में कह आए हैं कार्य दो प्रकार के हैं—(१) स्वेच्छापूर्वक किए गए कार्य एवं (२) परेच्छाजनित कार्य, यद्यपि एरिस्टाटल ने अनिच्छा पूर्वक कार्य का भी वर्णन किया है। प्रथम[1] कोटि का कार्य वह है जिसका आरम्भ कर्ता परिस्थितियों के विशेषों की पूर्णतया जानकारी के साथ करता है और दूसरी कोटि का कार्य वह है जो या तो परवश होकर किया जाता है अथवा परिस्थितियों के विशेषों की अज्ञान दशा में किया जाता है। विशेषों (particulars) के अज्ञान के कारण जो कार्य उत्पन्न होता है वही दुःखप्रधान नाटक का प्रदर्शनीय कार्य है। विशेषों के अज्ञान में ही कार्य का दुःखप्रधानत्व निहित है।

दुःखप्रधान नाटक के नायक के सम्मुख एक परिस्थिति होती है। जैसे कि ओइडिपस् को ही देखें—थीबीस में आए हुए उसको सोलह वर्ष व्यतीत हो गए हैं। राज्य में एक महान संकट की दशा आ गई है। महामारी फैल चुकी है। खेतों, फलवाटिकाओं और उद्यानों में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। अतएव पुरोहित को आगे कर जनसमूह परित्राण पाने के लिए ओइडिपस् के निकट आया है। ओइडिपस् को यह बताया गया है कि इस वर्तमान संकट से उद्धार पाने का केवल एक ही उपाय है—वह यह है कि उस व्यक्ति को निर्वासित किया जाय जिसने भूतपूर्व राजा की हत्या की है। उससे राजा के हत्यारे का पता लगाने के लक्ष्य की सिद्धि के लिए साधनों को निर्धारित करने के लिए प्रयास करने को कहा गया है। बालक अथवा पशु की भांति मूल चित्तवृत्ति (Instinct) के अनुसार परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करने के लिए उससे नहीं कहा गया है। वह आत्मा का केवल एषणात्मक अंश ही नहीं है जिसका उपयोग वह इस परिस्थिति के संभालने के लिए कर सकता है। वरन् इसके संभालने के लिए आत्मा की वह कल्पना-शक्ति आवश्यक है जिसको आत्मा की बुद्धि शक्ति का पूर्ण सहयोग प्राप्त है। उसको कार्य के विभिन्न विशेषों जैसे काल, दिक्, अवसर, व्यक्ति, विषय, विशिष्ट रूप आदि का चिन्तन एवं मनन करना है जिससे वह प्राप्त विभिन्न साधनों में से सर्वाधिक उपयुक्त साधनों का चयन कर

१. पोय० ६५

सके। उसको केवल लक्ष्यसिद्धि की इच्छा ही नहीं करनी है वरन् उसके लिए उपलब्ध साधनों में से उपयुक्त साधनों का चयन भी करना है क्योंकि साधनों के इसी चयन पर लक्ष्यप्राप्ति में सफलता अथवा असफलता निर्भर है। क्योंकि इच्छा तो असंभव की भी की जा सकती है, जैसे कि कोई व्यक्ति मृत्यु से बचने की इच्छा कर सकता है। परन्तु साधन-चयन का संबंध उससे है जो हमारी शक्ति में है।

साधन-चयन[1] का वह विशेष गुण जो उसका इच्छा मात्र से भेद स्पष्ट करता है यह है कि साधन-चयन में हम सदैव पहले उन वस्तुओं का चिन्तन करते हैं जो हमारी शक्ति में हैं, जिनके विषय में ऐसे नियम हैं जो सामान्य रूप से उन पर लागू होते हैं, परन्तु जिन के परिणाम को पहले से निश्चित रूप में जाना नहीं जा सकता, एवं जिनके परिणाम के विषय में कुछ न कुछ शंका का अंश वर्तमान रहता है। चिन्तना लक्ष्य की नहीं वरन् साधनों की होती है। जब लक्ष्य निर्धारित हो जाता है तो लक्ष्यसाधक साधनों की चिन्ता का आरम्भ होता है। यदि साधनों की संख्या अधिक है तो वर्तमान विशेष लक्ष्य से सम्बन्धित साधनों के सापेक्षिक महत्त्व की चिन्तना का आरम्भ होता है। परन्तु यदि साधन एक ही है तो उसको प्रयुक्त करने के उत्कृष्ट प्रकार एवं प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि का चिन्तन करते हैं। कार्य के अन्य विशेषों के विषय में भी यही कह सकते हैं। अतएव चयन का अर्थ 'अनेक साधनों में से कुछ साधनों को किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए कार्य की योजना बनाने में निर्धारित करना' है। जैसा कि हम कह चुके हैं एरिस्टाटल के मतानुसार कार्य का तात्त्विक स्वरूप मानसिक-शारीरिक है और उसका मानसिक पक्ष शारीरिक पक्ष का पूर्ववर्ती है। यदि कार्य को हम समग्र रूप में देखें तो एक परिस्थिति में उपयोक्तव्य साधनों की उस निर्धारणा को आरम्भ कहते हैं जो परिस्थितिगत विशिष्टताओं के ज्ञान के आधार पर की गई है, जो पर्य्याप्त चिन्तना के उपरान्त की गई है और जिसके अनुकूल शारीरिक परिचालन किए जाते हैं।

उदाहरण के लिए यदि हम सौफिक्लीज़ कृत ओइडिपस को देखें तो हमको यह ज्ञात होता है कि नाटक के उस समय के अंश से लेकर जिस समय ओइडिपस रंगमंच पर आकर थीबीस में आए हुए संकट से छुटकारा पाने की इच्छा करने वाले नागरिकों से संलाप करता है उसके उस अंश तक जिसमें

---

१. पीट० ६८

भविष्यवक्ता रंगमंच पर आ कर यह प्रकट करता है कि स्वयं ओइडिपस ही भूतपूर्व राजा का हत्यारा है, नाटक का प्रयोजन कार्य की विशिष्टताओं के पर्याप्त ज्ञान एवं चिन्तना के बाद की गई उस निर्धारणा को प्रकट करना है जो आगत परिस्थिति से आवश्यक बना दी गई है। वस्तुतः ओइडिपस स्वयं यह कहता है—

"मैं[1] असंख्य अश्रुकणों को बहाता हुआ रो चुका हूँ—विचारों की भाग दौड़ में अनेक मार्गों पर घूम चुका हूँ। और परम चिन्तना के बाद जिस एकमात्र उपाय को मैंने पाया है उसको मैंने कार्यान्वित किया है।"

कार्य का मध्य भाग

यदि हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो कि विविध प्रकार के इतिवृत्तों अथवा कथानकों का स्वरूप एरिस्टाटल के मतानुसार क्या है तो हमको यह स्पष्टतर रूप से ज्ञात हो सकेगा कि एक सर्वांगीण कार्य का मध्यभाग क्या है ?

कथानक दो प्रकार का होता है—(१) सरल (simple) एवं (२) मिश्र (complex)। क्योंकि इसमें जिस कार्य का अनुकरण करते हैं वह भी सरल अथवा मिश्र होता है। दोनों कथानकों में भेद यह है कि मिश्र कथानक में जटिलता (complication) एवं जटिलता-उन्मोचन (resolution) उत्क्रान्ति (revolution) एवं रहस्यज्ञान (discovery) होते हैं जब कि सरल कथानक में उपर्युक्त अन्तिम दो अंश नहीं होते।

कथानक की जटिलता

बहुधा जटिलता[2] (Complication) की रचना सभी बाह्य परिस्थितियों एवं आन्तरिक परिस्थितियों में से कुछ परिस्थितियां करती हैं। कथानक का वह अंश इसकी रचना करता है जो आरम्भ से लेकर उस स्थान तक विस्तृत है जहाँ पर से नायक के भाग्यपरिवर्तन का आरम्भ होने लगता है। इस अंश में वे घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं जो नायक के कार्य की सिद्धि में बाधक हैं। ये घटनाएँ तात्कालिक समस्याओं को स्पष्ट रूप से हल नहीं होने देतीं इसलिए नायक की लक्ष्य-सिद्धि उससे दूर से दूरतर होती जाती है। ये घटनाएँ इस कारण से भी उत्पन्न हो सकती हैं कि नायक ने जिन साधनों का चयन किया है वे लक्ष्यसिद्धि की प्राप्ति के लिए अप्रत्याशित रूप में अक्षम है;

---

१ ओइडि० ५ २. पोय० ४४३

इसी कारण अन्य कठिनताओं को उत्पन्न करते हैं और नायक के साधनापथ को दुर्गम से दुर्गमतर बना देते हैं। ये घटनाएँ नायक की सहायक होने के स्थान पर उसको आकुलता प्रदान करतीं हैं। अपने सिद्धिपथ पर चलते हुए वह इन घटनाओं में उलझ जाता है। अतएव कथानक की जटिलता को 'उलझाव' भी कहते हैं।

सौफोक्लीज़कृत ओइडिपस् के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि जब से वह भविष्यवक्ता रंगमंच पर आता है जिससे लोग यह आशा करते थे कि वह थीबीस के भूतपूर्व राजा के हत्यारे के नाम को प्रकट करेगा तब से कथानक के उलझाव का आरम्भ हो जाता है। क्योंकि वह यह घोषणा करता है कि स्वयं ओइडिपस् ने ही राजा का वध किया है। इस घोषणा पर विशेषतया स्वयं ओइडिपस् को महान आश्चर्य होता है क्योंकि यह कथन उसके निजी अनुभव से विरुद्ध था और उस निरन्तर प्रचलित जनश्रुति का भी यह खण्डनकारी था जिसके अनुसार भूतपूर्व राजा का वध दस्युओं ने किया था। इस बात को सुनकर ओइडिपस् का जो भविष्यवक्ता पर विश्वास था वह मूलतः कम्पित हो गया। इस घटना ने तात्कालिक समस्या को धूमिल एवं अस्पष्ट कर दिया और ओइडिपस् के मन में यह आशंका जाग गई कि उसकी वर्तमान पत्नी का भाई क्रेओन उसको थीबीस से निर्वासित करने का षड्यन्त्र राजसिंहासन को हड़पने के लिए कर रहा है। इस परिस्थिति के कारण ओइडिपस् और भविष्यवक्ता में अत्यन्त कटु वाक्यों का आदान-प्रदान भी उस समय तक हुआ जब तक उस कोरिन्थ से एक संदेश-दूत नहीं आ गया जहां पर ओइडिपस् का पालन-पोषण राजकुमार के रूप में किया गया था और जहां से वह इस भय से भागा था कि कहीं उसके माने हुए पिता का वध उसके हाथों से न हो जाय और कहीं अपनी मानी हुई माता के साथ उसका विवाह न हो जाय।

स्पष्टीकरण अथवा सुलझाव (Resolution)

स्पष्टीकरण अथवा सुलझाव[1] कथानक का वह अंश है जो नायक के भाग्य-परिवर्तन के आरम्भ से लेकर नाटक के अन्त तक विस्तृत होता है। हम यह पहले कह चुके हैं कि भूल अर्थात् कार्य की विशिष्टताओं का मिथ्या-ज्ञान दुःख-प्रधान नाटक का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश है। अतएव कथानक के सुलझाव

१. एन्० क्ला० ड्रा० १३४

का प्रयोजन उस मिथ्याज्ञान का निराकरण करना है अथवा उस प्रच्छन्नकारी पट को हटाना है जो नायक की दृष्टि से कार्य की विशिष्टताओं को छिपाए हुए है। प्रयुक्त साधनों की अमोघता के विषय में आगत शंका को नष्ट करना भी इसका प्रयोजन है चाहे जितने अधिक आकस्मिक रूप में उन साधनों ने उलझाव को उत्पन्न किया हो। और कार्य के परिणाम के विषय में सन्देह को निवृत्त करना भी इसका प्रयोजन है चाहे जितना अधिक अनिष्ट वह हो। 'सुलझाव' के अर्थ को हम भली भांति समझ सकते हैं यदि हम ओइडिपस् नाटक के कथानक के उस अंश पर ध्यान दें जहाँ पर वह व्यक्ति प्रवेश करता है जो ओइडिपस् के जन्म और उसके वास्तविक मातापिता को जानता है और उस रहस्य का उद्घाटन करता है जिसको वह अब तक छिपाए हुए था। इससे ओइडिपस् की जन्मकथा की प्रच्छन्नता नष्ट हो जाती है और सच्चाई प्रकट हो जाती है एवं नाटक का वह अंत निर्धारित हो जाता है जिसमें रानी आत्महत्या करती है और नायक ओइडिपस् अपने दोनों नेत्रों को नष्ट कर आत्मनिर्वासन कर लेता है।

उत्क्रान्ति (revolution) अथवा दशापरिवर्तन

उत्क्रान्ति[1] (revolution) एक प्रकार का परिवर्तन है। इसमें एक कार्य से ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है जिसकी संभावना तो होती है परन्तु वह कर्ता से इच्छित परिणाम से विपरीत होता है। इसका उदाहरण ओइडिपस् नाटक में वह सन्देशवाहक है जो कोरिन्थ से ओइडिपस् को प्रसन्न करने की इच्छा से कोरिन्थ के राजा की प्राकृतिक मृत्यु का सन्देश लेकर आया था (ओइडिपस् यह समझता था कि कोरिन्थ का राजा ही उसका पिता है और दिव्यवाणी के कथनानुसार कहीं वह अपने पिता को मार न डाले इसलिये उसने कोरिन्थ को जाना छोड़ दिया था) परन्तु कार्य के स्वेच्छित परिणाम से विपरीत परिणाम उस समय उत्पन्न करता है जब वह पूरा आत्मपरिचय दे देता है। वह ओइडिपस् के दुर्भाग्य पर जैसे मोहर लगा देता है।

रहस्यज्ञान

अज्ञान की दशा से ज्ञान की दशा में पहुंचना रहस्यज्ञान (discovery) है। यह ज्ञान ज्ञाताओं के भावी सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य के आधार पर उनमें परस्पर मित्रता अथवा शत्रुता में परिणत हो जाता है। जड़ तथा आकस्मिक

१. पोय० ४२७

वस्तुओं का भी रहस्यज्ञान होता है। रहस्यज्ञान का अर्थ तथ्य ज्ञान भी है जैसे कि किसी व्यक्ति ने किसी विशेष काम को किया है या नहीं किया है।

रहस्यज्ञान को समझने के लिये ओइडिपस् एक सुन्दर उदाहरण है। क्योंकि नायक का करुणोत्पादक अन्त अपने माता-पिता के यथार्थ ज्ञान के बाद तथा इस तथ्य को मान लेने के बाद उत्पन्न होता है कि उसने थीबीस के उस राजा की हत्या की थी जो वास्तव में उसका पिता था।

इस स्थल पर हम यह कह सकते हैं कि एक जटिल कथानक में रहस्य-ज्ञान कथानक के 'सुलझाव' का एक अंश होता है। दोनों में मूल रूप से कोई भेद नहीं है। 'सुलझाव' की कुछ घटनाओं को 'रहस्य ज्ञान' इसलिए कहते हैं क्योंकि वे अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को हटा कर यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करतीं हैं--परन्तु सम्पूर्ण 'सुलझाव' का उद्देश्य 'उलझाव अंश' अथवा रहस्यपूर्ण जटिल अंश का सम्पूर्णतया सुलझाना है। नाटक का यह अंश नाटकीय भविष्यज्ञान की उत्कण्ठा को पूर्णतया शान्त करता है और जो गूढ़ रहस्यमय है उसको स्पष्ट कर देता है।

परन्तु रहस्यज्ञान का कुछ न कुछ फल अवश्य होता है। अतएव यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'रहस्यज्ञान' 'सुलझाव' का एक अंश मात्र है। इसका अन्त किसी न किसी प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से अर्थात् किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के यथार्थ ज्ञान से होता है। यह अंश नाटक के अन्त तक व्याप्त नहीं होता। इस अंश में वह भाग सम्मिलित नहीं होता जिसमें 'रहस्य ज्ञान' के परिणाम को प्रदर्शित करते हैं। रहस्यज्ञान एवं उससे उत्पन्न परिणाम दोनों मिलकर 'सुलझाव' को उत्पन्न करते हैं। और नाटक का 'उत्क्रान्ति' अंश 'सुलझाव' अंश से भिन्न होता है। यह केवल नायक के भाग्य का आमूल परिवर्तन विन्दु है। नाटक का यह वह स्थल है जहाँ पर कार्य इष्ट परिणाम के विपरीत (दुःखप्रधान अनिष्ट) परिणाम को उत्पन्न करता है।

इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि अपने ग्रन्थ के दसवें एवं ग्यारहवें अध्यायों में एरिस्टाटल ने जो जटिल कथानक की व्याख्या की है उसमें उन्होंने 'उलझाव' एवं 'सुलझाव' की बात नहीं की है।

अपने ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में वे यह कहते हैं कि 'परन्तु प्रत्येक दुःखप्रधान नाटक में एक जटिलता एवं विकास (development) होते हैं।' प्राचीन उत्कृष्टस्वरूप नाटकों के अपेक्षाकृत आधुनिक समीक्षकों ने इस विकास को 'सुलझाव' के नाम से अभिहित किया है।

अब यह समझना कठिन नहीं है कि एरिस्टाटल के मतानुसार नाटक के 'मध्य भाग' का स्वरूप क्या है। असरल कथानक में नाटक का मध्य भाग उलझाव, सुलझाव, उत्क्रान्ति एवं रहस्यज्ञान होते हैं अर्थात् इसमें वह अंश नहीं होता जो रहस्यज्ञान के अन्तिम परिणाम को प्रकट करता है और जिसको इसी कारण से नाटक का 'अन्त' कहते हैं। परन्तु सरल कथानक के मध्यभाग की रचना में केवल उलझाव एवं सुलझाव अंश ही रहते हैं। इस प्रकार से हमको यह ज्ञात होता है कि शेक्सपीयर की नाट्यकला के समीक्षक कार्य की जिन पांच अवस्थाओं को मानते हैं वे एरिस्टाटल से प्रतिपादित कार्य को तीन अवस्थाओं का विशदीकरण मात्र ही हैं। शेक्सपीयर की नाट्यकला के समीक्षक नाटक के मध्यभाग को 'परिपुष्टि', पराकोटि (climax) एवं पतन की कार्यावस्थाओं में विभाजित करते हैं जो एरिस्टाटल से प्रतिपादित 'उलझाव' 'सुलझाव' आदि अंशों के सर्वथा समान हैं।

नाटक के इन अंशों का सापेक्षिक महत्त्व

१. कथानक[1] सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। यह नाटक का लक्ष्य अथवा उसकी आत्मा है क्योंकि यूनानी नाटक मूल रूप से कार्य, कथानक अथवा परिस्थितियों को प्रकट करने वाली कलाकृति थी।

२. कथानक के उपरान्त उस शिष्ट-व्यवहार (manners) का नाटक में महत्त्व है जो नायक को एक चारित्रिक सौष्ठव प्रदान करता है। यूनानियों की दृष्टि में कार्य की अपेक्षा चरित्र कम महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि दुःखप्रधान नाटक में उसका स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। दुःखप्रधान नाटक में इसका प्रयोग वहीं तक होता है जहां तक उसका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रमुख कार्य पर पड़ता है। यह शिष्टव्यवहार उसको गुण प्रदान करता है।

३. युक्ति प्रदर्शन शक्ति जिसकी व्याख्या हमने गत पृष्ठों में की है महत्त्व की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है।

४. इसके बाद भाषाशैली आदि का महत्त्व चौथे स्थान पर है।

५. गीत नाटक का सर्वोत्तम अलंकरण है और महत्त्व की दृष्टि से उसका पांचवां स्थान है।

६. सबसे कम महत्त्वपूर्ण रंगमंच की सज्जा है। यद्यपि यह बहुत आकर्षक होती है फिर भी इसके बिना भी काम चल सकता है। क्योंकि इसके बिना भी दुःखप्रधान नाटक की शक्ति क्षीण नहीं होती।

---

१. पोय०—४१९

दुःखप्रधान नाटक का परिमाण सम्बन्धी विश्लेषण

परिमाण (quantity) के अनुसार दुःखप्रधान नाटक के निम्नलिखित चार भाग हैं। इन भागों में दुःखप्रधान नाटक के सम्पूर्ण विषयवस्तु को विभाजित किया गया है। ये भाग प्रत्येक दुःखप्रधान नाटक में होते हैं।

१. आमुख या प्रस्तावना

दुःखप्रधान नाटक का वह अंश आमुख (prologue) है जो रंगमंच पर कोरस (chorus) के आने के पूर्व होता है। नाटक के आमुख अंश का प्रयोजन दर्शक को कार्य की परिस्थितियों की सूचना देना है अर्थात् उस परिस्थिति को दर्शकों को बताना है जिससे दुःखप्रधान नाटक का प्रधान कार्य उत्पन्न होता है। यह नाट्यरचनाविधान (dramatic technique) का एक अंश है। यह उन साधनों में से एक है जिनकी आवश्यकता कथानक के सूच्यांशों को प्रकट करने के लिए होती है। यह बात स्पष्ट हो सकती है यदि हम 'अगमेमनोन' नाटक के आरम्भ को देखें। उसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :—

प्रासादशिखर पर एक प्रहरी दिखाई देता है। वह अपनी कुहनियों के बल झुका हुआ है और सुदूर पर अपनी दृष्टि को जमाए हुए है। जो कर्तव्य उसको सौंपा गया है उसकी कठोरता का वर्णन वह स्वयं अपने से करता है। और जिस समय वह अपने से इस प्रकार से बातचीत कर रहा था उसको दूर पर विजय सूचक अग्निशिखा (bacon fire) दिखाई पड़ती है। यही उसके स्वामी की विजय का चिह्न था और इसी से उसको| अपने कर्तव्य से मुक्ति मिल सकती थी। वह प्रासाद-अट्ट से उतर कर विजय का संवाद देने राजभवन में गया। आनन्द का कोलाहल सुनाई पड़ा और उस कोलाहल से आकर्षित होकर आरगोस (राज्य-संरक्षक समुदाय) के बारह वृद्धों ने रंगमंच पर प्रवेश किया। इस पूरे जनसमूह को ग्रीक भाषा में कोरस कहते हैं। कोरस के आने के पूर्व नाटक के अंश को आमुख (prologue) कहते हैं।

२. कोरस

राज्य-संरक्षक वृद्धों के समूह को 'कोरस' कहते हैं। इसके प्रयोजन तीन प्रकार के हैं।—

१. नाटक में दर्शक के रूप में कोरस।

२. नाटक के दर्शक के रूप में कोरस।

३. नाट्यरचना-विधान के अंश के रूप में कोरस।

प्रथम प्रकार का प्रयोजन निम्नलिखित है :—

कोरस जनसमूह का काम करता है। यूनानी दुःखप्रधान नाटक के नायक लोकतान्त्रिक राज्यों के नेता होते थे। यह ज्ञात ही है कि लोकतान्त्रिक राज्य में जनसमूह का और विशेषतया ज्येष्ठ जनों का अधिक महत्त्व होता है। अतएव प्रत्येक दुःखप्रधान नाटक के नायक को प्रायः वैसे जनसमूह की आवश्यकता पड़ती थी जैसे जनसमूह का प्रतिनिधित्व कोरस करता था। अतएव यूनानी दुःखप्रधान नाटक में कोरस का होना आवश्यक था।

यह एक ऐसे जनसमूह के रूप में रंगमंच पर वर्तमान होता है जिसके प्रति नायक अपने विचारों और भावों को प्रकट कर सकता है। आधुनिक नाटक में इसका अस्तित्व नहीं है। उसके स्थान पर हम आज 'स्वगत' एवं 'रहस्यवार्ता' (confident) का उपयोग करते हैं। भावों और विचारों को प्रकट करना मनुष्य जाति का सहज स्वभाव है। अतएव यूनान के दुःख-प्रधान नाटक के लेखकों ने तत्कालीन राष्ट्र के संगठन के स्वरूप और कार्य के विषय के स्वरूप से प्रभावित होकर यह आवश्यक समझा कि कोरस के रूप में जनसमूह का उपयोग किया जाय। परन्तु आधुनिक दुःखप्रधान नाटक के लेखक से वर्णनीय कार्यलक्ष्य जनसमूह से सम्बन्धित न होकर निजी होता है। इसलिए वह नायक को 'स्वगत' करते हुए अथवा 'स्फुट भाषा में अपने से अपने विचार प्रकट करते हुए' प्रदर्शित करना अधिक उत्तम समझता है। शेक्सपियर ने अपने नाटक 'हेमलेट' में ऐसा ही किया है। दूसरा उपाय जिसके उपयोग की आवश्यकता नाटककार को होती है 'रहस्यवार्ता' है।

'नाटक के दर्शक के रूप में कोरस' निम्नलिखित प्रयोजन को सिद्ध करता है।

रंगशाला में कोरस साधारण जनसमूह का प्रतिनिधित्व करता है। नाटककार अपनी कृति से जो प्रभाव दर्शकों में उत्पन्न करना चाहता है उसको वह कोरस के मुख से शब्दों में प्रकट करा देता है। इससे हम यह जान सकते हैं कि उस अनुभव का वह स्वरूप अथवा दर्शकों के अन्तःकरण पर पड़ता हुआ सम्पूर्ण दुःख-प्रधान नाटक का वह प्रभाव क्या है जिसको नाटककार उत्पन्न करना चाहता है।

नाट्यरचनाविधान के अंश के रूप में कोरस का तीसरा प्रयोजन निम्न-लिखित है :—

उस सम्पूर्ण कथानक का विभाजन जो नाटक में अनुकरणीय होता है दो भागों में कर सकते हैं—१ दृश्य एवं २ सूच्य। दृश्य अंश का रंगमंच पर अभिनय किया जाता है और सूच्यांश की सूचना दी जाती है। दोनों मिल कर कथानक को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। दर्शकों को सूच्यांश का ज्ञान अनेक उपायों से कराया जाता है। उनमें से एक उपाय 'कोरस' भी है। उदाहरण के लिए 'अगमेमनोन' नाटक में वह 'कोरस' जो नाटक के 'आमुख' के उपरान्त रंगमंच पर प्रवेश करता है नाटकीय ढंग से उन आवश्यक तथ्यों एवं घटनाओं की सूचना दर्शकों को देता है जिनको नाटक से आनन्द लेने के लिए दर्शकों को स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है। इन तथ्यों एवं घटनाओं को अभिनय से प्रकट नहीं कर सकते।

कोरस के अंश

सम्पूर्ण रूप से कोरस के अंशों को दो कोटियों में रखते हैं :—

१. सामान्य अंश

२. विशिष्ट अंश

सभी दुःखप्रधान नाटकों में उपलब्ध सामान्य अंश निम्नलिखित हैं—

१. कोरस का प्रथम भाषण (Parodos)

पैरोडस कोरस का प्रथम भाषण है। हम यह कह आए हैं कि कोरस का एक प्रयोजन नाटक के सूच्यांश को प्रकट करना है। कोरस के प्रथम भाषण (Parodos) का नाटकीय प्रयोजन स्पष्ट हो जायगा यदि हमें यह याद हो कि 'अगमेमनोन' नाटक में 'आमुख' के उपरान्त तुरन्त रंगमंच पर प्रवेश कर कोरस क्या कहता है।

अपने भाषण में कोरस ने इफीजीनिया के बलिदान का वर्णन किया है। दस वर्ष पहले उसके पिता (अगमेमनोन) ने उसको उस देवता को प्रसन्न करने के लिए बलिदान किया था जो विजय अभियान के लिए अनुकूल पवन को रोके हुए था। दर्शक के लिए कथा के इस अंश को जानना और स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह घटना नायक के सम्पूर्ण कार्य की आश्रयभूमि है। अतएव बलिदान के चित्र को कोरस ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से शब्दों में इसलिए अंकित किया है जिससे कि दर्शकों को उन परिस्थितियों का बोध हो जाय जिनमें नाटक के कथानक का 'कार्य' घटित होने जा रहा है।

अपने इस भाषण में कोरस ने उस आवश्यक भाग्यवादी दृष्टिकोण की ओर भी संकेत किया है जिस दृष्टिकोण से दर्शक को नाट्यप्रदर्शन को देखना चाहिए। वह कहता है—

'इस समय परिस्थिति जैसी है वैसी ही है। इसलिए होगा वही जैसा भाग्य में बदा है।'

प्रथम भाषण का अन्तिम भाग (Prelude)

कोरस के प्रथम भाषण के अन्तिम अंश को प्रिल्यूड[1] कहते हैं। यह अंश अगमेमनोन नाटक में निम्नलिखित है—

'गाओ हे दुःख गीत'

'लेकिन विजयी हो इष्ट'

यही वह अंश है जिसमें कोरस नाटक में प्रदर्शनीय 'कार्य' का आभास देता है।

२. स्टेसीमोन (Stasimon)

कोरस के दूसरे सामान्य अंश को ग्रीक भाषा में स्टेसीमोन कहते हैं। शब्दों के अर्थानुसार यह ज्ञात होता है कि कोरस के प्रथम अंश एवं दूसरे अंश में भेद यह है कि प्रथम अंश वह भाषण है जो रंगमंच पर आते ही कोरस देता है। परन्तु स्टेसीमोन उसका वह भाषण है जो वह रंगमंच पर बैठ जाने के बाद देता है। यही कारण है कि प्रथम भाषण में तो द्रुतगति वाले छन्दों (ट्रोकेक एवं एनापीस्ट) का प्रयोग सजीव और गतिपूर्ण होने के कारण करते हैं परन्तु स्टेसीमोन में मन्थर गति के छन्दों का ही प्रयोग करते हैं।

कोरस के विशिष्ट अंश

केवल कुछ दुःखप्रधान नाटकों में निम्नलिखित विशिष्ट अंश प्राप्त होते हैं :—

(अ) दृश्यों में गाये हुए गीत अर्थात् अभिनेताओं से गाए हुए गीत।

(आ) कोम्मोस (Commos) यह रंगमंच के पात्रों और कोरस का समवेत विलाप है।

---

१. एन० क्ला० ड्रा०—२२

३. प्रधान कथानक

परिमाणाश्रित विश्लेषण से प्रकटित प्रधान कथानक (Episode) दुःखान्त नाटक का तीसरा अंश है। दुःखप्रधान नाटक का यह वह अंश है जो कोरस के दो सम्बोधन गीतों (Odes) के बीच में होता है।

४. निष्क्रान्ति (Exode)

दुःखप्रधान नाटक का यह वह अंश है जिसके उपरान्त कोरस का कोई गीत नहीं होता।

यूनानी नाटक के सूच्यांश एवं दृश्यांश

नाटक के दृश्यांश का अभिनय उसके विभिन्न पात्र करते हैं। परन्तु नाट्यीकरण के साधन (dramatic machinery) का उपयोग कथानक के सूच्यांश को सूचित करने के लिए किया जाता है। नाटक में प्रदर्शनीय कथानकांश से जो अंश बाहर हैं वे ही कथानक[1] के सूच्यांश हैं। ये सूच्यांश तीन प्रकार के होते हैं—(१) वे अंश जो नाट्य-कार्य के आरम्भ होने के पूर्व घटित होने के कारण दर्शकों से अज्ञात हैं। (२) वे अंश जो नाट्यकार्य के पश्चात् होते हैं और जिनका दर्शकों को ज्ञान कराना परमावश्यक है (३) हिंसामय कार्य। क्योंकि यूनानी नाटक में यह रीति निर्धारित थी कि कोई भी हिंसक कार्य रंगमंच पर प्रदर्शित न किया जाय यद्यपि उसके प्रभाव को प्रदर्शित करने का आदेश था।

निकट तथा सुदूर अतीत को सूचित करने के लिए तीन उपायों को अपनाया जाता था—(१) नाटक का आमुख (२) कोरस एवं (३) संदेश-वाहक दूत। गत उपप्रकरणों में हम प्रथम दो उपायों की उदाहरण सहित व्याख्या कर चुके हैं। तीसरे उपाय का उदाहरण ओइडिपस् नाटक में संदेशवाहक दूत है।

निकट और सुदूर भविष्य के विषय में सूचना देने का साधन देवता तथा देवदूत हैं जिनके विषय में यूनान के निवासी यह विश्वास करते थे कि उनमें भविष्य को जानने की शक्ति है। उदाहरण के लिए अगमेमनोन नाटक में नेपथ्य भूमि में घटने वाली घटनाओं को सूचित करने का साधन कसान्द्रा की भविष्यवाणी करने की शक्ति है। वह अपने कथन के प्रभाव को गम्भीरतम बनाने के लिए अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से साक्षात्कृत वस्तु को निरन्तर

---

१. पोय०—४३७

संवर्धमान प्रचण्डता से अंकित करती है क्योंकि उसको एपल्लो ने यह शाप दिया था कि उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा (यद्यपि सत्य के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कह सकेगी)

यूनानी नाटक में अखण्डता अथवा एकता (unities) का सिद्धान्त

सामान्य रूप से यह मानते हैं कि एरिस्टाटल ने तीन 'अखंडताओं' (unities) को माना था। (१) कथानक का अखण्डत्व (२) समय का अखण्डत्व एवं (३) देश का अखण्डत्व। कथानक के अखण्डत्व (unity) को आधुनिक समय में प्रायः कार्य के 'अखण्डत्व' के नाम से पुकारते हैं क्योंकि कथानक कार्य का एक अनुकरण है। परन्तु कथानक कार्य का केवल अनुकरण मात्र ही नहीं है वरन् घटनाओं का एक ग्रथित रूप भी है। ऐसा ज्ञात होता है कि एरिस्टाटल ने कार्य एवं घटना को भिन्न-भिन्न माना है। क्योंकि अपने ग्रन्थ पोयटिक्स के आठवें अध्याय में वे यह कहते हैं—

'इसके अनुसार जिस प्रकार से अन्य अनुकृतिमूलक कलाओं में प्रत्येक अनुकार्य्य वस्तु एक इकाई होती है उसी प्रकार से क्योंकि कथानक एक कार्य की अनुकृति है इसलिए उस कार्य को एक पूर्ण इकाई होना चाहिए, तथा इस कार्य की विधायक घटनाओं को इस रूप में ग्रथित करना चाहिए कि यदि उनमें से कोई घटनांश स्थानान्तरित कर दिया जाय या निकाल लिया जाय तो सम्पूर्ण कथानक बदल जाय या अव्यवस्थित हो जाय।'

इस प्रकार से कार्य के प्रसंग में अखण्डत्व के सिद्धान्त का अर्थ सम्पूर्णता भी है और अखण्डत्व भी है। वास्तविकता यह है कि अंग्रेजी भाषा के यूनिटी (unity) शब्द के दो अर्थ हैं (१) एकत्व (अखण्डत्व) एवं (२) सम्पूर्णता। हमने इस अध्याय के दुःखप्रधान नाटक के गुणात्मक विश्लेषण करने वाले उपप्रकरण में इस बात की व्याख्या की है कि एरिस्टाटल के मतानुसार कौन से तत्व कार्य को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। अतएव इस स्थल पर हम उन तत्वों की व्याख्या करेंगे जो कार्य एवं घटनाओं की श्रृंखला और इसलिए कथानक के अखण्डत्व की रचना करते हैं।

कथानक का अखण्डत्व

एरिस्टाटल के मतानुसार कथानक[1] के अखण्डत्व का अर्थ यह नहीं है कि कार्य अथवा घटनाओं की श्रृंखला का सम्बन्ध एक व्यक्ति से है वरन् उसका अर्थ

---

१. पोय०—४२२

यह है कि वह श्रृङ्खला तर्कसंगत रूप में एक लक्ष्य से सम्बन्धित है और श्रृङ्खला की एक कड़ी अपनी पूर्व कड़ी से आवश्यक अथवा सम्भावित रूप में सम्बद्ध है। अनुकृतिमूलक कला की सर्वोत्कृष्ट रचना दुःखप्रधान नाटक है। कलात्मक अनुकृति केवल एक वस्तु की ही अनुकृति है। यह नियम केवल चित्रकला पर ही प्रयुक्त नहीं होता वरन् दुःखप्रधान नाटक की रचना पर भी प्रयुक्त होता है। चित्रकला एवं दुःखप्रधान नाट्यकला में भेद यह है कि चित्रकला में एक वस्तु की अनुकृति बनाते हैं जब कि दुःखप्रधान नाटक में एक वस्तु की नहीं वरन् एक कार्य की अनुकृति की रचना करते हैं। इस कार्य को ऐसे रूप में अखण्ड होना चाहिए कि इसके सब अंग इस प्रकार से परस्पर ग्रथित हों कि उनमें से यदि एक को भी स्थानान्तरित कर दिया जाय अथवा निकाल लिया जाय तो सम्पूर्ण कथानक बदल जाए या अव्यवस्थित हो जाय।

देश और काल के अखण्डत्व

देश और काल के अखण्डत्व का अर्थ यह है कि मूल कथानक का विभाजन सूच्यांश एवं दृश्यांश में इस प्रकार से किया जाय कि दृश्यांश—जो मुख्य रूप से नेत्रेन्द्रिय का विषय है (कर्णेन्द्रिय का नहीं)—से सम्बन्धित घटनाएँ एक देश तथा एक समय में घटित हुई प्रदर्शित की जा सकें। उनका अर्थ यह भी है कि कर्णेन्द्रिय की सहायता से दर्शकों को उन घटनाओं का बोध कोरस, सन्देशवाहक दूत एवं नाटक के आमुख आदि के साधन से कराये जिनको कार्य के रूप में अथवा कार्य की सहायता से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है।

अपने विलक्षण रचनाविधान के कारण यूनानी नाटक में देश और काल का अखण्डत्व आवश्यक होता था। इसके लिए कोरस एक महत्वपूर्ण अंग था। यह कोरस कथानक के दो अंशों के अवकाश काल में भी रंगमंच पर वर्तमान रहता था। यह कोरस देश के उन ज्येष्ठ जनों के रूप में होता था जो नायक के सहृदय मित्र होते थे और इसलिए नाटक का नायक अपने भावों और विचारों को उनसे प्रकट करता था। यह कोरस नाटक में दर्शकों का प्रतिनिधित्व करता था। अतएव नाटक 'आरम्भ' भाग से लेकर 'निष्क्रान्ति' भाग तक स्वभावतया एक अखण्डित दृश्य होता था जिसमें ऐसी कोई खण्डित दशा नहीं होती थी जिसमें देश और काल का परिवर्तन संभव हो सके।

अध्याय ५

स्वतन्त्रकलाशास्त्र के प्रसंग में प्लोटाइनस् का अध्यात्मवाद (Mysticism)

एरिस्टाटल के उपरान्त कलाशास्त्र की समस्या

एरिस्टाटल एक सर्वविषय-चिन्तक व्यक्ति थे। दर्शनशास्त्र की शायद ही ऐसी कोई समस्या हो जिसका समाधान करने का उन्होंने प्रयास न किया हो। उन्होंने तर्कशास्त्र, कर्तव्यमीमांसाशास्त्र, मूलतत्त्वदर्शनशास्त्र एवं कलाशास्त्र के विषय में लिखा था। उन्होंने अपने काव्यलक्षणशास्त्र की रचना नाटककार के दृष्टिकोण से की थी। इसका प्रयोजन नाटक रचने के इच्छुक लोगों का आवश्यक पथ प्रदर्शन करना था। पोयटिक्स में नाटककार को जो शिक्षायें दी गई हैं उनकी पूर्ति उन्होंने अपने अलंकारशास्त्र (Rhetorics) में की है। कलाशास्त्र के जिन विभिन्न पक्षों के विषय में उन्होंने लिखा था वे उनके परवर्ती शास्त्रकारों के लिए अलग अध्येयविषय बन गए। उनमें से कुछ शास्त्रकारों ने नाट्यरचना-विधान सम्बन्धी पक्ष का अध्ययन किया तथा उसके दार्शनिक पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया।

इस प्रकार से थियोफ्रास्टस्[1] ने 'शब्द' को काव्यकलाशास्त्र की इकाई मान कर उस पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। रचनाशैली के वांछित गुणों का उन्होंने संस्कार किया और उनको विशदता प्रदान की। एरिस्टाटल ने रचना शैली के केवल दो गुणों का प्रतिपादन किया था (१) स्पष्टता एवं (२) औचित्य। थियोफ्रास्टस् ने उनमें दो गुण और जोड़ दिए (१) भाषा की निर्दोषता एवं (२) अलंकृतता, और भाषालंकारों के महत्त्व का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार से जीनोपंथी उन दार्शनिकों ने जिनको स्टोइक्स कहते हैं अपना ध्यान व्याकरण शास्त्रीय समस्याओं पर लगाया और साहित्यिक शैली के पांच गुणों का उल्लेख किया—(१) दोषहीनता (२) सरलता (३) अधिकपदताभाव (Economy) (४) उपयुक्तता एवं (५) बोली जाने वाली सामान्य लोक भाषा से स्वतन्त्रता (ग्राम्यताभाव)।

---

१. गिल०—९४

कोन्टीलियन[1] ने (१) शक्तिमत्ता तथा (२) भाषा के सौष्ठव एवं मांसल (muscular) रचना शैलियों की बात कही। डियोनीसियस् (ग्रास का देवता नहीं वरन् एक प्रसिद्ध विचारक) ने साहित्यिक सौन्दर्य के स्रोतों का विश्लेषण इस सीमा तक किया कि उन्होंने एक-एक पद और यहां तक कि वर्ण के रुचिकारी एवं अरुचिकारी प्रभावों की परीक्षा की है।

भारतवर्ष में भरतमुनि से लेकर मम्मट तक काव्यलक्षण शास्त्रकारों ने काव्य के गुणों की समस्या का समाधान किया। भरतमुनि ने दस गुणों का प्रतिपादन किया है। भामह ने उनकी संख्या घटा कर तीन कर दी और मम्मटादि ने भी भामह की तीन संख्या को स्वीकार किया। इसी प्रकार से ध्वन्यर्थ के प्रतिपादकों ने साहित्यिक सौन्दर्य के स्रोतों का विश्लेषण करते हुए यह निर्धारित किया कि केवल एक पद और यहाँ तक एक वर्ण भी उस सौन्दर्य का उत्पादक हो सकता है।

प्लोटाइनस्

प्लोटाइनस् (२०४–२६९ ईसा पूर्व) उन लेखकों में से एक हैं जिन्होंने एरिस्टाटल प्रतिपादित कलाशास्त्रीय सर्वांगीण समस्या के कुछ पक्षों की व्याख्या की है। उनके पूर्वजलेखकों ने अपना ध्यान कलाकृति के उत्पादन के साधनों की व्याख्या करने में लगाया, उन्होंने नाटक और काव्य कलाकृतिओं के उत्पादन के साधनस्वरूप भाषा की शक्तियों की परीक्षा की। परन्तु प्लोटाइनस् ने अपना ध्यान कलाकृति के लक्ष्य की ओर लगाया। उन्होंने कलाजनित अनुभव की समस्या को प्रमुख माना। उन्होंने इस समस्या का समाधान मूलतत्वदर्शन, प्रमाणमीमांसा एवं मनोविज्ञान के दृष्टिकोणों से किया। इस पक्ष में उन्होंने एरिस्टाटल के सिद्धान्त का संशोधन किया। एरिस्टाटल के मतानुसार कलाकृति से उत्पन्न अनुभव केवल एक भावावेग सम्बन्धी अनुभव था अर्थात् यह उस भावावेग का अनुभव था जो अपने चरम बिन्दु तक पहुँच गया है। और दुःखान्त नाटक का लक्ष्य उस 'मध्य दशा' का उत्पादन था जिसमें दुःखान्त नाटक के शुद्धीकरण का प्रभाव एक भावावेग को ले आता था। प्लोटाइनस् के मतानुसार यह अनुभव भावावेग की भूमि से परे होता है अर्थात् यह अनुभव लोकोत्तर अथवा आध्यात्मिक तल पर होता है। इस प्रकार से प्लोटाइनस् कलाकृति को नैतिकता के अधीनत्व

१. गिल०—९७

से मुक्त करते हैं और कलाकृतिजनित अनुभव को परतत्त्व, अद्वैत एवं परम कल्याण के रहस्यात्मक अनुभव के समान मानते हैं।

प्लोटाइनस् का महत्त्व

हमारे लिए प्लोटाइनस् का विशेष महत्त्व है। क्योंकि वे कलाकृति के अनुभव का आध्यात्मिक स्पष्टीकरण करते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं कि कलाकृति जनित अनुभव उस आध्यात्मिक अनुभव के समान है जो उनके दार्शनिक मत के अनुसार सर्वोपरि अनुभव है। क्योंकि कलाजनित अनुभव के विषय में उनका यह मत बहुत कुछ भारतीय मत के समान है जिसका प्रतिपादन भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने किया था और जिसको आज भी संस्कृत भाषा के आधुनिक विद्वान निर्दोष मानते हैं। संस्कृत भाषा के प्राचीन मत के अनुसार कलाजनित अनुभव अथवा रसानुभूति एक आध्यात्मिक अनुभव है जिसको शास्त्रीय भाषा में (ब्रह्मानन्द सहोदर) कहते हैं।

प्लोटाइनस् का महत्त्व एक और बात के कारण भी है। वह यह है कि उनके जगत्सृष्टिविषयक सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ या तत्त्व सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक अनुभव में साक्षात्करणीय भी है। आध्यात्मिक अनुभव में इस परतत्त्व का साक्षात्कार उनको स्वयं हुआ था। आराम का जीवन व्यतीत करते हुए, बिना किसी आध्यात्मिक साधना के उन्होंने अपने दार्शनिक मत का प्रतिपादन नहीं किया था। उनके दार्शनिक मत का सुदृढ़ आधार स्वयं उनका अनुभव था। वे रोम[1] के एक नागरिक थे और इसलिए वे अपना जीवन तत्कालीन रोम के नागरिकों से भिन्न रूप में नहीं व्यतीत कर रहे थे। परन्तु उनके शिष्य तथा उनके जीवनचरित्र लेखक पोरफ़ीरी ने यह लिखा है कि जीवन भर में चार बार उनको चरम आध्यात्मिक अनुभव हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने जीवन में वे सामान्य इन्द्रियबोध की भूमि से चार बार ऊपर उठकर आध्यात्मिक अनुभवभूमि पर और चार बार आध्यात्मिक अनुभवभूमि से नीचे उतर कर सामान्य इन्द्रियबोध की भूमि पर आए थे। अतएव उनको आध्यात्मिक अनुभव का पथ ज्ञात था। उनके जगत्सृष्टिविषयक सिद्धान्त में प्रतिपादित पदार्थ आध्यात्मिक अनुभव के विभिन्न क्रमिक तलों में साक्षात्करणीय तत्त्वों को अवरोह क्रम से प्रदर्शित करते हैं।

तत्त्वों या महत्ताओं[2] (Values) के विषय में उन्होंने यह प्रतिपादित

---

१. फुल०—२८२–३ २. इंजे० भाग १—१३७

किया है कि उनको क्रमिक रूप में व्यवस्थित मानना चाहिए। वे यह मानते हैं कि यह आवश्यक है कि परतत्त्व अपने को प्रत्येक प्रकार एवं प्रत्येक मात्रा में प्रदर्शित करे और यह भी आवश्यक है कि तत्त्वों की क्रमिक व्याख्या में वर्तमान प्रत्येक तत्त्व कुछ न कुछ उत्पन्न करे। प्रत्येक उत्पादित वस्तु यद्यपि अपने सृष्टिकर्त्ता से आवश्यक रूप में निम्नतर होती हैं फिर भी सत्यता के साथ वह अपने सृष्टिकर्ता को अपने में प्रतिबिम्बित न कर उससे एक क्रम आगे उस आदर्श को प्रतिबिम्बित करती है जिसकी ओर सृष्टिकर्ता अपनी ध्यानपूर्ण दृष्टि लगाए रखता है।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी हमारे लिए प्लोटाइनस् का महत्त्व है। वे विकासवाद के स्थान पर उद्‌भववाद (emanation) के प्रतिपादक हैं। उनका यह उद्भववाद बहुत अंशों में अभिनवगुप्त के आभासवाद के समान है। अतएव प्लोटाइनस् में हमको एक ऐसा चिन्तक मिलता है जिसके कलाकृति से उद्‌भूत अनुभव के तात्त्विक स्वरूप के विषय में प्रतिपादित मत और जिसकी कलाकृति जनित अनुभव के तात्त्विक स्वरूप को प्रतिपादित करने की दार्शनिक पद्धति अभिनवगुप्त के मत और प्रक्रिया के समान ही है।

प्लोटाइनस् का कलाशास्त्र और मूलतत्त्वदर्शन

प्लोटाइनस् ने कलाशास्त्र के प्रसंग में जिन समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा की है वे समस्याएँ उनके मूलतत्त्वदर्शन से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं :—

(१) जैसा कि हम कह चुके हैं प्लोटाइनस् के मतानुसार कलाकृति जनित अनुभव आध्यात्मिक (mystic) अनुभव के समान है।

(२) वे इन प्रश्नों को उठाते हैं कि 'क्या व्यावहारिक संसार सुन्दर है ?' अथवा 'क्या इस व्यावहारिक जगत को दुःखमय मान कर इसके प्रति विमुखता (gnostic attitude) उचित है। इन प्रश्नों का उत्तर मूलतत्त्व दर्शन के दृष्टिकोण से देते हैं। वे आध्यात्मिक भूमि और सामान्य लोक-भूमि दोनों भूमियों के सौन्दर्यों की व्याख्या करते हैं। वे यह सिद्ध करते हैं कि आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक लोक सौन्दर्यशाली हैं यद्यपि उनका सौन्दर्य विभिन्न मात्राओं में है।

(३) उन्होंने 'सौन्दर्यशाली' की समस्या का समाधान मनोवैज्ञानिक एवं प्रमाणमीमांसाशास्त्रीय दृष्टिकोणों से भी किया है और कलाकृतिजनित

अनुभव की व्याख्या आत्मा की शक्तियों एवं सामर्थ्यों के आधार पर की है जैसे कि इन्द्रियबोधशक्ति, बौद्धिक कल्पनाशक्ति, स्मरणशक्ति, ध्यानशक्ति, प्रेम आदि ।

(४) वे प्रतीकात्मक (symbolic) कला के प्रतिपादक हैं और प्रतीकात्मक कला की कृतियां के उत्पादन का कारण वे दृढ़ ध्यानशक्ति मानते हैं। अनुकृति को वे कला सम्बन्धी सिद्धान्त नहीं मानते । 'सौन्दर्य अवयवों की सममिति (symmetry) या सौष्ठव है' इस मत का वे खण्डन करते हैं।

(५) उन्होंने सौन्दर्य्य और कुरूपता के भेद को स्पष्ट किया है और यह प्रतिपादित किया है कि कुरुपता का कारण रूपतत्त्व (form) पर भूततत्त्व (matter) की विजय है ।

अतएव यह स्पष्ट रूप से जानने के लिए कि आध्यात्मिक अनुभव अतएव तत्समान कलाकृतिजनित अनुभव का मूल स्वभाव क्या है एवं यह ज्ञात करने के लिए कि उनके दार्शनिक मत में प्रतिपादित क्रमिक उन आध्यात्मिक अनुभवों में जिनमें क्रमशः विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों का साक्षात्कार होता है कलाकृति जनित अनुभव का सापेक्षिक स्थान क्या है, उनके मूलतत्त्वदर्शन सम्बन्धी मत का प्रतिपादन करना आवश्यक है ।

उद्भववाद का सिद्धान्त

प्लेटो ने इस मत का प्रतिपादन किया था कि विषयस्वरूप संसार ज्ञप्तियों का भूततत्त्व पर प्रतिबिम्ब मात्र है और एरिस्टाटल ने यह प्रतिपादित किया था कि यह विषयभूत संसार रूपतत्त्व के नियन्त्रण में भूततत्त्व का विकास है । प्लोटाइनस् ने इन दोनों मतों का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि यह विषयभूत जगत अद्वैत से उद्भूत है । यह जगत अद्वैत से उसी प्रकार से उद्भूत है जिस प्रकार से एक सूर्य से अनेक किरणें उद्भूत होती हैं । यह विषयभूत जगत उस अद्वैत का अभिव्यक्त रूप है जो प्लेटो प्रतिपादित ज्ञप्तियों के लोक से एवं एरिस्टाटल प्रतिपादित बुद्धितत्त्व (reason) से परे है और यह एक ऐसा तत्त्व है जो किसी पदार्थ के अन्तर्गत नहीं आता ।

सृजनक्रिया का स्वभाव

प्लोटाइनस् ने अपने त्रिक[1] ईश्वर, शुद्धात्मा (spirit) एवं जीवात्मा की सृजनात्मक क्रिया के स्वभाव को प्रकट करने की चेष्टा आलंकारिक रूप से एक

---

१. इञ्जे—भाग १–१९६

उपमिति अथवा उपमा की सहायता से की है। वे यह कहना चाहते हैं कि (१) सृजनकारी शक्ति सृजन करने में अपना कुछ नहीं खोती अर्थात् शुद्धात्मा जीवात्मा पर एवं जीवात्मा भूततत्त्व पर बिना किसी स्वगत ह्रास के अपनी सृजन शक्ति का उपयोग कर सकते हैं। (२) उच्च एवं निम्न कोटि के तत्त्वों का सम्बन्ध एकतर्फी है। यह सम्बन्ध यान्त्रिक नियमों से परे है। और उनमें परस्पर प्रतिक्रिया नहीं होती अर्थात् निम्न कोटि के तत्त्वों को तो उच्च कोटि के तत्व की आवश्यकता होती है परन्तु उच्च कोटि के तत्व निम्नकोटि के तत्त्वों के बिना भी पूर्ण होते हैं। एवं (३) उच्च कोटि के तत्त्वों में कुछ ऐसे गुण हैं जिनके कारण वे आवश्यक रूप से सृजन क्रिया करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

इन विचारों को प्रकट करने के लिए वे जिस उपमिति का सहारा लेते हैं वह प्रकाश को प्रसारित करते हुए सूर्य की है। इसका कारण यह है कि तत्कालीन वैज्ञानिक यह मानते थे कि संसार[1] पर प्रकाश प्रसारित करने से सूर्य में किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। एवं भूतजगत सूर्य को किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करता और प्रकाशित होना सूर्य के स्वभाव का एक अंश है। अतएव प्लोटाइनस् के मतानुसार यह जगत सृष्टिकर्ता के स्वभाव की अभिव्यक्ति है, सृष्टिकर्ता स्वयं इसका कोई विधायक अंग नहीं है।

उद्भववाद एवं विकासवाद में भेद

उद्भव या अभिव्यक्ति (emanation) विकास से सर्वथा भिन्न एवं विपरीत है। विकास में प्रत्येक परवर्ती दशा अपनी पूर्ववर्ती दशा से उन्नत दशा है और ये परवर्ती दशाएँ तब तक क्रमशः उन्नततर होती हैं जब तक उनका सर्वोत्तम रूप में विकास का चरम बिन्दु नहीं आ जाता। यह अधिक पूर्णता की ओर एक ऊर्ध्वमुखी गति है। परन्तु उद्भव निम्नदशाओं की ओर एक निम्नगामी गति है। इसमें प्रत्येक परवर्ती दशा पूर्ववर्ती दशा से कम उत्तम होती है। जिस प्रकार से सूर्य की किरणें जितना अधिक अपने उद्भव-स्थल सूर्य से दूर होती जाती हैं उतनी ही अधिक उनकी प्रकाशमानता कम होती जाती है उसी प्रकार से एक उद्भूत वस्तु जितना अधिक अपने उद्भावक से दूर होगी उतना ही अधिक निम्नवर्ती होगी। इस प्रकार से प्लोटाइनस् के मतानुसार प्रत्येक वस्तु अद्वैत से उद्भूत है। यदि अधिक उचित शब्दों

---

१. इंजे—भाग १-१९६

में कहें तो कहेंगे कि संसार सृष्टि नहीं है क्योंकि बिना इच्छा एवं संकल्प के सृष्टि नहीं होती। परन्तु वह अद्वैत इस प्रकार के अवच्छेदकों से भी स्वतन्त्र है। यह संसार उसकी असीम शक्ति का अपरिहार्य प्रवाह है। यह ब्रह्माण्ड अद्वैत से प्रवाहित होता है और इस प्रवाह की तीन स्पष्ट क्रम दशाएँ हैं—(१) शुद्धात्मा (spirit) (२) जीवात्मा एवं (३) भूततत्त्व। तथा प्रत्येक पूर्ववर्ती दशा परवर्ती दशा की उद्‌भवभूमि है।

प्लोटाइनस् के त्रिक

प्लोटाइनस् ने दो मूल त्रिकों का प्रतिपादन किया है।

(१) दिव्य तत्त्वों का त्रिक (अ) अद्वैत, ईश्वर अथवा परतत्त्व (आ) शुद्धात्मा (spirit) एवं (इ) जीवात्मा।

(२) मनुष्य का त्रिक विभाजन—(अ) शुद्धात्मा (आ) जीवात्मा एवं (इ) शरीर।

इस त्रिक स्वरूप विभाजन के आधार पर उन्होंने मनुष्य के अनुभव की तीन भूमियों का प्रतिपादन किया है। ये तीनों भूमियाँ अपने विषय रूप अंशों एवं उन साधन रूप अंशों में जिनका प्रयोग विभिन्न प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करने के लिए करते हैं भिन्न-भिन्न हैं।

(१) निम्नतम भूमि अर्थात् भूतपदार्थ की भूमि पर अनुभव का विषय यह इन्द्रियप्रत्यक्ष संसार है और इस कोटि के अनुभवों को प्राप्त करने का साधन शारीरिक इन्द्रियाँ हैं।

(२) दूसरी भूमि वह है जिस पर अनुभव का विषय वह संसार है जिसको मन दिक् एवं काल से व्यवस्थित रूप में समझता है। इस प्रकार के अनुभव का साधन तर्कपूर्ण बुद्धि (discursive reason) है।

(३) सर्वोच्च भूमि पर अनुभव का विषय शुद्धात्मा का लोक है और इसके अनुभव का साधन अलौकिक प्रत्यक्ष है।

प्लोटाइनस् ने कलाकृतिजनित अनुभव के स्वरूप का स्पष्टीकरण उपर्युक्त प्रथम दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है। पहला अद्वैत अथवा परतत्त्व का सिद्धान्त है और दूसरा शुद्धात्मा (spirit) का सिद्धान्त है, जिसको प्लोटाइनस् नाउस (Nous) कहते हैं। उनके मतानुसार आध्यात्मिक अनुभव परतत्त्व अथवा अद्वैत का अनुभव है। और जो अनुभव इस अनुभव से सबसे अधिक निकट है, जो लगभग इसके तुल्य है एवं जो अनुभव इससे निकटतम

रूप में सम्बन्धित है और इसका अव्यवहित परवर्ती है वह शुद्धात्मा का अनुभव है। अतएव यदि हम 'आध्यात्मिक (mystic) अनुभव के तुल्य' शब्दों का अर्थ स्पष्ट रूप से समझना चाहते हैं जिनसे कि प्लोटाइनस् ने कलाकृतिजनित अनुभव के स्वरूप को प्रतिपादित किया है तो हमको उनके मूलतत्त्वदर्शन सम्बन्धी तत्वों एवं अनुभव के उन तलों को समझना आवश्यक है जिनको वे तत्त्व प्रतिरूपित करते हैं। क्योंकि प्लोटाइनस् के मतानुसार अद्वैत, शुद्धात्मा एवं जीवात्मा केवल मूलतत्त्व दर्शन सम्बन्धी तत्त्व ही नहीं हैं वरन् वे अनुभव भूमियों के भी द्योतक हैं। अतएव सर्वप्रथम हम 'अद्वैत' की व्याख्या करेंगे।

अद्वैत

अद्वैत के स्वरूप को प्रकट करने के लिए प्लोटाइनस् ने आध्यात्मिक एवं मूलतत्त्वदार्शनिक दोनों दृष्टिकोणों को मिला दिया है। इस प्रकार से एक ओर वे यह कहते हैं कि अद्वैत इतनी मात्रा में लोकोत्तर है कि वह बुद्धि एवं वाणी की पहुँच से बाहर है। इसके विषय में हम जो कुछ कहते हैं वह केवल इसको उपाधि-परिच्छिन्न ही बनाता है। सर्वोच्च पदार्थों जैसे सत्य, सौन्दर्य, (beauty) कल्याण, (goodness) अस्तित्व एवं चित् की कोटियों में भी इसकी गणना नहीं की जा सकती। बुद्धि की ध्यान शक्ति भी इसको नहीं पा सकती। इसका साक्षात्कार केवल आध्यात्मिक हर्षोन्माददशा (mystical ecstasy) में ही अद्वैत से संसर्ग स्थापित कर उसमें तल्लीन होने से हो सकता है। और दूसरी ओर वे यह प्रतिपादित करते हैं कि यह अद्वैत प्रत्येक वस्तु का उद्गम एवं चरमलक्ष्य (goal) है। इस अद्वैत से प्रत्येक विरोध एवं विभिन्नता उद्भूत होते हैं। यह अद्वैत वह अपार शक्ति है जिससे प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है।

जितने भी अध्यात्मवादी दार्शनिक मत हैं उन सब में परतत्त्व के तात्विक स्वरूप के विषय में इस प्रकार का विरोधाभास अनिवार्य है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु का स्वभाव यह है कि यदि उसको विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाय तो यह दिखाई पड़ेगा कि परस्पर विरोधी गुणों से उसकी रचना हुई है। अनुभव के प्रत्येक विषय को हम एक दृष्टिकोण से 'भेदशून्य' एकता और दूसरे दृष्टिकोण से 'भेदपूर्ण' अनेकता के रूपों में देख सकते हैं। इसी प्रकार से वेदान्त दर्शन में चरम आध्यात्मिक अनुभव के दृष्टिकोण से परतत्त्व अर्थात्

'ब्रह्म' इन्द्रियों, वाणी, बुद्धि एवं मन के लिए अगम्य है परन्तु मूलतत्त्वदर्शन के दृष्टिकोण से वही परतत्त्व सृष्टि का कारण है।

सत्य यह है कि प्लोटाइनस् ने प्लेटो[1] से परमार्थ सत् के तात्त्विक स्वरूप को ग्रहण किया था। प्लेटो के मतानुसार परमार्थ सत् वह है जो अजन्मा, अनश्वर, एकरूप, गतिशून्य, अखण्डनीय, दिक्शून्य, गुण में सरल, तात्त्विक रूप में अद्वैत है एवं विविधता, अनेकता तथा विकार से सर्वथा शून्य है। अतएव उनको एक ओर प्लेटो प्रतिपादित ज्ञप्ति के लोक को परमार्थ सत् के रूप में अमान्य मानना पड़ा क्योंकि इसमें अनेकता निहित थी और दूसरी ओर एरिस्टाटल प्रतिपादित बुद्धि तत्त्व (reason) को भी परमार्थ सत् के रूप में अमान्य मानना पड़ा क्योंकि इसमें कम से कम चिन्तना एवं चिन्तना के विषय में भेद वर्तमान था।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को अमान्य ठहराने में उनकी सहायता उस चरम आध्यात्मिक अनुभव ने की थी जो उनके जीवनचरितलेखक शिष्य के प्रामाणिक कथन के अनुसार उनको जीवन भर में चार बार हुआ था। उनके मतानुसार यह अनुभव इन्द्रियगम्य एवं बुद्धिगम्य तत्त्वों से सर्वथा शून्य है। इस अनुभव का विशेष लक्षण यह है कि इसमें अनेकता एवं विभिन्नता, चिन्तना एवं चिन्त्य तथा प्रमाता और प्रमेय का भेद किसी अंश में भी वर्तमान नहीं होता। अतएव प्लोटाइनस् ने यह माना कि परतत्त्व संख्यारूप में नहीं वरन् तर्कसंगतरूप में अद्वैत है।

आध्यात्मिक हर्षोन्माद (Mystic ecstasy)

प्लोटाइनस् के मूलतत्त्वदर्शन का वह चरम तत्त्व जिसके आधार पर उन्होंने भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकारों के अनुभवों के सम्पूर्ण क्षेत्र का स्पष्टीकरण किया है विमर्श-मूलक (rational) तत्त्व नहीं है। यह परतत्त्व वह नहीं है जिसको 'सत्य' के तत्त्वों को किसी एक प्रकार की क्रमबद्ध व्यवस्थित दशा में ग्रहण करने वाला तर्कपूर्ण बुद्धि तत्त्व प्रकट करता है। यह परतत्त्व तर्कपूर्ण बुद्धितत्त्व से गम्य नहीं है। क्योंकि यह सम्पूर्ण रूप से सरल है। एक प्रकार की आध्यात्मिक अन्तरदृष्टि (spiritual intuition) ही केवल इसका साक्षात्कार कर सकती है। इसी परतत्त्व का असली अनुभव प्लोटाइनस् ने किया था। यह आत्मा पर आई हुई एक आकस्मिक ज्योति के अतिरिक्त और

१. फुल० २८४

६ स्व०

कुछ नहीं है—और यह ज्योति स्वप्रकाश है। यह प्रकाश सर्वथा रूपहीन है और केवल उसी आत्मा पर पड़ता है जो अपने को प्रत्येक रूप यहाँ तक कि आध्यात्मिक रूप के बन्धन से मुक्त कर चुकी है। इसका साक्षात्कार तभी हो सकता है जब आत्मा उन सबसे मुक्त हो जाती है जो भली और बुरी हैं, जब वह प्रत्यक्ष वस्तुओं से विमुख हो जाती है और जब वह स्वयं अद्वैत के समान हो जाती है।

जिस समय यह ज्योति प्रकट होती है उस समय द्रष्टा और दृश्य एक दूसरे में लीन हो जाते हैं। इस दशा में वे दो न होकर एक ही हो जाते हैं। जिस समय तक इस ज्योति का साक्षात्कार बना रहता है उस समय तक किसी भी प्रकार के भेद का ज्ञान नहीं होता। इस दशा में जीवात्मा को अपने शरीर का भी बोध नहीं होता। इस अवस्था में किसी भी अन्य वस्तु का विचार तक आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकता। आत्मा आत्मचिन्तन छोड़कर ज्योति-चिन्तन में लीन हो जाती है। इस दशा से बढ़ कर अन्य कोई दशा अथवा इससे अधिक आनन्दपूर्ण दशा और कोई नहीं है। यह जीवात्मागम्य चरमदशा है—इससे अधिक ऊँची अन्य कोई दशा नहीं है। इस दशा की आनन्दमयता शारीरिक अंगों अथवा इन्द्रियों का पुलकन मात्र नहीं है। यह पुनर्मिलन का आनन्द है।

यह अवस्था शुद्धात्मा के अनुभव से ऊंचो है क्योंकि यह गति से स्वतन्त्र है जब कि शुद्धात्मा के अनुभव में गति वर्तमान होती है। जब आत्मा का अद्वैत से तादात्म्य हो जाता है तो यह आत्मा उन अलौकिक प्रत्यक्षों[1] को करने के लिए सक्रिय नहीं होती जो शुद्धात्मा से किये जा सकते हैं। शुद्ध आत्मा के संसार के सौन्दर्य तभी तक आत्मा को अपनी ओर आकर्षित करते हैं जब तक अद्वैत का प्रकाश आत्मा को नहीं दिखाई देता। परन्तु सहसा जब प्रकाश का साक्षात्कार होता है तो आत्मा उसमें ठीक उसी प्रकार से लीन हो जाती है जिस प्रकार से एक यात्री एक राजमन्दिर में प्रवेश कर उसकी अन्तरवर्तिनी सुन्दर वस्तुओं का गुणगान उसी समय तक करता है जब तक राजा का साक्षात्कार नहीं करता, परन्तु जैसे ही राजा उसके सामने आता है वैसे ही उसका सम्पूर्ण ध्यान उसके व्यक्ति में लीन हो जाता है।

अद्वैत का निरन्तर चिन्तन दर्शन (Vision) और दृश्य का एकीकरण कर देता है, विषय को नष्ट कर देता है और इस प्रकार से वह जो प्रकट होते

---

१. इंजे० भाग २–१३५

समय एक विषयस्वरूप था निरन्तर ध्यान निमग्न व्यक्ति के लिए एक बोधदशा मात्र ही रह जाता है।

आध्यात्मिक साधक यह चेष्टा नहीं करता कि वस्तुतः जिसका अस्तित्व है वह नष्ट हो जाय वरन् वह उन अवरोधों को नष्ट करना चाहता है जो भेदपूर्ण अस्तित्वों की रचना करते हैं। प्रत्येक विलगरूप बोध अनात्म अथवा बाह्यरूपता का ज्ञान है। यही 'अनात्म' वह वस्तु है जो आध्यात्मिक अनुभव में नष्ट हो जाती है।

आध्यात्मिक अनुभव के लिए आत्मशुद्धिरूप साधन

एरिस्टाटल के ग्रन्थों में आत्मशुद्धि अथवा शुद्धीकरण (Katharsis) का सम्बन्ध भावावेग से है। उन्होंने इसकी व्याख्या कर्तव्य-मीमांसाशास्त्र के सम्बन्ध में की है। जैसा कि हम पूर्व अध्याय में स्पष्ट कर आए हैं कि दुःखान्त नाटक के प्रसंग में उन्होंने अपने आत्मशुद्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन धार्मिकों के इस लोकप्रिय प्रचलित विश्वास से प्रभावित होकर किया था कि आत्मशुद्धि भावावेगों का संस्कार करती है। दर्शक पर दुःखान्त नाटक का नैतिक प्रभाव उनका चिन्तनीय विषय था। वे यह स्पष्ट करना चाहते थे कि दुःखान्त नाटक के देखने से उत्पन्न तीव्रतम भावोत्तेजना किस प्रकार से दर्शकों की भावातिरेक के प्रति अत्यधिक उन्मुखता को नष्ट कर देती है और उनको मध्यमदशा में ले आती है। उन्होंने यह देखा था कि डिओनीसस् के उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति इसी प्रकार से इस मध्यदशा को प्राप्त करते हैं। इसीलिए उन्होंने धार्मिक आत्मशुद्धि की उपमिति के आधार पर दुःखान्त नाटक से उत्पन्न आत्मशुद्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह लोकसिद्ध था कि धार्मिक आत्मशुद्धि का एक भावावेगसम्बन्धी प्रभाव होता है और एरिस्टाटल के मतानुसार यह भावावेग सम्बन्धी प्रभाव उस प्रभाव के समान था जो दुःखान्त नाटक के दर्शक पर उसको देख कर पड़ता था।

प्लोटाइनस् के मतानुसार आत्मशुद्धि (संस्कार) का सम्बन्ध भावावेगों से न होकर स्वयं आत्मा से है। इसका अर्थ है शरीर से आत्मा को विमुख करना एवं उसको आध्यात्मिक लोक[1] में पहुँचाना। इसका अर्थ है सभी प्रकार के मलों से आत्मा को मुक्त करना और उस शुद्ध आत्मा को प्राप्त करना जो उसका मूल रूप है, अथवा आत्मा को उसके सभी निम्नकोटि के स्वभाव एवं

१. इंजे०—भाग २-१६५

बाह्य मलों से मुक्त करना तथा उसके सभी विकारपूर्ण एवं निरर्थक अंशों को नष्ट करना।

प्लोटाइनस् के दार्शनिक मत में आत्मशुद्धि के तात्त्विक-स्वरूप का घनिष्ठ सम्बन्ध उनसे प्रतिपादित दूसरे त्रिक् से है जिसके अनुसार मनुष्य का विभाजन शुद्धात्मा, जीवात्मा एवं शरीर के रूप में किया गया है। इसके अनुसार सर्वांगीण आत्मशुद्धि के वे तीन क्रम मानते हैं। प्रथम क्रम का अर्थ है आत्मा को मनुष्यजाति के विमर्शशून्य अंश से मुक्त करना अर्थात् शरीर तथा उससे सम्बन्धित जैसे इन्द्रियपरायणता, व्यावहारिक जगत के इन्द्रिय बोध्य के प्रति आकर्षण, तीव्र भावनाएँ, भावावेग एवं उन सभी तत्त्वों से जो मनुष्य और पशु में समान रूप से पाए जाते हैं, आत्मा को मुक्त करना। इस अवस्था का विशेष लक्षण यह है कि इसमें जीवात्मा शारीरिक तल से उठकर बुद्धि के उस तल पर पहुँच जाती है जो मनुष्य जाति का अपना विशेष तल है। दूसरे क्रम का अर्थ है आत्मा को तर्कपूर्ण बुद्धि और उससे संलग्न सभी तत्त्वों जैसे स्मृति, परिच्छिन्न आत्मचेतना एवं इन्द्रियपरक कल्पना से मुक्त करना। इस क्रम का अन्त आत्मा का शुद्धात्मा के तल तक उठने में होता है। तीसरे क्रम (step) का अर्थ मनुष्य जाति के अन्तरतमवर्ती तत्त्व का साक्षात्कार है। इस क्रम में शुद्धात्मा परमोच्च आत्मस्वरूप अर्थात् परम कल्याण, सत्य अथवा सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार से सम्पूर्ण आत्मशुद्धि परमोच्च आत्मस्वरूप से भी मुक्त होकर शुद्धात्मा के तल से ऊपर उठना है। यह अद्वैत में निमग्न होने की ओर अर्थात् आध्यात्मिक हर्षोन्माद की दशा की प्राप्ति की ओर साधक को ले जाता है।

आध्यात्मिक हर्षोन्माद के भेद

आध्यात्मिक हर्षोन्माद[1] दो प्रकार का है—

१—अशान्त एवं २—शान्त। अशान्त आध्यात्मिक हर्षोन्माद के लक्षण उद्दाम क्षोभ, आत्मसंयम का अभाव एवं अल्पकालीन उन्मत्तता है। यह हर्षोन्माद नृत्य एवं अनियंत्रित संगीत से उत्पन्न होता है। लोग यह विश्वास करते थे कि इस प्रकार का हर्षोन्माद डिओनीसस् के उत्सवों में भाग लेने से उत्पन्न होता है। इसी लोकगत विश्वास से प्रभावित होकर एरिस्टाटल ने आत्मशुद्धि के अपने सिद्धान्त की रचना की थी।

१. इंजे०—१४३

परन्तु प्लोटाइनस् ने दूसरे प्रकार के आध्यात्मिक हर्षोन्माद का प्रतिपादन किया है। यह हर्षोन्माद प्रगाढ़ होते हुए भी शान्त तथा क्षोभशून्य होता है। यह हर्षोन्माद या तो स्वतः उत्पन्न होता है या यह शारीरिक कारणों जैसे नृत्य तथा संगीत से उत्पन्न न होकर मानसिक कारणों से उत्पन्न होता है। यह दशा उस शक्ति को व्यवहार में लाने से उत्पन्न होती है जो प्रत्येक व्यक्ति के पास है परन्तु जिसका प्रयोग कुछ ही व्यक्ति करते हैं। यह शक्ति सामान्य मानसिक क्रियाओं की उत्पादक शक्ति से भिन्न नहीं है। वरन् इन मानसिक क्रियाओं को जब इस ध्येय पर केन्द्रित करते हैं कि 'आत्मा अपने पिता (उद्भव) की ओर लौटे' तो यह शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

तादात्म्य के रूप में हर्षोन्माद

सामान्य लौकिक तल पर तादात्म्य उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि अन्तःकरण बाह्यगत विचार्य वस्तु के साथ संलग्न है। क्योंकि बुद्धि एक क्षण में दो वस्तुओं के विषय में विचार नहीं कर सकती। अतएव अद्वैत में अन्ततः निमज्जित होना (जो अद्वैत के साथ तादात्म्य होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है) तब तक सम्भव नहीं होता जब तक मन के पास कोई भी मानसिक साक्षात्कार करने के लिए अद्वैत की वह बाह्य मानसिक प्रतिच्छाया हो जो (मानसिक प्रतिच्छाया) ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर रही हो। जिस प्रकार से भूततत्त्व में अपना कोई गुण नहीं होना चाहिए यदि वह प्रत्येक रूप को ग्रहण करना चाहता है उसी प्रकार से यदि आत्मा परतत्त्व (अद्वैत) की ज्योति को ग्रहण करना चाहती है तो यह आवश्यक है कि आत्मा रूपशून्य हो।

इस अद्वैत से एकरूप होने के लिए जीवात्मा के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रियानुभव के तल से ऊपर उठकर शुद्धात्मा के तल पर पहुँचे। इस तल पर जीवात्मा, उन सभी वस्तुओं से मुक्त होने के कारण जो इसे शुद्धात्मा से भिन्न बनाती हैं, बिना किसी अवरोध के अपने समकक्ष शुद्धात्मा में निमज्जित हो सकती है। क्योंकि एकात्म होने के लिए इन्द्रियानुभव की सभी वस्तुएँ बाधास्वरूप हैं।

शुद्धात्मा के तल पर इन शुद्धात्माओं का एक दूसरे से विलग होना शरीरों के कारण नहीं होता अर्थात् देशगत भिन्नता उनमें नहीं होती वरन् भेद इस लिए होता है कि इन आत्माओं में पारस्परिक विलक्षणतायें होती हैं। अतएव

शुद्धात्मा के लोक में जिन शुद्ध आत्माओं में विलक्षणतायें नहीं हैं वे परस्पर मिलती हैं। जिस समय शुद्धात्मा अपनी विलक्षणताओं को सर्वथा नष्ट कर देती है उस समय उसका तादात्म्य अथवा ऐकात्म्य उस अद्वैत के साथ हो जाता है जो सर्वथा भेदशून्य है। अद्वैत के साथ एकात्म होना मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। यही उसकी परम शान्त दशा है।

आध्यात्मिक अनुभव में बुद्धितत्त्व

ईश्वर के साक्षात्कार में बुद्धितत्त्व द्रष्टा[1] नहीं है वरन् वह तत्त्व द्रष्टा है जो बुद्धितत्त्व से महानतर एवं पूर्ववर्ती है—अर्थात् यह कोई ऐसा तत्त्व है जिस पर बुद्धितत्त्व की सत्ता अवलम्बित है। क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार अद्वैत का साक्षात्कार है। यह किसी बाह्य वस्तु का विषयरूप साक्षात्कार नहीं हैं। ईश्वर के साक्षात्कार में द्रष्टा एवं दृश्य का भेद मिट जाता है। इस साक्षात्कार की दशा में द्रष्टा भावावेगों (passions), बुद्धितत्त्व, अलौकिक प्रत्यक्ष और व्यक्तित्व से पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। यह पूर्ण स्थिरता की दशा है। इस दशा में आत्मा सुन्दर वस्तुओं की ओर भी आकृष्ट नहीं होती है, क्योंकि उस दशा में वह सुन्दर (beautiful) से भी अधिक उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित होती है।

मूल तत्त्व का साक्षात्कार तभी होता है जब मूल तत्त्व तक ऊर्ध्वगामी हुआ जाय। क्योंकि उस द्रष्टा के लिए जो सभी वस्तुओं के ऊपर उठ जाता है द्रष्टव्य रूप में केवल वही अवशेष रह जाता है जो सभी वस्तुओं से परे है। आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि वह अत्यन्ताभाव को प्राप्त नहीं हो सकती है। परन्तु यदि यह आत्मा ऊर्ध्वगामिनी होती है तो जिस वस्तु तक वह पहुँचती है वह 'स्वयं' के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। उस दशा में वह आत्मा सत्तामात्र (being) नहीं रह जाती है। अद्वैत के सम्पर्क में आने पर वह सत्ता से अधिक ऊँचे तल पर पहुँच जाती है।

आध्यात्मिक अनुभव में इच्छा-शक्ति

शरीर, इन्द्रियां एवं रूप-विधायक (formative) तत्त्व से आत्मा को ऊपर उठना चाहिए एवं शुद्धात्मा (spirit) को आत्मतत्त्व मानकर उसके ध्यान में निमग्न होकर स्वयं शुद्धात्मा हो जाना चाहिए। परन्तु इस अवस्था

१. इंजे० भाग २—१४०–१

में भी सभी अस्तित्वशाली वस्तुओं के उद्गम का साक्षात्कार नहीं होता अतएव इस आत्मा को शुद्धात्मा के लोक से भी ऊपर उठना चाहिए।

अत्यन्त प्रगाढ़ मानसिक ध्यान के फलस्वरूप आध्यात्मिक अनुभव का उदय होता है। अतएव यह आवश्यक है कि मन में आक्रमणकारी के समान प्रवेश करने वाली क्षुब्धताकारी प्रतिच्छायाओं को दृढ़ता के साथ बलपूर्वक मन में प्रवेश करने से रोका जाय। कल्पना शक्ति का कठोर दमन करने के अतिरिक्त इच्छा शक्ति को भी पूर्णतया निश्चेष्ट किया जाय।

आध्यात्मिक अनुभव वास्तविक सत्तापूर्ण का 'नाश'[1] (annihillation) नहीं है। आत्मा को अद्वैत के साक्षात्कार के लिए शुद्धात्मा के तल तक पहुँचना आवश्यक है। शुद्धात्मा के रूप में उसके पास दो शक्तियां होती हैं— १. जो अन्तर में विद्यमान है उसका अलौकिक प्रत्यक्ष करने की शक्ति एवं २. आध्यात्मिक साक्षात्कार की शक्ति (spiritual intuition) जिससे वह उसका बोध करती है जो शुद्धात्मा के तल से ऊपर है। आध्यात्मिक साक्षात्कार की शक्ति से ही आध्यात्मिक प्रहर्षोन्माद अर्थात् परतत्त्व का साक्षात्कार उत्पन्न होता है।

शुद्धात्मा तत्त्व (Nous)

मूलतत्त्वदर्शन के एक तत्त्व के रूप में एवं अनुभव के तल के रूप में अद्वैत की संक्षिप्त व्याख्या करने के उपरान्त अब हम अपना ध्यान नाउस् (Nous) अथवा शुद्धात्मा तत्त्व की ओर देंगे।

अद्वैत[2] तत्त्व से यह साक्षात् उद्भूत हुआ है। यह वह बुद्धितत्त्व नहीं है जिसका स्वाभाविक व्यापार अनुभव[3] की विषय वस्तुओं का विश्लेषण करना, वर्गीकरण करना तथा उनको फिर से जोड़ देना है। ये व्यापार जीवात्मा के हैं, उस शुद्धात्मा के नहीं हैं जो एक उत्कृष्टतर तत्त्व है एवं जो सब वस्तुओं को उनके यथार्थ सम्बन्धों में बुद्धितत्त्व के लिए आवश्यक प्रक्रिया के बिना देखती है। शुद्धात्मा अद्वैत से साक्षात् उद्भूत है अतएव यह शुद्धात्मा[4] अद्वैत को जानने के लिए उसकी ओर उन्मुख होती है एवं अपने उद्भव की ओर उन्मुख होने के कारण ही यह शुद्ध बुद्धितत्त्व बन जाती है। इस शुद्धात्मा के तल पर तर्कशास्त्रीय अर्थ में प्रथम बार प्रमाता एवं प्रमेय का भेद स्पष्ट होता है।

---

१. इंजे० भाग २–१५९ २. इंजे० भाग २–४३
३. इंजे० भाग २–३७ ४. यूएबर० भाग १–२४८

क्योंकि यद्यपि प्रमाता और प्रमेय अभिन्न हैं—क्योंकि शुद्धात्मा आत्मचेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—फिर भी ज्ञप्तिसम्बन्धी (ideal) भेद को अस्वीकार नहीं कर सकते। इस शुद्धात्मा तत्त्व में ज्ञप्तियां अन्तर्व्याप्त (immanent) होती हैं। विश्रान्ति एवं गति, अभेद एवं भेद रूप चार पदार्थों में से विश्रान्ति तथा अभेद पदार्थ शुद्धात्मा के प्रमातृ पक्ष और गति तथा भेद शुद्धात्मा के प्रमेय पक्ष पर प्रयोगनीय होते हैं।

शुद्धात्मा को दो प्रकारों से समझा जा सकता है। या तो हम इसको मूलतत्त्वदर्शन के एक तत्त्व के रूप में समझें या इसको एक अनुभव के तल के रूप में समझें। मूलतत्त्वदर्शन के एक तत्त्व के रूप में यह आभास (appearance) के विपरीत पारमार्थिक सत्ता (Reality) है। यह वह मूलतत्त्व है, जिसका व्यावहारिक जगत एक प्रतिकृति मात्र है। यह वह द्रव्य (substance) है जिसकी प्रतिच्छाया इन्द्रियबोध्य यह लोक है। अनुभव के तल के रूप में यह वह दशा है जो आध्यात्मिक प्रहर्षोन्माद दशा से तुरन्त नीचे है। यह सौन्दर्यबोध का तल है। इसी तल पर हमको कलाकृतिजनित अनुभव होता है।

पारमार्थिक सत्ता के रूप में शुद्धात्मा की मूलतत्त्वदार्शनिक व्याख्या

प्लोटाइनस् के मतानुसार आभास के विपरीत परमार्थ सत् के विधायक अंग शुद्धात्मा,[1] शुद्धात्मा का लोक तथा अलौकिक प्रत्यक्ष (spiritual perception) हैं। इन्हीं तीनों को प्लोटाइनस् ने अपनी दार्शनिक भाषा में क्रमशः नाउस, नोएटा एवं नोएसिस् कहा है। परन्तु हमको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इस प्रकार से अद्वैत की प्रथम अभिव्यक्ति की व्याख्या करते हुए प्लोटाइनस्[2] यह प्रतिपादित करते हैं कि इन्द्रियबोध्य वस्तुओं की व्याख्या करने का जो हमारा स्वभाव है उसी के कारण हम शुद्धात्मा, शुद्धात्मा के लोक तथा अलौकिक प्रत्यक्ष को परस्पर भिन्न मानने लगते हैं। वे अभेद में भेद स्वरूप हैं। अद्वैत की प्रथम अभिव्यक्ति में प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण में कोई भेदमूलक वर्गीकरण नहीं है। शुद्धात्मा की पारमार्थिक सत्ता पर इस प्रकार के वर्गीकरण के आरोप का कारण यह है कि अन्य किसी रूप में मनुष्यजाति की बुद्धि विचार ही नहीं कर सकती है।

---

१. इंजे० भाग २–३८–९   २. इंजे० भाग २–४७

शुद्धात्मा को जैसा बोध शुद्धात्मा के लोक का होता है वही पारमार्थिक सत्ता है अथवा यह कहें कि शुद्धात्मा के लोक का बोध करती हुई शुद्धात्मा पारमार्थिक सत्ता है। यह पारमार्थिक सत्ता न तो केवल ज्ञप्ति रूप है और न ज्ञेय मात्र ही है। वरन् यह इन दोनों (ज्ञप्ति एवं ज्ञेय वस्तु) का अखण्डनीय रूप से अभिन्न रूप है। यही एक मात्र पूर्णतया पारमार्थिक सत् है और पूर्ण रूप से सत्य है। इसमें सामान्यरूपता (universality) एवं सामंजस्य (harmony) है। यह पूर्ण है तथा अनादि और अनन्त है।

प्रमाता के रूप में शुद्धात्मा

इन्द्रियानुभव के तल पर विश्लेषण करने की जिस विधि का उपयोग हम स्वभावतया करते हैं उसके अनुसार यदि हम पारमार्थिक सत्ता का विश्लेषण युक्तिसंगत रूप में करें तो हम उसको प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण वर्गों में विभाजित करते हैं। हम इस शुद्धात्मा का शुद्धात्मा, शुद्धात्मा का लोक एवं अलौकिक प्रत्यक्ष के रूप में विभाजित करते हैं यद्यपि सत्यतः इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है।

प्लोटाइनस् यह मानते हैं कि शुद्धात्मा को यदि प्रमाता के रूप में देखा जाय तो यह शुद्धात्मा के लोक का द्रष्टा है। यह उस बोधशक्ति का केन्द्र तथा उद्गमभूमि है जिसका उपयोग यह शुद्धात्मा बोध प्राप्त करने में करती है। ज्ञाता के रूप में यह शुद्धात्मा अपनी प्रमेय वस्तु से साक्षात् सम्पर्क में रहती है। इसकी ज्ञेय वस्तु इससे बाहर नहीं होती है। यह केवल ज्ञेय वस्तु के प्रतिबिम्ब को ही ग्रहण नहीं करती है। यह ज्ञेय का अधिष्ठान तथा स्वामी है। क्योंकि यदि यह मान लें कि ज्ञेय वस्तु के साथ उसका साक्षात् सम्पर्क अथवा स्वस्वामिभाव सम्बन्ध नहीं है तो उसका अर्थ यह होगा कि शुद्धात्मा का बोध यथार्थ का बोधक नहीं है और शुद्धात्मा सामान्य प्राणियों की भाँति परिच्छिन्न है।

सामान्य एवं विशेष के रूप में शुद्धात्मा

अद्वैत की प्रथम अभिव्यक्ति, शुद्धात्मा, के स्वरूप के निर्धारण में प्लोटाइनस् प्लेटो[1] के ज्ञप्तिलोकविषयक अभिमत से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण विषय में प्लेटो से उनका मतभेद है। यह विषय

१. फुल० २८८

'विशेष' अथवा 'व्यक्ति' का स्वरूप (individuality) है। प्लेटो के मतानुसार दोनों प्रकार के व्यक्तित्व, अर्थात् प्रमातानिष्ठ तथा प्रमेयनिष्ठ, ज्ञप्तिरूप (ideal) नहीं है और इसलिए यथार्थ भी नहीं हैं। ज्ञप्तिलोक में विशेष का कोई स्थान नहीं हैं। क्योंकि उनके मतानुसार जीवात्माएँ यद्यपि अनश्वर हैं फिर भी उनकी रचना धर्म-कल्पित देव डेमीअर्ज ने की है और विशेष वस्तुओं का कारण भूततत्त्व का यह विलक्षण स्वभाव है कि वह सामान्य को अनेक विशेषों अथवा व्यक्तियों में उस प्रकार से खण्डित कर देता है जिस प्रकार से बहुकोणात्मक शीशा सूर्य के प्रकाश को अनेक रंगों की किरणों में खण्डित कर देता है। परन्तु प्लोटाइनस् के मतानुसार व्यक्तित्व यथार्थ है और भौतिक दशाओं से मुक्त है। यथार्थ-लोक में व्यक्तिरूप उन शुद्धात्माओं का अस्तित्व है जिनकी प्रतिच्छायायें व्यक्ति आत्माओं के रूप में इस लोक में वर्तमान हैं।

परन्तु शुद्धात्मा के तल पर शुद्धात्माओं की विशिष्टता का अर्थ यह नहीं है कि उनका ज्ञान परिच्छिन्न है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण करने के लिए प्लोटाइनस् ने परस्पर-निवेशन के सिद्धान्त (Theory of compenetration) का प्रतिपादन किया है। प्लोटाइनस् के मतानुसार शुद्धात्मा को अपनी विशिष्टता के कारण शुद्धात्मा के लोक की सभी ज्ञेयवस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। क्योंकि जिस प्रकार से विशिष्ट आत्माएँ भौतिक शरीर के कारण परस्पर विलग होती हैं उस प्रकार के शुद्धात्माओं में कोई विलगता नहीं है। वे परस्पर एक दूसरे में व्याप्त रहती हैं। शुद्धात्मा का लोक उस एक पारदर्शक प्रदेश[1] (transparent sphere) की भांति है जो शुद्धात्मा से बाहर स्थित है। इस प्रदेश में शुद्धात्मा के लोक के सभी ज्ञेय विषयों को शुद्धात्मा देख सकती है।

सामान्य एवं व्यक्ति शुद्धात्मायें

व्यक्तिरूप शुद्धात्मायें[2] सामान्यरूप शुद्धात्मा से ठीक उसी प्रकार से सम्बन्धित हैं जिस प्रकार से व्यक्ति रूप जीवात्मायें सामान्यरूप अथवा विश्व-आत्मा से सम्बन्धित हैं। वे सामान्य से उसी प्रकार से सम्बन्धित हैं जिस प्रकार से विशेष विज्ञान सामान्य विज्ञान से सम्बन्धित हैं। सामान्यरूप शुद्धात्मा में सभी व्यक्तिरूप शुद्धात्मायें निहित हैं एवं सामान्यरूप शुद्धात्मा

१. इंजे० भाग २—१९४ २ इंजे० भाग २—८२

व्यक्तिरूप शुद्धात्माओं का सर्वस्व उनको प्रदान करती है। वे परस्पर एक दूसरे में निहित हैं। प्रत्येक शुद्धात्मा अपने में और सामान्यरूप शुद्धात्मा में निवास करती है एवं सामान्यरूप शुद्धात्मा भी अपने में तथा प्रत्येक शुद्धात्मा में भी निवास करती है। सामान्यरूप शुद्धात्मा व्यक्तिरूप शुद्धात्माओं की व्यक्त रूप में समष्टि है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति-शुद्धात्मा शुद्धात्माओं की अव्यक्त रूप में समष्टि है। व्यक्तिरूप शुद्धात्मायें शुद्धात्म-शक्ति की आन्तरिक अभिव्यक्ति ठीक उसी प्रकार से हैं जिस प्रकार से विश्वात्मा उसी एक शक्ति का बाह्य प्रकटीकरण है।

शुद्धात्मा का प्रमेय

शुद्धात्मा के अनुभव का विषय शुद्धात्मा का वह लोक है जो सम्भवतः इन्द्रिय बोधगम्य समस्त वस्तुओं की ज्ञप्तियों, रूपतत्वों (form) एवं मूल रूपों (archetypes) से निर्मित है। प्लेटो के ज्ञप्तियों के लोक से यह लोक अधिक विशाल है क्योंकि इसमें केवल सामान्यरूप ज्ञप्तियों का ही अस्तित्व नहीं है वरन् विशेषरूप ज्ञप्तियां भी वर्तमान हैं। "शुद्धात्मा के लोक में परिमित[1] शुद्धात्माएँ (finite beings) उसी प्रकार से वर्तमान हैं जिस प्रकार से पूरे शरीर में नाड़ी-स्पन्दन वर्तमान है............"। ज्ञप्तियों[2] का एक भौतिक शरीर है परन्तु यह शरीर इतने अधिक सूक्ष्मतत्व से निर्मित है कि इसका बोध इन्द्रियों से नहीं किया जा सकता। ये ज्ञप्तियाँ शुद्धात्मा में अन्तर्व्याप्त हैं, वे उसके बाहर वर्तमान नहीं होतीं। ये ज्ञप्तियां परमार्थ-सत्व का आभास मात्र नहीं हैं, वे परमार्थ-सत् की छायामात्र नहीं हैं, वरन् स्वयं परमार्थ-सत् हैं। बुद्धिगम्य अर्थात् ज्ञप्तियों का लोक तात्विक रूप में नहीं वरन् केवल काल्पनिक रूप में शुद्धात्मा से भिन्न है। वह एक ही अस्तित्व है जो शान्तता एवं अखण्डता के गुणों के कारण बुद्धिगम्य है तथा बोधकर्ता होने के कारण शुद्धात्मा है।

ज्ञप्तियां वस्तुओं के शाश्वत रूप हैं। क्योंकि शुद्धात्मा में स्थित प्रत्येक विचार ऐसा ही है। अतएव शुद्धात्मा के सभी विचार ज्ञप्तियां हैं। शुद्धात्मा में सभी ज्ञप्तियां उसी प्रकार से वर्तमान हैं जिस प्रकार से विभिन्न अंश सम्पूर्णता में वर्तमान होते हैं। ज्ञप्तियों का लोक यथार्थ सत्त्व एवं यथार्थ सौन्दर्य का लोक है।

---

१. इंजे० भाग २–८८ २. यूएबर० भाग १–२४८

शुद्धात्मा का प्रमाण

बौद्धिक विश्लेषण से ज्ञात शुद्धात्मा का तीसरा स्वरूप वह प्रमाण है जिसका उपयोग शुद्धात्मा बोध साधन के रूप में करती है। यह साधन शुद्धात्मा का अलौकिक प्रत्यक्ष है। यह शुद्धात्मा की वह क्रिया है जिसका उपयोग वह ज्ञप्तियों के लोक को समझने के लिए करती है। यह क्रिया अशरीरी एवं अदृश्य के बोध की जनयित्री है। यह वह शक्ति है जो शुद्धात्मा से उद्भूत है। सत्य, सुन्दर एवं शिव इसके लिए अपरिचित नहीं हैं वरन् इसके साथ एकात्मरूप हैं। यह केवल अभेद की दशा नहीं है वरन् भेद में अभेद की दशा है अन्यथा किसी भी विचार का अस्तित्व नहीं हो सकता। अलौकिक प्रत्यक्ष शुद्धात्मा का अस्तित्व है क्योंकि अलौकिक प्रत्यक्ष की क्रिया शुद्धात्मा का सारतत्त्व ही है।

अनुभव-तल के रूप में शुद्धात्मा

शुद्धात्मा अनुभव का वह तल है जो आध्यात्मिक प्रहर्षोन्माद के तल का तुरन्त अपरवर्ती है। यह उस शुद्धात्मा का अनुभव है जो अद्वैत और उस जीवात्मा के मध्य में वर्तमान है जिसका विशेषगुण युक्तिपूर्ण बुद्धितत्त्व है।

यदि उस जीवात्मा के दृष्टिकोण से हम इस अनुभवतल को देखें जो शुद्धात्मा के तल पर पहुँच गई है तो हमें यह ज्ञात होता है कि प्रमाता एवं प्रमेय का भेद इस (शुद्धात्मा के) तल पर अंकुरित मात्र ही होता है और विनाशोन्मुख होता है। हमें यह ज्ञात होता है कि इस तल पर विश्व के सभी भेद तथा अनेकताएँ परस्पर सम्बन्धित वर्गों एवं नियमों के एकमात्र सुव्यवस्थित रूप में वर्तमान हैं और उनका ज्ञान एक ही दृष्टिनिक्षेप में सम्पूर्णतया हो सकता है। हमें यह ज्ञात होता है कि अनुभव के इस तल पर प्रमाता तथा प्रमेय का भेद सर्वथा विस्मृत हो जाता है और विचारकर्ता का विचार्य वस्तु से तादात्म्य हो जाता है। हमें यह ज्ञात होता है कि सत्य का दर्शन[1] सामंजस्यात्मकरूप में न होकर सारात्मक रूप में होता है। यह अनुभवतल कालशून्य है। विचार एवं सत्त्व इसी तल पर उद्भूत होते हैं। सत्त्व वह प्रथम परिच्छिन्नता है जिसमें अद्वैत अपने को प्रकट करता है। यह शुद्ध रूप से सामान्य आत्मचेतना की दशा है जिसको हम 'अस्मि' (हिन्दी में हूँ) शब्द से प्रकट कर सकते हैं।

---

१. फुल० २८७–८

इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि प्लोटाइनस् के मतानुसार अद्वैत से जो प्रथम पदार्थ उद्‌भूत होता है वह अद्वैत शैवमत में स्वीकृत सर्वोच्च 'अनुत्तर' नामक पदार्थ से अभिव्यक्तीकृत पदार्थों में द्वितीय पदार्थ के समान है क्योंकि उसमें यह स्वीकार किया है कि 'सत्त्व' अर्थात् अस्मि का बोध उस शक्ति के तल पर उद्‌भूत होता है जो द्वितीय अभिव्यक्तीकृत पदार्थ है।

प्लोटाइनस् के दार्शनिक मत में कलाशास्त्र की समस्या

अभी तक हमने प्लोटाइनस् के दार्शनिक मत में प्रतिपादित प्रथम मूल त्रिक के उन प्रथम दो तत्त्वों की व्याख्या की है जिनके आधार पर उन्होंने कलाकृति-जनित अनुभव के मूल स्वभाव का प्रतिपादन किया है। इसके पूर्व कि हम मूलतत्त्वदार्शनिक दो तत्त्वों के आधार पर कलाकृति के अनुभव की व्याख्या करें यह बताना आवश्यक है कि प्लोटानस् के दार्शनिक मत में कलाशास्त्र की समस्या का ठीक स्थान क्या है।

प्लोटाइनस् का दर्शनशास्त्र बौद्धिक, नैतिक एवं कलाकृतियों से सम्बन्धित महत्ताओं की तात्त्विकी-मीमांसा (ontology) है। इसका[1] प्रतिपाद्य विषय उन तीन महत्ताओं अर्थात् सत्य, शिव एवं सुन्दर के तात्त्विक स्वभाव को स्पष्ट करना है जिनको मनुष्य जाति ने सामान्यतः स्वीकार किया है। ये महत्ताएँ परमार्थ सत् के विधायक तत्त्व हैं। ये वे गुण हैं जिनके रूप में मनुष्य जाति को परमार्थ सत् का ज्ञान प्राप्त हुआ है। ये वे सर्वोत्कृष्ट रूप हैं जिनमें शुद्धात्माएँ परमार्थ का बोध करती हैं। परमार्थ सत् ये स्वरूप जितनी मात्रा में वस्तुओं में मिलते हैं उतनी ही मात्रा में वे सत्य होतीं हैं। ये महत्तायें ही परमार्थ सत् के सारतत्त्व हैं। ये महत्तायें कालातीत एवं देशातीत हैं।

अतएव प्लोटाइनस् के लिए कलाशास्त्र की समस्या कोई विलगरूप एवं स्वतन्त्र समस्या नहीं है। यह समस्या विभिन्न रूप में नैतिक तथा बौद्धिक समस्याओं से सम्बन्धित हैं। कलाकृति का महत्त्व नैतिक और बौद्धिक महत्त्व से विलग एवं स्वतन्त्र नहीं है। सत्य एवं शिव से भिन्न न होकर सुन्दर उनके साथ एकात्म रूप है। एक ही परमार्थ सत् को बुद्धि, स्वतन्त्रेच्छा अथवा प्रेम के द्वारा पहुँचने के कारण क्रमशः सत्य, शिव अथवा सुन्दर कहा जाता है।

प्लोटाइनस् बौद्धिक उत्थान को नैतिक तथा कलाकृति जनित उत्थान से

---

१. इंजे० भाग २–७४–५

भिन्न नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार यात्रा के अन्त के बहुत पूर्व इन तीनों मार्गों का आपस में जुड़ कर केवल एक ही मार्ग के रूप में रह जाने का आरम्भ हो जाता है। वे यह मानते हैं कि दिव्यप्रकृति के तीन गुण[1] सत्य, शिव एवं सुन्दर हमारे अनुभव के चरम विन्दु हैं। इनका सम्पूर्ण रूप से एकीकरण नहीं हो सकता है और न इनको पूर्णतया सामंजस्यमय ही किया जा सकता है। बौद्धिक दृष्टि से देखने पर वे समानान्तर रेखाओं के समान परस्पर भिन्न दिखाई पड़ते हैं, परन्तु शुद्धात्मा के दृष्टिकोण से देखने पर वे परस्पर अन्तर्भूत (inclusive) हैं।

आध्यात्मिक एवं कलाकृति के अनुभव के परस्पर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण

प्लोटाइनस् परतत्त्व[2] (Absolute) को सत्य एवं शिव तो मानते हैं परन्तु सुन्दर नहीं मानते। यह ज्ञात होता है कि अपने ग्रन्थ के एन्नीएड १–६–९ में उन्होंने सुन्दर को सत्य एवं शिव से कुछ कम महत्त्वपूर्ण माना है। वे यह मानते हैं कि शुद्धात्मा के लोक में वर्तमान रूप सुन्दर होते हैं। अद्वैत रूपातीत है और ऐसा लगता है जैसे कि वह सुन्दर का पूर्वभावी कारण है। यह अद्वैत सुन्दर की उद्गम भूमि तथा आरम्भ है। सुन्दर अर्थात शुद्धात्मा का लोक एवं उसके उद्गमस्थल अद्वैत तत्त्व में भेद स्पष्ट करने के लिए वे शुद्धात्मा के लोक को सुन्दर तथा अद्वैत को प्रथम-सुन्दर[3] मानते हैं।

ग्रन्थ के अन्य स्थलों अर्थात् एन्नीएड ६–७–३२ एवं ६–७–३३ में प्लोटाइनस् अद्वैत को 'सौन्दर्यतत्त्व' (beauty) कहते हैं परन्तु 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग शुद्धात्मा के लोक के लिए करते हैं। इस कथन के अनुसार शुद्धात्मा के कारण जीवात्मा सुन्दर है, उस जीवात्मा के कारण जो शरीर को संगठित करती है शरीर सुन्दर है और उसी प्रकार से कर्म तथा आचार सुन्दर हैं। सौन्दर्यतत्त्व अद्वैत से एकात्मरूप है एवं सुन्दर शुद्धात्मा से एकात्मरूप है। अद्वैत तत्त्व रूपहीन है अतएव इसको 'सुन्दर' नहीं कह सकते हैं। 'सुन्दर' रूप में सन्निविष्ट होता है परन्तु सौन्दर्य तत्त्व रूप में सन्निविष्ट नहीं है। आदि-सुन्दर एवं सौन्दर्यतत्त्व का अर्थ शुद्धात्मा के लोक के सुन्दर रूपों का रूपहीन उद्गम स्थल है। इस प्रकार से सुन्दर शब्द का प्रयोगक्षेत्र केवल

---

१. इंजे० भाग २–८०
२. इंजे० भाग २–२१३
३. इंजे० भाग २–१२४

अद्वैततत्त्व की वह प्रथम अभिव्यक्ति है जो शुद्धात्मा का प्रमेयपक्ष है एवं इसी कारण वे सभी वस्तुएँ हैं जो इससे (शुद्धात्मा के प्रमेय पक्ष से) सम्बन्धित हैं।

इस प्रकार से इस बात का कारण स्पष्ट हो जाता है कि प्लोटाइनस् स्वतन्त्रकलास्वादन (Æsthetic experience) को क्यों आध्यात्मिक अनुभव (mystic experience) का सजातीय (akin) मानते हैं। स्वतन्त्रकलास्वादन शुद्धात्मा के रूप अर्थात् सुन्दर का बोध है और इसलिए उस बोध से भिन्न है जिसका विशेष गुण रूपहीनता है, जो उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो अद्वैत में लीन हो जाता है और जिसे आध्यात्मिक प्रहर्षोन्माद (mystic ecstasy) कहते हैं। स्वतन्त्रकलास्वादन में द्वैत का अस्तित्व अत्यन्त सूक्ष्मदशा में होने पर भी बना ही रहता है। इस बोध में कुछ न कुछ विषय का बोध होता रहता है यद्यपि यह विषय आत्मा से अभिन्न रूप ही होता है। इस बोध में सत्ता (being) का ज्ञान बना रहता है। परन्तु आध्यात्मिक अनुभव में सर्वांगीण अखण्डता होती है—यह सत्ता के बोध से परे की दशा है।

स्वतन्त्रकलास्वादन को आध्यात्मिक अनुभव का सजातीय (akin) आलंकारिक रूप में मानते हैं। यह हम कह आए हैं कि प्लोटाइनस् के मूलतत्त्वदर्शन के अनुसार शुद्धात्मा अद्वैत से उद्भूत प्रथम तत्त्व है। अतएव शुद्धात्मा को आलंकारिक रूप में अद्वैत की सन्तान मानते हैं। और क्योंकि अद्वैत तथा शुद्धात्मा केवल मूलतत्त्वदार्शनिक तत्त्व मात्र ही नहीं हैं वरन् अनुभव के तल भी हैं एवं शुद्धात्मा अद्वैत तत्त्व के अत्यन्त सन्निकट है तथा अद्वैत के साथ उसका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए पिता और पुत्री के सम्बन्ध की उपमिति[1] के आधार पर स्वतन्त्रकलास्वादन को आध्यात्मिक अनुभव का सजातीय प्लोटाइनस् मानते हैं। इसी आलंकारिक विचार के आधार पर प्लोटाइनस् ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रेम का स्वरूप ऐसा है जो जीवात्मा को सुन्दर शुद्धात्मा की ओर आकर्षित करता है और शुद्धात्मा को अद्वैत की ओर आकर्षित करता है।

क्या व्यावहारिक संसार सुन्दर है ?

प्लोटाइनस् ने मनुष्य जाति के चरम-साध्य के रूप में तीन महत्ताओं, परमार्थों अथवा प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है। ये महत्ताएँ सत्य, शिव

१. इंजे० भा० २–१३९

तथा सुन्दर हैं। इन महत्ताओं का प्रेम मनुष्य जाति को पशुजाति से भिन्न करता है एवं यह प्रेम मनुजत्व का विशेष स्वाभाविक लक्षण है। ये वे गुण हैं जिनके अन्तर्गत मनुष्य को शुद्धात्मा का बोध होता है। ये वे लक्ष्य हैं जिनका अनुभव दार्शनिक, चरित्रवान व्यक्ति एवं कवि अथवा कला के प्रेमी प्राप्त करते हैं। ये वे विषय हैं जिनका प्रतिपादन दर्शनशास्त्र की तीन प्रमुख शाखाएँ अर्थात् मूलतत्वदर्शन, कर्तव्यमीमांसाशास्त्र एवं कलाशास्त्र करते हैं।

सत्य, शिव एवं सुन्दर मनुष्य जाति के लिए चरम महत्ताएँ हैं अतएव प्रश्न ये उठते हैं कि 'इन महत्ताओं का हमारे लोक अर्थात् इन्द्रिय-बोध्य संसार से क्या सम्बन्ध है? 'क्या इन्द्रिय बोध्य संसार सत्य, शिव तथा सुन्दर है?' अथवा क्या इस संसार को हेय मानना उचित है? प्लोटाइनस्[1] अन्तिम प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि 'नहीं'। इन्द्रियबोध्य संसार उस सत्य, शिव एवं सुन्दर शुद्धात्मा के लोक की छाया मात्र, अभिव्यक्ति अथवा उद्भव (emanation) है जो इस लोक से अधिक उच्चता पर स्थित है और जो स्वयं वस्तुतः सत्य, शिव तथा सुन्दर है। इस संसार को हेय मानना उचित नहीं है। यह संसार पूर्णतया महत्वशून्य नहीं है। इस संसार का भी एक महत्व एवं सत्यत्व है यद्यपि इसके महत्व तथा सत्यत्व शुद्धात्मा के लोक से निम्नश्रेणी के हैं। यह संसार विश्वात्मा की सृष्टि है और बिना इस संसार के किसी दिव्य तत्व के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव मनुष्य जाति के लिए वे सर्वदा अज्ञेय ही बने रहेंगे। यह संसार विश्वात्मा की अव्यक्त शक्ति का अभिव्यक्त रूप है।

प्लोटाइनस् के मतानुसार किसी तत्व की सत्ता को मानने का आधार उसका किसी अपने से निम्नकोटि के पदार्थ का प्रकटीकरण है। अतएव शिव (The good) शुद्धात्मा एवं विश्वात्मा का स्वस्वरूप ही लुप्त हो जाएगा यदि उनमें से प्रत्येक अपने को निम्नकोटि की सृष्टि में प्रकट न करे। इस प्रकार से इन्द्रियबोध्य जगत जहां तक भूततत्त्व के समान अपूर्ण साधन सामग्री में सम्भव हो सकता है वहां तक सत्यता के साथ अपने सृष्टा अर्थात् विश्वात्मा को प्रतिबिम्बित न कर उस तत्व को प्रतिबिम्बित करता है जो विश्वात्मा से एक क्रम परे है—यह वह तत्व है जिसकी ओर विश्वात्मा मोम की वस्तुएँ बनाने वाले कलाकार की भांति अपनी दृष्टि को प्रेरित करता है। अतएव

---

१. इंजे० भाग १–१६७

इन्द्रियबोध का संसार शुद्धात्मा के लोक का यथार्थ प्रतिरूप है और इसलिए सत्य, शिव एवं सुन्दर है। यद्यपि इसकी सत्यतादि निम्नकोटि के ही हैं।

इन्द्रियबोध के सामान्य लोक को भौतिक विज्ञानों का लोक (World of natural sciences) नहीं समझ लेना चाहिये। वैज्ञानिकगण जैसा आत्म-विरोध-शून्य सामंजस्यपूर्ण विधियों का एक सुव्यवस्थित रूप (system of laws) इस इन्द्रिय बोध के लोक को मानते हैं वैसा यह नहीं है। यह इन्द्रियबोध का संसार शुद्धात्मा के लोक का एक चित्र मात्र है। यह व्यवस्था शून्य इसलिए दिखाई देता है क्योंकि व्यक्ति प्रमाता की देखने की शक्ति दोषपूर्ण है। व्यक्ति प्रमाता की दृष्टि काल एवं दिक् की दशाओं के कारण परिच्छिन्न है। परन्तु इतना सब होते हुए भी शुद्धात्मा के लोक[1] का यह संसार उतना ही यथार्थ चित्र है जितना कि भूततत्त्व जैसे दोषपूर्ण साधन में सम्भव हो सकता है। इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जो शुद्धात्मा के लोक की किसी न किसी विषयवस्तु का प्रतिनिधित्व न करता हो। यह संसार उस विश्वात्मा से अंकित एक चित्र है जो एक चित्रकार की भाँति अपनी दृष्टि को लक्ष्य अर्थात् शुद्धात्मा के लोक पर जमाए रखता है।

इन्द्रियबोध के लोक के प्रति हेयता एवं घृणा की दृष्टि को प्लोटाइनस् निन्दनीय मानते हैं। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार से एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रेम का अर्थ उस दूसरे व्यक्ति की सन्तानों के प्रति भी प्रेम है उसी प्रकार से दिव्य के प्रति प्रेम का अर्थ उसकी सृष्टि के प्रति भी प्रेम है। इस प्रकार से प्लोटाइनस् के मतानुसार इस इन्द्रिय-बोध्य संसार के प्रति जो शुद्धात्मा के लोक के इतना अधिक समान है, घृणा के भाव का अर्थ दिव्य के प्रति सच्चे प्रेम का अभाव है। यदि हम इस लोक को सौन्दर्य, सामंजस्य एवं महत्त्व से रहित मानते हैं तो उसका अर्थ आदर्श लोक को भी इनसे शून्य मानना होगा। यदि इन्द्रियबोध्य संसार के कुछ अंश आदर्श लोक की भांति निर्दोष नहीं है तो इसका कारण यह है कि यह लोक आदर्श न होकर भौतिक है।

वे उन व्यक्तियों के अनुभवों को प्रामाणिक मानते हैं जिन्होंने स्वतन्त्रकला-स्वादन में शुद्धात्मा के लोक की झलक देखी है और यह प्रश्न पूँछते हैं कि क्या इन्द्रियबोध्य संसार शुद्धात्मा के सुन्दर लोक की प्रतिच्छाया नहीं है। यह इन्द्रियबोध्य संसार तारतम्य के अनुसार क्रमरूप में व्यवस्थित महत्ताओं

---

१. इंजे० भाग १–१९८

का लोक है। इसकी कुछ विषयवस्तुओं का महत्त्व अन्य विषयवस्तुओं से अधिक है। इन विषयवस्तुओं में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु वह है जो आत्मसत्ता के कारणस्वरूप एक प्रयोजन अथवा अर्थ को प्रतिबिम्बित करती है।

भौतिक संसार में जो सुन्दर रूप[1] हैं वे शुद्धात्मा के लोक में वर्तमान मूलरूप (archetype) के यथार्थ प्रतिरूप हैं। किसी वस्तु में जो सौन्दर्य हमको उपलब्ध होता है वह कोई प्रमातृगत (subjective) तत्त्व नहीं है जिसको उस वस्तु की प्रशंसक व्यक्ति-आत्मा ने उस वस्तु में जोड़ दिया है। वह व्यक्ति की बुद्धि नहीं है जो जड़ भूतपदार्थ पर रूपों को अंकित कर उसको सार्थक बनाती है। ऐसा करने से व्यक्ति आत्मा विश्व की सृष्टा बन जाएगी अतएव यह मानना प्लोटाइनस् के दार्शनिक मत के विरुद्ध है।

भौतिक वस्तुएँ उतनी ही मात्रा में सुन्दर होती हैं जितनी मात्रा में वे रूप के अंश को ग्रहण कर सकती हैं। प्लोटाइनस् का मत यह है कि वस्तुओं के विधायक तत्त्व भूततत्त्व एवं रूपतत्त्व हैं। रूपतत्त्व भूततत्त्व के विभिन्न अंशों को समन्वित एवं सुव्यवस्थित करता है जिससे एक प्रकार की अखण्डता उत्पन्न होती है—और यह अखण्डता सुन्दर[2] है। अतएव जो वस्तु जितना ही अधिक उस रूप को प्रकट करती है जो अखण्डता, जीवन एवं सुव्यवस्था का तत्त्व है उतना ही अधिक वह सुन्दर होती है। परन्तु प्रकटीकरण के क्रम के अनुसार परवर्ती क्रम पूर्ववर्ती क्रम से अधिक निम्नकोटि का होता है अतएव भौतिक संसार में प्राप्त सौन्दर्य शुद्धात्मा के लोक के सौन्दर्य की अपेक्षा निम्नकोटि का है। भौतिक संसार में प्राप्त सौन्दर्य शुद्धात्मगत सौन्दर्य का एक अस्फुट प्रकटरूप मात्र है क्योंकि बाह्य उपादानरूप भूततत्त्व से प्रतिबन्धित विश्वात्मा रूप के अनुसार भूततत्त्व को गढ़ती है। परन्तु रूप शुद्धात्मा के लोक में निवास करते हैं इसलिए विश्वात्मा उन रूपों को केवल अपूर्ण रूप में ही देख सकती है। अतएव भौतिक वस्तुओं में सौन्दर्य की अपूर्णता स्वाभाविक है।

भौतिक लोक में प्राप्य यह अपूर्ण सौन्दर्य[3] भी केवल उन्हीं वस्तुओं में प्राप्त होता है जो नेत्र तथा कर्णेन्द्रिय का विषय हैं। क्योंकि प्लोटाइनस् नेत्र तथा कर्णेन्द्रिय को ही कलाबोधक इन्द्रियां (æsthetic senses) मानते हैं। प्लोटाइनस् ने बौद्धिक एवं नैतिक दोनों क्षेत्रों में समान रूप से सौन्दर्य के अस्तित्व को स्वीकार किया है। मनुष्य जाति की बुद्धि से उत्पन्न विज्ञान तथा

---

१. इंजे० भाग २–२१४ २. इंजे० भाग २–२१२

३. इंजे० भाग २–२११

नैतिकता के बोध से प्रेरित आचरण सुन्दर हैं। इस संसार की वस्तुएँ केवल आंशिक रूप में ही सुन्दर हैं क्योंकि वे उतनी ही मात्रा में सुन्दर हैं जितनी मात्रा में वे रूप को आत्मसात् करती हैं। वे अपूर्णरूप में ही रूप को आत्मसात् कर सकती हैं। इसका कारण यह है कि इन वस्तुओं की स्रष्टा विश्वात्मा रूप का बोध केवल अपूर्णरूप में ही कर सकती है। परन्तु पुण्यशीलता (virtue) अपने में सुन्दर है क्योंकि इसकी सृष्टि विश्वात्मा ने नहीं की है। और न इसका कोई सम्बन्ध भूततत्त्व से ही है।

भौतिक सौन्दर्य का मूलतत्त्वदार्शनिक (Metaphysical) स्पष्टीकरण

जिस प्रकार से सौन्दर्यतत्त्व के अनुभव के विषय में यह अभिमत कि 'यह (अनुभव) आध्यात्मिक अनुभव का सजातीय है' मूलतत्त्वदार्शनिक दृष्टि से प्रथम दो तत्त्वों अर्थात् अद्वैत तथा शुद्धात्मा के आधार पर स्पष्ट किया जाता है उसी प्रकार से भौतिकसौन्दर्य का मूलतत्त्वदार्शनिक विवेचन अन्य दो तत्त्वों अर्थात् विश्वात्मा एवं भूततत्त्व के आधार पर स्पष्ट करते हैं।

अतएव अब हम विश्वात्मा के स्वरूप की व्याख्या करेंगे।

विश्वात्मा अथवा सामान्यात्मा

विश्वात्मा को प्लोटाइनस् अपने दर्शनशास्त्र में लोगोस (logos) कहते हैं। इस विश्वात्मा को शुद्धात्मा वाह्य रूप में प्रकट करती है। यह सृजन शक्ति तथा बुद्धि तत्त्व (Reason) के भेद में अभेद की दशा है। यह व्यक्ति आत्माओं का समूह मात्र नहीं है वरन् यह सबकी आत्मा है। यह देश काल के सम्बन्धों से मुक्त है। इस व्यावहारिक संसार को सत्ता तथा सम्पूर्ण जीवन प्रदान करते हुए भी यह विश्वात्मा विश्रान्ति की दशा में रहती है। इस विश्वात्मा को संसारवर्ती नहीं मान सकते वरन् यह मान सकते हैं कि संसार विश्वात्मावर्ती है क्योंकि यह विश्वात्मा संसार को परिवेष्टित किए हुए है और उसको रूपों के ढांचे में ढालती है। विश्वात्मा शुद्धात्मा से उद्भूत है। अतएव यह चिदात्मक है और इसकी चिदात्मकता तर्कपूर्ण बुद्धि (discursive reason) में प्रकट होती है।

प्लोटाइनस् के मतानुसार विश्वात्मा[1] अतिरेकों को एक सूत्र में बांधती

---

१. इंजे० भाग १—२०३

है। देखते हुए एवं साक्षात्कार करते हुए यह विश्वात्मा अतीन्द्रिय (transcendental) शुद्धात्मा के अन्तर्गत विषयों को ग्रहण करती है और इस अनुकरणीय स्वरूप (model) के अनुसार इन्द्रियबोध्य संसार की रचना करती है। 'यह विश्वात्मा उस व्यावहारिक जगत (जिसका यह विधायक तत्त्व है) और उस शुद्धात्मा के लोक के मध्य में स्थित है जो विश्वात्मा का विधायक तत्त्व (principle) है। सृजनकर्ता शुद्धात्मा से तुलना करने पर यह ग्रहणकर्ता (receptive) तत्त्व है। और जड़भूत तत्त्व के साथ इसकी तुलना करने पर यह क्रियावान तत्त्व है।' विश्वात्मा शुद्धात्मा की सन्तान है। यह जीवनपूर्ण है अतएव आवश्यक रूप से इसको वन्ध्या न होकर उर्वर होना चाहिए। यह वह शक्ति है जिसको शुद्धात्मा ने वाह्यरूप में प्रकट किया है। शुद्धात्मा की प्रतिच्छाया होने के कारण यह अपने उद्भावक तत्त्व से घनिष्ठ रूप में मिलती-जुलती है। यह भूततत्त्व तथा रूप नहीं है वरन् रूपमात्र है और इसकी शक्ति तथा बल केवल शुद्धात्मा से ही कुछ कम हैं। यह विश्वात्मा ज्ञान-गम्य है। यह विश्वात्मा किसी भी प्रकार के खण्डरूप विभाजन को स्वीकार नहीं करती। क्योंकि इसके न तो कोई भाग हैं और न कोई भाग हो ही सकते हैं।

यह विश्वात्मा ज्ञप्तियों के लोक तथा भौतिक लोक का संयोजक है। उद्भव की प्रक्रिया के अनुसार सम्पूर्ण व्यावहारिक जगत इससे उद्भूत होता है। संसार का जीवन विश्वात्मा की शक्ति है। इस शक्ति[1] का अवरोहण वृक्ष और पौधों तक में होता है एवं यही शक्ति अंगरहित (inorganic) प्रकृति में भी सुप्तदशा में निवास करती है। यह विश्वात्मा संसार में अवतीर्ण नहीं होती। यह संसार का संचालन अपने उच्च निवासस्थान से करती रहती है और संसार से संलग्न कभी नहीं होती।

विश्वात्मा की सृजन शक्ति के रूप में प्रकृति

विश्वात्मा शुद्धात्मा के लोक का निम्नतम सीमाचिह्न है। यह विश्वात्मा इन्द्रियबोध्य संसार की रचना अपनी सृजनकारी शक्ति अर्थात् प्रकृति[2] के माध्यम से करती है। यह प्रकृति विश्वात्मा की क्रिया-शक्ति है, उसका वाह्य जीवन है अथवा उसकी शक्ति का विस्तार है। यदि प्रकृति का अस्तित्व न हो तो यह विश्वात्मा क्रियाशून्य रह जाय और स्वयं अपने अन्दर वन्द पड़ी रहे। यह सृजनशक्ति जिस समय भूततत्त्व की ओर प्रेरित की जाती है उस समय यह भूततत्त्व को निर्विशेपता (abstraction) मात्र एवं अवस्तुरूपता के

---

१. इंजे० भाग १—२०९ २. इंजे० भाग १—१५५

तल से ऊपर उठा कर द्रव्यत्व (substantiality) के तल पर स्थापित करती है। यह शक्ति भूततत्त्व पर उन रूपों के प्रतिबिम्बों को अंकित करती है जो उसको विश्वात्मा से प्राप्त होते हैं। शुद्धात्मा के लोक की निम्नतम सीमा होने के कारण यह विश्वात्मा शुद्धात्मा-रूप एवं यथार्थ है। यह विश्वात्मा उन भौतिक पदार्थों की भाँति अयथार्थ नहीं है जिन पर प्रकृति के माध्यम से विश्वात्मा रूपों को अंकित करती है। यह चार[1] तत्त्वों की रचना प्रत्यक्ष रूप में करती है।

विश्वात्मा के विचार केवल ज्ञप्तियां मात्र नहीं हैं वरन् वे सृजनकारी शक्तियां भी हैं। अतएव प्रकृति विश्वात्मा के विचारों का सम्पूर्ण योग है। सृजनकारी शक्तियों को प्लोटाइनस् ने लोगोई (logoi) कहा है। इन शक्तियों का मूलस्रोत शुद्धात्मा है। ये सृजनकारी शक्तियां शुद्धात्मा से उद्भूत होकर निरन्तर उस स्थल तक प्रवाहित रहती हैं जो परमार्थ सत् और उसके आभास को विभाजित करता है। प्रकृति केवल सृजनकारी शक्ति ही नहीं है वरन् बुद्धितत्त्व भी है। यदि हम प्रकृति का विचार उसकी सम्पूर्णता में करें तो हम इसके साथ प्रजननात्मक बुद्धि (seminal reason) को भी सम्मिलित कर लेते हैं। यह प्रजननात्मक बुद्धि रचनाकारी शक्ति (formative power) एवं प्रथम चालक है अतएव यह स्वयं परिचालित नहीं होती है। यह शुद्ध रूप में रूप मात्र है, रूप एवं भूततत्त्व का सम्मिश्रण नहीं है। अपने विमर्शांश (rational aspect) से यह अन्य विमर्श की सृष्टि करती है—यह विमर्श प्रत्यक्षग्राह्य रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रकृतिसृष्ट यह विमर्श सर्वाधिक निम्नकोटि का विमर्श है। यह विमर्श स्वयं प्राणहीन है अतएव किसी दूसरे विमर्श को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी अध्याय में 'ध्यान' शीर्षक उपप्रकरण में हम इस विषय में और अधिक लिखेंगे।

प्राकृतिक सौन्दर्य एवं उसके प्रति उचित उन्मुखता

प्लोटाइनस् यह मानते हैं कि सर्वोच्च प्रकार की सृष्टि से लेकर निम्नतम प्रकार की सृष्टि तक की एक अखंडित श्रृङ्खला है[2] एवं प्रकृति का लोक क्रमिक महत्ताओं तथा अस्तित्वों का लोक है। प्रकृति का लोक भूततत्त्व एवं रूप का सम्मिश्रण है। प्राकृतिक वस्तु के विधायक भूततत्त्व का गठन एवं व्यवस्थापन जितनी अधिक मात्रा में शुद्धात्मा के रूप (spiritual form)

---

१. इंजे० भाग १—१५६ २. इंजे० भाग १—१६१

से किया जाता है उतनी ही अधिक मात्रा में वह वस्तु सुन्दरतापूर्ण होती है। जितनी ही अधिक मात्रा में एक शरीर जीवन को प्रकट करता है उतनी ही अधिक मात्रा में वह सुन्दरतापूर्ण है और जो आत्मा जितनी अधिक बुद्धिमान है उतनी ही मात्रा में वह सुन्दर है। अतएव प्राकृतिक लोक अपने समग्र रूप में शुद्धात्मक है एवं जीवन से परिपूर्ण है यद्यपि इसका जीवन सुप्तदशा में मान सकते हैं एवं इसका शुद्धात्मकत्व अस्फुट स्वरूप मान सकते हैं जिसके कारण इसका साक्षात्कार दुष्कर हो जाता है।

परन्तु पूर्ण सौन्दर्यतत्त्व[1] की प्राप्ति इन्द्रियबोध्य संसार में नहीं हो सकती है क्योंकि यह सौन्दर्यतत्त्व ज्ञप्तिरूप (ideal) तथा शुद्धात्मक है अतएव वह देशकालगत परिच्छिन्नता से रहित है। परन्तु इन्द्रियबोध्य जगत देशकालकृत परिच्छेदों से युक्त है। लेकिन इसी कारण से इन्द्रियबोध्य जगत के प्रति घृणा की दृष्टि उचित नहीं है। यदि इन्द्रियबोध्य संसार में पूर्ण सौन्दर्यतत्त्व नहीं है तो यह दशा उसको उस प्रमुख माध्यम पद (medium) से च्युत नहीं कर देती जिसकी सहायता के विना मनुष्यजाति सम्पूर्ण सौन्दर्यतत्त्व का बोध कभी नहीं कर सकती। इन्द्रियबोध्य जगत का अपूर्ण सौन्दर्य हम जैसी अपूर्ण आत्माओं के लिए सम्पूर्ण सौन्दर्य तत्त्व का साक्षात्कार करने का एक मात्र उचित साधन है। इस लोक[2] के सौन्दर्य के प्रति मुग्ध दृष्टि शुद्धात्मक सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के लिए प्रथम चरण निक्षेप है। प्रयोगकर्ता साधक के अनुसार साधन होना चाहिए। अपूर्ण आत्मा को सर्वाधिक उचित प्राप्य साधन प्राकृतिक संसार का अपूर्ण सौन्दर्य ही है। इस बात में कोई दोष नहीं है यदि एक अपूर्ण आत्मा कुछ समय के लिए इह-लौकिक प्राकृतिक सौन्दर्य को मुग्ध दृष्टि से देखने में अपना ध्यान लगा देती है।

सुन्दरता तथा कुरूपता

प्लोटाइनस् के मतानुसार महत्ताओं एवं सत्ताओं की एक अनुक्रमिक व्यवस्था[3] (hierarchy) है। यह आवश्यक है कि परतत्त्व केवल प्रत्येक प्रकार से ही नहीं वरन् प्रत्येक मात्रा में अभिव्यक्त हो। अस्तित्व की अनुक्रमिक व्यवस्था में पराकाष्ठागत तत्त्व शुद्धात्मा है एवं निम्नतम तत्त्व भूततत्त्व है। इसी प्रकार से महत्ताओं की अनुक्रमिक व्यवस्था में पराकाष्ठागत तत्त्व 'सौन्दर्य' है तथा निम्नतम तत्त्व कुरूपता है।

---

१. इंजे० भाग १—७७   २. इंजे० भाग २—८६-७

३. इंजे० भाग १—१३७

कुरूपता सुन्दरता का प्रतीप है। जिस प्रकार से सौन्दर्य वस्तुओं का वह गुण है जिसको आत्मा अपने सारतत्त्व[1] का सजातीय मानती है उसी प्रकार से कुरूप वह है जिसको वह आत्मा अपना विरोधी एवं स्वभावविरुद्ध समझती है। जिस प्रकार से सुन्दरता वह है जो शुद्धात्मक रूप के एक न एक अंश का भागी है उसी प्रकार से कुरूपता वह है जिसका विशेष गुण सापेक्ष रूप में शुद्धात्मक रूप से शून्य होना है। सम्पूर्ण रूप से कुरूप वह है जिसमें रंचमात्र भी यह रूप अर्थात् दिव्य अर्थ नहीं है।

रूपतत्त्व से सर्वथा रहित होने से ही कुरूपता की रचना नहीं हो जाती वरन् इसकी रचना तब होती है जब रूपतत्त्व पर भूततत्त्व का प्रभुत्व होता है, जब भूततत्त्व रूपतत्त्व को अस्फुट स्वरूप बना देता है अथवा जब भेद-अभेद को प्रच्छन्न कर देता है। यह रूपतत्त्व का सर्वथा अभाव नहीं है, वरन् उसकी एक ऐसी सत्ता है जो अभाव की सीमारेखा पर स्थित है। यह ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार से भूततत्त्व अत्यन्ताभाव न होकर सत्ता (being) की निम्नतम सीमारेखा पर स्थित है। प्लोटाइनस् यह मानते हैं कि अनिष्ट एवं कुरूप उसी प्रकार से एक ही हैं जिस प्रकार से कल्याण (good) तथा सौन्दर्यतत्त्व एक हैं। उनके मतानुसार दुष्टचरित्र वह है जो उसी प्रकार से निम्नकोटि की वासनाओं से पूर्ण है जिस प्रकार से कुरूप शरीर वह है जो कीचड़ में सना है। दुष्ट स्वभाव को कल्याणकारी बनाने के लिए तथा कुरूप को सुन्दरतापूर्ण बनाने के लिए शुद्धीकरण (katharsis) की आवश्यकता पड़ती है। दुष्ट स्वभाव को निम्नकोटि की वासनाओं से मुक्त तथा कीचड़ से सने शरीर को कीचड़ से रहित करना चाहिए।

स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय समस्याओं के मनोवैज्ञानिक एवं प्रमाणमीमांसीय समाधान

अभी तक हमने सौन्दर्य की समस्या के मूलतत्त्वदार्शनिक पक्ष की विवेचना करने की चेष्टा की है और यह स्पष्ट किया है कि प्लोटाइनस् ने किस प्रकार से विभिन्न अनुभवभूमियाँ अर्थात् शुद्धात्मक एवं शारीरिक तलों पर सौन्दर्य की समस्या की व्याख्या अपने मूलतत्त्वदर्शन के आधार पर की है। अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि प्लोटाइनस् किस प्रकार से कलाकृति जनित अनुभव की समस्या का समाधान प्रमाणमीमांसीय एवं

---

१. इंजे० भाग २–२११–१२

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से करते हैं। यह करने के लिए कलाकृति जनित अनुभव के प्रमाता तथा प्रमेयपक्ष की, उसके उन साधनों की, जिनका उपयोग कलास्वाद को उपलब्ध करने के लिए किया जाता है एवं उस प्रक्रिया की जो कलास्वाद को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है, व्याख्या की ओर हम अपना ध्यान देंगे।

प्लोटाइनस् 'सौन्दर्य तत्त्व' को उन महत्ताओं में से एक मानते हैं जिनका साक्षात्कार करने की शक्ति मनुष्य की आत्मा के पास है। यह सत्यतः एक मानवीय महत्ता है। मानवेतर जीवनक्रमों से यह तत्त्व अगम्य है। अतएव कलास्वादन के मनोवैज्ञानिक तथा प्रमाणमीमांसीय स्पष्टीकरण को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम जीवात्मा के विषय में प्लोटाइनस् के अभिमत को भली भांति समझ लें।

प्लोटाइनस् के मूलतत्त्वदर्शन में जीवात्मा का स्वरूप

इसी अध्याय के एक पूर्व उपप्रकरण में हम, शुद्धात्मा (spirit) शुद्धात्मा के लोक (spiritual world) एवं शुद्धात्मक साक्षात्कार (अलौकिक प्रत्यक्ष) (spiritual intuition) की व्याख्या कर चुके हैं। हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि शुद्धात्मा के लोक के विषय में अपने अभिमत की रचना करने में वे प्लेटो से प्रतिपादित ज्ञप्तियों के लोक के स्वरूप से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। इसके साथ हमने इस बात की भी व्याख्या की है कि इस प्रभाव के होते हुए भी शुद्धात्मा के विषय में उनका अभिमत प्लेटो के मत से अधिक विकसित रूप में है क्योंकि प्लोटाइनस् यह भी स्वीकार करते हैं कि विशेष वस्तुओं की भी वे ज्ञप्तियाँ हैं जो भौतिक लोक में वर्तमान विशेष वस्तुओं की मूलरूप हैं। इसके साथ-साथ हमने इस बात की भी व्याख्या की है कि व्यक्तिरूप शुद्धात्माएँ भी हैं जिनके संसार में वर्तमान व्यक्ति—आत्माएँ प्रतिरूप हैं।

प्लोटाइनस् यह मानते हैं कि व्यावहारिक संसार शुद्धात्मा के लोक का एक प्रतिबिम्ब मात्र है। उनके मतानुसार संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका मूलरूप शुद्धात्मा के लोक में वर्तमान न हो। व्यक्तित्व एक तथ्य है। शुद्धात्मा के लोक में व्यक्ति-शुद्धात्मायें हैं और व्यक्ति-जीवात्मायें व्यक्ति-शुद्धात्माओं की सृजनकारी शक्तियां (logoi) हैं। ये शुद्धात्मायें केवल देश तथा काल के परिच्छेदों से ही स्वतन्त्र नहीं हैं वरन् पारस्परिक पृथग्भाव (mutual exclusion) तथा उस परस्पर निवेशनाभाव (incompene-

trability) के परिच्छेदों से भी मुक्त हैं जिसके अधीन सभी शरीर होते हैं। एक व्यक्ति-शुद्धात्मा तथा एक व्यक्ति-जीवात्मा में भेद यह है कि व्यक्ति-जीवात्मा के पास अपूर्ण इच्छायें हैं। यह शुद्धात्मा से उसी प्रकार से भिन्न है जिस प्रकार से शब्द अपने अर्थरूप विचार से भिन्न होते हैं। विभक्त होने पर भी यह अविभजनीय है क्योंकि यह सब अंशों को मिला कर एवं प्रत्येक अंश में भी सम्पूर्ण है।

प्लोटाइनस् के दर्शनशास्त्र में मनुष्य की आत्मा केन्द्र विन्दु है। यह आत्मा व्यावहारिक जगत एवं शुद्धात्मा के लोक के बीच मध्यस्थल में स्थित है। व्यावहारिक जगत तथा शुद्धात्मा के लोक को संयोजित करने वाली यह एक संयोजक श्रृङ्खला है। यह अतिरेकों (extremes) को परस्पर सम्बन्धित करती है। इसके अन्दर मूलतत्त्वदार्शनिक सभी तत्त्वों का प्रतिरूप प्राप्त होता है। परतत्त्व से लेकर भूततत्त्व तक प्रत्येक वस्तु का सम्पर्क इसके साथ है। यह सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है। यह शुद्धात्मा से विश्वात्मा द्वारा प्रसारित सृजन-शक्ति एवं बुद्धितत्त्व स्वरूप है।

इसका विस्तार असीम हो सकता है। यह आत्मा शुद्धात्मा के तल तक उठ सकती है, 'सम्पूर्ण' (The All) के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकती है और परतत्त्व का दर्शन कर सकती है। इस तादात्म्य का साक्षात्कार एक क्रमपूर्ण प्रक्रिया है। जैसे-जैसे यह ऊर्ध्वगामिनी होती है वैसे-वैसे उसको यह निर्धारित करना असंभव लगता जाता है कि वह किस स्थलविन्दु से जीवात्मरूप नहीं रहती है और इसके परिणाम स्वरूप सामान्य सत्ता (universal being) से आत्मभेद करने की चेष्टा का परित्याग कर देती है। परतत्त्व की ओर उन्मुख होकर यह आत्मसाक्षात्कार करती है। यह भूततत्त्व एवं रूपतत्त्व का मिश्रण न होकर केवल रूपतत्त्व मात्र ही है। आत्मा का यह स्वभाव है कि वह ऊर्ध्वगामिनी दृष्टि से शुद्धात्मा के लोक का तथा निम्नगामिनी दृष्टि से इन्द्रियबोध्य जगत का साक्षात्कार करे। सामान्यात्मा अथवा विश्वात्मा का ध्यान करने से ही यह आत्मबोध कर सकती है। क्योंकि किसी को समझने का अर्थ यह है कि उससे जो निकटतम रूप से उच्च पद पर स्थित है अपने को सम्बन्धित करते हुए उसका ज्ञान प्राप्त करना। जीवात्मा उस समय सामान्यात्मा[1] (Universal) से एकात्म रूप हो जाती है जिस समय हम उसको उन सभी वस्तुओं से मुक्त कर देते हैं जिनका उससे दैवयोगवश संबंध

१. इंजे० भाग १—२०७

हो गया है और उसकी शुद्धता में उसका विचार करते हैं। इसका रूप वही है जो सामान्यात्मा अथवा विश्वात्मा का रूप है।

प्लोटाइनस् इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं कि व्यक्ति-आत्माएँ केवल वे अंश मात्र हैं जिनमें सामान्य आत्मा को विभाजित किया गया है। उनके मतानुसार वे शुद्धात्माओं की सृजनकारी शक्तियाँ हैं जिनका मूलरूप शुद्धात्मा के लोक में वर्तमान विभिन्न व्यष्टि-शुद्धात्माएँ हैं। इस बात का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं।

शुद्धात्मा (Spirit) स्वयं अटल है। यह शरीर में अवतरित नहीं होती है। शुद्धात्मा से सामान्य-आत्मा तथा व्यक्ति-आत्माएँ उद्भूत होती हैं। जिस प्रकार से विशेष सामान्य से सम्बन्धित है उसी प्रकार से व्यक्ति-आत्माएँ सामान्य-आत्मा से सम्बन्धित हैं। अपने ऊर्ध्वांश में व्यक्ति-आत्माएँ परस्पर अभिन्नरूप हैं। परन्तु अपने निम्नांश में वे उसी प्रकार से भिन्न रूप हैं जिस प्रकार से प्रकाश एक एवं अविभाज्य[1] तत्त्व रहते हुए भी अपने को मनुष्यों के विविध गृहों में विभाजित कर लेता है।

शुद्धात्मा के लोक में विभाजनशून्य भेद है। एक अर्थ में देखें तो यह ज्ञात होता है कि उसके प्रत्येक अंश में सम्पूर्णता व्याप्त है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक विलक्षण चरित्र एवं अपनी एक मौलिकता है जो उसको व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। परन्तु यह व्यक्तित्व शुद्धात्मा के लोक में इन व्यक्तियों के परस्पर पूर्ण सम्पर्क स्थापित करने में कोई बाधक नहीं है।

लेकिन निम्नतल पर उनकी भिन्नता विषमताशून्य है और उनकी सदृशता अखण्डताहीन है। वह शरीर ही है जो इस प्रकार के भ्रान्तिपूर्ण विभाजनों का सृजन करता है। शरीर से सम्बन्धित होने पर भी आत्मा का विभाजन केवल आभास (appearance) के रूप में ही होता है।

आत्मा एवं शरीर

आत्मा शरीर[2] के अन्दर नहीं है वरन् शरीर आत्मा से आच्छादित एवं व्याप्त है। शरीर के साथ आत्मा के सम्बन्धित होने के तीन कारण हैं।

---

१. इंजे० भाग १—२१३ २. इंजे भाग १—२१८

(अ) स्वतन्त्र आकर्षण (free attraction) अथवा स्वेच्छाजनित प्रवृत्ति। (आ) वस्तुओं के स्वभाव से उत्पन्न आवश्यकता की विधि (law of necessity)। (इ) आत्मा की यह इच्छा कि वह उनको व्यवस्था तथा सौन्दर्य प्रदान करे जो उससे निकटतम निम्नतल पर हैं। आत्मा का शरीर के साथ जो सम्बन्ध है वह प्राण के अर्थात् न्यूमा (pneuma) के द्वारा होता है। प्लोटाइनस् के टीकाकारों ने न्यूमा (pneuma) अर्थात् प्राण का अर्थ 'आत्मा का वाहन' लगाया है। यह आकाश के समान अतिसूक्ष्म रूप है जिसको आत्मा दिव्य लोक से प्राप्त करती है एवं जिसका परित्याग वह शरीर से विलग हो जाने पर भी नहीं करती है।

आत्मा की कार्यशक्तियां (faculties)

(१) इन्द्रियबोध (Sensation)

इन्द्रियबोध देहयुक्त आत्मा का विशेष लक्षण है। इस बोध का स्वरूप यह नहीं है कि इन्द्रियबोध करने वाली शक्ति विषयभूत वस्तु का प्रभाव निश्चेष्ट रह कर ग्रहण करती है। यह एक क्रिया है। प्लोटानस् यह मानते हैं कि एक बहिर्भूत भौतिक जगत है जो शुद्धात्मा के लोक की एक अपूर्णांगी प्रतिच्छाया मात्र है एवं यह स्वीकार करते हैं कि वह प्राणयुक्त अथवा सृजनकारी-शक्तियुक्त आत्मा है जो एक मनुष्य की देह को सजीव बनाती है। ज्ञानेन्द्रियों एवं ज्ञेय वस्तुओं के बीच एक सहभावना (sympathy) है। विषयभूत वस्तुयें ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आकर अपने रूपों से उनको प्रभावित करती हैं। इन रूपों को आत्मा जब पहचानती है तो उसी को ऐन्द्रिय 'बोध' कहते हैं। इस प्रकार से ऐन्द्रिय बोध एक रूपग्रहण है। ऐन्द्रिय बोधात्मक आत्मा (sensitive soul) की शक्तियां शरीर के कुछ भागों पर केन्द्रित हैं। परन्तु ऐन्द्रिय बोध की मूल इन्द्रिय उसी प्रकार से सृजनकारी शक्ति (seminal logos) ही है जिस प्रकार से आत्मा तर्कपूर्ण बुद्धितत्त्व की मूल इन्द्रिय है। अलौकिक प्रत्यक्ष एवं ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में केवल मात्रा का ही अन्तर है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मलिन है जब कि अलौकिक प्रत्यक्ष स्पष्टरूप है। अलौकिक प्रत्यक्ष स्पष्टरूप ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रियबोध्य वस्तुएँ शुद्धात्मा के लोक के विषयों की प्रतिच्छाया मात्र ही हैं। इस प्रकार से इन्द्रियबोध आत्मा का एक प्रकार का स्वप्न है।

सुख एवं दुःख

सुख[1] तथा दुःख का सम्बन्ध न तो केवल शरीर मात्र से है और न केवल आत्मा मात्र से ही है, वरन् इसका सम्बन्ध दोनों के साथ है। वह केवल निम्नकोटि की अथवा सृजनशक्तियुक्त आत्मा ही है जिसको सुख तथा दुःख का बोध होता है। विमर्शपूर्ण ऊर्ध्वस्थ आत्मा सुख-दुःख का आत्मस्थ रूप में अनुभव नहीं करती उसको केवल इनका विषय रूप में भानमात्र ही होता है। आत्मा और शरीर में सामंजस्य की दशा होने पर सुख का अनुभव होता है। इस सामंजस्य के खण्डित होने पर दुःख का अनुभव होता है। सुख तथा दुःख शुद्ध रूप से इन्द्रिय-बोध नहीं है। ये चेतना की दशाएँ हैं। उनका विशेष गुण यह है कि अपने से परे वे हमें कुछ नहीं बतातीं तथा किसी वस्तु अथवा ज्ञप्ति को भी अभिव्यक्त नहीं करतीं।

ये सुख दुःख पूर्णरूप से निम्नकोटि की आत्मा के साथ सम्बन्धित हैं एवं उसके परे इनकी गति नहीं है। उच्चतर आत्मा (विमर्शपूर्ण) उच्च तल पर स्थिर रह कर सुख दुःख पर विजय प्राप्त कर सकती है। उस दशा में उसको सुख दुःख का ज्ञान तो होगा परन्तु अपनी दशाओं के रूप में उनका बोध नहीं होगा।

(२, ३) स्मृति एवं कल्पना

इनका सम्बन्ध तर्कपूर्ण बुद्धि तत्त्व से है। कालातीत शुद्धात्मा के लोक में स्मृति के लिए कोई स्थान नहीं है। प्लोटाइनस् कल्पना को कामचारी (Capricious) कहते हैं। उनके मतानुसार स्मृति तथा कल्पना में भेद यह है कि कल्पना की विषयभूत वस्तु से सत्य अथवा मिथ्या की ज्ञप्ति सम्बन्धित नहीं है और न तो इससे किसी उस अतीत काल का कोई सम्बन्ध ही होता है जिसमें इसके विषयों का अनुभव प्रथम बार किया गया हो।

कल्पना के दो भेद

प्लोटाइनस् के मतानुसार कल्पना[2] के दो भेद हैं—(अ) ऐन्द्रिय एवं (आ) बौद्धिक। ऐन्द्रिय-कल्पना विमर्शशून्य (irrational) आत्मा पर बाह्य वस्तु जनित समाघात (impact) मात्र है। इसका सम्बन्ध विमर्शशून्य आत्मा के साथ है। दूसरे का सम्बन्ध विमर्शयुक्त आत्मा के

---

१. इंजे भाग १—२२५ २. इंजे० भाग—१–२३१

साथ है। ज्ञान की एक क्रिया के रूप में प्रत्यक्ष इन्द्रियबोध्य वस्तुओं के रूपों को ग्रहण करता है। जिस समय एक प्रत्यक्ष (percept) शुद्ध रूप से एक मानसिक प्रतिकृति (चित्र) बन जाता है उस समय ऐन्द्रिय-कल्पना प्रत्यक्षीकरण की क्रिया के अन्तिम क्रममात्र से कुछ भी अधिक नहीं होती। अपनी क्रिया के अन्तिम क्रम पर प्रत्यक्षीकरण की क्रिया वस्तु की प्रत्यक्ष सत्ता की उपस्थिति में कल्पना का नाम धारण करती है। इन्द्रियबोध्य वस्तुओं के रूपों एवं उनके विषय में हमारी ज्ञप्तियाँ दोनों को कल्पना प्रतिच्छायाओं (images) के रूप में रचती है। इन्द्रियबोध एवं तर्कशक्ति (reasoning) के मध्य भाग में कल्पना का अस्तित्व है। प्रत्यक्ष से सम्बन्धित प्रतिच्छाया रचने की शक्ति के रूप में यह प्रत्यक्षीकरण की शक्ति का पराकाष्ठा बिन्दु है। इस रूप में यह प्रत्यक्षकारी शक्ति के समरूप है और अपनी उत्प्रेरणा के लिए इसको विषयभूत वस्तु की आवश्यकता होती है। परन्तु विषयभूत वस्तु के तात्कालिक अस्तित्व के अभाव में भी यह काम करती है। इस रूप में इसको एक कामचारी वृत्ति कहते हैं।

बौद्धिक कल्पना

बौद्धिक कल्पना[1] तथा बौद्धिक प्रेम अखण्डनीय रूप से एकात्म हैं। इस प्रकार के संयोग में बौद्धिक प्रेम के कारण वे मानसिक चित्र सृजित होते हैं जो बुद्धितत्व की सर्वाधिक उत्कृष्ट दशा में होने वाली वृत्तिओं के प्रतिबिम्ब रूप हैं। ईश्वर की ओर अग्रसर होने के लिए ये मानसिक चित्र पथप्रदर्शक नक्षत्रों के तुल्य हैं। धार्मिक एवं अन्य प्रतीक बौद्धिक कल्पना की कृतियों की प्रतिकृति (representation) मात्र ही हैं और इसलिए उनमें उत्कृष्ट सत्य निहित है। बौद्धिक कल्पना बौद्धिक एवं शुद्धात्मा सम्बन्धी तात्विक विचारों (conception) को उचित रूपों में परिवेष्ठित करती है। जो प्रत्यक्षणीय तथा शरीरयुक्त है उसका भी शुद्धात्मीकरण यह कल्पना कर सकती है। एवं ऐसा करने में यह उसको एक उत्कृष्ट अर्थ प्रदान करती है। यह बौद्धिक कल्पना प्रधान रूप से सत्यपूर्ण एवं सत्यान्वेषिणी शक्ति है। सत्य के उन अंशों का साक्षात्कार यह शक्ति करती है जो बिना कल्पना शक्ति के ज्ञात हो नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार से किए गए सत्य के साक्षात्कार में आनन्द इस कल्पना का सदैव सहचर होता है। यह आनन्द एक ऐसा रोमहर्षण है जो

---

१. इंजे० भाग—१—२३२—४

सर्वोत्कृष्ट मानसिक दशाओं में एक ऐसी दशा है जिसका अनुभव मनुष्य को अन्यत्र कभी नहीं हो सकता है। कलाकृति सम्बन्धी कल्पना तथा कला की व्याख्या प्लोटानइस् बौद्धिक कल्पना के स्वरूप के आधार पर करते हैं।

(४) अनुचिन्तना

अनुचिन्तना[1] (contemplation) के लिए स्मृति की अपेक्षा अधिक उच्च प्रकार की स्वतन्त्रेच्छा एवं बुद्धि की क्रिया की आवश्यकता पड़ती है। अनुचिन्तना केवल मनुष्य जाति का ही विशेष लक्षण है। परन्तु स्मृति मानवेतर प्राणियों में भी पाई जाती है। आत्मा की शक्ति के रूप में यह उन अस्फुट ज्ञप्तियों का साक्षात्कार करती है जो आत्मा में अव्यक्त रूप से वर्तमान हैं। स्मृति सदा उसकी होती है जिसका अनुभव किसी न किसी समय में आत्मा ने किया है। परन्तु अनुचिन्तना उसकी होती है जो नैसर्गिक रूप से आत्मा में वर्तमान है। इसका सम्बन्ध उन नैसर्गिक ज्ञप्तियों से है जो आत्मा से सम्बन्धित हैं। यह अनुचिन्तना आत्मा की प्राकृतिक चित्-शक्ति की अभिव्यक्ति (expression) है। यह उसका अभिव्यक्तीभवन है जो आत्मा में अव्यक्त रूप से वर्तमान है। यह नैसर्गिक शुद्धात्मक ज्ञप्तियों का साक्षात्कार है। अनुचिन्तना में आत्मा उस परिमित आत्मचेतना से ऊपर उठती है जो स्मृति के लिए एक आवश्यक दशा है। इस प्रकार की अनुचिन्तना के लिए ध्यान एक साधन है।

प्लोटाइनस् ने स्मृति तथा अनुचिन्तना में जो भेद किया है वह एरिस्टाटल कृत तद्विषयक भेद से भिन्न है। क्योंकि एरिस्टाटल का मत यह है कि स्मृति धारणा (retention) की वह निश्चेष्ट (passive) शक्ति है जो अनुभवगम्य विषयभूत वस्तुओं की इन्द्रियबोधजन्य प्रतिच्छायाओं को धारण करती है, तथा अनुचिन्तना आत्मा की वह शक्ति है जो इस प्रकार से धारणाशक्ति से धारण की हुई प्रतिच्छायाओं को उद्बुद्ध करती है। परन्तु प्लोटाइनस् यह मानते हैं कि अनुचिन्तना का कोई सम्बन्ध ऐन्द्रियक अनुभवों से नहीं है। यह वह शक्ति है जो प्लोटाइनस् के मतानुसार नैसर्गिक ज्ञप्तियों (innate ideas) का साक्षात्कार करने का साधन है।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि इसी प्रकार का भेद अभिनवगुप्त ने नैयायिकों के 'स्मृति' विषयक अभिमत में तथा कालिदास[2] के अनुचिन्तना

---

१. इंजे० भाग १—२२७-८

२. स्व० कला० शा० भाग १—१६४-५

(स्मृति) विषयक उस अभिमत में प्रकट किया है जो अभिज्ञानशाकुन्तलम् के निम्नलिखित अत्यन्त लोकप्रसिद्ध श्लोक से प्रकट होता है :—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्य्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ अ० शा० ५–२

(मुग्धकारी सौन्दर्य को देखकर एवं मधुर शब्दों को सुनकर सुखी प्राणी का भी चित्त जो पर्युत्सुक हो जाता है उसका कारण अवश्य ही यह तथ्य है कि उसका चित्त अनजाने में पूर्व जन्म के संस्काररूप प्रियभावों की अनुचिन्तना (स्मरण) करता है ।)

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्लोटाइनस् एवं अभिनवगुप्त दोनों ही कलाकृति के अनुभव को स्पष्ट करने के लिए अनुचिंतना के इसी स्वरूप का ही उपयोग करते हैं ।

(५) विवेक शक्ति (Reason)

विवेक शक्ति दो प्रकार की है—(अ) तर्कपूर्ण एवं (आ) शुद्ध । तर्कपूर्ण विवेक शक्ति[1] आत्मा की एक स्वाभाविक क्रिया है । इसकी विचारणा के लिए आवश्यक उपादान, सहकारी एवं निमित्त कारण इसके अन्तर्गत नहीं हैं । ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सामग्री के विषय में यह युक्ति का प्रयोग करती है । 'इसकी शक्तियों का परिचालन इसकी क्रिया की आवश्यक कारण-सामग्री का अतिक्रमण करने के लिए किया जाता है ।' यह सत्य के तत्त्वों[2] को क्रमपूर्वक एक के बाद दूसरे को ग्रहण करती है और इसलिए इसका सौन्दर्य तत्त्व के बोध में कोई स्थान नहीं है ।

यह इन्द्रियबोध्य सामग्री पर क्रियाशील होती है । यह हो सकता है कि यह उन वस्तुओं का बोध भर ही प्राप्त कर ले और उसके आगे न बढ़े अथवा यह भी हो सकता है कि यह तर्क शक्ति का उपयोग करे एवं उस सामग्री के अर्थ अथवा निहितार्थ का पता लगाए जो उसको इन्द्रियज्ञान से प्राप्त हुई है । यह शक्ति स्मृति का भी उपयोग कर सकती है एवं वर्तमान इन्द्रिय-बोध्य सामग्री को अतीतकालीन अनुभवों से सम्बन्धित भी कर सकती है । यह कल्पना का भी उपयोग कर सकती है एवं आंशिक इन्द्रियजन्य

१. इंजे० भाग १–२३८ २. इंजे० भाग २–१३३

प्रतिच्छाया को प्रवर्धित कर पूर्ण सर्वांगीण प्रतिच्छाया की रचना कर सकती है। इसको कुछ नैतिक, बौद्धिक अथवा सौन्दर्यतत्त्व सम्बन्धी महत्ताओं अर्थात् सत्य, शिव तथा सुन्दर की प्रत्यभिज्ञा भी हो सकती है।

तर्कपूर्ण विवेक शक्ति (इन्द्रियबोध शक्ति से प्राप्त इन्द्रियजनित सूक्ष्म प्रतिच्छाया को यदि इसने अपनी क्रिया से विस्तीर्ण बना लिया है एवं इन्द्रियबोध्य विषय की सर्वांगीण प्रतिच्छाया की रचना अपनी कल्पना शक्ति से कर ली है) जब किसी विषय के सम्बन्ध में अपना यह अभिमत प्रकट करती है कि यह कल्याणकारी है' अथवा 'यह सत्य है' अथवा 'यह सुन्दरतापूर्ण है' उस समय भी वह उन वस्तुओं की चर्चा करती है जिनका बोध ज्ञानेन्द्रियों से होता है। परन्तु इस प्रकार के निर्णयवाक्य (Judgement) में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि निर्णयवाक्य का कर्ता इन्द्रियबोध्य जगत से सम्बन्धित है फिर भी 'सुन्दरतापूर्ण' विधेय पद को तर्कपूर्ण विवेक शक्ति आत्मलोक से ग्रहण करती है। क्योंकि यद्यपि निर्णय के इन्द्रियबोध्य पक्ष का मापदण्ड (standard) इन्द्रियबोध्य जगत में वर्तमान और इसलिए निर्णयकर्त्ता से बहिर्भूत है तथापि विधेयपद 'सुन्दरतापूर्ण' का मापदण्ड स्वयं विवेक शक्ति में ही वर्तमान है। विवेक शक्ति स्वयं अपने अन्तर में सुन्दरतापूर्ण के मापदण्ड को लिए रहती है।

प्लोटाइनस् जीवात्मा, शुद्धात्मा एवं अद्वैत के त्रिक को स्वीकार करते हैं। अभिव्यक्ति क्रम के अनुसार जीवात्मा शुद्धात्मा की अभिव्यक्ति है। अतएव वे तीन महत्ताएँ जिनको हम अपने अनुभव में जीवात्मतल को अतिक्रमण करते हुए एवं शुद्धात्मा के लोक में वर्तमान पाते हैं शुद्धात्मा से जीवात्मा पर प्रतिबिम्बित होती हैं।

इस प्रकार से विवेक शक्ति वह है जो महत्ताओं का निर्णय करती है, जिसके अन्तर में महत्ता का मापदण्ड वर्तमान है और जो उस शुद्धात्मा से प्रतिबिम्बित होती है जो इसके निकटतम रूप में ऊर्ध्वस्थ है। परन्तु यह विवेक शक्ति शुद्धात्मा तक ऊर्ध्वगामी नहीं हो सकती। इसका क्रियाक्षेत्र बहिर्भूत वस्तुओं का परीक्षण तो है परन्तु आत्मपरीक्षण करने की शक्ति इसके पास नहीं है।

प्लोटाइनस् के मतानुसार सौन्दर्य का अनुभव ऐसा कोई अनुभव नहीं है जिसको निर्णयकारी विवेक शक्ति से प्राप्त किया जा सके, क्योंकि यह उस विवेक शक्ति का यह निर्णय (judgement) नहीं है जिसमें उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध वर्तमान है। यह अनुभव सब निर्णयों से इसलिए परे है क्योंकि

इसका उद्देश्य पद विधेय पद में लीन हो जाता है। सौन्दर्य तत्व के अनुभव में अनुभव इस रूप में नहीं होता कि 'यह सुन्दर है' वरन् अनुभव का रूप यह होता है कि 'सुन्दर है'। यह अनुभव जीवात्मा के तल से परे, शुद्धात्मा के तल पर होता है।

परिच्छिन्न आत्मचेतना (Limited self-consciousness)

परिच्छिन्न आत्मचेतना[1] विवेक शक्ति से सम्बन्धित है। वह आत्मबोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह परिच्छिन्न आत्मा का विषयीकरण है। यह स्वयं अपनी परिच्छिन्न आत्मा को विषय वस्तु रूप में जानना है।

परिच्छिन्न आत्मबोध से रहित होने पर, बाह्यता के बोध से शून्य होने पर एवं विषयपरक चेतना से रहित होने पर हम उत्कृष्ट रूप क्रिया करते हैं। काव्य-रचना एक ऐसी ही क्रिया है।

परिच्छिन्न आत्म-बोध एक ऐसा अनुभव है जिसका अस्तित्व बौद्धिक शक्ति की वृद्धि पर निर्भर है। कुछ कार्यों के लिए यह हितकारी है। परन्तु मनुष्य की शुद्धात्मा की यह चरम दशा नहीं है। उस समय हम परिच्छिन्न आत्म-बोध को पीछे छोड़ देते हैं जिस समय हमारे जीवन के उत्कृष्टतम एवं अत्यन्त प्रभावशाली क्षण होते हैं अर्थात् जिस समय हम वस्तुतः किसी कार्य में संलग्न होते हैं। इसी प्रकार से अपनी ज्ञेय वस्तु से एकात्म हो जाने पर एक प्रकार के आत्मविस्मरण (Unconsciousness) की दशा उत्पन्न हो जाती है। शुद्धात्मा के उच्चतर अनुभवों में आत्मा जीवात्मतल के बोध से ऊपर उठती है यद्यपि हमको उनके अस्तित्व के विषय में उतनी ही कम शंका होती है जितनी कम शंका हमको अपने अस्तित्व के विषय में होती है। शुद्धात्मा के तल पर विचार एवं विचार के अस्तित्व का बोध अभिन्न रूप होते हैं।

६-७-८ बुद्धि, इच्छा तथा प्रेम

तीन महत्ताओं के अनुरूप आत्मा की तीन शक्तियां बुद्धि, इच्छा तथा प्रेम हैं। प्राणियों के विभिन्न वर्गों में एक जीवात्मा का स्थान[2] उन विषय वस्तुओं के आधार पर निर्धारित किया जाता है जिनके सम्बन्ध में वह इन शक्तियों का प्रयोग करती है। किसी वस्तु को मनोनीत करने में मनुष्य

---

१ इंजे० भाग १—२३६   २. इंजे० भाग २—२७

स्वतन्त्र है। यदि वह उन शक्तियों का संचालन इन्द्रियों की ओर करता है तो वह अपने को पशुत्व के तल पर गिरा देता है। परन्तु नित्य महत्ताओं (Values) की ओर आगे बढ़ना उसका अपना स्वभाव है। आत्मा का वास्तविक जीवन निःस्वार्थ अभिरुचि में जैसे कि कला एवं सौन्दर्यतत्त्व के प्रति प्रेम में है। महत्ताओं का ज्ञान[1] एवं उनके प्रति प्रेम आत्मा के मूल अनुराग हैं।

विमर्शशून्य आत्मा

विमर्शशून्य आत्मा, आत्मा का वह अंश है जो अपने को प्रलोभनों में उलझा देने के लिए सदैव तैयार रखता है। लिप्सा, आत्मलिप्तता, महत्त्वाकांक्षा एवं भय इसके स्वाभाविक लक्षण हैं। शारीरिक अस्तित्वों से उत्पन्न भ्रान्तियों में यह आत्मा उलझी रहती है। इन्द्रियबोध्य संसार के साथ इसका साक्षात् सम्पर्क है। यह आत्मा[2] सदैव सुख दुःख के विचारों में निमग्न रहती है। तीव्र भावावेशों[3] (passion) एवं भावावेगों का सम्बन्ध शरीर से है अतएव ये विमर्शशून्य आत्मा (irrational soul) से सम्बन्धित हैं।

उच्चतर एवं निम्नतर आत्मा

जीवात्मा कोई निश्चित एकस्वरूप नहीं है। इसके[4] दो अंश हैं—(१) उच्चतर एवं (२) निम्नतर। उच्चतर अंश में यह शुद्धात्मरूप है। निम्नतर अंश में यह समस्त मानसिक क्रियाओं की जननी है। अपने उच्चतर स्वरूप में इसको[5] इस बात का ज्ञान रहता है कि 'वह क्या है' एवं 'उसके अन्तर में क्या वर्तमान है'। इस रूप में यह आत्मा सत्य, शिव एवं सुन्दर का साक्षात्कार करती है जो वह स्वयं में है। अपने निम्नतर रूप में यह उसका परीक्षण करती है जो इससे बाह्य है। उच्चतर आत्मा प्रत्येक समय क्रियावान नहीं रहती है। यह आत्मा केवल उन्हीं विरल क्षणों में क्रियावान् होती है जिनमें हम वास्तविक महत्ताओं का साक्षात्कार करते हैं। जब हम शारीरिक तल पर से ऊपर उठते हैं तभी आत्मा का यह अंश क्रियावान् होता है। अपनी शक्तियों का उपयोग करने के लिए इसको शरीर की आवश्यकता नहीं होती। निम्नतर आत्मा[6] सदैव क्रियावान् रहती है। यह शरीर से युक्त होने पर ही क्रियावान् हो सकती है।

---

१. इंजे० भाग २—८३ २. इंजे० भाग १—२५६
३. इंजे० भाग १—२३९ ४. इंजे० भाग १—२१८
५. इंजे० भाग १—२३५ ६. इंजे० भाग १—२३६

प्लोटाइनस् के मतानुसार तीन ऐसे तल हैं जिन पर मनुष्य रह सकता है—(१) वह एक शुद्धरूप से बाह्यपरक जीवन व्यतीत कर सकता है। ऐसे जीवन में वह अपनी प्राकृतिक मूलप्रवृत्तियों (instinct) का अनुसरण करता है और किसी प्रकार का विचार नहीं करता। (२) वह तर्कपूर्ण विवेक शक्ति के अनुसार अपना जीवन व्यतीत कर सकता है और इस प्रकार से एक बुद्धिमान परन्तु अनाध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में जीवन-यापन कर सकता है। एवं (३) वह मनुजेतर तल पर निवास कर सकता है। वह शुद्धात्मा का जीवन व्यतीत कर सकता है।

आत्मा एक सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड (microcosm) है। तीनों प्रकारों के जीवनों को अपनाने की अव्यक्त शक्तियां इसके पास हैं। यह उन शक्तियों के चयन करने में स्वतन्त्र है जिनको यह परिपुष्ट करना चाहती है। परन्तु तर्कपूर्ण विवेक शक्ति मनुष्यत्व का लक्षण है। क्योंकि केवल इन्द्रिय-परायण जीवन मनुजेतर जीवन है एवं शुद्धात्मा के जीवन में हम लौकिक अस्तित्व की परिच्छिन्न दशाओं से ऊपर उठते हैं।

आत्मा अव्यक्त रूप में 'सर्व वस्तु' है। हमारे व्यक्तित्व की रचना इस आधार पर होती है कि उस अनन्त वैभव में से हम कितना प्राप्त कर सकते हैं जिसको हमारा दिव्य-मनुज स्वभाव अपने निगूढ़ स्थान में छिपाए हुए है।

प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक लक्षण स्वप्रयुक्त क्रियाशक्ति से निर्मित होता है। कुछ आत्माएँ शुद्धात्मा के साक्षात्कार को करने वाली क्रियाशक्तियों का उपयोग कर शुद्धात्मा के लोक के साथ अपनी एकात्मता कर लेतीं हैं। कुछ आत्माएँ तर्कपूर्ण विवेक शक्ति का उपयोग कर नैतिक, शारीरिक एवं सौन्दर्य-तत्त्व सम्बन्धी विधियों का अन्वेषण करतीं हैं। परन्तु अन्य आत्मायें ऐसी हैं जो अपनी इच्छाशक्ति का उपयोग सीमित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए करतीं हैं। जिस समय आत्मायें विविध वस्तुओं का चिन्तन करती हैं उस समय वे वही बन जाती हैं जिनका चिन्तन वे करती हैं। वे सहसा शुद्धात्मा के तल पर आरोहण नहीं कर सकतीं। निम्नतर तल वे सीढ़ियां हैं जिनकी सहायता से ऊर्ध्व तल प्राप्त होते हैं।

प्रेम[1] अथवा शारीरिक एवं प्राकृतिक सौन्दर्य का ध्यान दिव्य ज्ञप्तियों के प्रेम के तल तक आरोहण करने के लिए विधिसंगत प्रथम सोपान हैं। तीन प्रकार के मनुष्य शुद्धात्मा से एकात्म होने के सोपान की सीढ़ी पर पदार्पण

१. इन्जे० भाग २—१८७–८

किए हुए हैं। (१) दार्शनिक, (२) कलाकार अथवा कवि एवं (३) कलानुरागी व्यक्ति। बुद्धि, सौन्दर्यतत्त्व के प्रति सहृदयता एवं प्रेम तीन ऐसी क्रियाशक्तियां हैं जो उनको उनके आदर्शों अर्थात् सत्य, शिव तथा सुन्दर के साक्षात्कार को सुलभ्य बनाती हैं।

ध्यान (Contemplation)

ध्यान के स्वरूप के विषय में प्लोटाइनस् ने अपने अभिमत का प्रतिपादन शुद्धात्मा, विश्वात्मा, प्रकृति तथा मनुज–आत्मा के सम्बन्ध में एवं कर्तव्य-मीमांसाशास्त्र, धर्मशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के प्रसंगों में किया है। ध्यान का सामान्य स्वभाव[1] यह है कि यह अपने से ऊर्ध्वतर तत्त्व की ओर उन्मुख होता है तथा उस तत्त्व से अपने को पूर्ण कर लेता है। ध्यान एक प्रकार का शुद्धात्मा का साक्षात्कार है। सम्पूर्ण सृष्टि इसी ध्यान का अर्थात् अपने से ऊर्ध्वतर तत्त्व की ओर उन्मुखता का परिणाम है।

शुद्धात्मा के तल पर होने वाले जिस ध्यान को प्लोटाइनस् ने सजीवता, सत्यता एवं पूर्णता के गुणों से युक्त माना है वह शुद्धात्मा तथा शुद्धात्मा के लोक में परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया की पारस्परिक क्रीडा है।

विश्वात्मा शुद्धात्मा का ध्यान करती है और उस प्रकृति के अस्तित्व का कारण बनती है जो सविमर्श है एवं इसीलिए आत्मस्वरूप है। प्रकृति भी अपने जीवन के स्रोत की ओर उन्मुख होती है एवं भूततत्त्व के दर्पण पर शुद्धात्मा के लोक की मलिन अस्फुट प्रतिच्छायाओं की रचना करती है। इसी को हम लोग व्यावहारिक जगत कहते हैं।

प्लोटाइनस् जिस समय यह कहते हैं कि प्रकृति ध्यान करती है उस समय उनके कथन का जो अर्थ है उसको हम निम्न प्रकार से कह सकते हैं :—

गत व्याख्या से यह स्पष्ट हो चुका है कि यदि प्रकृति को सर्वांगीण रूप में देखे तो यह विश्वात्मा की सृजनशक्ति एवं विवेक शक्ति है। यह तथ्य कि प्रकृति विवेक शक्ति है इस बात का द्योतक है कि यह स्वयं ध्यानशील है। क्योंकि प्रकृति स्वयं उस विश्वात्मा की सृष्टि है जो ध्यानपरक होकर अपनी ध्यानशक्ति से उसकी रचना करती है, और इसलिए अपने सृष्टिकर्ता का विशेष गुण उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त कर प्रकृति स्वयं ध्यान करती है। परन्तु प्रकृति का ध्यान[2] मनुष्य की उस आत्मा के तर्कपूर्ण विवेक शक्ति कृत

१. इन्जे० भाग १—१६०–१ २. इंजे० भाग १—१५९

ध्यान से भिन्न है जिसमें अपने से बहिर्भूत विषय एवं अपने से अनधिकृत विषयवस्तुओं का चिन्तन खण्डरूपों में किया जाता है। प्रकृति तर्कपूर्ण नहीं वरन् ध्यानशील विवेक शक्ति है। जिसका वह ध्यान करती है वह उसके अन्तर्गत होता है। इसके ध्यान का कोई सम्बन्ध उस वस्तु से नहीं होता जो इसके बाहर है। यह 'प्रकृति ध्यान एवं ध्येय वस्तु' दोनों है। तथा इसके लिये स्वस्वरूपोपलब्धि एवं अपनी कृतियों का उत्पादन दोनों एक ही वस्तु हैं। यह वही है जिसका यह ध्यान करती है। प्रकृति में विचार (thought) तथा सत्ता (being) और इन्हीं के समान सत्ता (being) एवं उत्पादन एकरूप होते हैं। अतएव प्रकृति के प्रसंग में उत्पादन ध्यान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सृजनात्मक शक्ति एवं विवेकशक्ति को प्रकृति के दो अंश कहा गया है और यह भी कहा गया है कि विवेक शक्ति सृजनात्मक शक्ति की क्रिया की सहायक एवं निरीक्षक है—क्योंकि लोकव्यवहार में विचार तथा क्रिया के सम्बन्ध को ऐसा ही मानते हैं।

जिस प्रकार से कलाकृतियां कलाकार के ध्यान से उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार से अव्यवस्थित भूततत्व में व्यवस्था की स्थापना जिन रूपतत्वों से होती है वे प्रकृति के ध्यान से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति एवं कलाकार के ध्यान में भेद केवल इतना है कि कलाकार को एक भौतिक माध्यम[1] (medium) तथा एक निमित्तकारण की आवश्यकता पड़ती है जब कि प्रकृति, रूपतत्वों (forms) को गिरने भर ही देती है तथा उसको किसी भी निमित्त अथवा माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

विश्वात्मा की सृजनकारी शक्ति के रूप में प्रकृति सृष्टि रचने में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। सृष्टि की रचना करने में इसका अशेष नियन्त्रण वे सृजनकारी शक्तियां (logoi) करती हैं जो विमर्शपूर्ण हैं। विश्वात्मा तथा सृजनकारी शक्तियां शुद्धात्मा के ध्यान से उद्भूत होती हैं। एवं सृजनकारी शक्ति तथा विवेक शक्ति के रूप में प्रकृति उस विश्वात्मा के ध्यान से उद्भूत होती है जिसका ध्यान प्रकृति के ध्यान की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। विश्वात्मा के उच्चतर ध्यान की प्रकृति एक अस्पष्ट मलिन प्रतिच्छाया मात्र है और इसलिए इसकी कृतियां दुर्बल हैं। क्योंकि दुर्बल ध्यान दुर्बल वस्तु को उत्पन्न करता है।

मनुजात्मा एवं ध्यान

प्लोटाइनस् के दार्शनिक मत में महत्ताओं की क्रमिक दशाओं की भांति

---

१. इंजे० भाग १—१५७

ध्यानों की भी क्रमिक दशायें हैं। एक सजीव ध्यान है जो शुद्धात्मा करती है अथवा यह भी कह सकते हैं कि जो स्वयं शुद्धात्मा रूप है। एक शक्तिशाली ध्यान है जैसा कि एक कलाकार, कवि अथवा दार्शनिक का ध्यान होता है। एक ध्यान दुर्बल है जैसे कि एक शारीरिक परिश्रम करने वाले व्यक्ति का ध्यान होता है। इस प्रकार से मनुष्यजाति में ध्यान या तो शक्तिशाली होता है या दुर्बल होता है। मनुष्य के ध्यान का शक्तिशाली होना इस बात पर निर्भर है कि वह शुद्धात्मा के तल तक ऊपर उठ सके, शुद्धात्मक-यथार्थ (reality) का साक्षात्कार कर सके एवं आत्मा के शुद्धात्मक अंश का अनुभव कर सके। जितनी कम मात्रा में ध्यान[1] परमसत्य का साक्षात्कार करता है उतनी ही अधिक मात्रा में वह दुर्बल होता है।

सुन्दरता के प्रसंग में ध्यान

सौन्दर्य तत्त्व के ध्यान में हम तर्कपूर्ण विवेक शक्ति के तल से ऊपर उठते हैं। ध्यानकर्ता के भिन्न रूप का बोध हमें नहीं होता है। हम अपने को ध्येय वस्तु में निमग्न कर देते हैं। इस प्रकार से सौन्दर्य तत्त्व के ध्यान में व्यक्तित्व का पूर्ण निराकरण होता है। उद्देश्यपद विधेयपद बन जाता है। आत्मा व्यक्तित्व शून्य हो जाती है। तर्कपूर्ण विवेकशक्ति निश्चेष्ट हो जाती है। शुद्धात्मा के उस लोक पर आरोहण होता है जहाँ पर विचार एवं विचार्य्य वस्तु एकात्मरूप होते हैं। जो नित्य भेदों (eternal-varieties) का ध्यान करता है वह ध्येय वस्तु[2] से एकात्मक होता है। सौन्दर्यतत्त्व का ध्यान करने में आत्मा अपनी एकात्मता अपने उच्चतर तत्त्व की सृजनशक्ति[3] के साथ कर लेती है और उस सजीव ध्यान को करती है जो केवल शुद्धात्मा के तल पर सम्भव है एवं जिसमें किसी भी प्रकार का परिच्छिन्न आत्मबोध[4] वर्तमान नहीं होता।

कलाकार का ध्यान

प्लोटाइनस् के मतानुसार प्रकृति की सृजनात्मक शक्ति एवं कलाकार की सृजनात्मक शक्ति में सदृशता है। उदाहरणतः मोम के खिलौने बनाने वाला कलाकार[5] अपनी कृतियों की रचना मोम को साँचे में ढाल कर ऐसी सुन्दर

१. इंजे० भाग १—१६०
२. इंजे० भाग २—१९९
३. इंजे० भाग २—२१४
४. इंजे० भाग १—२३७
५. इंजे० भाग १—१५७

आकृतियों के रूपों में करता है और उनको ऐसे मुग्धकारी रङ्गों से रंगता है कि कला के सभी अनुरागी व्यक्ति उनकी प्रशंसा करते हैं। अतएव इस प्रसंग में प्रश्न यह है कि 'कलाकार को वे आकृतियां तथा रंग कहां से प्राप्त होते हैं जो वह मोम को प्रदान करता है'। प्लोटाइनस् के मतानुसार इसका उत्तर यह है कि कलाकार उनकी प्राप्ति अन्यत्र से करता है। रंग के चयन का जो नियंत्रण करता है वह प्रतिमान (model) है। यदि कलाकार अनुकरणकर्ता है तो यह प्रतिमान बाह्य संसार में बाह्यरूप में वर्तमान होता है। और यदि कलाकार प्रतिभावान है तो यह प्रतिमान ज्ञप्तिस्वरूप (ideal) होता है। कलाकार की सृजनात्मक क्रिया का नियन्त्रण बाह्य संसार स्थित प्रतिमान अथवा ज्ञप्तिस्वरूप वस्तु करती है। वह शक्ति जो कलाकार को ज्ञप्तिस्वरूप वस्तु का साक्षात्कार करने की क्षमता प्रदान करती है ध्यान है अर्थात् उच्चतर तत्व की ओर उन्मुख होना तथा उस पर अपनी दृष्टि को जमाए रखना है।

ध्यान एवं क्रिया

क्रिया के दो भेद[1] हैं—(अ) आवश्यक एवं (आ) स्वतन्त्र। आवश्यक क्रिया ध्यान को प्रधानतया वहिर्भूत वस्तुओं की ओर उन्मुख करती है। स्वतन्त्र क्रिया अपेक्षाकृत ऐसी उन्मुखता कम प्रदान करती है। आवश्यक क्रिया[2] की उत्पत्ति ध्यानशक्ति की दुर्बलता तथा परमसत्य के तल पर उठने की तज्जनित अक्षमता के कारण होती है। इस प्रकार की क्रिया ध्यान की छाया मात्र ही है। शुद्धात्मक सत्य का साक्षात्कार करने की असफलता से यह क्रिया उत्पन्न होती है। यह क्रिया आत्मा की उस उत्कट अभिलाषा से उत्पन्न होती है जो उस सत्य को शारीरिक नेत्रों से देख लेना चाहती है जिसको वह शुद्धात्मक नेत्रों से नहीं देख सकी। ऐसी दशा में क्रिया का कारण ध्यान की निर्बलता है। एवं इसका प्रयोजन क्रिया के कर्ता एवं दर्शक को सत्य का उतनी ही मात्रा में साक्षात्कार करवाना है जितनी मात्रा में वह कलाकृति के द्वारा प्रकट हो सकता है। उच्चतर तल पर उठने का अवसर इसमें नहीं मिलता।

परन्तु क्रिया सदैव ध्यान की निर्बलता[3] से ही उत्पन्न नहीं होती वरन्

---

१. इजे० भाग १—१५७ २. इंजे० भाग १—१६०

३. इंजे० भाग २—१६१

ध्यान की प्रबलता से भी उद्भूत होती है। जिस समय क्रिया की उत्पत्ति ध्यान की सबलता से होती है उस समय क्रिया उसका (ध्यान का) एक सहचारी के रूप में होती है। उस क्रिया की कृति जो ध्यान की सहचारी है उस वस्तु के ध्यान की ओर ले जाती है जो स्वयं कलाकृति में प्रदर्शित वस्तु से अधिक श्रेष्ठ है। इस प्रकार की क्रिया वह कलाकार करता है जिसकी कृतियां उच्चतर ध्यान की ओर ले जाती हैं।

स्वतन्त्र क्रिया (जैसी एक कलाकार करता है--उदाहरण के लिए एक चित्रकार चित्रांकन में करता है) के प्रसंग में ध्यान एक मानसिक क्रिया है जो ज्ञप्तिस्वरूप आदर्श का आन्तरिक साक्षात्कार करती है। इस रूप में ध्यान क्रिया[1] का निर्देशन करता है। क्रिया ध्यान का आवश्यक परिणाम है। परन्तु ध्यान क्रिया के लिए न होकर स्वयं अपने लिए होता है।

कला एवं परमार्थ सत् (Reality)

शुद्धात्मक के ध्यान की ओर ले जाने वाली एक कलाकृति कलाकार की उस क्रिया से उत्पन्न होती है जो (जैसा कि हम कह चुके हैं) स्वतः कलाकार के ध्यान की सदैव सहचरी बनी रहती है। यह कलाकृति उस सत्य का प्रतीकमूलक (symbolic) प्रतिरूप है जिसका प्रतिभाजनित साक्षात्कार (vision) कलाकार को प्राप्त होता है। यह कलाकार की प्रतिभा से साक्षात्कृत भौतिक सौन्दर्य के मूलतत्त्व को अभिव्यक्त करती है। यह कलाकृति ज्ञप्तिस्वरूप रूपतत्त्व (form) को वाह्य विषय के रूप में उपस्थित करती है।

यह कलाकृति वह रूपतत्त्व है जो उन अंशों को संगठित तथा मिश्रित करता है जो अपने दोनों पक्षों में अर्थात् अपनी सम्पूर्णता में एवं अपने अङ्गों में सुन्दरता पूर्ण हैं। यह (कलाकृति) वह है जिसको आत्मा अपना[2] सजातीय मानती है और जो आत्मा को उसके शुद्धात्मक स्वभाव का स्मरण दिलाया करती है।

कला-कृति एक भौतिक माध्यम में एक ज्ञप्ति का प्रतीकीकरण करती है (symbolises)। अतएव जितनी मात्रा में सच्चाई के साथ यह परमार्थ सत् का प्रतिरूप प्रकट करती है उतनी ही अधिक वह कलाकृति सुन्दरतापूर्ण होती है। क्योंकि जो परमार्थ सत् है वही आदर्श है और जो

---

१. इंजे० भाग २—१७९ २. इंजे० भाग २—२११

आदर्श है वही सुन्दर है। सच्चा कलाकार मूलरूप सृजनकारी शक्तियों (archetypal logoi) पर अपने प्रातिभ चक्षुओं को जमाता है और उस शुद्धात्मक शक्ति से अन्तरप्रेरणा ग्रहण करता है जो शारीरिक सौन्दर्य के रूपों का सृजन करती है। अतएव कला उस ध्यान का एक प्रकार (mode) है जो सृजन इसलिए करता है क्योंकि बिना सृजन किए हुए वह रह नहीं सकता।

कला तथा अनुकरण

प्लोटाइनस् बहिर्भूत संसार को कलाकृति का आदर्श नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार कला की एक कृति भौतिक संसार की किसी एक वस्तु का अनुकरणमात्र नहीं है जैसा कि प्लेटो ने प्रतिपादित किया था। कलाकृति उस कल्पना[1] से उद्भूत होती है जिसका कार्यक्षेत्र अनुकृति के क्षेत्र के परे विस्तृत है। क्योंकि अनुकरण केवल प्रत्यक्षणीय वस्तु की प्रतिकृति मात्र है परन्तु कल्पना शक्ति परोक्ष का चित्रांकन कर सकती है। कल्पना का क्रियाक्षेत्र अतीन्द्रिय लोक तक विस्तृत है।

गत उपप्रकरण में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्लोटाइनस् के मतानुसार कल्पना दो प्रकार की है (१) ऐन्द्रिय एवं (२) बौद्धिक। ऐन्द्रिय कल्पना से नहीं वरन् बौद्धिक कल्पना से सुन्दरतापूर्ण कलाकृतियां उत्पन्न होती हैं। बौद्धिक कल्पना[2] से ही वे प्रतिरूप (images) सृजित होते हैं जो विवेकशक्ति की उत्कृष्टतम दशा में होनेवाली वृत्तियों के प्रतिबिम्ब हैं। कलात्मक प्रतीक बौद्धिक कल्पना की इस प्रकार की रचनाओं के प्रतिरूप मात्र हैं।

प्लोटाइनस् के मतानुसार कला प्रतिरूपात्मक (representation) न होकर केवल प्रतीकात्मक है। यह कला आवश्यक रूप में उस विवेक शक्ति,[3] अर्थ अथवा ज्ञप्ति का अभिव्यक्तीकरण है जो शुद्धात्मक लोक से सम्बन्धित है। यह अभिव्यक्तीकरण इन्द्रियबोध्य भौतिक माध्यम को ऐसा रूप देने से होता है जो सौन्दर्यतत्त्व की झलक देता है। 'कुछ कलात्मक रूप दिव्य-ज्ञप्ति[4] को प्रतीक रूप में क्यों प्रकट करते हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इसका कारण यह है कि आत्मा उनमें कुछ ऐसे रूपतत्त्व अथवा अर्थ को प्राप्त करती है

---

१. इंजे० भाग २—२१५
२. इंजे० भाग १—२३२-४
३. गइंजे० भा २—२१३
४. इंजे० भाग २—२११

जिसको वह समझती है और जिससे प्रेम करती है, क्योंकि इन्द्रियग्राह्य रूपों का शुद्धात्मक ज्ञप्तियों के साथ एक प्रकार का स्वाभाविक घनिष्ठ संबंध है। सुन्दरतापूर्ण माने गए इन्द्रिय ग्राह्य रूपों की शुद्धात्मा के लोक में वर्तमान अपने मूल रूपों के साथ यथार्थ समरूपता होती है।

कला एवं चारित्रिक उत्थान

एरिस्टाटल के समान प्लोटाइनस् कला को नैतिकता (morality) का सहायक नहीं मानते हैं। प्लोटाइनस् के मतानुसार कला और नैतिकता समकक्ष हैं। क्योंकि जैसा हम कह चुके हैं कि एक ही परमसत्य का अनुसन्धान जब हम बुद्धि से करते हैं तो 'सत्य' जब इच्छाशक्ति से करते हैं तो 'शिव' एवं जब प्रेम से करते हैं तो 'सुन्दर' की उपलब्धि होती है।

सौन्दर्य तथा अंङ्गों के सौष्ठव अथवा सममिति (Symmetry)

अपने पूर्वजात सौन्दर्य के प्रतिपादकों के सौन्दर्यविषयक अभिमत का विकास प्लोटाइनस् ने इस रूप में किया था कि उन्होंने अङ्गों के सौष्ठव[1] अथवा सममिति (symmetry) को सौन्दर्य का सार नहीं स्वीकार किया है। उनके मतानुसार भूततत्त्व में रूपतत्त्व, शरीर में जीवन, जीवात्मा में शुद्धात्मा एवं वह प्रकाश जो परमेश्वर से उद्भूत होकर शुद्धात्मा के लोक में फैला हुआ है—सुन्दरता से पूर्ण हैं। यह तथ्य कि जीवन शरीर का सौन्दर्य है स्पष्ट हो जाता है यदि हम शारीरिक सौन्दर्य के विषय में अपने अनुभव का निरीक्षण करें। हमें यह अनुभव से ज्ञात है कि एक जीवित मनुष्य का मुख[2] मृत व्यक्ति के मुख से अधिक सुन्दर होता है, वह मूर्ति जो अपनी आकृति में सजीवता को प्रकट करती है उस मूर्ति से अधिक सुन्दर लगती है जो जीवनहीन एवं मलिन है। एक जीवित पशु अपने चित्र से अधिक सुन्दर है। और सुमनों, वृक्षों एवं पौधों के विषय में भी यही अनुभवसिद्ध सत्य है यद्यपि उनके चित्र चाहे जितने अधिक अंगसौष्ठव अथवा सममिति से पूर्ण हों।

जीवन के अस्तित्व अथवा जीवन के प्रकटीकरण में हमको अधिक सौन्दर्य का अनुभव इसलिए होता है, क्योंकि जीवन जीवात्मा का व्यक्त रूप है। यह जीवात्मा जितना परम कल्याण या शिव (Absolute Good) के समान है उतना भूततत्त्व के समान नहीं है। एवं यह जीवात्मा परम कल्याण के

---

१ इंजे० भाग २—२१३. २. इंजे० भाग २—१३०

प्रकाश से अनुरंजित है और इस प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण अधिक विस्तृत क्षेत्र के प्रति जागरूक है। प्राणियों के शारीरिक सौन्दर्याधिक्य का कारण वह जीवात्मा है जो उन शरीरों को चेतना देती है और इस प्रकार से उनको अधिक आकर्षक बनाती है।

प्राकृतिक एवं कलात्मक सौन्दर्य के विषय में प्लोटाइनस् का अभिमत उनके पूर्ववर्ती तद्विषयक शास्त्रकारों से साररूप में भिन्न है। प्लोटाइनस् के मतानुसार अंगसौष्ठव या सममिति एवं सामंजस्य में सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं है क्योंकि यदि हम मान लें कि सममिति तथा सामंजस्य में सौन्दर्य वर्तमान है तो केवल सम्पूर्ण ही सुन्दरतापूर्ण होगा उसके विभिन्न अङ्ग सुन्दर नहीं होंगे। पर क्या उन अङ्गों को मिलाने से सुन्दरता उद्भूत हो सकती है जो अपने में सुन्दर नहीं हैं? परन्तु यदि हम यह मान लें कि अङ्ग भी सुन्दरतापूर्ण हैं तो यह सिद्धान्त कि 'अङ्गों की सममिति तथा सामंजस्य में सौन्दर्य निहित है' खण्डित हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस मत के अनुसार स्वर्ण, सूर्य अथवा नक्षत्रों के शुद्ध रंग सुन्दर नहीं हो सकते हैं।

सौन्दर्यानुभव का साधन

सौन्दर्य चाहे प्रकृति में हो चाहे कलाकृति में हो इसके दो पक्ष होते हैं। (१) इन्द्रियबोध्य एवं (२) बुद्धिबोध्य। इन्द्रियबोध्य पक्ष का क्षेत्र दृश्यमान तथा श्रूयमाण है। क्योंकि केवल दो ज्ञानेन्द्रियां अर्थात् नेत्र तथा कान सौन्दर्य-बोधक इन्द्रियां हैं। हम गत पृष्ठों में उस प्राकृतिक एवं कलात्मक सौन्दर्य के मूलतत्त्वदार्शनिक निहितार्थों की व्याख्या कर चुके हैं जो सौन्दर्यानुभव का विषय अथवा यदि अधिक ठीक शब्दों में कहें तो सौन्दर्यानुभव का साधन होता है। हम मनुजात्मा के उस जटिल स्वभाव का भी उल्लेख कर चुके हैं जो सौन्दर्य्यानुभूति का प्रमातृ-पक्ष है। अतएव अब हम अपना ध्यान उस प्रक्रिया की व्याख्या की ओर देंगे जो सौन्दर्यानुभव की ओर ले जाती हैं।

प्रथम चरणन्यास

जिस प्रकार से नैतिक एवं पुण्यमय जीवन कल्याण (Good) का साक्षात्कार करने के लिए प्रथम चरणन्यास है उसी प्रकार से प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति प्रेम अथवा (अपनी ओर से हम इतना और मिला सकते हैं कि) कलात्मक सौन्दर्य के प्रति अनुराग सौन्दर्यतत्त्व के साक्षात्कार का आदि

चरणन्यास[1] है। सौन्दर्य तत्त्व के साक्षात्कार करने के लिए हम यथार्थतः प्रयत्नशील हैं इसकी परीक्षा इससे हो जाती है कि हम प्राकृतिक एवं काव्यात्मक सौन्दर्य से प्रेम केवल उन्हीं के लिए करते हैं—अन्य किसी ऐसे प्रयोजन की सिद्धि के लिए हम उनसे अनुराग नहीं करते जो इनके क्षेत्र से बाहर है। सुन्दरतापूर्ण के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न स्वार्थशून्य होता है। निरन्तर आक्रमण करते हुए बहिर्भूत विषय सम्बन्धी ज्ञप्तियों के उद्दाम प्रवाह से अपने अन्तःकरण को विमुख करते हुए दृश्यमान अथवा श्रूयमाण प्राकृतिक एवं काव्यात्मक सौन्दर्य पर अपने चित्त को एकाग्र करना सौन्दर्य बोध के प्रति प्रथम चरणन्यास है।

अतएव सौन्दर्य बोध की प्रक्रिया के प्रथम चरणन्यास का विशेष गुण यह है कि इस अनुभव में प्रमाता इन्द्रियसुख एवं पाशविक वासनातृप्ति की प्राप्ति के लिए साधन रूप इन्द्रियबोध्य विशेषों के प्रति अनुराग से स्वतन्त्र होता है और इसलिए वस्तु के भौतिक पक्ष के प्रति विमुख रहता है। इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि इस सौन्दर्यबोध में प्रमाता उस इच्छा से स्वतन्त्र होता है जो भूततत्त्व से किसी भी रूप में सम्बन्धित है। अतएव सौन्दर्यतत्त्वबोध को कामनाशून्य (disinterested) बोध माना गया है।

द्वितीय चरणन्यास

परन्तु वह अनुभव सत्य नहीं है जिसका सम्बन्ध एक वस्तु[2] की उस प्रतिच्छाया के साथ है जिसकी रचना अन्तःकरण में उस निम्नकोटि की क्रियाशक्ति के माध्यम से हुई है जो विकृत ही प्रतिच्छाया उत्पन्न कर सकती है। अतएव दूसरा चरणन्यास उस वस्तु के उस मूलस्वरूप[3] की ओर ऊर्ध्वगामी होने की चेष्टा है जो अखण्डता अथवा एकता का आधार है, रूपतत्त्व (form) है।

प्लोटाइनस् यह मानते हैं कि एक ही परम सत्य को जब हम विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं अर्थात् उसका साक्षात्कार बौद्धिक, नैतिक अथवा सौन्दर्यनुभव के दृष्टिकोणों से करते हैं तो हमको जो अनुभव प्राप्त होते हैं उनको हम सत्य, शिव एवं सुन्दर मानते हैं। इनका साक्षात्कार बुद्धि, इच्छा

---

१. इंजे० भाग २—१८७ २. इंजे० भाग २—१४७
३. इंजे० भाग २—८६–७

शक्ति तथा प्रेम से होता है। प्राकृतिक अथवा काव्यात्मक इन्द्रियबोध्य सौन्दर्य के प्रति निस्वार्थ प्रेम के उपरान्त अगला चरणन्यास उसको यथार्थतः समझना है। अतएव कोई भी व्यक्ति पूर्ण सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिए प्रकृति अथवा कला को यथार्थतः समझने के रूप में अगला कदम उठा सकता है। परन्तु किसी वस्तु को यथार्थतः समझने के लिए उन आधारभूत तत्त्वों को जानना आवश्यक है जो उसका नियन्त्रण एवं व्यवस्थापन करते हैं तथा उसको रूप प्रदान करते हैं। अतएव एक प्राकृतिक अथवा एक कलाकृति को समझने के लिए हमको केवल इन्द्रियमुग्धकारी क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहना है वरन् इन्द्रियबोध के तल से ऊपर उठ कर बुद्धिबोध्य तल तक पहुँचना है और उस प्राकृतिक वस्तु अथवा कलाकृति के नियन्त्रक तत्त्व को खोजना अथवा समझना है जो उसको एक अर्थ (meaning) प्रदान करता है। यही कार्य वैज्ञानिक तथा कवि करते हैं। अतएव प्रकृति एवं कला को समझने का उपाय कवियों तथा वैज्ञानिकों का उपाय है।

इस इन्द्रियबोध्य लोक में सर्वाधिक सत्य या यथार्थ (real) होने के कारण सर्वाधिक सुन्दरतापूर्ण वह है जो अपने अस्तित्व के कारणस्वरूप प्रयोजन, अर्थ अथवा तत्त्व को प्रतिबिम्बित करता है। इस पर अपने ध्यान को एकाग्र करने से, इसको इसके निकट ऊर्ध्वस्थ (पदार्थ) के साथ संबंधित रूप में देखने से हम एकमात्र उस पथ का अनुसरण करते हैं जो सुन्दरतापूर्ण का साक्षात्कार करने के लिए हमारे लिए खुला हुआ है।

सौन्दर्यतत्त्व के बोध के लिए दूसरा चरणन्यास करने के लिए दो शक्तियाँ, अर्थात् ध्यान को केन्द्रित करने की इच्छा एवं नियन्त्रक तत्त्व को खोज सकने वाली बुद्धि, आवश्यक हैं। इसमें बुद्धि एवं इच्छा का प्रबल केन्द्रीकरण[1] उस पर आवश्यक होता है जिसको खोज का परम लक्ष्य मानते हैं। इसके लिये निम्नलिखित विश्वास पूर्वमान्यता के रूप में आवश्यक हैं :—कि अन्तिम सत्य को छोड़कर बाकी सब सत्य छायामात्र हैं, कि जीवात्मा के सभी अनुभव यथार्थ को अर्धमात्रा में प्रकट एवं अर्धमात्रा में प्रच्छन्न करते हैं एवं यह कि 'सुन्दर' का बोध किसी साधन से अर्थात् भौतिक माध्यम से होता है। अतएव 'सुन्दर' के साक्षात्कार में बहिर्भूत दर्शनीय अर्थात् प्रदर्शित वस्तु के इन्द्रियबोध्यांश का निरन्तर परित्याग होता रहता है।

---

१. इंजे० भाग २—१४६

ध्यान के केन्द्रीकरण के लिये आवश्यक कर्तव्य

१. उन विक्षोभक[१] ज्ञप्तियों को दृढ़संकल्पपूर्वक अन्तःकरण में न प्रवेश करने देना जो हमारे अन्तःकरण पर निरन्तर आक्रमण करतीं हैं।

२. इन्द्रियग्राह्य विषयों की कल्पना को कठोर रूप में दमित करने के लिए और ध्यान को अडिग बनाने के लिए इच्छाशक्ति के प्रयोग के अतिरिक्त इच्छा-शक्ति को सर्वांगीण रूप में निश्चेष्ट बनाए रखना।

३. अपरिपक्व विचारों को संगठित करने की मानसिक प्रवृत्ति को रोकना। परन्तु यदि रोक के होते हुए भी इस प्रकार की संगठनाएं हो जाती हैं तो उनका नष्टीकरण।

तृतीय चरणन्यास

तर्कपूर्ण विवेक शक्ति प्रमाता को उस रूपतत्त्व तक पहुँचा तो सकती है जो अन्तर्निहित तत्व है परन्तु उसका साक्षात्कार नहीं कर सकती, क्योंकि वह (रूपतत्त्व) शुद्धात्म स्वरूप है। 'समान समान को जानता है'। अतएव शुद्धात्मक रूपतत्व को तर्कपूर्ण विवेक शक्ति किस प्रकार से जान सकती है? क्योंकि यह तर्कपूर्ण है—यह अपनी ज्ञेय वस्तु को खण्ड-खण्ड करके जानती है। परन्तु रूपतत्त्व अर्थात् 'सुन्दर' अखण्डनीय है।

बौद्धिक कल्पना की व्याख्या करते हुए हम स्पष्ट कर चुके हैं कि बौद्धिक कल्पना से संयुक्त होने पर बौद्धिक प्रेम उन प्रतिच्छायाओं की रचना करता है जो विवेक शक्ति की सर्वाधिक उत्कृष्ट दशा में होनेवाली वृत्तिओं के प्रतिबिंब हैं। हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि ये प्रतिच्छायायें शुद्धात्मक लोक के प्रति आत्मा के गमनपथ के मार्गदर्शक नक्षत्र हैं और धार्मिक एवं सौन्दर्यतत्त्व सम्बन्धी प्रतीक इस प्रकार की बौद्धिक कल्पना से कल्पित चित्रों के प्रतिरूप मात्र हैं और इनमें उच्चकोटि का सत्य वर्तमान होता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि विवेक शक्ति अपनी चरम क्रिया में हमको सौन्दर्य तत्व के बोध की ओर जाने के लिए एक पथप्रदर्शक नक्षत्र तो प्रदान कर सकती है परन्तु इसका साक्षात्कार नहीं कर सकती।

इसके अतिरिक्त विवेक शक्ति की अपनी सीमाएं हैं। इसकी क्रिया के लिये अनुकूल दशा उतनी मात्रा में प्रमाता-प्रमेय सम्बन्ध का अस्तित्व नहीं है जितनी मात्रा में आत्म तथा अनात्म के परस्पर विरोध का बोध है।

---

१. इञ्जे० भाग २—१५४

अतएव किस प्रकार से इस विवेक शक्ति को उस सौन्दर्य का साक्षात्कार हो सकता है जिसका विशेष लक्षण इस प्रकार के विरोध से शून्य होना है ?

अतएव रूपतत्त्व अथवा वास्तविक सौन्दर्य का बोध तभी सम्भव है जब हम शुद्धात्मा के समान हो जायें। अतएव आत्मा के लिए यह आवश्यक है कि केवल शरीर तथा इन्द्रियों के तल से ही नहीं वरन् स्मृति एवं विवेक शक्ति के तल से भी ऊपर उठ कर उस से अपने को मुक्त[1] किया जाय जो शुद्धात्मक नहीं है। अतएव सौन्दर्य तत्त्व के अनुभव का अन्तिम एवं तृतीय चरणन्यास विवेक शक्ति से ऊपर उठ कर शुद्धात्मा के तल पर पहुँचना है।

जिस समय जीवात्मा शुद्धात्मा के तल पर पहुँचती है उस समय उसके परिमित सम्बन्धों का स्थान पूर्ण तादात्म्य ले लेता है। और उसकी शक्तियां इस रूप में परिवर्तित हो जाती हैं कि उनका स्वरूप नित्य लोक की नित्य दशाओं के अनुकूल बन जाता है। उस समय यह तर्कपूर्ण विवेक शक्ति एवं स्मृति से स्वतन्त्र होती है क्योंकि शुद्धात्मा का लोक देश काल के परिच्छेदों से मुक्त है। इस दशा में वह शान्ति तथा विश्रान्ति लाभ करती है। परन्तु इसकी शान्त दशा कोई जड़ता की दशा नहीं है वरन् निरन्तर क्रियाशीलता की एक अवस्था है और इसकी विश्रान्ति-दशा अबाध शक्ति है। युक्तिचिन्तन[2] के स्थान पर सजीव ध्यान अधिष्ठित हो जाता है और स्मृति का स्थान अनुचिन्तना (recollection) ले लेती है। संक्षोभ और स्वतन्त्र क्रिया एवं विश्रान्ति और गति में जो परस्पर विरोध है उसका अतिक्रमण हो जाता है।

इस प्रकार से हमको यह ज्ञात होता है कि उच्चतर प्रकार का ध्यान अर्थात् सजीव ध्यान एवं अनुचिन्तना वे दो उच्चतर शक्तियां हैं जो सौन्दर्यानुभव के विधायक सुन्दरतापूर्ण के साक्षात्कार एवं उससे तादात्म्य की ओर ले जाने वाले अन्तिम तथा तृतीय चरण न्यास के लिए आवश्यक हैं। एक गत उपप्रकरण में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अनुचिन्तना स्मृति से भिन्न है एवं स्मृति मनुष्येतर पशुओं में भी पाई जाती है जब कि अनुचिन्तना केवल मनुष्य जाति में ही उपलब्ध है। हम यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि यह अनुचिन्तना उन विचारों (Notions) को यथार्थ रूप प्रदान करती है जो आत्मा में नैसर्गिक संस्कार के रूप में वर्तमान हैं। इसके साथ हमने यह भी स्पष्ट किया है कि इस अनुचिन्तना का काम संस्कार रूप में वर्तमान विचारों (Notions) का साक्षात्कार करना है। अनुचिन्तना में आत्मा परिमित आत्म-बोध के तल

---

१. इंजे० भाग २—१३३ २. इंजे० भाग २—८८

से ऊपर उठती है एवं कवि के समान व्यक्ति का वह सशक्त ध्यान जिसका विषय विवेक शक्ति की सर्वोत्कृष्ट दशा में होने वाली वृत्ति का प्रतिबिम्ब होता है उस अनुचिन्तना को पाने का एकमात्र उपाय है।

अतएव जिस समय जीवात्मा उस सशक्त ध्यान से विवेक शक्ति के तल से ऊपर ऊठती है जिसका विषय विवेक शक्ति की सर्वोत्कृष्ट दशा में होनेवाली वृत्ति का प्रतिबिंब है और सुदूर परे की ओर देखती है उस समय अनुचिन्तना की शक्ति कार्य करने के लिए जाग्रत होती है एवं जीवात्मा में निसर्गतः विद्यमान 'सुन्दर' ज्ञप्ति तथा जीवात्मा के शुद्धात्मक स्वभाव का साक्षात्कार करती है। इसके पश्चात् सशक्त ध्यान के स्थान पर वह सजीव ध्यान अधिष्ठित हो जाता है जिसमें शुद्धात्मा एवं ज्ञप्ति में परस्पर क्रियाप्रतिक्रिया होती है और इसलिए दोनों में तादात्म्य हो जाता है।

इस प्रकार से शरीरिक एवं बौद्धिक तल से ऊपर उठकर जीवात्मा शुद्धात्मा के तल पर पहुँचती है। अतएव यह उन इन्द्रियबोधों, भावों एवं भावावेगों से स्वतन्त्र होती है जो भौतिक तल से सम्बन्धित हैं। यह उन स्मृति, कल्पना, अभिमत (opinion) तथा परिमित आत्मबोध से भी मुक्त होती है जो बौद्धिक तल से सम्बन्धित हैं।

सौन्दर्यानुभव

सुन्दरतापूर्ण का ध्यान करने में आत्मा अपना तादात्म्य[1] अपने से उच्चतर विधायक तत्त्व की रूप-रचनात्मक क्रिया (formative activity) के साथ करती है। यह आत्मा उन तुच्छ स्वार्थों का त्याग करती है जो भ्रष्टता के परिधान हैं। यह आत्मा अपने को विरुद्ध स्वभाव की वस्तुओं से मुक्त करके शुद्धात्मा के तल पर उठ जाती है। अतः वह प्रतिभावान व्यक्ति से भौतिक माध्यम के छद्मवेश में प्रदर्शित ज्ञप्ति की प्रत्यभिज्ञा करने में सक्षम हो जाती है। सौन्दर्यानुभव एक प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभव है। इस अनुभव का स्वरूप स्वयं ज्ञप्ति का उसके प्रतिबिम्ब में प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभव एवं तत्काल ही शुद्धात्मक जीवन में प्रवेश करना है।

सौन्दर्यानुभव का प्रत्यभिज्ञात्मक स्वरूप

प्लोटाइनस् ने इस यूनानी दार्शनिक सिद्धान्त को अपनाया था कि 'समान समान को जानता है।' अतएव 'सुन्दर' शुद्धात्मक होने के कारण

---

१. इंजे० भाग २—२१४

केवल शुद्धात्मा से ही ज्ञेय है। यह हम लिख आए हैं कि प्लोटाइनस् के दार्शनिक मत में जीवात्मा अपने मूल रूप में शुद्धात्मा है यद्यपि उसका यह सारतत्त्व जीवात्मा के निम्नांश अर्थात् प्राणमय आत्मा से अस्फुट तथा मलिन कर दिया जाता है। अतएव शुद्धात्मक ज्ञप्तियां जीवात्मा के लिए पूर्ण रूप से अज्ञेय नहीं हैं। हम यह भी लिख आये हैं कि प्रत्यभिज्ञा की प्रक्रिया में स्मृति एक आवश्यक तत्त्व है एवं प्रत्यभिज्ञा के लिये यह आवश्यक है कि ज्ञेय वस्तु उसी प्रकार से अपूर्ण रूप से आच्छादित हो जैसे कि छद्मवेश में कोई मनुष्य होता है।

जिस समय जीवात्मा एक उस कलाकृति पर अपने सशक्त-ध्यान के बल से तर्कपूर्ण बुद्धितत्त्व अथवा विवेक शक्ति के तल से ऊपर उठती है जो परमोच्च शुद्धात्म रूपतत्त्व अथवा ज्ञप्ति का भौतिक माध्यम में प्रतीकीकरण करती है उस समय उस जीवात्मा की विवेक शक्ति के स्थान पर अलौकिक प्रत्यक्ष एवं स्मृति के स्थान पर अनुचिन्तना अधिष्ठित हो जाती है। इसका उल्लेख हम गतपृष्ठों में कर चुके हैं। ऐसे समय में यह जीवात्मा अपने प्रति उन्मुख होती है एवं उस सर्वोच्च शुद्धात्मक रूपतत्त्व की अनुचिन्तना करती है जिससे वर्तमान सुन्दरतापूर्ण भौतिक वस्तु समरूप है और वह आत्मा भौतिक आच्छादन से प्रच्छन्न शुद्धात्मक रूपतत्त्व की प्रत्यभिज्ञा[1] करने के लिए सशक्त हो जाती है। अतएव सौन्दर्यानुभव एक प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभव है क्योंकि इसका स्वरूप भौतिक परिधान से आच्छादित रूपतत्त्व की प्रत्यभिज्ञा है। यह अनुभव उस मूलरूप की प्रत्यभिज्ञा है जो भूततत्त्व में अपूर्ण रूप से दर्शित है।

१. इंजे भाग २—२१६

अध्याय ६

ईसवीय संवत्सर के आदि काल, मध्यकाल के युगों एवं पुनर्जागरण काल में स्वतन्त्रकला शास्त्रीय विचार धाराएं

ईसवीय संवत्सर के आदि काल, मध्य काल के युगों एवं पुनर्जागरण काल के शास्त्रकारों का महत्त्व

ईसवीय संवत्सर के आदि काल में, मध्यकाल के युगों में तथा पुनर्जागरण काल में कला सम्बन्धी कुछ नई समस्याओं का एवं नई परिस्थितियों में पुरातन समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा की गई। ये समस्यायें तुलनात्मक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हैं।

(१) इस युग के शास्त्रकारों की चिन्तना को जो समस्यायें अपनी ओर आकर्षित कर रहीं थीं उनमें से एक समस्या यह थी 'कलाकृति सत्य है या मिथ्या ?' सेंट आगस्टीन ने कलागत मिथ्या एवं व्यावहारिक जगतगत के मिथ्या में भेद को स्पष्ट किया था। भारतवर्ष में भी श्री शंकुक[1] ने यह स्पष्ट किया था कि कलाकृति में प्रदर्शित वस्तु को रूढ़ अर्थ में सत्य अथवा मिथ्या स्वप्न अथवा प्रतिबिंब नहीं कह सकते हैं।

(२) दूसरी समस्या जो इस युग में प्रधान थी वह यह थी कि वह कौन सा तत्त्व है जिस पर 'अखण्डनीयता आश्रित है ?' इस समस्या के समाधान में यह माना गया कि एक कलाकृति में 'भावतत्त्व' अखण्डनीयता का या एकता (unity) का आधार है। भारतवर्ष में भरतमुनि[2] ने स्थायी भाव को कलाकृति की अखण्डनीयता का आधारभूत तत्त्व माना था।

(३) तीसरी समस्या प्रतिभा (genius) का तात्त्विक स्वरूप था। और यह मानते थे कि कलासृजनकारी प्रतिभा ईश्वर अथवा प्रकृति प्रदत्त विशेष शक्ति है—इसको ज्ञानार्जन एवं अनुभव से और भी अधिक प्रखर बनाया जा सकता है परन्तु ज्ञानार्जन एवं अनुभव स्वयं प्रतिभा का स्थान नहीं ले सकते हैं। आनन्दवर्धन[3] ने भारतवर्ष में प्रतिभा के जिस तात्त्विक स्वरूप का

१. स्व० क० शा० भाग १—५१–५२ *२. ना० शा० ८१

*३. ध्व० लो० २९ तथा स्व० क० शा० भाग १—१५१

प्रतिपादन किया था वह बहुत अंशों में यूरोप के पुनर्जागरण युग के शास्त्रकारों से प्रतिपादित प्रतिभा के तात्त्विक स्वरूप से मिलता जुलता है।

(४) पुनर्जागरण काल के उत्तरभाग में शास्त्रकारों ने कलाकार की बौद्धिक क्षमता को प्रधान माना। और भारतवर्ष में भी मम्मट जैसे काव्य लक्षणकारों ने काव्यरचना के अनेक हेतुओं में से इसको (बौद्धिक क्षमता को) एक हेतु स्वीकार किया था (निपुणता काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्)

ईसा युग के आदि भाग में स्वतन्त्रकलाशास्त्र

यह वह युग था जिसमें कला के विरुद्ध प्लेटो से उठाई गई दो आपत्तियां प्रतिध्वनित हुई थीं। अभिनेता प्रतिष्ठा विहीन हो गया था क्योंकि उसके विषय में लोकधारणा यह थी कि वह परकीय उच्चारण, लिंग एवं आयु का अनुकरण करता है। वह मिथ्या प्रेम एवं मिथ्या घृणा का प्रदर्शन करता है, उसके निश्वास एवं आंसू मिथ्या होते हैं। लोग यह भी मानने लगे थे कि नाट्यप्रदर्शन दर्शकों को चरित्रहीन बनाते हैं।

परन्तु यत्र तत्र विकीर्ण कथन[1] ऐसे प्राप्त होते हैं जो कलाओं एवं सौन्दर्य का समर्थन करते हैं। ये कथन उन शास्त्रकारों के हैं जिनको प्राचीन साहित्य एवं दर्शनशास्त्र का ज्ञान था। इस प्रकार से ईसवीय संवत्सर के आदि भाग में एवं मध्य युगों में तुलनात्मक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हमको केवल दो शास्त्रकार ही उपलब्ध होते हैं। ये शास्त्रकार सेंट आगस्टीन तथा सेंट थामस हैं। सेंट आगस्टीन का महत्त्व इस बात में है कि कलागत मिथ्यात्व के विषय में उनका अपना एक विशेष अभिमत था। और उन्होंने कला के लोक में 'कुरूप' को एक स्थान दिया था। सेंट थामस का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने कलानुभावक इन्द्रियाँ एवं कलानुभव में इच्छाओं की निश्चेष्टता के विषय में अपने विशेष अभिमतों का प्रतिपादन किया है। क्योंकि कलाशास्त्रीय समस्या के ये वे पक्ष हैं जिनकी व्याख्या भारतीय कलाशास्त्रज्ञों ने की है।

सेंट आगस्टीनकृत काव्य की प्रतिरक्षा

सेंट आगस्टीन[2] (३५३–४३० ई०) ने काव्यगत 'मिथ्या' एवं रंगमंचगत 'भ्रान्ति' का समर्थन परम्परा के आधार पर किया है क्योंकि परम्परा यह मानती थी कि एक अभिनेता को एक सच्चा अभिनेता होने के लिए 'मिथ्या' व्यक्ति भ्रान्तिजनक व्यक्ति बनना आवश्यक है।

---

१. गिल० १२५ २ गिल०–१६७

उन्होंने काव्यगत 'मिथ्या' या कल्पित कथा में एक प्रकार का सत्य देखा था। उनके मतानुसार मिथ्या[1] वह है जो छाद्मिक हो एवं वह बनने की चेष्टा करता हो जो वह नहीं है। वे 'मिथ्या' के दो भेद करते हैं—

(१) प्रकृतिजनित छल।

(२) सजीव प्राणियों से जनित छल।

दूसरे प्रकार के छल को वे दो उपवर्गों में विभाजित करते हैं—

(अ) व्यावहारिक एवं विचारपूर्वक छल।

(आ) केवल विनोदार्थ छल।

काव्यात्मक अथवा कलात्मक छल को वे अन्तिम उपवर्ग में गिनते हैं। अतएव उनके मतानुसार कवि असत्यभाषी नहीं है क्योंकि किसी को छलना उसका लक्ष्य नहीं होता। ऐतिहासिक वस्तु का स्वतन्त्र प्रतिपादन, किंचित् परिवर्तन कर काव्यीकरण, विषय वस्तु के महत्त्व को क्षीण नहीं करता।

कला में कुरूप का स्थान

सेंट आगस्टीन कला में कुरूप को भी स्थान देते हैं। वे सुन्दरतापूर्ण[2] में कुरूपता को एक गौण स्थान प्रदान करते हैं। अपने भेद के कारण कुरूपता सौन्दर्य को प्रमुख बनाने में सहायक होती है एवं यदि उसको (कुरूपता को) सौन्दर्य के साथ ठीक तथा उचित सम्बन्ध में रखा जाय तो उसकी (सौन्दर्य की) प्रभावशालिता को बढ़ाने में योगदान करती है।

काव्य का लक्ष्य

उनके मतानुसार व्याख्यान कला (eloquence) की भाँति काव्य कला का लक्ष्य द्रवित करना और उत्तेजित करना है। काव्यकृति आलसी को कार्योद्यतता एवं मन्द को उत्प्रेरणा प्रदान करती है।

सेंट थामस के मतानुसार कलाकृति में आकर्षण का कारण

सेंट थामस (१२२७–१२७४ ई०) कलाकृति में आकर्षण[3] के कारण के विषय में प्लोटाइनस् के मत से प्रभावित हुए थे। प्लोटाइनस् की भांति वे यह मानते थे कि समता (affinity) ही, अर्थात् प्रेक्षक और प्रेक्षणीय के बीच वह साम्य ही जो कलाजनित अनुभव के समय में स्पष्ट हो जाता है, कलाकृति के आकर्षण का कारण है। परन्तु वे यह मानते हैं कि यह समता

१. गिल०–१२५ २. बोसा०–१३४ ३. बोसा०-१४७

प्रत्यक्षतः इन्द्रियों और विषय के बीच ही है। उनके मतानुसार इन्द्रियां सामंजस्यपूर्ण एवं अंगसौष्ठव से युक्त वस्तुओं पर इसलिए मोहित होती हैं क्योंकि ऐसे विषयों का इन्द्रियों से साम्य होता है।

सौन्दर्यानुभव में इच्छा

वे यह प्रतिपादित करते हैं कि सौन्दर्यानुभव में इच्छाशक्ति[1] निश्चेष्ट हो जाती है। परन्तु इसको उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट रूप में नहीं कहा है। लेकिन उनके कथन का अर्थ यह ज्ञात होता है कि यह शान्त दशा इन्द्रियों एवं बोधशक्ति की परितृप्ति से उद्भूत होती है क्योंकि उनके मतानुसार सौन्दर्य-बोध का साधन नयनेन्द्रिय एवं कर्णेन्द्रिय विशेष रूप से हैं तथा बोधशक्ति सामान्य रूप से है।

सौन्दर्यबोधक इन्द्रियां

नेत्रेन्द्रिय एवं कर्णेन्द्रिय दो ही सौन्दर्यबोधक इन्द्रियां हैं क्योंकि वे बुद्धि के महानतर साधन हैं एवं स्वादग्राही रसनेन्द्रिय गंधग्राही घ्राणेन्द्रिय से अधिक प्रत्यक्षकारी हैं। चक्षु और श्रवण इन्द्रियां बाह्य सत्य पदार्थ (reality) से कलाकृति के भेद को अधिक स्पष्ट जानती हैं। घ्राणेन्द्रिय एवं रसनेन्द्रिय इस भेद को इतना नहीं जानती हैं। बाह्य सत्य पदार्थ ही इच्छा को उत्पन्न करता है। कान एवं आंख रसनेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय की तुलना में आकृतिगत सम्पूर्णता (structural whole) को ग्रहण करने में अधिक सक्षम हैं।

सौन्दर्यतत्त्व की परिभाषा

सेंट थामस् के मतानुसार और यदि अधिक ठीक रूप में कहें तो मध्ययुगीन बुद्धिप्रधान सौन्दर्यतत्त्वशास्त्र के मतानुसार सौन्दर्य[2] बुद्धितत्त्व (reason) का इन्द्रियबोध्य रूप में प्रकटीकरण है। 'सौन्दर्य' की यह परिभाषा उन प्लोटाइनस् के मत से प्रभावित ज्ञात होती है जो यह मानते थे कि बौद्धिक कल्पना बौद्धिक प्रेम के सहयोग से उन प्रतिच्छायाओं का सृजन करती है जो बुद्धि तत्त्व की उत्कृष्ट दशा में होनेवाली वृत्तियों के प्रतिबिम्ब स्वरूप होते हैं एवं कलाकृत्ति तथा अन्य प्रतीक बौद्धिककल्पना की इस प्रकार की रचनाओं के प्रतिरूप (representation) मात्र होते हैं।

---

१. बोसा०—१४८ २. बोसा०—१४९

पुनर्जागरण युग में सौन्दर्यशास्त्र

पुनर्जागरण[1] के ही युग में यह सम्भव हो सका कि वैराग्यप्रधान (ascetic) मध्ययुगों से दमित सौन्दर्यतत्त्व सम्बन्धी चेतना मानवजाति को फिर से प्रदान की जाय। परन्तु पुनर्जागरण युग में शास्त्रकारों की बुद्धि कलाविषयक यूनानी सिद्धान्तों से अभिभूत थी। इस युग के शास्त्रकारों के सामने निम्नलिखित समस्याएँ प्रधान रूप से थीं—

१. कलाकृतियों को उत्पन्न करने के साधन कौन-कौन से हैं? वे कौन से उपाय हैं जिनका उपयोग किया जाता है और वह कौन सी बौद्धिक क्षमतायें हैं जो सौन्दर्यतत्त्व सम्बन्धी आनन्द देने की सामर्थ्य से परिपूर्ण कलाकृतियों की सृष्टि करने के लिए आवश्यक हैं?

२. कला का लक्ष्य क्या है? कला का उद्देश्य अपने अनुरागियों का चारित्रिक उत्थान है अथवा उसका एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियों को सुखी करना ही है?

३. कलाकृति के विशेष गुण कौन-कौन से हैं?

४. कलाकृति क्या प्रदर्शित करती है? क्या कलाकृति 'सत्य' अथवा 'मिथ्या' को प्रदर्शित करती है? क्या कला छल अथवा भ्रान्ति है? क्या कलाकृति प्राकृतिक वस्तु अथवा ज्ञप्तिरूप आदर्श (ideal) को प्रदर्शित करती है?

५. सौन्दर्य की कसौटी क्या है?

कलाकृति की उत्पत्ति के साधन के रूप में अनुकरण एवं कल्पना

पुनर्जागरण युग के आदिकाल में शास्त्रकारों ने अनुकरण के सिद्धान्त की व्याख्या मानवीय बुद्धि के उस अंश से सम्बन्धित रूप में की थी जो अनुकरणमूलक कलाकृतियों की रचना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उनकी गवेषणा से सिद्ध यह हुआ कि बुद्धि का इस प्रकार का अंश कल्पना की शक्ति थी। इस अन्वेषण के मार्ग की रचना मध्ययुगों के शास्त्रकार कर चुके थे।

मध्यकालीन शास्त्रकारों के लिए प्रकृति, जिसे वे 'सजीव ग्रन्थ' (living book) कहते थे, एक ऐसा दर्पण[2] था जो ईश्वर की पूर्णता को प्रतिबिम्बित करता था। इस प्रकृति को शास्त्रकार सर्वोत्कृष्ट ज्ञान को यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित करने वाला एक रहस्यमय दर्पण मानते थे—और 'लिखी हुई पुस्तक', 'पवित्र बाइबिल' के विषय में भी यही मत था। पुनर्जागरण के युग

---

१. गिल०—१६२ २. गिल०—१६३

में दर्पण की उपमिति को धार्मिक भावों से मुक्त किया गया और काव्य तथा कला के प्रसङ्ग में उसका उपयोग किया गया। पुनर्जागरण युग के चिन्तकों ने दर्पण की उपमिति का प्रयोग चित्र एवं काव्य जैसी कलाओं का कर्तव्य क्या है यह स्पष्ट करने के लिए किया था। पुनर्जागरण युग के आदिकालीन शास्त्रकारों ने यह प्रतिपादित किया था कि कला वह दर्पण है जो सचाई के साथ सामान्य जीवन तथा प्रकृति को प्रतिबिम्बित करता है। दर्पण की उपमिति का उपयोग उस कलाकार[1] का पथप्रदर्शन करने के लिए किया गया था जिसके मन के विषय में यह विश्वास करते थे कि उस पर प्रकृति का प्रतिबिम्ब सचाई के साथ पड़ता है। बाह्य प्रकृति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की मानसिक शक्ति को परवर्ती समय में कलात्मक कल्पना (artistic imagination) कहने लगे थे।

पुनर्जागरण युग के आदिकालीन शास्त्रकारों ने कला के प्रसङ्ग में प्रतिबिम्ब-वाद के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वह प्लेटो के सिद्धान्त से साररूप में भिन्न नहीं था। परन्तु उस समय में उसको स्वीकार करने के योग्य इसलिए समझा गया क्योंकि उस समय यह विश्वास नहीं करते थे (जैसा प्लेटो ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है) कि प्रकृति का लोक भूततत्त्व के विकारकारी माध्यम में ज्ञप्तियों के लोक का प्रतिबिम्ब मात्र है वरन् यह विश्वास करते थे कि प्रकृति वह दर्पण है जो ईश्वर की पूर्णता को प्रतिबिम्बित करता है।

मानवीय नूतन कल्पना के रूप में कला

परन्तु पुनर्जागरण के उत्तरकालीन शास्त्रकारों के लिए कलाकृति एक बहिर्भूत वस्तु की मानसिक प्रतिच्छाया की केवल एक प्रतिकृति मात्र ही नहीं होती थी। वे कलाकृति को अनुकरण मूलक न मानकर नूतन कल्पना (invention) मूलक मानते थे। वे यह भी नहीं मानते थे कि कलाकृति ईश्वर प्रदत्त[2] शक्ति से उत्पन्न होती है। उनका मत यह था कि सुन्दरतापूर्ण कलाकृति का हेतु मनुष्य की चयनशक्ति एवं प्रकृति के रमणीयतम एवं उत्कृष्ट रूपों में से सर्वाधिक कान्तिमान अंशों को उद्ग्रहण (choice) करने का सङ्कल्प है।

इस नूतन कल्पना (invention) के लिए प्रथम चरण न्यास, प्रारम्भिक कर्तव्य, प्रकृति के अपार वैभव में से चयन करना था। अर्थात् एक परिस्थिति में विशिष्ट मानवीय शक्ति के साथ प्रवेश कर अनुभूत विषयों में से उन कुछ विषयों का उद्ग्रहण करना था जो मानवता के स्वाभाविक कुछ गुणों को

---

१. गिल०—१६४ २. गिल०—१८६

प्रकट करने के लिये सर्वाधिक उपयोगी हैं। इसके पश्चात् दूसरा चरण न्यास यह था कि उद्ग्रहीत विषयों को सामंजस्यपूर्ण रूप में संग्रथित किया जाय जिससे कि उस कलाकृति में मानव जीवन के उस अंश को सुन्दरतापूर्वक अङ्कित किया जा सके जिसको प्रकट करना कलाकार का लक्ष्य है। यह सिद्धान्त साक्रेटीज के 'उत्कृष्टांश के अनुकरण' सिद्धान्त की प्रतिध्वनि जैसा ज्ञात होता है।

अखण्डताजनक तत्त्व के रूप में भाव

यदि कलात्मक नूतन कल्पना एक सामंजस्यपूर्ण वह संगठन है जिसमें सभी अङ्ग परस्पर सुसम्बन्धित हैं तथा अखण्ड काल्पनिक चित्र में सुव्यवस्थित हैं तो प्रश्न यह उठता है कि 'अखण्डताजनक तत्त्व क्या है ?' और इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह तत्त्व, वह [1]भाव, ही है जिसको दर्शक में जाग्रत करना मुख्य रूप से कलाकार का लक्ष्य है। यह भाव ही पूर्ण काल्पनिक चित्र के विभिन्न भागों को एकताबद्ध करने में उपयोगी है। प्रत्येक अङ्ग का कार्य एक भावात्मक प्रभाव (emotional effect) को उत्पन्न करने में अपना योगदान करना है।

मानव सृष्टि के रूप में कला

पुनर्जागरण के शास्त्रकारों के अनुसार कलाकार की नूतन कल्पना का अर्थ पूर्वकाल से वर्तमान वस्तु का सर्वाङ्गीण साक्षात्कार कर उसे वैसा ही प्रदर्शित करना न था वरन् इसका अर्थ यह था कि प्राकृतिक वस्तुओं में से सामग्री का उद्ग्रहण कर एक ऐसी मानसिक प्रतिच्छाया की रचना केवल[2] मानवीय शक्ति से करना जो प्रत्येक भौतिक वस्तु से अधिक सुन्दर है।

पुनर्जागरण के शास्त्रकार कलापूर्ण[3] होने का अर्थ यह मानते थे कि यह वह है जिसकी नूतन कल्पना में कलाकार परिश्रम करता है एवं अपनी उस प्रतिभा का पूर्णरूप से उपयोग करता है जो ज्ञानार्जन तथा बौद्धिक पृष्ठभूमि से उद्भूत होती है। इस कलाकृति में प्रतिभाशक्तिजनित ऐसी सूक्ष्मता वर्तमान होती है जिसको सामान्य बुद्धि पूर्णतया हृदयङ्गम नहीं कर सकती है।

अतएव कलाकार की बौद्धिक पृष्ठभूमि का स्वरूप ऐसा था जिसके अनुसार कलाकार को दार्शनिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान-शाखाओं से यथासम्भव अधिक मात्रा में परिचित होना आवश्यक था। कलाकार के लिए यह भी आवश्यक था कि उसको अपने पूर्व कलाकारों की कृतियों का ज्ञान पूर्णतया

---

१. गिल०—१३७ २. गिल०—१८६ ३. गिल०—१७१

हो। बौद्धिक पृष्ठभूमि के इसी स्वरूप के कारण कवि को सामान्य श्रमिकों के पद से उठाकर दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों के समकक्ष पद पर प्रतिष्ठित किया गया था।

कलाकृति से उद्भूत सुख का बौद्धिक स्वभाव

पुनर्जागरणयुगीन साल‌ङ्कार[1] तथा अन्यापदेशिक (allegorical) कलाकृतियों को सुखद इसलिए मानते थे क्योंकि विद्वानों की बुद्धि को उसके गूढ़ सत्य को समझने के लिए चेष्टावान होना पड़ता था। इसके अनुसार कलाकृतिजनित सुख का कारण कलाकार के भाव को समझने में [2]कठिनताओं पर विजय प्राप्त करने का बोध था। कला की मर्मज्ञता का अर्थ कठिनाइयों को पारकर कलाकार के भाव को समझना ही था। इस बात में पुनर्जागरण के शास्त्रकार डेकार्ट के मत के पूर्वप्रतिपादक थे।

पुनर्जागरण काल की देन

पुनर्जागरण[3] का युग प्राचीन कलाविषयक सिद्धान्तों के प्रति लगभग धार्मिक श्रद्धा का युग था। परन्तु ये सिद्धान्त केवल बौद्धिक ही थे। इसलिए इनका बौद्धिक परीक्षण किया गया था। यह वह युग था जिस समय सभी प्रामाणिक कथनों को चाहे वे जितने महान् तथा गौरवपूर्ण हों मनुष्य के अपने विवेकपूर्ण निर्णय से कम प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण माना जाता था। पुनर्जागरणयुगीन बुद्धि की दो विलक्षणताएँ थीं—(१) प्राचीन सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा का भाव। (२) मानवीय विवेक शक्ति की स्वतन्त्रता का बोध। इन्हीं विलक्षणताओं के कारण प्रमाणिक वाक्यों की विविध टीकाएँ इस युग में की गईं। एवं ये ही टीकायें पुनर्जागरण युग की मानवीय विचार को सच्ची देन हैं।

अनुकृति एवं अत्यन्त सादृश्यपूर्ण चित्रण

पुनर्जागरणयुगीन प्रकृतिवाद (naturalism) का अर्थ प्रकृति का अन्धानुकरण नहीं है। इसका अर्थ था 'चिन्तनाप्रधान शास्त्र (speculative philosophy) के अनुकूल प्रकृति का निर्दोष चित्रण'। प्रकृतिवाद[4] में स्मृति से लेकर ध्यान तक की सभी मानसिक क्रियायें आवश्यक मानी जाती थीं। इस प्रकृतिवाद में कलाकृति के दो आदर्शभूत उद्देश्यों—प्रकृति का अनुसरण

१. गिल०—१६७ २. गिल०—१७१

३. गिल०—१९४ ४. गिल०—१७६

एवं सामंजस्यपूर्ण रूपरेखा की रचना (harmonious design) का सम्मिश्रण था। इस मत के अनुसार प्रत्यक्षीकृत इन्द्रियबोध्य विषयों के चित्रण में गणितशास्त्रीय एवं शरीरव्यवच्छेद विद्या (anatomy) के नियमों का परिपालन अनिवार्य था। इस मत ने प्रत्यक्षदृष्ट प्राकृतिक विषयों को कलाकृतियों में प्रदर्शित करने के लिए यथादर्शन चित्रालेखनकला (perspective) शरीर-व्यवच्छेदविद्या (anatomy) एवं मनोविज्ञान जैसी विशेष ज्ञान-शाखाओं का उपयोग किया और मानों अपरा प्रकृति को जन्म दिया। काव्य के क्षेत्र में इसका पथप्रदर्शन एरिस्टाटलकृत 'पोयटिक्स'[1] एवं होरेस के ग्रन्थों ने किया था एवं इसी के समान चित्रकला के क्षेत्र में गणितशास्त्र आदि अन्य शास्त्र उसका पथप्रदर्शन करते थे। अतएव इस मत के अनुसार अनुकरण का अर्थ अत्यन्त सादृश्यपूर्ण चित्रण (verisimilitude) हो गया था।

इस युक्तिप्रधान प्रकृतिवाद के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से कला के क्षेत्र में सौन्दर्य के हेतु[2] के विषय में पूर्वमत भी परिवर्तित हो गया। इस युग में यह नहीं मानते थे कि कलात्मक सौन्दर्य का हेतु 'ईश्वर प्रदत्त कोई शक्ति है।' इसके विपरीत शास्त्रकार यह मानते थे कि इसका हेतु मनुष्य की विवेकपूर्ण चयन-शक्ति एवं सामंजस्यीकरण सामर्थ्य है। आचार के सम्बन्ध में नहीं वरन् सौन्दर्य के सम्बन्ध में मानवीय इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता को उत्कृष्ट कलाकृति के निर्माण के लिए आवश्यक मूलाधार मानते थे। इस सिद्धान्त के अनुकूल प्रतिभाविषयक पूर्व अभिमत परिवर्तित हो गया था।

प्रतिभा के विषय में ड्यूरेर का अभिमत

इस प्रकार से हमको यह ज्ञात होता है कि प्रतिभा के विषय में ड्यूरेर (१४७१–१५२८) का अभिमत कलात्मक सौन्दर्य के हेतु के विषय में दो मतों का समन्वय है। ये दो मत निम्नलिखित हैं (१) ईश्वर प्रदत्त शक्ति एवं (२) वैज्ञानिक नियमों से नियन्त्रित एक यन्त्र के समान कलाकृतियों को बनाने का सामर्थ्य (mechanical skill)। ड्यूरेर का मत यह था कि प्राकृतिक शक्ति[3] का स्थान किसी भी मात्रा में अनुकूल परिपोषण (favourable nurture) अर्थात् नियमज्ञान एवं अभ्यास आदि नहीं ले सकता है। अनुकूल परिपोषण प्रतिभा शक्ति का परिवर्धक मात्र ही है। उनके मतानुसार ईश्वर-प्रदत्त शक्ति, प्रतिभा, एक प्रकार की कल्पनाशक्ति है जो आकृतियों को जोड़ती है। यह एक ऐसी रचनाशक्ति है जो इतनी अधिक सम्पन्न तथा स्वाभाविक

१. गिल०–१८२ २. गिल०–१८६ ३. गिल०–१९७

होती है कि यह असंख्य नूतन कृतियों की रचना लगातार कर सकती है। परन्तु इस प्रतिभा शक्ति को जागरूक एवं प्रभावशाली बनाये रखने के लिये प्रकृति, गणितशास्त्र एवं भौतिक विज्ञानों का अध्ययन करना आवश्यक है। ड्यूरेर के मतानुसार प्रतिभा का स्वरूप अज्ञात है एवं उसकी शक्ति अपार है। अध्ययन एवं सूक्ष्म प्रत्यक्षीकरण से पूर्णता प्राप्त यह प्रतिभाशक्ति मौलिक कलाकृतियों का सच्चा स्रोत है।

कलास्वाद के विषय में फ्राकास्टोरो का अभिमत

फ्राकास्टोरो (१४८३–१५५३) के मतानुसार एक कवि जब अपने विषय को सुन्दरतापूर्ण शब्दों में प्रकट कर चुकता है तो उसके पश्चात् वह अपने अन्तःकरण में आश्चर्यजनक[1] एवं लगभग दिव्य सामंजस्य को चुपके से प्रवेश करते हुए अनुभव करता है। उस समय वह अपने आप में नहीं रहता। वाकुस तथा सिबिली के आध्यात्मिक उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति जिस प्रकार आत्मनियन्त्रण नहीं कर पाते हैं उसी प्रकार कवि भी आत्मनियन्त्रण नहीं कर पाते हैं। यह मत कलास्वाद के विषय में एरिस्टाटल के मत से अधिकांश रूप में मिलता-जुलता है यदि हम उसमें (एरिस्टाटल के मत में) सामंजस्य-भाव (feeling of harmony) को और जोड़ दें।

लगभग सोलहवीं शताब्दि में प्राचीन शास्त्रीय मतों के विरुद्ध प्रतिक्रिया

सोलहवीं शताब्दि में तथा उसके निकटवर्ती समय में प्राचीन शास्त्रीय मतों का विरोध किया गया।

(१) सन् १५३६ ई० में रामुस[2] (सन् १५१५–१५७२ ई०) ने यह घोषणा पेरिस के विश्वविद्यालय में की थी कि एरिस्टाटल के कथन मिथ्या एवं दम्भपूर्ण कल्पना मात्र ही हैं। उन्होंने मानवीय विचार शक्ति (thought) की स्वतन्त्रता की घोषणा की।

(२) कास्तेलवेत्रो (लगभग सोलहवीं शताब्दि) ने यह कहा था कि काव्य का उद्देश्य चारित्रिक उपदेश न होकर मनोरञ्जन[3] मात्र ही है। उनके मतानुसार नूतन कल्पना का अर्थ एक ऐसी नई वस्तु की रचना थी जो सर्वथा मौलिक तथा अपूर्वजन्मा हो।

---

१. गिल०–१९० २. गिल०–१९५

३. गिल०–१९६

(३) सोलहवीं शताब्दि के निकटवर्ती समय में जो मुख्य शास्त्रकार हुये उनके मतानुसार कविता एक शुद्ध कल्पनाप्रसूत वस्तु थी। यह उस सामान्य का प्रकटीकरण नहीं था जिसको प्लेटो ने मूलरूप (archetype) अथवा एरिस्टाटल ने रूपतत्त्व (form) माना था। काव्य के अनुशीलन में व्यावहारिक जीवन की भाँति हम दुःखपूर्ण अथवा दुष्टतापूर्ण से क्षुभित नहीं होते क्योंकि काव्य में हमारा ध्यान वर्ण्यमान विषय की सत्यता अथवा उसके मिथ्यात्व की ओर न होकर कवि की केवल उस सफलता की ओर होता है जो उसने अपने व्यक्तियों एवं उनके कार्यों को परस्पर भलीभाँति सुगठित करने में, सामंजस्यपूर्ण रूप में प्रदर्शित करने में तथा दर्शकों के अन्तःकरणों को नूतन तथा प्रतिभाप्रसूत प्रतिच्छाओं से परिपूर्ण करने में प्राप्त की है।

अध्याय ७

डेकार्ट का बुद्धिप्रधान कालाशास्त्र (Intellectualistic Aesthetics)

डेकार्ट के दर्शनशास्त्र पर अन्य मतों के प्रभाव

(१) बाइबिल का प्रभाव

डेकार्ट (सन् १५९६–१६५० ई०) ईसाई थे। अतएव वे दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में पवित्र बाइबिल से प्रभावित हुए थे। परन्तु वे एक अत्यन्त प्रखर युक्तिवादी थे। अतएव उन्होंने यह प्रतिपादित किया था कि 'यह माना नहीं जा सकता कि कोई व्यक्ति उन अभिमतों को जिनको वह उस निर्दोष युक्ति से विपरीत देखता है जो एक मनुष्य का मुख्य अंश है—इस कारण मानता है कि ऐसा करने पर ही वह उस धर्म से सम्बन्धित रह सकता है जिसके कारण वह ईसाई[1] है।'

इस प्रकार से मानवीय मन (आत्मा) का स्वभाव उनके मतानुसार इसी कारण से सभी शंकाओं के परे नहीं था क्योंकि पवित्र धर्मशास्त्र में उसके स्वरूप का उल्लेख किया गया था वरन् इसलिए शंका के परे था क्योंकि धर्मशास्त्रीय मत युक्ति से भी पुष्ट था।

डेकार्ट के मतानुसार बाइबिल[2] में धार्मिक विश्वासविषयक जितने भी कथन हैं उन सबको दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) वे कथन जिन पर केवल धार्मिक श्रद्धा के कारण ही विश्वास किया जाता है जैसे कि अवतारवाद का आध्यात्मिक रहस्य, त्रिमूर्ति आदि।

(२) वे कथन जिनपर विश्वास करने के लिए धार्मिक श्रद्धा की तो आवश्यकता पड़ती है परन्तु फिर भी प्राकृतिक युक्ति से उनकी परीक्षा की जा सकती है। जैसे कि ईश्वर का अस्तित्व एवं मन तथा शरीर का भेद।

(२) एरिस्टाटल का प्रभाव

(अ) दुःखप्रधान नाटक का परिमाण सम्बन्धी विश्लेषण करते हुए एरिस्टाटल ने यह माना था कि इन्द्रिय और उसकी ज्ञेय वस्तु के बीच एक अनुपात[3] (proportion) वर्तमान होता है। एरिस्टाटल के इस सिद्धान्त

---

१. हाल्डे० भाग १–४३९ २. हाल्डे० भाग १–४३८

३, गिल० १९३

को डेकार्ट ने यह स्पष्ट करने के लिए स्वीकार किया कि किस प्रकार से सुख एवं सौन्दर्य परस्पर सम्बन्धित हैं ? वे यह मानते हैं कि सौन्दर्य जनित आनन्द ज्ञेय वस्तु एवं ज्ञानेन्द्रिय के एक विशेष अनुपात पर निर्भर है। वे ज्ञेय वस्तुएँ अत्यन्त आनन्दप्रद होती हैं जिनको समझना न तो बहुत सरल है और न तो बहुत कठिन है। वे वस्तुएँ सुखप्रद होती हैं जो इतनी सरल नहीं हैं कि वह स्वाभाविक इच्छा अधिक परिश्रम के बिना ही पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाय जो इन्द्रियों को उनके ज्ञेयविषयों की ओर दौड़ाती है, और जो न तो इतना अधिक कठिन हैं कि उनको बुद्धिसात् करने के लिए की गई चेष्टा के कारण इन्द्रियां थक जाएँ। सामंजस्य का अर्थ है उत्प्रेरक वस्तु एवं उससे उत्प्रेरित प्रतिक्रिया के बीच अनुपात। (आ) भावावेग तथा क्रिया को यांत्रिक (mechanical) रूप में स्पष्ट करने के लिए डेकार्ट ने एरिस्टाटल से दर्शित मार्ग का अनुसरण किया था।

(३) बेकन का प्रभाव

बेकन ने मानसिक दशाओं के विषय में यांत्रिक सिद्धान्त (mechanical theory) का प्रतिपादन सूक्ष्म रूप में किया था। हाब्स ने इसी सिद्धान्त पर अपने 'विश्व-सिद्धान्त' (world-view) का प्रतिपादन किया। डेकार्ट ने इस सिद्धान्त को विस्तारपूर्वक मानसिक जीवन के अधिकांश भाग पर प्रयुक्त किया।

दर्शन शास्त्र को डेकार्ट की देन

'नोट्स अगेन्स्ट ए प्रोग्राम' नामक अपनी कृति में स्वयं अपने कथनानुसार वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने यह माना था कि अभौतिक द्रव्य का प्रधान गुण 'विचार शक्ति' (thought) है और भौतिक द्रव्य[1] का प्रधान गुण 'विस्तार' (extension) है।

डेकार्ट ने अपने इस सिद्धान्त को पूर्ण विस्तार के साथ प्रतिपादित किया था कि मानसिक तथा भौतिक प्रतिभास (phenomena) का स्पष्टीकरण केवल यांत्रिक प्रक्रिया के आधार पर किया जा सकता है। उनके सिद्धान्त के आधार पर आज चाहे कितने ही अधिक विकसित सिद्धान्त की रचना क्यों न कर ली गई हो परन्तु वे डेकार्ट ही थे जिन्होंने पूर्णतया प्राचीन मत को छोड़कर सर्वथा नए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि इस प्रकार के प्रतिभासों की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान एवं शरीर-विज्ञान पर उनके इस सिद्धान्त का प्रभाव मूल रूप से पड़ा था।

१. हाल्डे० भाग १–४३५

डेकार्ट की समस्या

डेकार्ट के सामने मुख्य समस्या यह थी कि 'यन्त्रवाद' (mechanism) का सामंजस्य ईश्वर, आत्मा तथा स्वतन्त्रता के साथ किस प्रकार से स्थापित किया जाय ? पुरातन प्रामाणिक दार्शनिकों के मत को अमान्य ठहराने में उन्होंने अपने अनुभवैकप्रामाण्यवादी (empiricist) पूर्वज बेकन का अनुसरण किया था। बहिर्भूत प्रकृति के विषय में उनका मत समकालीन प्रकृति के महान वैज्ञानिकों के मतानुकूल था। डेकार्ट यह स्वीकार करते हैं कि प्रकृति के क्षेत्र में प्रत्येक वस्तु यहां तक कि शारीरिक प्रक्रियायें एवं भाव भी यान्त्रिक रूप से स्पष्टीकरणीय हैं। परन्तु युक्तिवाद उनकी चिन्तना का प्रधान गुण है। उनके लिए दर्शनशास्त्र की साधनविधि का आदर्श गणितशास्त्र है। वे एक ऐसे संपूर्णांगी मत को प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं जिसमें गणितशास्त्र की जैसी निश्चयरूपता हो। अतएव सौन्दर्यतत्त्व की डेकार्टकृत व्याख्या में यन्त्रवादी एवं युक्तिवादी प्रवृत्तियों का परस्पर मिलन है।

तुलनात्मक कलाशास्त्र के दृष्टिकोण से डेकार्ट का महत्त्व

निम्नलिखित कारणों से तुलनात्मक स्वतन्त्रकालाशास्त्र के विद्यार्थी के लिए डेकार्ट का अत्यन्त महत्त्व है :—

'दि पैशन्स आफ़ दि सोल' नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने भावों की व्याख्या लगभग उसी पद्धति से की है जिस पद्धति से नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने उनकी व्याख्या की है। डेकार्ट ने भावों का वर्गीकरण मूल एवं मूलोद्भूत (derived), प्रधान एवं गौण तथा सामान्य रूप एवं विशेष रूप में किया है जो भरतमुनि के स्थायी तथा व्यभिचारी रूपों में भाववर्गीकरण से अधिकांश रूप में मिलता-जुलता है। डेकार्ट ने भावप्रदर्शक शारीरिक विकारों को दो वर्गों में विभाजित किया है (१) इच्छा जनित एवं (२) स्वाभाविक। ठीक इसी रूप में भरतमुनि ने इनका अनुभावों एवं सात्त्विक भावों के रूप में वर्गीकरण किया है। डेकार्ट ने भावावेगों की व्याख्या हृदय की दशाओं के आधार पर उसी प्रकार से की है जैसे धनंजय* ने। डेकार्ट यह मानते हैं कि भाव मानवीय शारीरिक दशायें मात्र ही नहीं हैं। वे इस मत का सुदृढ़ प्रतिपादन करते हैं कि वे शारीरिक दशाएँ जो भावों के जागृत होने के कारण उद्भूत होती हैं आत्मा की दशाओं की सहचर हैं।

भारत के प्रमुख कलाशास्त्रकारों का अभिमत यह है कि एक तल पर

*. द० रू० ९७

कलाकृति का अनुभव भावरूप होता है। एवं डेकार्ट ने भी यह स्वीकार किया है कि भाव कलाकृतिजनित बौद्धिक आनन्दानुभव का सदैव सहचर होता है।

डेकार्ट का कलाशास्त्र एवं उनका सामान्यदर्शन

डेकार्ट ने कल्पनाशक्ति, बुद्धिशक्ति एवं इच्छाशक्ति जैसी आत्मा की शक्तियों को काव्यकृतियों की उत्पादिका माना है। उनके मतानुसार कलाकृतिजनित अनुभव एक बौद्धिक आनन्द है जिसका सहचर एक ऐसा 'भावावेग' अथवा भाव होता है जो स्वतन्त्र कल्पनाशक्ति से सृजित एक अद्भुत साहसपूर्ण कार्य के वर्णन को पुस्तक में पढ़ने से अथवा उसके प्रदर्शन को रंगमंच पर देखने से उत्पन्न होता है। डेकार्ट के कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को स्पष्टतया समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम (१) आत्मा तथा आत्मा की शक्तियों के विषय में एवं (२) भावावेगविषयक उनके सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझ लें। उनके दर्शनशास्त्र के मूल प्रतिपाद्य विषय ईश्वर, आत्मा एवं स्वतन्त्रता हैं।

ईश्वर

अपनी कृति 'नोट्स अगेन्स्ट ए प्रोग्राम' में वे स्वयं यह कहते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो युक्तियां उन्होंने दी हैं वे बहुत समय के एकाग्रचित्त ध्यान से फलित हुई हैं। इस विषय में उनकी निम्नलिखित दो युक्तियां[1] ऐसी हैं जिनके अन्तर्गत अन्य युक्तियों की गणना की जा सकती है।

(१) हमारे पास ईश्वरविषयक एक ऐसा अस्फुट विचार (notion) अथवा ज्ञप्ति है कि यदि हम यथेष्ट मात्रा में उस पर ध्यान दें और उसका मनन उस प्रकार से करें जैसा 'मेडिटेशन' में लिखा है तो हम इस तथ्य का साक्षात्कार कर सकते हैं कि 'ईश्वर' का अस्तित्व है। और यह भी समझ सकते हैं कि उसका अस्तित्व संदिग्ध नहीं वरन् आवश्यक है। (२) अगर यह सत्य न होता कि ईश्वर का अस्तित्व है और हम सब उसकी सृष्टि हैं तो हमारे पास वह शक्ति न होती जिसकी सहायता से हम उन सब पूर्णताओं का मानसिक साक्षात्कार करते हैं जिनको हम ईश्वर में वर्तमान मानते हैं। ईश्वर केवल कारण स्वरूप ही नहीं हैं वरन् हमारे अस्तित्व[2] का 'मूल रूप' (archetype) भी है। वह शाश्वत, सर्वव्यापक, सर्वात्मा तथा प्रत्येक वस्तु

१. हाल्डे० भाग १–४४४ २. थिली २७८–९

का सृष्टिकर्ता है। यदि द्रव्य का अर्थ हम वह वस्तु समझते हैं जो प्रत्येक वस्तु से स्वतन्त्र रूप में वर्तमान है तो ईश्वर सम्पूर्ण अर्थ में द्रव्य है। क्योंकि केवल वही एकमात्र ऐसा ही द्रव्य है। अन्य सभी वस्तुएँ, यहां तक कि जीवात्मा एवं शरीर भी उसी पर निर्भर हैं।

डेकार्ट के दर्शनशास्त्र का प्रथम तत्त्व—आत्मा

डेकार्ट यह मानते हैं कि जागृतावस्था में जिन वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है वे सब स्वप्नदृष्ट वस्तुओं के समान भ्रान्तिमूलक हैं, उनसे अधिक सत्य नहीं हैं। क्योंकि हमारी जागरणावस्था में हमें जो ज्ञप्तियां अथवा प्रत्यय होते हैं वे, बिना उनमें से एक भी सत्य होते हुए भी, स्वप्नावस्था में हो सकते हैं। परन्तु यह मानते हुए भी कि प्रत्येक वस्तु मिथ्या है वे यह अनुभव करते हैं कि वह कर्ता अथवा 'अहं' जो प्रत्येक वस्तु को मिथ्या मानता है अथवा विचारता है स्वयं मिथ्या नहीं माना जा सकता है। और इसलिए वह 'अहं' सत्य है। उसकी सत्यता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। 'मैं विचार करता हूँ—इसलिए मैं हूँ'[1] यह तथ्य इतनी मात्रा में सत्य है एवं इतना अधिक सुनिश्चित है कि कोई भी संशय जनक (skeptic) युक्ति इस सत्य की दृढ़ता को हिला नहीं सकती है। अतएव इसी 'अहं' को वे अपने दर्शन शास्त्र का प्रथम मूल-तत्त्व मानते हैं।

'अहं' का स्वभाव

यह 'अहं' शरीर से तथा सम्पूर्ण बहिर्भूत प्रकृति से स्वतन्त्र है। यह विचारशील जीवात्मा है। इसका सारतत्त्व विचार है। यह वह द्रव्य है जिसका मूल स्वभाव विचार करना है। इसके अस्तित्व के लिए किसी स्थान की आवश्यकता नहीं पड़ती और न भौतिक वस्तुओं पर यह निर्भर है। वह आत्मा है जिसको उस शरीर की अपेक्षा जानना अधिक सरल है जिसके साथ वह संलग्न है। सामान्य सिद्धान्त यह है कि जो वस्तुयें अत्यन्त स्पष्टता एवं स्फुटरूप में ज्ञात होती हैं वे सत्य हैं। 'अहं' अथवा 'आत्मा' का ज्ञान इसी प्रकार स्पष्ट एवं स्फुट रूप में होता है अतएव यह सत्य है।

द्रव्य के रूप में आत्मा

डेकार्ट के मतानुसार आत्मा स्वयं विचारशक्ति नहीं है। यह कोई ऐसी वस्तु है जहाँ पर विचारशक्ति का अस्तित्व होता है—जहाँ पर विचार की

१. हाल्डे० भाग १–१०१

प्रक्रियाएँ पूरी होती हैं। विचार एक गुण है और इसीलिए द्रव्य से स्वतन्त्र होकर इसका अस्तित्व नहीं हो सकता है। अतएव डेकार्ट यह मानते हैं कि आत्मा एक द्रव्य है।

यह आत्मा एक ऐसी वास्तविक वस्तु (entity) है जो शरीर से भिन्न है। यह वस्तुतः शरीर से विलगनीय है। आत्मा में शरीर से भिन्न तथा स्वतन्त्र रूप में वर्तमान रहने की क्षमता है। परन्तु जब तक शरीर में यह वर्तमान है तब तक शारीरिक प्रभावों से यह प्रभावित होती है और यह आत्मा शरीर को प्रभावित करती है। इस प्रकार से शारीरिक दशाओं और मन की प्रतिक्रियाओं (process) में पारस्परिक अनुरूपता (correspondence) है।

आत्मा विस्तारशून्य एवं भागरहित है। अतएव यह प्रश्न निरर्थक है कि शरीर के प्रत्येक विशेष अङ्गों में यह आत्मा पूर्णतया अथवा अंशतया निवास करती है? इस आत्मा की सृष्टि ईश्वर ने की है। इसके पास कोई जन्मजात ज्ञप्तियाँ नहीं हैं। इसकी विचार करने की शक्ति यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि जन्मजात ज्ञप्तियों[1] की सहायता के बिना वह सम्पूर्ण विचार प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिये सक्षम है।

आत्मा के गुण के रूप में विचारशक्ति

विचारशक्ति उसी प्रकार से उस आत्मा[2] का प्रधान गुण है जो एक अभौतिक द्रव्य है जिस प्रकार से भौतिक द्रव्य का प्रधान गुण विस्तार है। यदि समवाय (inherence) का अर्थ वह अस्तित्व है जो उस द्रव्य से विलगरूप में स्थित है जिसके साथ उसका समवाय सम्बन्ध है तो विचारशक्ति किसी द्रव्य में समवाय रूप में वर्तमान नहीं है। उनमें से एक की सत्ता दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। मन (आत्मा) के एक गुण के रूप में विचार मन का सारतत्व है। विधिधर्मी तथा निषेधधर्मी[3] एवं अन्य विविध प्रकारों के विचार होते हैं। परन्तु स्वयं उस विचारशक्ति के जो एक अन्तर्मुखी स्रोत है जिससे ये प्रकार उत्पन्न होते हैं कोई प्रकार नहीं हैं। यह विचारशक्ति वह गुण है जो स्वयं आत्मा (soul) के स्वरूप का विधायक है। डेकार्ट ने आत्मा की परिभाषा जिन दो पदों में दी है उनमें से एक पद 'जाति सूचक' (genus)

---

१. हाल्डे० भाग १–४३३ २. हाल्डे० भाग १–४३५

३. हाल्डे० भाग १–४३६

है और दूसरा 'भेदसूचक' (differentia) है। 'द्रव्य' जातिसूचक है और 'विचारने की शक्ति', 'अन्तर्मुखी स्रोत' भेदसूचक पद है। भेदसूचक पद के विषय में वे अपनी मौलिकता को सिद्ध करते हैं एवं यह कहते हैं कि उनके पूर्व किसी भी व्यक्ति ने यह प्रतिपादित नहीं किया था कि आत्मा अथवा मन का विधायक केवल एक ही वस्तु है और वह वस्तु 'विचारशक्ति'[1] है।

एकगुणात्मक वस्तु के रूप में आत्मा

वस्तुओं के दो भेद हैं (१) अनेक गुणात्मक एवं (२) एक गुणात्मक। अनेकगुणात्मक वस्तु वह है जो एक से अधिक गुणों[2] से युक्त है। इनमें से प्रत्येक गुण का ज्ञान अन्य गुणों से विलग करते हुए स्वतन्त्र रूप में हो सकता है—क्योंकि प्रत्येक गुण का ज्ञान अन्य गुणों के बिना भी हो सकता है। अतएव प्रत्येक गुण 'प्रकार स्वरूप' (mode) न होकर विशेषण स्वरूप (attribute) होता है।

एकगुणात्मक वस्तु वह है जिसमें गुणों की अनेकता नहीं होती। इस प्रकार से वह भौतिक द्रव्य जिसमें हमको केवल एक गुण अर्थात् 'विस्तार' का बोध उसके विविध प्रकारों के साथ होता है एकगुणात्मक वस्तु ही है। इसी प्रकार से वह मन (mind) भी जिसमें हमें केवल 'विचार' गुण का बोध उसके सब प्रकारों के साथ होता है एकगुणात्मक वस्तु है। परन्तु वह मनुष्य जिसमें हमको 'विचार' तथा 'विस्तार' गुण एक साथ वर्तमान मिलते हैं एक अनेकगुणात्मक वस्तु है जिसकी रचना शरीर तथा मन को मिला कर की गई है।

आत्मा का प्रधान निवासस्थान

सामान्य मत यह है कि यद्यपि आत्मा सम्पूर्ण शरीर के साथ सम्बन्धित है फिर भी वह विशेष रूप से मस्तिष्क में[3] अथवा सम्भावित रूप में हृदय में क्रियाशील होती है। यह आत्मा विशेष रूप से मस्तिष्क में क्रियाशील होती हुई इसलिए मानी गई है क्योंकि सभी बोधइन्द्रियां मस्तिक से सम्बन्धित हैं। और हृदय में इसको विशेष रूप से क्रियाशील इसलिए मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्षतः यही ज्ञात होता है कि हृदय में ही हम भावावेगों का अनुभव करते हैं। परन्तु सावधानी से किया गया निरीक्षण यह सिद्ध

---

१. हाल्डे० भाग १—४३४ २. हाल्डे० भाग १—४३७

३. हाल्डे० भाग १—३४५

करता है कि आत्मा का निवासस्थान न तो हृदय है और न सम्पूर्ण मस्तिष्क ही है वरन् मस्तिष्क का अन्तरतम भाग मात्र ही है अर्थात् कोई अत्यन्त लघु मांस ग्रन्थि है जो (१) द्रव्यरूप मस्तिष्क के मध्यभाग में स्थित है और जो (२) उस नली के ऊपर लटकी हुई है जिससे मस्तिष्क के अग्रभाग में स्थित जीवधारी चेतन वृत्तियां (animal spirits) मस्तिष्क के पृष्ठ भाग में निवास करने वाली चेतन–वृत्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इस प्रकार से आत्मा के प्रमुख निवासस्थान में जब थोड़ा सा भी कम्पन होता है तो जीवधारी चेतन वृत्तियों का गतिपथ परिवर्त्तित हो जाता है एवं इसी के अनुसार चेतन वृत्तियों के गतिपथ में जब किंचित भी परिवर्तन होता है तो आत्मा के निवासस्थान की गति भी बदल जाती है।

शरीर एवं आत्मा में परस्पर प्रतिक्रिया

आत्मा का प्रधान निवासस्थान उस मांसग्रन्थि[1] में है जो मस्तिष्क के मध्य भाग में स्थित है। अतएव सम्पूर्ण शरीर में यह अपनी जीवन ज्योति को (१) जीवधारी चेतन वृत्तियों (२) ज्ञानतन्तुओं (nerve) एवं (३) रक्त की सहायता से पहुँचाती है। ज्ञानतन्तु एवं रक्त चेतन वृत्तियों के प्रभावों को आत्मसात् करते हैं और रक्तवाहिनियों की सहायता से चेतन वृत्तियों को शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों में ले जाते हैं।

हमारे ज्ञानतन्तुओं के सूक्ष्म सूत्र शरीर के सम्पूर्ण अंगों में इस प्रकार से बिखरे हुए हैं कि जैसे ही किसी बहिर्भूत वस्तु से वे उत्प्रेरित (stimulated) होते हैं वैसे ही वे विविध प्रकारों से मस्तिष्क के सूक्ष्म रोमकूपों (pores) को खोल देते हैं। इससे होता यह है कि वे जीवधारी चेतन वृत्तियां जो मस्तिष्क के रंध्रों में निवास करतीं हैं मांसपेशियों में विविध रूपों में प्रवेश करतीं हैं और विविध प्रकारों से शरीर के विभिन्न भागों को संचालित करतीं हैं। इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि डेकार्ट इच्छाशून्य चेष्टाओं (reflex-action) का स्पष्टीकरण करते हैं। ये जीवधारी चेतन–वृत्तियां मस्तिष्क के दो रन्ध्रसमूहों में एकत्रित रहतीं हैं। ये दो रन्ध्र समूह उस मांस ग्रन्थि के दोनों ओर स्थित हैं जहां पर आत्मा मुख्य रूप से निवास करती है। यह मांस ग्रन्थि उतने ही प्रकारों से जीवधारी चेतन वृत्तियों से परिचालित होती हैं जितने रूपों में बहिर्भूत वस्तुओं में बोध्य विविधरूप होते हैं।

---

१. हाल्डे० भाग १—३४७

और स्वयं अपने स्वभाव से जीवात्मा इस प्रकार की है कि यह उतने विभिन्न प्रकार के प्रभावों को ग्रहण करती है एवं उतने विविध रूपों के प्रत्यक्ष करती है जितने विभिन्न प्रकार के परिचालन मांसग्रन्थि में होते हैं। परन्तु इस मांसग्रन्थि का परिचालन केवल जीवधारी चेतन वृत्तियों पर ही अवलम्बित नहीं है। आत्मा से भी यह परिचालन संभव है। शरीररूपी यन्त्र की रचना इस प्रकार से हुई है कि जैसे ही आत्मा इस मांसग्रन्थि को विविध प्रकारों से परिचालित करती है वैसे ही वे जीवधारी चेतन वृत्तियां जो इस मांसग्रन्थि को घेरे रहती हैं मस्तिष्क के रन्ध्रों की ओर अग्रसर होतीं हैं। और उसके पश्चात् ज्ञानतन्तुओं एवं मांसपेशियों में प्रवेश करतीं हैं जिससे शरीर के विविध अंग परिचालित होने लगते हैं।

विचारशक्ति के रूप एवं उनका वर्गीकरण

विचार करने की शक्ति के दो भेद हैं–(१) बुद्धि अथवा ज्ञानशक्ति एवं (२) इच्छाशक्ति। (१) बुद्धि अथवा ज्ञानशक्ति। यह शक्ति केवल शुद्धात्मा[1] सम्बन्धी (spiritual) है। इससे हमको वस्तुओं का भली भांति ज्ञान होता है। यह शरीर से भिन्न है। मस्तिष्क के किसी भी भाग के साथ में इसका तादात्म्य नहीं स्थापित किया जा सकता। (अ) यह शक्ति सामान्य बोधेन्द्रिय (common sense) के प्रभावों को ग्रहण करती है। ये प्रभाव ज्ञान शक्ति और कल्पना (imagination) पर एक ही समय में पड़ते हैं। (आ) यह शक्ति स्मृतिजनक संस्कारों को उद्बुद्ध करती है। (इ) यह शक्ति नई ज्ञप्तियों एवं प्रतिच्छायाओं की रचना करती है।

इन तीन प्रकार के कार्यों में ज्ञानशक्ति मोहर अथवा मोम की भांति काम करती है। (१) ज्ञान की इस शक्ति के विषय में यह कहते हैं कि जब यह कल्पना के साथ-साथ अपने को सामान्य बोधेन्द्रिय (common sense) पर प्रयुक्त करती है तब यह देखती है स्पर्श करती है आदि। (२) जब यह प्रभावों को संचित रखने वाली कल्पना पर अपना प्रयोग करती है तब यह कहते हैं कि वह याद करती है (३) जब यह सामान्य बोधेन्द्रिय के प्रभावों को ग्रहण करने वाली कल्पना की ओर इसलिए उन्मुख होती है कि वह नूतन ज्ञप्तियों एवं प्रतिच्छायाओं का सृजन कर सके तो यह कहते हैं कि यह शक्ति कल्पना करती है अथवा चिन्तना करती है। (४) जब यह शक्ति दैहिक

१. हाल्डे० भाग १—३८–९

कल्पना (corporial imagination) के संसर्ग से स्वतन्त्र होकर एकाकी ही कार्यशील होती है तो यह कहते हैं कि यह शक्ति समझती है। इस प्रकार से विविध व्यापारों को करने वाली एक ही ज्ञानशक्ति है जिसको १. समझती है २. कल्पना करती है ३. स्मरण करती है एवं ४. बोध प्राप्त करती है— ऐसा कहा जाता है। जिस समय कल्पना लोक में यह नूतन ज्ञप्तियों की रचना करती है अथवा उन ज्ञप्तियों की ओर उन्मुख होती है जो पहले से ही विद्यमान हैं तो इसको समुचित रूप से 'मन' (mind) कहते हैं।

प्रत्यक्ष-साधन इन्द्रियाँ

डेकार्ट ने सात इन्द्रियों का प्रतिपादन किया है। उनमें से दो आन्तर तथा पांच बाह्य इन्द्रियां हैं। आन्तर इन्द्रियों की व्याख्या हम भावावेग के प्रसंग में करेंगे। पांच बाह्य इन्द्रियां निम्नलिखित हैं:—१ देखने वाली इन्द्रिय आंख। २ सुनने वाली इन्द्रिय कान। ३ सूंघने वाली इन्द्रिय घ्राण। ४ स्पर्श करने वाली इन्द्रिय त्वक् एवं ५ स्वाद ग्रहण करने वाली इन्द्रिय रसना। ये इन्द्रियां चेष्टाशून्य हैं एवं जिस प्रकार से[1] मोम मोहर की छाप से प्रभावित होती है उसी प्रकार से बहिर्भूत वस्तुओं से ये इन्द्रियां प्रभावित होती हैं।

सामान्य-बोधेन्द्रिय (common sense)

सामान्य बोधेन्द्रिय वह है जिस पर बाह्य इन्द्रियों पर अंकित आकृतियां तुरन्त अंकित हो जाती हैं। बाह्य इन्द्रियों की भांति सामान्य बोधेन्द्रिय भी शरीर का एक अंग है। बाह्य इन्द्रियां एवं सामान्य बोधेन्द्रिय[2] एक लेखनी के ऊपरी और निचले दो सिरों की भांति हैं जो लगभग एक साथ एक ही रूप में गतिमान होते हैं।

सामान्यबोधेन्द्रिय एवं 'कल्पना'

सामान्यबोधेन्द्रिय एक मोहर की भांति काम करती है। यह उस कल्पना[3] पर जो मोम के समान है उन ज्ञप्तियों एवं आकृतियों को अंकित करती है जो बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त होती हैं। ये आकृतियां शुद्ध आकृति मात्र होती हैं। इनमें कोई भौतिक द्रव्य का अंश नहीं होता है। यह कल्पना जिस पर

---

१. हाल्डे० भाग १—३६ २. हाल्डे० भाग १—३७–८
३. हाल्डे० भाग १—३८

सामान्य बोधेन्द्रिय आकृतियों तथा ज्ञप्तियों को अंकित करती है शरीर का एक नैसर्गिक अंग है। इसका आकार यथेष्ट मात्रा में विशाल है जिससे कि इसके विभिन्न भाग परस्पर भिन्न आकृतियों को आत्मसात् करते हैं। ये भाग कुछ ही समय के लिए वस्तुओं के अंकनों को धारण करते हैं। यह कल्पना सामान्य बाह्येन्द्रिय जनित प्रभावों को संचित एवं कुछ काल के लिए सुरक्षित भी रखती है। इस लिये इस अंश में इसको स्मृति कहते हैं।

प्रत्यक्ष का यान्त्रिक (mechanical) स्पष्टीकरण

सूक्ष्म तन्तुओं के समान ज्ञानतन्तु मस्तिष्क[1] से भौतिक शरीर के सभी अङ्गों में विस्तृत हैं। अन्य अङ्गों के साथ में वे इस प्रकार से सम्बन्धित हैं कि जिस समय कोई वस्तु इन ज्ञानतन्तुओं के बाहरी सिरों का स्पर्श करती है तो वे इस प्रकार से गतिमान होते हैं कि यह गति उन आन्तरिक सिरों तक पहुँचती है जो आत्मा के निवासस्थान के चारों ओर मस्तिष्क में एकत्रित हैं। इस प्रकार से सामान्यबोधेन्द्रिय में गति उत्प्रेरित होती है। तदन्तर कल्पना-चिह्नों से अंकित होती है। ये गतियां जीवधारी चेतन वृत्तियों को (जो उन रंध्र समूहों में भरी रहती हैं जिनके मध्य भाग में वह मांसग्रन्थि लटकी हुई है जो आत्मा का प्रधान निवासस्थान है) गतिमान करतीं हैं जिससे कि बोध्यवस्तु के अनुरूप क्षुद्र मांस ग्रन्थि विविध रूपों[2] में संचालित होती है। इसके पश्चात् स्वयं विविध गतियों के अनुरूप आत्मा विविध प्रकारों से प्रभावित होती है। आत्मा के वे सब प्रभाव जो इस प्रकार से उद्भूत होते हैं उनको इन्द्रियों के प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियजनित ज्ञान कहते हैं। उदाहरण के रूप में जिस समय एक वस्तु आंखों पर प्रतिबिंबित होती है तो उसकी एक-एक प्रतिच्छाया प्रत्येक आंख पर पड़ती है। नेत्रों के ज्ञान तन्तुओं की सहायता से ये प्रतिच्छायायें मस्तिष्क के उस आन्तरिक तल पर दो अन्य प्रतिच्छायाओं की रचना करतीं हैं जो जीवधारी चेतन वृत्तियों के निवासस्थान रन्ध्रों के दो समूहों के सामने होती हैं। इसके पश्चात् जीवधारी चेतन वृत्तियों की सहायता से ये प्रतिच्छायायें मांसग्रन्थि की ओर प्रसरण करती हैं और परस्पर एकाकार हो जातीं हैं। यह प्रतिच्छाया तुरन्त ही आत्मा पर प्रतिफलित होती है और वस्तु को देखने का कारण बनती है।

इस प्रसंग में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं (१) सामान्य बोधेन्द्रिय पर

---

१. हाल्डे० भाग १—२८९, २. हाल्डे० भाग १—३४७

मूर्त प्रभाव के अंकन से लेकर कल्पना एवं आत्मा पर मूर्तप्रभाव अंकन तक की प्रक्रिया समय सम्बन्धी न होकर तर्कशास्त्रीय है एवं (२) शरीर के अंगों की गतियों के अतिरिक्त अन्य किसी गति को ज्ञानतन्तु मस्तिक तक नहीं पहुँचाते हैं। यह शरीर के अङ्गों की गति हमारे अन्तःकरण में केवल सुख तथा दुःख के अनुभवों को ही उत्पन्न नहीं करती है वरन् ध्वनि तथा रंग के बोधों को भी उत्पन्न करती है। क्योंकि यदि हमारी आंख पर आघात हो जाय तो नेत्र के ज्ञानतन्तु इस प्रकार से गतिमान हो सकते हैं कि वे नेत्रों के आगे अवर्तमान सहस्त्रों स्फुलिंगों को देखने के लिए हमें बाध्य कर दें।

कल्पना

कल्पना के तात्त्विक स्वरूप के विषय में डेकार्ट का अभिमत इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि स्वतन्त्र कल्पना के आधार पर वे काव्यकृतियों तथा नाट्यकृतियों के उत्पादन का स्पष्टीकरण करते हैं। इस कल्पना की व्याख्या वे (१) इन्द्रियप्रत्यक्ष (२) स्मृति (३) विभ्रम (hallucination) एवं स्वप्न तथा (४) काव्यात्मक स्वतन्त्र कल्पना के प्रसंग में करते हैं।

(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष की व्याख्या के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कल्पना मस्तिष्क का वह भाग है जो सामान्य बोधेन्द्रिय[1] से वस्तु के मूर्त प्रभावों को आत्मसात् करता है। मूर्त प्रभावों (impression) को प्रतिच्छायाएं कहते हैं। जीवधारी चेतन वृत्तियों की क्रिया इन प्रतिच्छायाओं को त्रिकोणात्मक शंकु स्वरूप (pineal) मांसग्रन्थि तक पहुँचाती हैं और वहां पर वे आत्मा को प्रभावित करती हैं।

(२) उस कल्पना में जो मस्तिष्क का एक अंश है केवल सामान्य बोधेन्द्रिय से मूर्त प्रभावों को ग्रहण करने की ही शक्ति नहीं होती वरन् कुछ समय के लिए उनको धारण भी किए रहने की भी शक्ति है और जब मन कल्पना के मूर्त प्रभावों के संस्कारों का उपयोग करता है तो यह कहते हैं कि मन स्मरण करता है। इस प्रकार से कल्पना पर अतीतकालीन मूर्त प्रभावों के संस्कारों के अतिरिक्त स्मृति और कुछ नहीं है।

(३) ऐसे तीन कारण[2] हैं जो कल्पना को कार्य करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं—(१) शरीर (२) जीवधारी चेतन वृत्तियां एवं (३) आत्मा। (अ) जिस समय कल्पना किसी बाह्य वस्तु से कार्य की ओर उत्प्रेरित होती

१. हाल्डे० भाग १—३९ २. हाल्डे० भाग १—३४१

है (जैसे कि इन्द्रिय बोध के प्रसंग में) तो यह निश्चेष्ट होकर सामान्य बोधेन्द्रिय से मूर्त प्रभावों को ग्रहण करती है। इस प्रसंग में कल्पना इच्छा से स्वतन्त्र होती है। (आ) जिस समय जीवधारी चेतन वृत्तियों से यह कल्पना उत्प्रेरित होती है उस समय यह उन चित्रों का अंकन करती है जो स्वप्न तथा भ्रम में दिखाई देते हैं। इस प्रकार के चित्र इस कारण उद्भूत होते हैं कि अनेक रूपों में क्षुभित होकर जीवधारी चेतन वृत्तियां मस्तिष्क में अतीतकालीन मूर्त प्रभावों के संस्कारों से मिलकर कुछ रन्ध्रों में से होकर गतिमान होती हैं। इस प्रकार से स्वप्न तथा भ्रम चित्रों के चित्र हैं। उपर्युक्त रूप में वर्णित कल्पना के चित्रों का एक विशेष गुण यह है कि उनकी रचना में इच्छाशक्ति का कोई हाथ नहीं होता।

(४) कल्पना की वे कृतियाँ डेकार्ट के कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को समझने के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जो इस कारण उद्भूत होती हैं कि आत्मा स्वतन्त्र इच्छाशक्ति द्वारा कल्पना को उत्प्रेरित करती है।

जिस समय आत्मा स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा कल्पना को कार्यशील होने के लिए उत्प्रेरित करती है उस समय मानसिक दृष्टि के सामने वे प्रतिच्छायाएँ उत्पन्न होती हैं जो ज्ञानतन्तुओं की बहिर्भूतवस्तुजनित उत्प्रेरणा से उत्पन्न प्रतिच्छायाओं से तथा स्मृतिलोक में अतीत-कालीन अनुभवों की प्रतिच्छायाओं की प्रतिरूप मात्र प्रतिच्छायाओं से भिन्न होती हैं। ये उन प्रतिच्छायाओं से भी भिन्न होती हैं जो जीवधारी चिद्वृत्तियों के दैवयोगवश गतिमान होने से उत्पन्न होती हैं जैसे कि भ्रान्ति एवं स्वप्न में दिखाई देने वाली प्रतिच्छायाएँ जो संस्कारों से उत्पन्न विचित्र आकृति-समूह मात्र होतीं हैं। कल्पना को उत्प्रेरित करने वाली स्वतन्त्र इच्छा से नूतन कृतियां उत्पन्न होती हैं। यह उसको उत्पन्न करती हैं जो व्यावहारिक जगत में न तो वर्तमान है और न वर्तमान हो ही सकता है।

इस प्रकार से डेकार्ट के मतानुसार काव्यजननी कल्पना उस कल्पना से भिन्न है जिसका उपयोग इन्द्रिय प्रत्यक्ष में किया जाता है। और साथ ही साथ उससे भी भिन्न है जो स्मृति, स्वप्न आदि का कारण है। यह कल्पना स्वतन्त्र है क्योंकि यह आत्मा से स्वतन्त्र इच्छा द्वारा उत्प्रेरित की जाती है एवं इसका नियन्त्रण न तो ज्ञानतन्तुओं की उत्प्रेरणा और न जीवधारी चिद्वृत्तियों की गतिमानता ही करतीं हैं। इस कल्पना के पास वह शक्ति है जो अवर्तमान

(परोक्ष)[1] का इतना अधिक स्पष्ट तथा प्रभावशाली चित्र अंकित करती है कि वह चित्र हमारी दृष्टि के सामने वर्तमान भौतिक वस्तु के समान लगने लगता है एवं उन भावावेगों को उत्पन्न करता है जो भौतिक वस्तु के उद्भूत होते हैं।

इन नूतन ज्ञप्तियों एवं प्रतिच्छायाओं के साधन से आत्मा जीवधारी चिद्वृत्तियों को मांसपेशियों में भेजती है और शरीर में ऐसी गतियों को उत्पन्न करती है जो नई कवि सृष्टि के अनुकूल होती हैं एवं बाहरी भावावेगों (passions) को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होती हैं। ज्ञप्तियों को सुव्यवस्थित करने की एवं उनको सुव्यवस्थित रूप में प्रकट करने की शक्ति उन विशेष लक्षणों में से एक विशेष लक्षण है जो मनुष्य को पशु से विलग करता है। उसका इस प्रकार का दूसरा लक्षण बुद्धितत्त्व (reason) है।

स्वतन्त्र कल्पना के समय अन्य क्रियाशक्तियों की निश्चेष्टता

जिस समय कल्पना स्वतन्त्र इच्छा से उत्प्रेरित होती है उस समय वह मौलिक एवं नूतन सृष्टियों से इतना अधिक आक्रान्त हो जाती है कि न तो वह सामान्य ज्ञानेन्द्रिय से ज्ञप्तियों[2] अथवा मूर्त प्रभाव को ग्रहण करती है और न जीवधारी चेतनवृत्तियों के संचालन द्वारा ज्ञानतन्तुओं में और कोई गति ही उत्पन्न कर सकती है सिवाय उस गति के जो नूतन सृष्टि के अनुकूल है।

स्वतन्त्र कल्पना की प्रक्रिया

जिस वस्तु को हमने कभी नहीं देखा है उसकी कल्पना[3] करने की इच्छा जब हम में उत्पन्न होती है उस समय हमारी इच्छा (स्वतन्त्र इच्छा) उस मांसग्रन्थि में जो आत्मा का मुख्य निवासस्थान है एक प्रकार की गति को उत्पन्न करने में सशक्त होती है। यह गति मस्तिष्क के रन्ध्रों की ओर जीवधारी चिद्वृत्तियों को संचालित करती है। ये वृत्तियां मस्तिष्क के रन्ध्रों को इस प्रकार से खोल देती हैं कि उस वस्तु का प्रतिरूप प्राप्त हो जाता है जिसकी कल्पना हम करना चाहते हैं।

बुद्धि (understanding)

जैसा कि हम गत उपप्रकरण में कह आए हैं कि यदि बुद्धि (understanding) दैहिक (corporeal) कल्पना से स्वतन्त्र होकर एकाकी क्रिया

---

१ हाल्डे० भाग १—३४१ २. हाल्डे० भाग १—३९

३. हाल्डे० भाग १—३५०

में प्रवृत्त होती है तो यह स्वयं शुद्ध बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सत्य का बोध करने के लिए यह एक शक्ति है। कल्पना, इन्द्रियानुभव एवं स्मृति तीन ऐसी शक्तियां हैं जो या तो इसकी सहायक[1] हैं अथवा इसकी बाधक हैं।

उस शुद्ध बुद्धि की सहायता जिसका ज्ञेय क्षेत्र अभौतिक[2] है वह कल्पना तथा वह स्मृति नहीं कर सकती जो पशुओं में भी पाई जाती है। ये दोनों शुद्ध बुद्धि की क्रिया की सहायक नहीं वरन् बाधक ही अधिक होती हैं। अतएव शुद्ध विचारों को विचारने के लिए हमको इन्द्रियों को निष्क्रिय करना होता है तथा प्रत्येक स्पष्ट रूप मूर्त प्रभाव से कल्पना को स्वतन्त्र करना पड़ता है। परन्तु जिस समय बुद्धि भौतिक पदार्थ से सम्बन्धित किसी वस्तु की परीक्षा करती है तो सत्य ज्ञान की साधनविधि उपर्युक्त साधनविधि के विपरीत होती है। बुद्धि से ज्ञेय वस्तुओं का वर्गीकरण दो वर्गों में किया गया है (अ) सरल एवं (आ) मिश्रित[3] अथवा जटिल। ये वस्तुएँ आध्यात्मिक अथवा भौतिक अथवा दोनों का मिश्रण स्वरूप होती हैं।

बुद्धि या बोधशक्ति के व्यापार

बोधशक्ति के दो व्यापार हैं—(अ) स्फुट साक्षात्कार (intuition) एवं (आ) अनुमान[4]। स्फुट साक्षात्कार सम्बन्धित व्यापार की तुलना आंखों के व्यापार से की जा सकती है। जिस प्रकार से एक व्यक्ति जो अनेक वस्तुओं को एक ही दृष्टि में देख लेना चाहता है उनमें से किसी भी एक वस्तु को स्पष्टरूप से नहीं देख पाता उसी प्रकार से एक वह व्यक्ति जो साक्षात्कार करने के एक ही व्यापार से अनेक वस्तुओं को एक साथ समझने की चेष्टा करता है उसका मन संभ्रमित हो जाता है। एवं जिस प्रकार से विलग-विलग स्थान-बिन्दुओं को ध्यानपूर्ण नेत्रों से देखने के स्वभाव वाले कार्यनिपुण एक व्यक्ति में वह शक्ति होती है जो सूक्ष्म रूप वस्तुओं को परस्पर भिन्न करती है इसी प्रकार से वह व्यक्ति सर्वाधिक स्पष्ट विचारक होता है जो अपनी विचारशक्ति को एक साथ अनेक वस्तुओं की ओर प्रेरित कर विकीर्ण नहीं कर देता वरन् केवल एक ही सरल स्थान बिन्दु पर उस विचारशक्ति को केन्द्रित करता है।

---

१. हाल्डे० भाग १—२७ २. हाल्डे भाग १—३९

३. हाल्डे० भाग १—२- ४. हाल्डे० भाग १—२८

साक्षात्कार एवं अनुमान में भेद

साक्षात्कार[1] न तो वह इन्द्रियजन्य ज्ञान है जिसकी प्रामाणिकता अस्थिर है, और न यह वह भटकाने वाला निर्णय है जो कल्पना की प्रमादपूर्ण कृतियों से उत्पन्न होता है। यह वह तात्त्विक स्वरूप (conception) का स्फुट ज्ञान है जो एक निर्मल एवं ध्यानपूर्ण बुद्धि तुरन्त उत्पन्न करती है। यह ज्ञान स्पष्टरूप एवं पूर्णतया संशयशून्य होता है। यह ज्ञान बुद्धि तत्त्व (reason) के प्रकाश से उत्पन्न है। यह ज्ञान अनुमान से अधिक निश्चित-स्वरूप होता है। इस ज्ञान में पारम्परिकता अथवा गति वर्तमान नहीं होती है। यह ज्ञान उस साक्ष्यपर निर्भर होता है जिसका अव्यवहित साक्षात्कार होता है। यह ज्ञान निर्विकल्पात्मक है। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित तथ्यों का स्फुट निर्विकल्पात्मक ज्ञान होता है—'उसका स्वयं अपना अस्तित्व है' 'वह स्वयं विचार करता है' 'एक त्रिभुज के सब ओर केवल तीन रेखाएँ ही होती हैं।'

मानसिक स्फुट निर्विकल्पात्मक ज्ञान में दो बातें आवश्यक होती हैं (१) इस ज्ञान की विषयवस्तु स्पष्ट तथा स्फुट[2] होती है (२) यह ज्ञान अपनी विषयवस्तु को सम्पूर्णतया एक ही समय में ग्रहण करता है और उसके ज्ञान में पूर्वापरता (succession) नहीं होती है।

परन्तु अनुमान तर्कपूर्ण बुद्धि करती है। यह ज्ञान साक्षात्कार (intuition) पर आधारित है। अनुमान के लिए निश्चित रूप से ज्ञात तथ्य आवश्यक हैं। यह वह प्रक्रिया है जो सत्य एवं सुप्रसिद्ध नियमों के आधार पर मन की अबाध[3] तथा अविच्छिन्न क्रिया से किसी विशेष निर्णय तक पहुँचने में वर्तमान होती है। स्फुट साक्षात्कार के समान इसको प्रत्यक्षतः वर्तमान साक्ष्य की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसमें असंदिग्धता का अंश स्मृति से आता है। यह सविकल्प ज्ञान है।

बुद्धि एवं कल्पना

जिस प्रकार से बुद्धि कल्पना से उत्प्रेरित होती है उसी प्रकार से कल्पना[4] बुद्धि से उत्प्रेरित होती है। बुद्धि कल्पना को प्रभावित करती है एवं कल्पना बुद्धि को प्रभावित करती है। कल्पना बुद्धि से भिन्न है। क्योंकि मन अपनी

---

१. हाल्डे० भाग १—७ २. हाल्डे० भाग १—३३

३. हाल्डे० भाग १—८ ४. हाल्डे० भाग १—३९

शुद्ध बौद्धिक क्रिया में स्वयं एक विलक्षण रूप में स्वोन्मुख होता है एवं उन कुछ ज्ञप्तियों पर विचार करता है जो स्वयं इसके पास हैं। परन्तु कल्पना में मन प्रत्यक्षतः वर्तमान भौतिक विषय के प्रति उन्मुख होता है और उसमें कुछ ऐसा देखता है जो उस ज्ञप्ति के अनुरूप है जिसको स्वयं इसने उत्पन्न किया है अथवा जिसका इसने इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया है। निम्नलिखित उदाहरण कल्पना तथा शुद्ध बौद्धिक ज्ञान का भेद[1] अन्य रूप में स्पष्ट करता है :—

जिस समय हम एक त्रिभुज की कल्पना करते हैं उस समय हम केवल तीन रेखाओं से बनी हुई एक रेखाकृति को बुद्धि के विषय के रूप में ही ग्रहण नहीं करते हैं वरन् हम तीन रेखाओं के अस्तित्व का साक्षात्कार करते हैं क्योंकि मानसिक अन्तर्मुखी दृष्टि (inward vision) की शक्ति क्रियाशील होती है। इसी को हम कल्पना कहते हैं। परन्तु यदि हम एक ऐसी रेखाकृति पर विचार करने की इच्छा करें जिसमें एक सहस्र भुजाएँ हैं तो त्रिभुज के समान सरलता से ही हम उसे बुद्धि से ग्रहण कर सकते हैं परन्तु हम उसी सरलता से मानसिक अन्तर्मुखी दृष्टि का प्रयोग एक सहस्र भुजाओं का साक्षात्कार करने के लिए नहीं कर सकते हैं। यद्यपि मन के उस अडिग स्वभाव के कारण जो साकार वस्तुओं का विचार करने में सदैव कल्पना का प्रयोग करता है यह सम्भव हो सकता है कि हम एक एकसहस्र भुजाओं वाली रेखाकृति की रचना करलें, फिर भी इस प्रकार से खींची गई रेखाकृति एक सहस्र भुजाओं की स्पष्ट रेखाकृति नहीं होगी—यह रेखाकृति इतनी अस्तव्यस्त रूप में होगी कि इसको असंख्य भुजाओं वाली रेखाकृति के प्रत्यक्ष से भिन्न करना कठिन होगा। यह एक ऐसी आकृति नहीं होगी जो हमें इसके उन विशेष गुणों को जताने में सक्षम कर सके जिनके कारण एक सहस्र भुजाओं वाली आकृति असंख्य भुजाओं वाली आकृति से भिन्न है।

इसके अतिरिक्त यदि हम बुद्धि तथा कल्पना से सम्बन्धित पांच भुजाओं की रेखाकृति पर विचार करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि इसकी कल्पना करने के लिए मन की ऐसी विशेष चेष्टा आवश्यक है जो उसके बोध के लिए अनावश्यक है। क्योंकि अपनी बोधशक्ति का उपयोग करते हुए हम एक रेखाकृति की पांच भुजाओं के तात्विक रूप का मानस साक्षात्कार उतने ही स्पष्ट रूप में कर सकते हैं जितने स्पष्ट रूप में एक सहस्र भुजाओं की रेखाकृति की एक सहस्र भुजाओं के तात्विक रूप का मानस प्रत्यक्ष करते हैं। परन्तु

---

१. हाल्डे० भाग १—१८

यदि हम उनकी कल्पना करना चाहते हैं तो हमें केवल प्रत्येक भुजा का ही ध्यान नहीं करना होता वरन् उस स्थान का भी ध्यान करना होता है जो उन भुजाओं से घिरा हुआ है। बोध करने के लिए यह चेष्टा अनावश्यक है।

(२) इच्छाशक्ति

इच्छाशक्ति[1] स्वतन्त्र है। किसी भी क्षेत्र में यह दो परस्पर विरोधी वस्तुओं में से एक का चयन कर सकती है। यह स्वनियंत्रित है। हम एक पूर्व उपप्रकरण में यह लिख आये हैं कि डेकार्ट के मतानुसार आत्मा का विशेष गुण विचार (thought) है। विचारशक्ति के अतिरिक्त आत्मा और कुछ नहीं है। और इसके दो पक्ष हैं (१) ज्ञानशक्ति एवं (२) इच्छाशक्ति। इस प्रकार से विचारों[2] को छोड़ कर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसको आत्मा का गुण माना जा सके। परन्तु विचार के दो पक्षों के आधार पर उनका विभाजन दो वर्गों में कर सकते हैं। जो ज्ञानशक्ति से उत्पन्न होते हैं उनको भावावेग (passion) तथा जो इच्छाशक्ति जनित हैं उनको 'क्रिया' (action) कहते हैं। इन क्रियाओं का विशेष गुण यह है कि उत्प्रेरक वस्तु अथवा बाह्य प्रेरक कारण के बिना स्वयं आत्मा इन क्रियाओं को उत्पन्न करती है क्योंकि आत्मा स्वतन्त्र है। हमारी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से उद्‌भूत सब इच्छाओं की गणना क्रिया के अन्तर्गत की जाती है। क्योंकि अनुभव से हमको यह ज्ञात होता है कि ये साक्षात् आत्मा से उत्पन्न हैं एवं केवल उसी पर अवलम्बित हैं। ये क्रियायें दो प्रकार की हैं। (अ) वे क्रियायें जो स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के व्यापार से उत्पन्न होती हैं, जिनका अन्त स्वयं आत्मा में होता है एवं भौतिक शरीर से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं होता जैसे कि ईश्वर के प्रति हमारा प्रेम और हमारे विचार की किसी अभौतिक वस्तु के प्रति उन्मुखता एवं (आ) वे क्रियाएँ जिनका अन्त शरीर में होता है जैसे कि टहलने की हमारी इच्छा जिसका अनुसरण पैरों की गति करती है।

भावावेग (passion) अथवा यदि अधिक पारिभाषिक शब्द में कहें तो 'प्रत्यक्ष' (perception) अर्थात् ज्ञान के रूप भी दो प्रकार के होते हैं— (१) स्वतन्त्र एवं (२) नियंत्रित। (१) ज्ञान के स्वतन्त्र रूप वे हैं जिनको हमारी आत्मा उत्पन्न करती है और जिनमें शरीर का योगदान कुछ भी नहीं रहता है। ज्ञान के ये रूप स्वतन्त्र इच्छा की क्रिया से उत्पन्न होते

१. हाल्डे० भाग १—४३४ २. हाल्डे० भाग १—३४०।

हैं जैसे कि वे कल्पनात्मक रचनायें जिनकी सृष्टि कवि अथवा अन्य कोई कलाकार करता है जैसे कि ऐन्द्रजालिक रचित वह राजप्रासाद जिसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार की कलात्मक कृतियों की रचना शरीर नहीं करता। उनकी उत्पत्ति का प्रधान कारण ज्ञान तन्तुओं का संचालन नहीं है। (२) ज्ञान के नियंत्रित रूप वे हैं जो किसी न किसी रूप में बाह्य उत्प्रेरक वस्तु से उत्पन्न होते हैं।

डेकार्ट का भावावेगविषयक सिद्धान्त

जैसा कि हम कह चुके हैं डेकार्ट के मतानुसार सौन्दर्यानुभव वह बौद्धिक आनन्द है जिसका सहचर एक भाव अवश्य होता है। अतएव डेकार्ट के स्वतन्त्र कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को पूर्णतया समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनके भावावेगविषयक सिद्धान्त को स्पष्टतया समझ लें।

डेकार्ट के मतानुसार भाव न तो एकमात्र मन से उत्पन्न होते हैं और न एकमात्र शरीर से ही उद्भूत होते हैं। वरन् उनकी उत्पत्ति मन एवं शरीर के घनिष्ट संयोग[1] से होती है। वे ज्ञान के वे रूप हैं जिनको हम केवल आत्मा से ही सम्बन्धित करते हैं एवं जिनका अनुभव हम इस प्रकार से करते हैं मानों वे स्वयं आत्मा में ही हों जैसे कि सुख दुःख आदि। वे क्रिया से विरुद्ध स्वभाव के होते हैं। इस रूप में वे उन बहिर्भूत वस्तुओं के कारण उत्पन्न होते हैं जो प्रत्यक्ष का विषय होती हैं। कभी-कभी उनकी उत्पत्ति अन्य कारणों से भी होती है।

कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि भावावेग का अनुभव हृदय में होता है क्योंकि भावावेगानुभव हृदय में होने वाले परिवर्तनों का अनुभव होता है और इसलिए आत्मा का निवासस्थान हृदय में है। परन्तु डेकार्ट यह मानते हैं कि आत्मा भावावेग का अनुभव इस कारण नहीं करती है कि आत्मा का निवासस्थान हृदय में है वरन् इस कारण करती है कि जिस प्रकार से नेत्र मस्तिष्क से सूक्ष्म ज्ञानतन्तुओं से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार से हृदय मस्तिष्क[2] से सूक्ष्म ज्ञान तन्तुओं से सम्बन्धित है।

भावावेगेन्द्रिय

इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की व्याख्या में हम यह कह चुके हैं कि डेकार्ट इन्द्रियों की संख्या सात मानते हैं। इनमें से पांच इन्द्रियां बाह्य तथा दो आन्तर हैं।

---

१. हाल्डे० भाग १—२३८ २. हाल्डे० भाग १—३४६

हम बाह्य इन्द्रियों का वर्णन गत एक उपप्रकरण में कर चुके हैं। आन्तर इन्द्रियां (१) एषणेन्द्रिय (appetite) एवं (२) भावावेगेन्द्रिय हैं। वे ज्ञानतन्तु जो उदर एवं इसी प्रकार के अन्य शारीरिक अङ्गों में विस्तीर्ण हैं और प्राकृतिक इच्छाओं को तृप्त करने में सहायक हैं एक आन्तर इन्द्रिय की रचना करते हैं जिसको एषणेन्द्रिय[1] के नाम से अभिहित करते हैं। वे छोटे-छोटे ज्ञानतन्तु जो मस्तिष्क से लेकर हृदय तक अथवा उसके निकट प्रदेश में विस्तीर्ण हैं तथा भावों को जाग्रत करने में क्रियाशील होते हैं भावावेगेन्द्रिय को रचना करते हैं।

भावावेगजागृति की प्रक्रिया

बाह्य इन्द्रियों से उपलब्ध एक प्रतिच्छाया यदि उस वस्तु से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है जो अतीत काल में आघातकारी सिद्ध हुई थी तो उससे भय अथवा साहस जैसे भाव उत्पन्न होते हैं। इन भावावेगों की उत्पति व्यक्ति के स्वभाव एवं अन्य कारणों जैसे सुरक्षा के ज्ञान अथवा संकटग्रस्त होने के ज्ञान के अनुसार होती है। यह प्रतिच्छाया जीवधारी चेतन वृतियों को विविध रूपों में प्रवाहित करती है (१) आंशिक रूप से उन ज्ञानतन्तुओं में जो या तो वस्तु से पलायन करने की प्रवृत्ति हममें उत्पन्न करती हैं या हमको साहस-पूर्वक सामना करने के लिए उत्प्रेरित करती हैं। एवं (२) आंशिक रूप से उन ज्ञानतन्तुओं में जो हृदय के कपाटों को विस्तृत अथवा संकुचित करते हैं अथवा उन अंशों को क्षुभित करते हैं जहां से हृदय को रक्त भेजा जाता है। यह रक्त वहां पर पतला हो जाता है और मस्तिष्क को वे चेतन वृत्तियां भेजता है जो जागृत भावों को पोषित एवं शक्तिसंपन्न करने में सर्वथा समर्थ हैं।

मस्तिष्क के रन्ध्रों में प्रवेश करने वाली जीवधारी चेतन वृत्तियां मांस ग्रन्थि में एक विशेष गति को उत्पन्न करती हैं और आत्मा को भावावेग का अनुभव कराती हैं। भावावेगों का अनुभव अधिकांशतः हृदय में होता है क्योंकि वे रन्ध्र जिनसे जीवधारी चेतन वृत्तियां प्रवाहित होती हैं साक्षात् उन ज्ञानतन्तुओं से सम्बन्धित हैं जो हृदय के द्वारों को संकुचित अथवा विस्तृत करते हैं।

---

१ हाल्डे० भाग १ —२९०

भावावेग का यान्त्रिक स्वरूप (mechanism)

डेकार्ट यह मानते हैं कि शरीर में एक निश्चितस्वरूप ऐसा विशिष्ट यंत्र है जिसके आधार पर भावावेग का स्पष्टीकरण करना चाहिए। उन्होंने भावावेगों का जो वर्गीकरण किया है वह उस रक्त के गतिभेद पर निर्भर है जो हृदय के अन्दर आता एवं उससे बाहर जाता है तथा इस गति के परिणामस्वरूप जो रक्त में परिवर्तन होता है। वे यह मानते हैं कि भावावेगों को पाशविक चेतन वृत्तियां पोषित करती हैं—पुष्ट करती हैं एवं सुरक्षित रखती हैं। अतएव भावावेगों का वर्गीकरण करने एवं प्रमुख भावों की व्याख्या करने के पूर्व यह आवश्यक है कि (१) शरीर के प्रधान भागों की क्रियाएँ (function) (२) हृदय एवं (३) जीवधारी चेतन वृत्तियों की संक्षिप्त व्याख्या करें।

(१) शरीर के प्रमुख अंगों की क्रियाएँ

जो भोजन हम करते हैं वह उदर तथा आंतों[1] में पहुँचता है। वहां पर उसका द्रवीकरण होता है। यह द्रव यकृत तथा सभी रक्तधमनियों में प्रवेश करता है। वहाँ पर वह पूर्वसंचित रक्त से मिश्रित होता है और उसकी मात्रा में वृद्धि करता है।

रक्त की धमनियों में जितना भी रक्त है वह (१) एक विशेष धमनी जिसको वेना कावा कहते हैं उसमें होकर हृदय के दक्षिण पक्ष में प्रवेश करता है। (२) वहां से मुख्य रक्तधमनी (arterial vein) की सहायता से फेफड़ों में प्रवेश करता है (३) फेफड़ों से यह रक्त वीनस नामक रक्त धमनी[2] से होकर हृदय के वामपक्ष में प्रवेश करता है (४) वहां से यह रक्त उस विशाल धमनी (great artery) में प्रवेश करता है जिसकी उपशाखाएँ पूरे शरीर भर में फैली हुई हैं।

हृदय में आनेवाला रक्त पतला होकर हृदय के दक्षिण पक्ष से मुख्य रक्त धमनी में तथा उसके वाम पक्ष से विशाल धमनी में जाने की चेष्टा करता है। जैसे वह रक्त जो पतला हो गया है हृदय से बाहर निकल कर शरीर के विभिन्न अङ्गों की ओर चलता है वैसे ही हृदय के दक्षिण पक्ष में वेना कावा से और हृदय के वामपक्ष में वीनस रक्त धमनी से नया रक्त प्रवेश करता है। नाड़ियों के स्पन्दन एवं हृदय की गति का कारण रक्त की गति है।

---

१ हाल्डे भाग १—३३३ २. हाल्डे भाग १—३३५

(२) हृदय

अपने प्रवचन (discourse) के पांचवें भाग में डेकार्ट ने अन्य विषयों के साथ हृदय-गति[1] का स्पष्टीकरण किया है। एवं एक मनुष्य की तथा एक पशु की आत्मा के भेद को स्पष्ट किया है।

समकालीन शरीर व्यवच्छेद विद्या (anatomy) एवं हार्वे प्रतिपादित रक्त परिचालन (blood circulation) के सिद्धान्त–जिसका उल्लेख उन्होंने स्पष्ट रूप में किया है—से प्रभावित होकर डेकार्ट ने हृदय के स्वरूप के विषय में निम्नलिखित[2] मत प्रकट किया था :—

हृदय में दो कोष्ठ अथवा कुहर हैं—उनमें से एक कोष्ठ दक्षिण भाग में है और दूसरा वाम भाग में है।।

(अ) दो लम्बी नलियां अथवा नालियाँ हैं जो हृदय के दक्षिण पक्ष के अनुरूप हैं।

(१) वेना कावा

यह रक्त का मुख्य भाजन है। यह वृक्ष के एक मुख्य तने की भाँति है जिसकी शरीर की सभी नाड़ियां शाखास्वरूप हैं।

(२) प्रधान रक्तधमनी (arterial vein)

यह एक धमनी है जो हृदय से उद्भूत होती है। हृदय से निकलने के उपरान्त यह अपने को अनेक शाखाओं में विभाजित कर लेती है। ये शाखाएँ अपने को सर्वत्र फेफड़ों में विकीर्ण कर देती हैं।

(आ) इसी प्रकार से हृदय के वामपक्षस्थ कुहर के अनुरूप दो नलियां अथवा नालियां हैं।

(१) वीनस रक्त धमनी (venous artery)

यह केवल एक नाड़ी (vein) है जो फेफड़े से आती है। यह अनेक शाखाओं में विभक्त है। इसकी शाखाएँ (अ) प्रधान रक्त धमनी (arterial vein) एवं (आ) उस श्वास नलिका से सम्बन्धित हैं जिसमें से श्वास वायु आती और जाती है।

(२) विशाल रक्त धमनी (great artery)

यह हृदय से उद्भूत होती है और इसकी शाखाएँ पूरे शरीर में फैली हुई हैं।

---

१. हाल्डे० भाग १—८१ २. हाल्डे० भाग १—११०

झिल्लियाँ (membrances)

हृदय में पूर्वकथित चार नलिकाएँ चार प्रवेशद्वार हैं। और ग्यारह छोटी-छोटी झिल्लियां (membrances) हैं जो द्वारकपाटों का काम करती हैं और नलिका रूप मार्गों को बन्द करती हैं और खोलती हैं।

वेना कावा के प्रवेशमार्ग पर तीन झिल्लियाँ हैं। वे इस प्रकार से व्यवस्थित हैं कि किसी भी प्रकार से वे वेना कावा में विद्यमान रक्त को हृदय के दक्षिण रन्ध्र भाग में प्रवाहित होने से नहीं रोक सकती हैं वे केवल रक्त को बाहर जाने से रोकती हैं।

प्रधान रक्त धमनी (arterial vein) के प्रवेशमार्ग पर भी तीन झिल्लियां हैं। वे इस प्रकार से व्यवस्थित हैं कि वे हृदय के दक्षिण रंध्र में वर्तमान रक्त को फेफड़ों में जाने दें। परन्तु वे झिल्लियां फेफड़ों में वर्तमान रक्त को हृदय के दक्षिण रंध्र में वापस जाने से रोकती हैं।

वेनस रक्त धमनी के मुख भाग पर दो झिल्लियां हैं जो फेफड़ों में वर्तमान रक्त को हृदय के वामरंध्र में प्रवाहित होने देती हैं परन्तु उसको पीछे की ओर लौटने नहीं देतीं।

इसी प्रकार से विशाल धमनी के मुखभाग पर तीन झिल्लियां हैं जो हृदय से बाहर शरीर में रक्त को प्रवाहित तो होने देती हैं परन्तु उसको वापस नहीं होने देतीं।

वेनस रक्त धमनी एवं वेना कावा की अपेक्षा विशाल रक्त धमनी तथा प्रधान रक्त धमनी बहुत अधिक कठोर तथा मजबूत है। वेनस रक्त धमनी तथा वेना कावा हृदय में प्रवेश करने के पूर्व विस्तृत होती हैं और दो जेबों की रचना करती हैं जिनको हृत्कोष्ठ (auricles) कहते हैं।

शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा हृदय में सर्वाधिक ऊष्णता रहती है। इस ऊष्णता में इतनी अधिक शक्ति है कि हृदय के विवरों में प्रविष्ट रक्त के किसी भी बिन्दु को प्रसारित एवं विस्तृत कर सकती है। जिस समय ये विवर रक्त पूर्ण नहीं होते हैं उस समय आवश्यक मात्रा में रक्त वेना कावा से दक्षिण विवर में एवं वेनस धमनी से वाम विवर में उनको भरे रखने के लिए प्रवाहित होता है।

जैसे ही रक्त की दो बड़ी बूँदें हृदय के दो विवरों में से प्रत्येक में एक बिन्दु विशाल मुखमार्गों से (जो हृदय में प्रविष्ट वेनस धमनी एवं वेना कावा

के प्रसृत भागों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं) प्रवेश करती हैं तो उनका प्रसारण एवं विस्तारण हृदय की ऊष्णता के कारण होता है।

रक्त की ये विस्तारित बून्दें सम्पूर्ण हृदय के विस्तारित होने का कारण बनती हैं। वे अन्दर प्रवेश करती हैं और छोटे-छोटे उन पांच द्वारों को बन्द कर देती हैं जो हृदय के उन दो विवरों के मुख भाग पर हैं जिनसे होकर वे प्रवेश करती हैं। इस प्रकार से ये हृदय में अधिक रक्त के आगमन को रोकती हैं। जब उनका भलीभाँति विस्तारण हो जाता है तो रक्त के ये बिन्दु उन छः कपाटों को खोलते हैं जो उस स्थान पर हैं जहां पर विशाल धमनी और प्रधान धमनी हृदय से मिलती हैं और वे उनसे होकर बाहर जाते हैं।

इस प्रकार से विरलीकृत अथवा विस्तारित रक्त की ये दो बून्दें विशाल धमनी एवं प्रधान धमनी की सभी शाखाओं को लगभग उसी समय में विस्तारित करती हैं जिस समय में वे हृदय का विस्तारण करती हैं। ये दो नलिकाएँ जिनमें से होकर विरलीभूत रक्त प्रवाहित होता है एवं उनकी शाखाएँ लगभग तुरन्त ही संकुचित हो जाती हैं क्योंकि रक्त ठण्डा हो जाता है। तब छः कपाट बन्द हो जाते हैं। इसके पश्चात् वेना कावा तथा वेनस धमनी के पांच कपाट खुलते हैं और दो अन्य रक्त के बिन्दु हृदय में प्रवेश करते हैं। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

हृदय के कोष्ठों (auricles) की गति हृदय की गति से विपरीत है। हृदय के प्रसारण के समय उनका संकोचन होता है क्योंकि वे अपने को हृदय में रिक्त करते हैं। हृदय में वर्तमान ऊष्णता रक्त[1] की सहायता से शरीर के अन्य अंगों तक पहुँचती है। यह रक्त हृदय से प्रवाहित होने के कारण ऊष्ण हो जाता है और उसके पश्चात् शरीर भर में प्रसारित होता है।

श्वास-क्रिया का प्रयोजन फेफड़ों में पर्याप्त शुद्ध वायु को ले जाना इसलिए है कि वह रक्त (जो हृदय के दक्षिण विवर रन्ध्र में से जहां पर वह विरलीभूत एवं वाष्पीभूत होता है फेफड़ों में आया है) हृदय के उस वाम रन्ध्र में जाने के पूर्व घनीभूत तथा फिर से रक्त रूप में परिवर्तित हो सके। पाचन क्रिया उदर में इसलिए होती है क्योंकि हृदय थोड़ी-सी अपनी ऊष्णता तथा थोड़ा-सा अपना रक्त धमनियों की सहायता से उदर में पहुँचा देता है। यह उष्णता तथा रक्त उदरस्थ भोजन का द्रवीकरण करने में सहायक होते हैं।

---

१. हाल्डे० भाग १—११४

(३) पाशविक चेतन वृत्तियाँ (Animal Spirits)

जीवधारी चेतनवृत्तियां हृदय में जन्म लेती हैं। ये चेतनवृत्तियां उस अत्यन्त सूक्ष्म वायु अथवा उस अत्यन्त सूक्ष्म अग्निशिखा के समान हैं जो अत्यन्त शुद्ध एवं अत्यन्त सजीव (vivid) है। वे हृदय से मस्तिष्क पर पहुँचती हैं। मस्तिष्क से वे ज्ञानतन्तुओं तथा मांसपेशियों की ओर गतिमान होती हैं एवं भौतिक शरीर के विभिन्न अंगों को गति की शक्ति प्रदान करती हैं। ये जीवधारी चेतनवृत्तियां अत्यन्त क्षुभित एवं अत्यन्त तीक्ष्ण रक्त के कणों से निर्मित हैं।

हृदय से विरलीकृत ये सजीव (animated) एवं सूक्ष्म रक्त के अंश बड़ी मात्राओं में निरन्तर मस्तिष्क की ओर गतिमान रहते हैं। इसका कारण यह है कि उस रक्त को ले जाने वाली धमनियां इस प्रकार की हैं जो मस्तिष्क की ओर सर्वाधिक सीधे मार्ग से होकर जाती हैं। परन्तु मस्तिष्क में मार्ग अत्यन्त संकुचित हैं अतएव सभी रक्त उसमें प्रवेश नहीं कर पाता है। इस प्रकार से रक्त के केवल वे ही अंश इसमें प्रवेश कर पाते हैं जो सर्वाधिक द्रुतगामी एवं सूक्ष्म हैं। वे अवशिष्ट अंश जो सर्वाधिक दुर्बल तथा सर्वाधिक अक्षुभित हैं अलग कर दिए जाते हैं। ये ही सर्वाधिक क्षिप्रगामी एवं सूक्ष्मतम रक्त कण जीवधारी चेतनवृत्तियां हैं।

ये वृत्तियां कभी भी विश्रान्त दशा[1] में नहीं रहती हैं। ठीक उसी समय जब रक्त के कुछ सूक्ष्म कण मस्तिष्क के रन्ध्रों में प्रवेश करते हैं तब रक्त के अन्य कण मस्तिष्क द्रव्य (brain substance) में वर्तमान रन्ध्रों से निकलने लगते हैं। मस्तिष्क के ये रन्ध्र उनको ज्ञानतन्तुओं में और वहां से मांसपेशियों तक पहुँचाते हैं। इस प्रकार से जीवधारी चेतन वृत्तियां प्रत्येक सम्भावित रूप में शरीर का संचालन करती हैं।

मस्तिष्क से जीवधारी–चेतन वृत्तियों के प्रवाहित होने के तीन कारण

जीवधारी चेतनवृत्तियों की गति के तीन कारण हैं :—

(१) आत्मा की क्रिया जैसे की स्वतन्त्र कल्पना आदि के सम्बन्ध में।

(२) शरीर की इन्द्रियों में उनकी बाह्य विषयवस्तु से उत्प्रेरित गतियों की विभिन्नता।

---

१. हाल्डे० भाग १–३३६

(३) जब मस्तिष्क में नूतन जीवधारी चेतनवृत्तियां प्रवेश करती हैं तो वे वहां वर्तमान जीवधारी चेतनवृत्तियों को प्रवाहित करती हैं।

जीवधारी चिद्वृत्तियों में भेद के कारण

१. उस भोजन में भेद जिससे वह रक्त बनता है जिसके सूक्ष्मतम अंश जीवधारी चेतनवृत्तियों[1] की रचना करते हैं, अनेक कारणों में से एक कारण है जो उनमें (चेतन वृत्तियों में) पारस्परिक भेद उत्पन्न करता है।

२. दूसरा कारण है—शरीर के उन भागों में भेद जिनसे अन्य भागों की अपेक्षा हृदय में अधिक रक्त आता है।

जीवधारी चेतनवृत्तियाँ एवं स्वतन्त्र क्रिया

आत्मा शरीर के बाह्यांगों को साक्षात् संचालित नहीं करती है। यह केवल सूक्ष्म[2] द्रव पदार्थ को (जिसको जीवधारी चेतनवृत्तियां कहते हैं) संचालित करती है एवं इस पदार्थ को निश्चित गतियों का कारण बनाती है। अपने स्वभाव में जीवधारी चेतनवृत्तियों में इतनी क्षमता है कि विभिन्न क्रियाओं के लिए उनका उपयोग किया जा सकता है।

जीवधारी चेतनवृत्तियाँ एवं परतन्त्र क्रिया

बाह्यवस्तुजनित उत्प्रेरणा (stimulus) से उत्तेजित गतियां जीवधारी चेतनवृत्तियों को कुछ मांसपेशियों की ओर संचालित करतीं हैं एवं अंगों की गतियों का कारण बनती हैं। इस प्रकार से परतन्त्र क्रिया बाह्यउत्प्रेरणा-जनित[3] वह प्रतिक्रिया है जिसमें इच्छा शक्ति का कोई हाथ नहीं होता जैसे कि जब कोई मित्र हमारी आँख पर आघात करने के लिए अपने हाथ को हमारे सामने तानता है तो हमारे नेत्र स्वयं अपने आप बन्द हो जाते हैं। यह क्रिया इच्छाशून्य अथवा स्वयंभूत क्रिया (reflex) है। विभिन्न ज्ञानतन्तुओं के उत्प्रेरित होने के कारण जीवधारी चेतनवृत्तियों के गतिपथों में विभिन्नता होती है और इसी के अनुरूप शारीरिक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती है। अब हम अपना ध्यान डेकार्ट कृत भावावेग की व्याख्या की ओर देगें।

---

१. हाल्डे० भाग १–३३८–९   २. हाल्डे० भाग २–१०३

३. हाल्डे० भाग १–३३८

मूल भावावेग (Primary emotions)

मूल[1] भावावेगों की संख्या केवल छः है—आश्चर्य, प्रेम, घृणा, इच्छा, सुख एवं दुःख। ये प्राचीनतम भावावेग हैं। ये अन्य सब भावों के जनक हैं। अन्य सभी भाव इन छः भावों में से कुछ को मिलाकर बने हैं अथवा वे इनकी उपजातियाँ हैं।

(१) आश्चर्य

आत्मा का सहसा चकित होना आश्चर्य है। यह हमारे ध्यान को दुर्लभ तथा असाधारण वस्तु पर केन्द्रित करता है। यह मस्तिष्क में एक उस मूर्त प्रभाव (impression) से उत्पन्न होता है जो वस्तु की दुर्लभता को प्रकट करता है और इसलिए ध्यान देने के योग्य बनाता है। इसका पालन एवं इसका रक्षण उन जीवधारी चेतनवृत्तियों से होता है जो मस्तिष्क के उन भागों की ओर प्रवाहित होती हैं जहां पर आश्चर्यकारी मूर्त प्रभाव अंकित है।

अन्य भावावेगों से आश्चर्य का यह भावावेग इस बात में भिन्न है कि इसके अनुभव में हृदय अथवा रक्त में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। आश्चर्य के भाव की इस विलक्षणता का कारण यह है कि जिस वस्तु से यह उत्पन्न होता है वह वस्तु न 'इष्ट' है और न 'अनिष्ट' ही है। इष्ट एवं अनिष्ट के ही ज्ञान हृदय को प्रभावित करते हैं। आश्चर्य के भावावेग का सम्बन्ध केवल मस्तिष्क से है। यह लगभग सभी भावावेगों के किसी न किसी एक अंश की रचना करता है।

(२) प्रेम

प्रेम[2] आत्मा का एक भावावेग है। यह उन जीवधारी चेतनवृत्तियों की गति से उत्पन्न होता है जो हमको रुचिकारी वस्तु से इच्छापूर्वक मिलने के लिए उत्तेजित करता है। भावावेगों के रूपों में प्रेम एवं घृणा दोनों ही उन बौद्धिक निर्णयों से भिन्न हैं जो आत्मा को स्वेच्छापूर्वक निर्णीत इष्ट से मिलने के लिए और निर्णीत अनिष्ट से दूर रहने के लिए प्रेरित करते हैं।

अत्यधिक प्रेम[3] हमको प्रिय वस्तु से इतनी पूर्णता से मिला देता है कि आत्मप्रेम एवं वस्तु के प्रति प्रेम में कोई भेद नहीं रह जाता। अपनी पराकाष्ठा पर प्रेम का भाव तादात्म्य की ओर ले जाता है।

---

१. हाल्डे० भाग १–३६२ २. हाल्डे० भाग १–३६६

३. हाल्डे० भाग १–३९३

अनुराग (affection) मित्रता तथा भक्ति

अपनी वस्तु को जितना अधिक महत्त्व का हम मानते हैं उसी के अनुसार प्रेम का भाव भिन्न[1] होता है ।

१. जब हम एक वस्तु का महत्त्व अपने से कम मानते हैं तो हममें उस वस्तु के प्रति केवल अनुराग मात्र ही होता है । इस प्रकार से फूलों, पशुओं आदि के प्रति जो हमारा भावजनित आकर्षण है वह अनुराग मात्र है ।

२. जब हम किसी वस्तु का महत्त्व अपने तुल्य मानते हैं तो उससे जो भाव उत्पन्न होता है उसको मित्रता कहते हैं । यह केवल मनुष्यों में ही होती है ।

३. परन्तु जब हम एक वस्तु का महत्त्व अपने से अधिक मानते हैं तो इस मान्यता से उत्पन्न भाव को श्रद्धा अथवा भक्ति कहते हैं । इसका प्रधान विषय वह परमेश्वर है जिसके प्रति श्रद्धालु हुए बिना हम उस समय नहीं रह सकते जब कि उसको हम जान जाते हैं जिसको जानना हमारा कर्तव्य है । परन्तु राजा, देश, नगर और यहां तक कि एक विशेष गुणी व्यक्ति भी श्रद्धा का पात्र बन सकता है ।

अनुराग, मित्रता, श्रद्धा तीन प्रकार के प्रेमों में परस्पर भेद का कारण यह है कि प्रिय वस्तु को विशेषतया संकट की दशा में जो महत्त्व हम प्रदान करते हैं वह भिन्न-भिन्न होता है । क्योंकि उपर्युक्त तीन प्रकारों की प्रेम की दशाओं में से प्रत्येक में हम अपने को प्रियवस्तु के साथ संयुक्त अथवा एकात्म समझते हैं अतएव हम उस एक सम्पूर्ण (whole) की कल्पना[2] करते हैं जिसका अपने को हम केवल एक भाग मानते हैं और प्रिय वस्तु को उसका दूसरा भाग समझते हैं । और हम उस संपूर्ण के जिसका एक भाग हम अपने को मानते हैं अधिक महत्त्व वाले भाग की रक्षा के लिए कम महत्त्व वाले भाग का परित्याग करने के लिए सर्वदा उद्यत रहते हैं । इस प्रकार से अनुराग में हम प्रिय वस्तु से अपने को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं । उदाहरण के लिए एक पुष्प की रक्षा करने के लिए हम अपने को संकट में नहीं डाल देते । परन्तु श्रद्धा अथवा भक्ति में हम प्रिय वस्तु को अपने से इतना अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं कि उसकी रक्षा करने के लिए हम मृत्यु से भी भयभीत नहीं होते । अतएव यह देखने में आता है कि लोग उस

---

१. हाल्डे० भाग १–३६८ २. हाल्डे० भाग १–३६६

राजा, देश, नेता अथवा धर्म की रक्षा में अपने जीवन को बलिदान कर देते हैं जिस के प्रति उनके मन में श्रद्धा का भाव है।

आनन्द (delight) तथा प्रेम

उस वस्तु का उपभोग जो सुखद है और हमारे अन्तःकरण में अपने प्रति उत्कट अभिलाषा को उत्पन्न करती है आनन्द है। यह अनेक प्रकार का है। अतएव विविध प्रकार के आनन्दों से उत्पन्न अभिलाषाएँ भी समान रूप में शक्तिवान नहीं होती हैं। इस प्रकार से कुसुमों का सौन्दर्य हममें केवल उनको देखने भर की ही अभिलाषा उत्पन्न करता है। सर्वाधिक आनन्द अतएव सबलतम अभिलाषा उस पूर्णता (perfection) से उत्पन्न होती है जिसकी कल्पना हम उस व्यक्ति में करते हैं जिसके विषय में हम यह विचारते हैं कि वह हमारी दूसरी आत्मा बन सकता है। इसके कारण को निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं :—

मनुष्यों और पशुओं में प्रकृति केवल लिंग भेद को ही उत्पन्न करने का कारण नहीं है वरन् मस्तिष्क में कुछ संस्कारों (impressions) को भी उत्पन्न करने का कारण है। इन संस्कारों के कारण युवावस्था में एवं अनुकूल परिस्थितियों में वे अपने को न्यून, अपूर्ण अथवा एक उस सम्पूर्णता का अर्धभाग भर ही मानने लगते हैं जिसका अपर अर्धभाग दूसरे लिंग का प्राणी है। इस प्रकार से प्रकृति अपरार्ध की प्राप्ति को अस्पष्ट रूप से कल्पित इष्टों[1] में से सर्वोत्तम इष्ट के रूप में प्रकट करती है।

अतएव जिस समय हम किसी व्यक्ति में ऐसा कुछ पाते हैं जिसके कारण वह (पुरुष) अथवा वह (नारी) अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक रुचिकारी लगता है तो आत्मा में उसके प्रति प्रबल आकर्षण उत्पन्न होता है क्योंकि प्रकृति ने उसको सर्वश्रेष्ठ इष्ट के रूप में प्रकट किया है। आनन्द से उद्भूत इस आकर्षण अथवा अभिलाषा को शब्द के शुद्धार्थ के अनुसार 'प्रेम' कहते हैं। यही प्रेम 'प्रेमकथाओं के लेखकों' तथा 'कवियों' के लिए विषय-सामग्री जुटाता है।

प्रेम में रक्त तथा चेतनवृत्तियों की गतियाँ

जिस समय बुद्धि एक प्रेमपात्र वस्तु की प्रतिकृति चित्रित करती है उस समय मस्तिष्क में कुछ मूर्त चिह्न उत्पन्न होता है। इस मूर्त चिह्न के कारण

---

१. हाल्डे० भाग १–३७१

जीवधारी चेतनवृत्तियाँ आंतों एवं उदर को घेरने वाली मांसपेशियों के प्रति इस प्रकार से गतिमान होती हैं कि अन्न का वह रस जो नए रक्त में परिवर्तित हुआ है बिना यकृत में रुके हुए शीघ्रता से हृदय में पहुँच जाता है।

अपने घनत्व के कारण यह रक्त उस रक्त की अपेक्षा अधिक सशक्त होता है जो शरीर के दूसरे भागों से हृदय में आता है। सामान्य रक्त की अपेक्षा यह अधिक अपरिष्कृत (coarse) होता है और इसलिए हृदय में अधिक उष्णता उत्पन्न करता है एवं उन अपेक्षाकृत अपरिष्कृत जीवधारी चेतनवृत्तियों को उत्पन्न करता है जो मस्तिष्क तक ऊपर पहुँच जाती हैं, प्रेमपात्र वस्तु के मूर्त चिह्न की रक्षा करती हैं एवं इस मूर्त चिह्न पर आत्मा को विरमित कर देती हैं।

३. घृणा

घृणा आत्मा का एक भावावेग है। इसका कारण उन जीवधारी चेतन-वृत्तियों की गति है जो आघातकारी वस्तु से विलग होने की अभिलाषा को आत्मा में उत्तेजित करती है। घृणा की भावावेश दशा में हम अपने को सम्पूर्ण मानते हैं और घृणित वस्तु को अपने से विलग मानते हैं एवं प्रेम की भावावेग की दशा की भांति उसको अपनी सम्पूर्णता का अंश नहीं मानते।

घृणा में हृदय की दशा एवं रक्त की गति

जिस समय बुद्धि अपने सामने एक घृणाजनक वस्तु का प्रतिरूप उपस्थित करती है उस समय यह प्रतिरूप मस्तिष्क में एक ऐसा मूर्त चिह्न (संस्कार, वासना) उत्पन्न करता है जो जीवधारी चेतनवृत्तियों को उदर, आंतों तथा मांसपेशियों की ओर ले जाता है। प्रेम की दशा के विपरीत चेतनवृत्तियाँ उन रन्ध्रों को वन्द कर देती हैं जिनमें से जाकर अन्न का रस रक्त से मिल सकता है। दुःखदायी अथवा कुरूप का मूर्त चिह्न जीवधारी चेतनवृत्तियों को इस प्रकार से प्लीहा (spleen) तथा यकृत के निचले भाग की ओर जहां पित्त रहता है संचालित करता है जिससे कि वह रक्त हृदय को जाता है जो इन भागों से निकलता है और उस रक्त के साथ बहता है जो वेना कावा रक्तवाहिनी की प्रशाखाओं में वर्तमान है। प्लीहा से आने वाला रक्त बहुत कम ऊष्ण तथा विरल होता है। परन्तु जो रक्त यकृत के पित्तपूर्ण निम्न भाग से आता है वह उद्दीप्त होता है और अत्यन्त शीघ्रता से विस्तारित हो जाता है। इस प्रकार से हृदय में वर्तमान रक्त की ऊष्णता में विषमता होती है,

रक्त की गति में असमानता होती है और इस लिए जीवधारी चेतनवृत्तियों में भी असमानता होती है।

घृणा की उपजाति (species) के रूप में क्रोध

क्रोध[1] उस घृणा अथवा द्वेष की उपजाति है जो उस व्यक्ति के प्रति उत्पन्न होता है जिसने वास्तव में हमको हानि पहुँचाई है अथवा कम से कम हमको हानि पहुँचाने की प्रबल चेष्टा की है। हमको प्रभावित करने वाली वह क्रिया इसका आधार है जिसका प्रतिशोध लेने की अभिलाषा हमारे मन में है। यह एक ऐसा भावावेग है जो उसी प्रकार से कृतज्ञता का विरोधी है जिस प्रकार से मन्दक्रोध (indignation) अनुग्रह का विरोधी होता है। क्रोध मन्दक्रोध से अधिक हिंसक है क्योंकि इसमें प्रतिशोध का भावावेग सर्वाधिक प्रबल होता है और सदैव बना रहता है।

क्रोध की दशा में अभिलाषा आत्मप्रेम से संयुक्त होती है। अतएव इस भावावेग के प्रभाव में रक्त का क्षोभण उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार से साहस तथा वीरता की भावदशा में होता है। परन्तु क्रोध घृणा से मिश्रित रहता है। एवं घृणा के कारण ही रक्त में पित्त का अधिकांश भाग होता है क्योंकि यह प्लीहा एवं यकृत की लघु धमनियों से आता है। यह पित्तमिश्रित रक्त क्षुभित होता है एवं हृदय में प्रवेश करता है और उसमें उस ऊष्णता को उत्तेजित करता है जो प्रेम अथवा आनन्द की भावदशा की ऊष्णता से अधिक तीव्र होती है।

४. अभिलाषा

अभिलाषा[2] एक भावावेग है—यह आत्मा की एक क्षोभपूर्ण दशा है जो जीवधारी चेतनवृत्तियों से उत्पन्न होती है। यह आत्मा की केवल उन वस्तुओं की रक्षा करने तथा उनको प्राप्त करने के लिए ही अभिलाषापूर्ण नहीं बनाती जिनको वह इष्टकारी मानती है वरन् वर्तमानकालीन एवं भविष्यकालीन अनिष्टों का निवारण करने के लिए भी उसको अभिलाषापूर्ण बनाती है। विविध काम्य वस्तुओं के आधार पर अभिलाषा को अनेक वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इस प्रकार से उस प्रतिष्ठा की अभिलाषा एक प्रकार की है जिसमें वीरता का भावावेग होता है और प्रतिशोध लेने की अभिलाषा दूसरे प्रकार की अभिलाषा है।

---

१. हाल्डे० भाग १–४२० २. हाल्डे० भाग १–३६९

अभिलापा में हृदय की दशा

किसी इष्ट को प्राप्त करने की अथवा किसी अनिष्ट से बचने की अभिलापा क्षिप्र गति से मस्तिष्क से जीवधारी चेतनवृत्तियों को शरीर के उन सब भागों को जिनका संचालन इच्छित फल की प्राप्ति में सहायक है, विशेषतया हृदय तथा शरीर के अधिक से अधिक रक्त प्रदान करने वाले भागों को प्रेरित करती है। इस प्रकार से सामान्य दशा की अपेक्षा अधिक रक्त[1] हृदय को प्राप्त हो जाता है।

५. हर्ष

डेकार्ट के कलाविपयक सिद्धान्त के समुचित प्रसंग में हम हर्ष की व्याख्या करेंगे।

(६) वेदना अथवा दुःख

वेदना एक अनचाही क्लान्ति है। यह विकलतापूर्ण क्षोभ है। इसका कारण वर्तमान अथवा स्मृतिगत अनिष्ट है अथवा अपने अन्तःकरण में किसी दोप का बोध है।

दुःख की दशा में ज्ञानतन्तुओं का जो समूह उत्तेजित होता है वह वही समूह है जो सुख की दशा में उत्तेजित होता है और इन दोनों अनुभवों की उत्पादक प्रक्रिया भी एक समान है। परन्तु दोनों में भेद[2] यह है कि सुख की दशा में एक उष्णता होती है जिससे रक्त में तरलता एवं क्षिप्रता उत्पन्न होती है और दुःख में रक्त शीलत होता है जिसके परिणामस्वरूप उसमें प्रगाढता तथा मन्दता उत्पन्न होती है।

दुःख की दशा[3] में वह स्नायु जो हृदय के मुख भागों को घेरे रहती है उन मुखों को इतना अधिक संकुचित कर देती है और रक्तधमनियों में रक्त इतना अधिक मन्द होता है कि उसका बहुत कम अंश हृदय तक पहुँच पाता है।

प्रेम, भय, क्रोध तथा अन्य भावावेगों का सामान्य कारण स्नायुओं के एक ही समूह की विभिन्न प्रकारों में की गई उत्प्रेरणा है जैसा कि सुख एवं दुःख के भावावेगों में होता है।

---

१. हाल्डे० भाग १–३७८ २. हाल्डे० भाग १–२९१
३. हाल्डे० भाग १–३७७

भावों के प्रमुख सामान्य लक्षण

१. एक ही मूर्त चिह्न (impression) विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न भावावेगों का कारण हो सकता है। क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की मस्तिष्क-रचना[1] विविध प्रकार से की गई है।

२. भावावेगों को साक्षात्[2] इच्छाशक्ति से उत्पन्न नहीं किया जा सकता उनको परम्परया उन वस्तुओं के प्रतिरूपों की सहायता से उत्तेजित कर सकते हैं जो सामान्यतः उनसे (भावावेगों से) संबन्धित रहते हैं।

३. भावावेगों को तुरन्त रोका[3] नहीं जा सकता क्योंकि उनके साथ हृदय का क्षोभ लगा ही रहता है। वे आत्मा तथा जीवधारी चेतनवृत्तियों को प्रभावित करते हैं। अतएव जब तक हृदय की क्षुभित दशा रहती है तब तक हम उनका अनुभव करते रहते हैं।

भावावेगों का दो वर्गों में वर्गीकरण

आश्चर्य का भावावेग अवशिष्ट पांच भावावेगों से भिन्नवर्गीय है। क्योंकि आश्चर्य का कारण शरीर के अन्य किसी भाग में न होकर केवल मस्तिष्क[4] में ही होता है। अतएव इसका कारण रक्त की गति अथवा हृदय की दशा में नहीं होता। अवशिष्ट पांच भाव अन्यवर्गीय हैं क्योंकि उनके कारण मस्तिष्क में न होकर हृदय, रक्तगति, जीवधारी चेतनवृत्तियाँ, प्लीहा, यकृत तथा शरीर के अन्य भागों में भी हैं।

यद्यपि सभी रक्तधमनियां उस रक्त को हृदय की ओर ले जातीं हैं जो उनमें वर्तमान है फिर भी प्रायः ऐसा होता है कि उन धमनियों में से कुछ धमनियों में रक्त अन्य धमनियों की अपेक्षा अधिक प्रबलता से प्रवाहित होता है। इससे यह होता है कि हृदय के अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी (वे मुख जो रक्त को हृदय में ले जाते हैं तथा वे मुख जो रक्त को हृदय के बाहर ले जाते हैं) मुख संकुचित अथवा विस्तारित होते हैं। इस प्रकार से रक्त का शक्ति-भेद, प्रेपकअंग का भेद एवं हृदय के विभिन्न मुखों का विविध रूप संकोचन तथा विस्तारण कथित पांच भावावेगों के परस्पर भेद का कारण हैं।

आश्रित भावावेग

आदिकालीन (primitive) मूल अथवा स्वतन्त्र छः भावावेगों के अतिरिक्त डेकार्ट ने आश्रित भावावेगों को स्वीकार किया है। मूल भावावेग

---

१. हाल्डे० भाग १–३४९ २. हाल्डे० भाग १–३५९
३. हाल्डे० भाग १–३५२ ४. हाल्डे० भाग १–३७४

जाति रूप[1] (genus) हैं। आश्रित भावावेग उपजाति रूप (species) हैं। इस प्रकार के भावावेग आदर, तिरस्कार, उदारता, गर्व, श्रद्धा, आशा, भय, ईर्षा आदि हैं।

भावावेगों के शारीरिक लक्षण

डेकार्टकृत भावावेगों की व्याख्या में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वे ठीक भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की भांति प्रत्येक भावावेग की दशा में केवल हृदय की दशाओं का ही वर्णन नहीं करते वरन् प्रत्येक भावावेग के शारीरिक लक्षणों[2] का भी उल्लेख करते हैं। भरत मुनि के ही समान इन शारीरिक लक्षणों को दो वर्गों में विभाजित करते हैं। (१) स्वेच्छाजनित (voluntary) तथा (२) स्वयंभूत (involuntary)। उनके मतानुसार प्रत्येक भावावेग आत्मा की एक प्रभावित दशा है। हृदय की गतियां, रक्त, मस्तिष्क, एवं जीवधारी चेतनवृत्तियों की वे गतियां जो नाड़ी स्पन्दन के भेद का कारण हैं भावावेगों की केवल दशाएं (conditions) एवं सहचारी मात्र हैं—इनका स्वरूप भावावेगों से भिन्न है। भावावेगों के इन लक्षणों अथवा चिह्नों में प्रत्येक का एकाकी रूप में अनुभव हमें दुर्लभ है। सामान्यतः अनेक लक्षण परस्पर मिश्रित रूप में उपलब्ध होते हैं।

भावावेगों के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

१. मुख तथा आंखों[3] की चेष्टाएँ,
२. विवर्णता,
३. कम्प,
४. अलसता,
५. मूर्च्छा,
६. हास्य,
७. अश्रु,
८. कराहना,
९. आहें।

मुख तथा नयनों की चेष्टायें यद्यपि सरल रूप में प्रत्यक्षणीय हैं यहां तक कि नौकर एवं कुत्ता तक अपने स्वामी के आन्तरिक भावावेगों को जान लेता है

१. हाल्डे० भाग १—४०० २ हाल्डे० भाग १—३८०
३. हाल्डे० भाग १—३८१

फिर भी उनका परस्पर भेद करना तथा उनको परिभाषाबद्ध करना एक कठिन काम है।

स्वेच्छाजनित विकार

क्रोध की दशा में मस्तक की वक्र रेखायें, मन्द कोप एवं घृणा के भावावेग में नासिका तथा अधरों की गतियां उतनी मात्रा में नैसर्गिक नहीं है जितनी मात्रा में स्वेच्छाजनित हैं। सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि जिस समय आत्मा किसी भावावेग को छिपाना चाहती है उस समय आत्मा मुख तथा नयनों की सभी चेष्टाओं को परिवर्तित कर सकती है। ऐसा वह अपने मानस चक्षुओं के सामने उस परिस्थिति को चित्रित करते हुए कर सकती है जो उसकी वर्तमान परिस्थिति से भिन्न है। स्वेच्छाजनित विकार जितनी मात्रा में भावावेगों को दर्शकों की दृष्टि के सामने उपस्थित करते हैं उतनी ही मात्रा में उनको छिपा भी सकते हैं।

स्वयंभूत विकार (सात्त्विक भाव)

१. वर्ण का भेद

कुछ भावावेग ऐसे हैं जिनमें हम अपने मुख को रक्त वर्ण अथवा पीतवर्ण का होने से रोक नहीं सकते। वे शारीरिक विकार जो वर्णभेद उत्पन्न करते हैं मुख तथा नेत्रों की चेष्टाओं की अपेक्षा हृदय से अधिक साक्षात् रूप से सम्बन्धित हैं। भावावेगों की उद्‌गम भूमि हृदय है क्योंकि यह उनको उत्पन्न करने के लिए रक्त तथा चेतनवृत्तियों को तैयार करता है।

२. कम्पन

कम्प दो कारणों से होता है। (१) कभी-कभी[1] अत्यल्प जीवधारी चेतनवृत्तियां मस्तिष्क से स्नायुओं में पहुँचतीं हैं जैसे कि दुःख अथवा भय में। शीतजनित कम्प भी इसी कारण से होता है। (२) कभी-कभी अत्यधिक जीवधारी चेतनवृत्तियां मस्तिष्क से स्नायुओं में पहुँचती हैं जिसके कारण मांसपेशियों के छोटे मार्ग भलीभांति बन्द नहीं हो पाते हैं जैसे कि जिस समय हम किसी वस्तु की कामना उत्कट रूप में करते हैं अथवा किसी प्रार्थना से अत्यधिक प्रभावित होते हैं अथवा मदिराजनित उन्मत्तता की दशा में होते हैं। भय आदि रक्त को इतना अधिक प्रगाढ़ कर देते हैं कि रक्त मस्तिष्क को

१. हाल्डे० भाग १—३८३

यथेष्ट मात्रा में जीवधारी चेतनवृत्तियों को नहीं पहुँचा पाता जिससे कि वह (मस्तिष्क) पर्य्याप्त मात्रा में स्नायुओं में उनको (जीवधारी चेतनवृत्तियों) को पहुँचा सके। एवं उत्कट अभिलाषायें आदि इतनी अधिक मात्रा में चेतन-वृत्तियों को मस्तिष्क को भेजती हैं कि उनको नियमित रूप से मांसपेशियों तक पहुँचाया नहीं जा सकता। इसीलिए कम्प उत्पन्न होते हैं।

३. आलस्य

आलस्य की दशा उस प्रेम में होती है जो वर्तमान परिस्थितियों में अप्राप्य वस्तु की इच्छा से संयुक्त है। क्योंकि इस प्रकार के प्रेम के कारण आत्मा अपनी प्रेय वस्तु की चिन्तना इतने अधिक प्रगाढ़ रूप में करती है कि वह प्रिय वस्तु के प्रतिरूप के चित्रण के लिए मस्तिष्क में वर्तमान सभी जीवधारी चेतन-वृत्तियों का उपयोग करने लगती है। यह उन मांस ग्रन्थियों (glands) की सभी गतियों को रोकती है जो प्रिय वस्तु के चित्र को बनाने में अपना योगदान नहीं देतीं। अभिलाषा उस क्रिया का कारण है जिसका सम्बन्ध ऐसी वस्तु से है जिसकी प्राप्ति को वर्तमान परिस्थितियों में संभव मानते हैं। अतएव जिस समय यह अभिलाषा उस वस्तु से सम्बन्धित है जिसकी कल्पना अप्राप्य के रूप में की जाती है तो उससे आलस्य उत्पन्न होता है। यह आलस्य घृणा की दशा में, दुःख की दशा में एवं हर्ष की भी दशा में उत्पन्न हो सकता है।

४. हर्षातिरेक में मूर्च्छा

हर्षातिरेक की दशा में हृदय के द्वारों (orifice) को चौड़ाई में खोलते हुए रक्त इतनी अधिक मात्रा में प्रवाहित होता है कि यह हृदयस्थ अग्नि को लगभग बुझा देता है और इसके कारण व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है।

डेकार्ट का स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय सिद्धान्त

'सत्यान्वेषण' (the search after truth) डेकार्ट कृत एक संवाद रूप कृति है। इसमें इपिस्तीमोन एवं युडोक्सस संवादपात्र हैं। युडोक्सस की भूमिका में डेकार्ट स्वयं अपने विचार प्रकट करते हैं। इस कृति के एक स्थल पर इपिस्तीमोन युडोक्सस से कुछ अन्य विषयों के साथ-साथ मानवीय कलाओं[1] के रहस्य के विषय में प्रश्न करते हैं और युडोक्सस उस विषय में अपने मत को प्रकट करने का आश्वासन भी देते हैं परन्तु यह संलाप खंडित

१. हाल्डे० भाग १—३१०-११

रूप में प्राप्य है। इस कृति का अन्त एक अपूर्ण वाक्य से हो जाता है—'मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि एक विचारवान प्राणी……' संभवतः इसी प्रसंग में डेकार्ट ने अपने कलाशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया होगा अथवा प्रतिपादन करने की इच्छा की होगी। परन्तु दुर्भाग्यवश या तो कृति का यह अंश लिखा ही नहीं गया अथवा अप्राप्य रूप में खो चुका है। अतएव उनके कलाशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए हमको अन्य प्रसंगों में उनके विकीर्ण कथनों पर निर्भर होना पड़ेगा।

डेकार्ट का साहित्यिक ज्ञान

स्वयं अपने कथनानुसार, जो उनकी कृति 'डिसकोर्स आन दि मैथड' के प्रथम भाग में है, डेकार्ट ने अपने जीवन का यथेष्ट भाग भाषाओं के अध्ययन में एवं प्राचीन साहित्यकारों[1] की कृतियों, इतिहास तथा कथाओं के अध्ययन में व्यतीत किया था।

कथा-साहित्य एवं काव्य के विषय में उनका अभिमत

ये यह मानते हैं कि कथाओं का अपना एक सौन्दर्य है और वे मस्तिष्क को उत्प्रेरित करती हैं। वे पाठक की कल्पना शक्ति को इस प्रकार से उत्प्रेरित करती हैं कि वह उन अनेक काल्पनिक घटनाओं को असंभव नहीं मानता जो अस्लियत में असंभव हैं। उन्होंने यह भी माना था कि काव्य में अत्यन्त चित्ताकर्षक मधुरता एवं कोमलता होती है। काव्य में उनकी आसक्ति थी। डेकार्ट यह मानते थे कि काव्य के उद्भव का हेतु काव्य-लक्षणशास्त्रों का ज्ञान उतना नहीं है जितना कि काव्य-प्रतिभा है। वे व्यक्ति सदैव सुकवि होंगे जो काव्य-लक्षणग्रन्थों के ज्ञान से रहित हैं फिर भी जिनके पास अत्यन्त हर्षप्रद एवं मौलिक ज्ञप्तियां हैं और जो यह जानते हैं कि उनको अत्यन्त उपयुक्त भाषा में तथा आकर्षक शैली में किस प्रकार से प्रकट कर सकते हैं।

कलाकृतिजनित अनुभव

डेकार्ट के मतानुसार कलाकृतिजनित अनुभव एक उस बौद्धिक हर्ष का अनुभव है जिसके साथ में कोई भी वह भावावेश है जो या तो किसी ऐसी विचित्र स्वतन्त्रकल्पनाजात साहस कथा को पढ़ने से अथवा रंगमंच पर प्रदर्शित देखने से उद्भूत हुआ है। अतएव उनके मत को स्पष्टतया समझने के लिए यह आवश्यक है कि निम्नलिखित पदों के अर्थों को भली-

---

१. हाल्डे० भाग १—८४

भाँति समझ लिया जाय (१) बौद्धिक हर्ष। (२) वे भावावेश जो बौद्धिक हर्ष के सहचर हैं। (३) भाषा की शक्ति।

भावावेश के रूप में हर्ष

हर्ष[1] आत्मा का एक अनुकूल भावावेश है। यह आत्मा का उन इष्ट से प्राप्त सुख है जिसको मस्तिष्क के मूर्त चिह्न स्वाधिकारस्थ रूप में प्रतिरूपित करते हैं। यह एकमात्र वह फल है जिसको आत्मा स्वाधिकृत सभी इष्ट वस्तुओं से प्राप्त करती है।

हर्ष में हृदय की दशा एवं रक्त का संचालन

हर्ष में हृदय के रंध्र[2]-द्वारों के चारों ओर वर्तमान स्नायु विशेष प्रकार से क्रियाशील होती है। स्नायु हृदय रंध्र-द्वारों को खोलती एवं विस्तारित करती है और उस रक्त का हृदय में प्रवेश कराती है जिसको अन्य स्नायु रक्तधमनियों से हृदय की ओर ले जातीं हैं और हृदय को सामान्य दशा से अत्यधिक मात्रा में रक्त को वाहर निकलने के लिए प्रेरित करती हैं। और क्योंकि यह रक्त शुद्धतर होता है इसलिए यह सरलता से विरल हो जाता है और उन जीवधारी चेतनवृत्तियों को उत्पन्न करता है जो समानरूप एवं सूक्ष्म हैं। वे मस्तिष्क पर उन चिह्नों को अंकित करती हैं और उनकी रक्षा करती हैं जो आत्मा को सुखदायी और शान्ति पूर्ण विचारों को प्रदान करते हैं।

इन्द्रियों के पुलक (titillation) तथा हर्ष में भेद

अच्छे स्वास्थ्य में तथा अच्छे वातावरण में अनुभूत हर्ष बुद्धि से उद्भूत नहीं होता वरन् केवल उन अंकित चिह्नों से उत्पन्न होता है जिनको जीवधारी चेतनवृत्तियों की गतियां मस्तिष्क में उत्पन्न करती हैं। उसी प्रकार से रुग्णावस्था में अनुभूत दुःख उन अंकित चिह्नों से उत्पन्न होता है जिनको जीवधारी चेतनवृत्तियां मस्तिष्क में उत्पन्न करती हैं।

हर्ष तथा दुःख दो विरोधी प्रकार के इन्द्रिय-पुलक मात्र न होकर उनसे भिन्न हैं। वे आत्मा में उत्पन्न वे मूर्त प्रभाव हैं जो इस प्रकार के इन्द्रिय-पुलकों[3] के फलस्वरूप होते हैं। आत्मा में उत्पन्न इन प्रभावों का इन्द्रिय-पुलकों के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि सामान्य मनुष्य इन दोनों में भेद कठिनता से देख पाता है। परन्तु तथ्य यह है कि वे दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें

---

१. हाल्डे० भाग १–३७२ २. हाल्डे० भाग १–३७७

३. हाल्डे० भाग १—३७३

हैं। उनका परस्पर भेद इस तथ्य से स्पष्ट है कि प्रायः यह होता है कि सामान्यतः दुःख की दशा में प्राप्त संवेदना (sensation) सुख में भी प्राप्त होती है। हम हर्षपूर्वक वेदना (pain) को सहते हैं। और कभी-कभी सुखद संवेदना हममें दुःख को उत्पन्न करती है। उन्होंने तीन प्रकारों में हर्ष का विभाजन किया है (१) इन्द्रियगत, (२) कल्पनागत एवं (३) बुद्धिगत।

(१) इन्द्रियगत हर्ष

सर्वविदित पांच बाह्येन्द्रियां[1] हैं क्योंकि पांच प्रकार की वस्तुएँ उन ज्ञानतन्तुओं को उत्प्रेरित करती हैं जो उनके अंग हैं। जिस समय ये ज्ञानतन्तु सामान्यतः की अपेक्षा अधिक प्रबल रूप में प्रचालित होते हैं फिर भी उस समय वे शरीर को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते, तब एक ऐसी तुष्टि उत्पन्न होती है जो बुद्धि के लिए रुचिकारी होती है क्योंकि ऐसी दशा में आत्मा इस बात में विश्वस्त हो जाती है कि उसकी वस्तुओं में से एक वस्तु अर्थात् इन्द्रिय-समूह अच्छा है। इसी तुष्टि को इन्द्रिय गत हर्ष कहते हैं।

(२) कल्पनागत हर्ष

कल्पनागत हर्ष दो प्रकार का है—

(१) जीवधारी चेतनवृत्तियों से उद्भूत।

(२) काव्य अथवा नाट्य कृतियों से उद्भूत।

इनमें से प्रथम प्रकार का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

विषयभूत वस्तुएँ विविध ज्ञप्तियों को इन्द्रियों के साधन से मस्तिष्क में अंकित करती हैं। इन अंकित चिह्नों को स्मृति में सुरक्षित रखा जाता है। जिस समय कल्पना[2] चेतनवृत्तियों की आकस्मिक गति से उत्तेजित की जाती है उस समय वह (कल्पना) इन ज्ञप्तियों को विविध रूपों में बदल सकती है और उनसे नई ज्ञप्तियों की रचना कर सकती है। इन ज्ञप्तियों के सहारे यह (कल्पना) जीवधारी चेतनवृत्तियों को इस प्रकार से उद्बुद्ध कर सकती है जिससे कि यह (कल्पना) क्रियाओं तथा भावावेगों को जाग्रत कर सकती है। यह इच्छाजनित उत्प्रेरणा के बिना भी हो सकती है। कल्पनाजनित हर्ष में शारीरिक प्रक्रिया (physical process) का वर्णन निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

---

१. हाल्डे० भाग १—२९१–२ २. हाल्डे० भाग १—११५

स्मृति में वर्तमान अतीतकालीन अनुभवों के संस्कारों की सहायता से जब जीवधारी चेतनवृत्तियों की दैवयोगवश गति के कारण एक सुखदायी प्रतिच्छाया की रचना की जाती है उस समय यह प्रतिच्छाया जीवधारी चेतनवृत्तियों को मस्तिष्क से उन मांसपेशियों में पहुँचाती है जिनमें हृदय के रन्ध्र-द्वारों के चारों ओर बिखरे हुए ज्ञानतन्तु निवेशित होते हैं। इस प्रकार से हृदय के रन्ध्र-द्वारों का आयतीकरण (dilation) होता है। इससे सूक्ष्म ज्ञानतन्तुओं में गति उत्पन्न होती है। इस गति के परिणाम स्वरूप हर्ष का भाव उत्पन्न होता है।

परन्तु जीवधारी चेतनवृत्तियों के नैसर्गिक स्वभाव की भिन्नता एवं उनकी दैवयोगिक गतियां एक नितांत भिन्न काल्पनिक नूतन प्रतिच्छाया की रचना करवा सकती है जो भिन्न ज्ञान तन्तुओं की उस गति को उत्पन्न करती है जिसका परिणाम दुःख होता है। इस प्रकार से जीवधारी चेतनवृत्तिओं से उत्पन्न कल्पनागत प्रतिच्छायाएँ समान रूप से सुख अथवा दुःख उत्पन्न कर सकती हैं।

लेकिन वह काल्पनिक हर्ष जिसकी उत्पत्ति काव्य के पठन अथवा नाटक[1] के दर्शन के सहारे से रचित काल्पनिक प्रतिच्छाया के कारण होती है उस हर्ष से इस बात में भिन्न होता है जिसकी उत्पत्ति जीवधारी चेतनवृत्तियों की क्रिया से उत्पन्न एक कल्पनागत प्रतिच्छाया से होती है कि पूर्वप्रसंग में कल्पनागत प्रतिच्छायाएं जितने भी भावों को उद्बुद्ध करतीं हैं वे सभी हर्ष का स्रोत होते हैं परन्तु परप्रसंग में केवल कुछ भाव ही हर्ष का स्रोत होते हैं। जैसे कि दुःख कभी भी आनन्दप्रद नहीं हो सकता। डेकार्ट ने दोनों का भेद स्पष्ट करने के लिए पूर्व प्रसंग के हर्ष को 'बौद्धिक हर्ष' कहा है।

(३) काव्य आदि से उत्पन्न बौद्धिक हर्ष

अपने अन्तःकरण में उद्बुद्ध उन विविध भावावेगों के अनुभव में हम सुख का अनुभव करते हैं, जो उस समय हमारे मानस चक्षुओं के सामने उपस्थित वस्तुओं की विविधता के अनुकूल होते हैं जिस समय हम किसी पुस्तक में एक विचित्र साहसपूर्ण कथा पढ़ते हैं अथवा उसको रंगमंच पर प्रदर्शित किया गया देखते हैं। यही सुख बौद्धिक[2] हर्ष है।

ऐसा ज्ञात होता है कि 'पैशन्स आफ दि सोल' नामक अपने ग्रन्थ के दूसरे भाग के उपप्रकरण संख्या ९४ में वे यह स्पष्ट करते हैं कि इस बौद्धिक

---

१ हाल्डे० भाग १—३७३ २. हाल्डे० भाग १—३९८

सुख का कारण यह तथ्य है कि काव्य तथा नाट्य कलाकृतियों से उत्पन्न भाव 'जब आत्मा को प्रभावित करते हैं[1] उस समय वे किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचाने के कारण आत्मा को आनन्दित करते हुए से ज्ञात होते हैं।'

बौद्धिक हर्ष के अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए डेकार्ट यह कहते हैं कि 'इस प्रकार से जब हमें कोई संवाद प्राप्त होता है तो पहले बुद्धि उस पर विचार करती है। यदि यह संवाद इष्ट होता है तो यह उस बौद्धिक हर्ष को उत्पन्न करता है जो शरीर के प्रत्येक भावावेग से स्वतन्त्र है और जिसको आत्मसंयमी (stoic) अपने बुद्धिमान व्यक्तियों[2] के लिए वर्जनीय नहीं मानते हैं।'

शुद्ध बौद्धिक हर्ष

आत्मा ही की क्रिया शुद्ध बौद्धिक हर्ष का कारण है। यह उन वस्तुओं से उत्पन्न हर्षानुभूति है जिनको बोधशक्ति आत्मा को उसकी इष्ट अधिकृत वस्तुओं के रूप में प्रकट करती है। यह उस वस्तु से जनित हर्ष नहीं है जिसको मस्तिष्क के अंकित चिह्न इष्टकारी के रूप में प्रकट करते हैं। अतएव इन्द्रियजनित सुख से इसको उलझाना नहीं चाहिए। क्योंकि ऐन्द्रिय हर्ष[3] उन वस्तुओं का सुख है जिनको मस्तिष्क के अंकित चिह्न स्वयं आत्मा की इष्टकारी अधिकृत वस्तुओं के रूप में प्रकट करते हैं।

बौद्धिक हर्ष के सहचर के रूप में ऐन्द्रिय सुख

इसमें कोई शङ्का नहीं है कि जब तक आत्मा शरीर से संयुक्त है तब तक लगभग अनिवार्य रूप से बौद्धिक हर्ष[4] का सहचर ऐन्द्रिय हर्ष बना ही रहता है। क्योंकि जैसे ही बोधशक्ति आत्मा की कुछ अधिकृत वस्तुओं को इष्ट के रूप में प्रकट करती है वैसे ही कल्पना (बिना इस बात के कि बोधशक्ति ने जिसको इष्ट के रूप में प्रकट किया है अतः वह उन सबसे भिन्न है जिनका सम्बन्ध शरीर के साथ है और इसलिए जिनकी कल्पना करना अत्यन्त कठिन है) मस्तिष्क पर कुछ उन अङ्कित चिह्नों की रचना करने में नहीं चूकती जो जीवधारी चेतनवृत्तियों को गतिमान एवं ऐन्द्रिय सुख को उत्तेजित करते हैं।

---

१. हाल्डे० भाग १—३७३ २. हाल्डे० भाग १—२९०
३. हाल्डे० भाग १—३७२ ४. हाल्डे० भाग १—३७२

कलाकृतिजनित हर्ष

गत उपप्रकरण में हमने तीन प्रकार के उस बौद्धिक हर्ष की व्याख्या की है जिसके स्वरूप का प्रतिपादन डेकार्ट ने 'पैशन्स ऑफ दी सोल' उपकरण ९१ तथा १४७ में तथा 'प्रिंसिपल्स आफ फिलासफी' भाग ४ प्रिंसिपल (नियम) १९० में किया है। परन्तु डेकार्ट के बुद्धिवादी कलाशास्त्र (Intellectualistic æsthetics) के प्रसङ्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जो बौद्धिक हर्ष है उसके स्वरूप का ज्ञान हमको केवल निहितार्थ से ही होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि डेकार्ट का मत यह है कि सामान्यतः हर्ष का कारण यह तथ्य है कि आत्मा को इस बात का प्रत्यक्ष बोध होता है कि उसकी अधिकृत वस्तुओं में से एक वस्तु इष्ट है। क्योंकि वे यह मानते हैं कि ऐन्द्रिय हर्ष का कारण एक ऐसी इन्द्रियविषयभूत वस्तु से ज्ञानतन्तुओं में किंचित् गति[1] की उत्तेजना है जो उन ज्ञानतन्तुओं के लिए हानिकर होती यदि उनमें गति को रोकने की यथेष्ट शक्ति न होती और यदि शरीर भलीभाँति स्वस्थ न होता। ज्ञानतन्तुओं की यह गति मस्तिष्क में एक चिह्न अंकित करती है जो ज्ञानतन्तुओं की शक्ति अथवा शारीरिक स्वास्थ्य को आत्मा से अधिकृत इष्ट वस्तु के रूप में उपस्थित करता है और हर्ष को उत्तेजित करता है। जैसा कि हम एक पूर्व उपप्रकरण में लिख आये हैं डेकार्ट का एक ऐसा ही कथन कलाकृति से उत्तेजित भावावेग के प्रसङ्ग में है। अतएव डेकार्ट का निहितार्थ यह ज्ञात होता है कि एक दूसरे प्रकार का बौद्धिक हर्ष है जो उपर्युक्त तीन प्रकारों के बौद्धिक हर्षों से नितान्त भिन्न है। इस हर्ष का कारण यह तथ्य है कि बोध्य वस्तु उस किसी गति को उत्तेजित करती है जो बुद्धि को सम्भ्रमित कर देती यदि उसके पास उस वस्तु के प्रति पूर्ण प्रतिक्रिया करने (to respond) की यथेष्ट शक्ति न होती। बुद्धि की यह शक्ति जब अपने को आत्मा के स्वाधिकारस्थ इष्ट के रूप में प्रतिरूपित करती है तो इससे आत्मा में बौद्धिक हर्ष उत्पन्न होता है।

इस प्रकार के बौद्धिक हर्ष का अनुभव जब किसी कलाकृति के प्रसङ्ग में करते हैं तो इसको शुद्ध बौद्धिक हर्ष से विलग करने के लिए कलाकृतिजन्य हर्ष कहते हैं। क्योंकि विचित्र साहसकथाओं के रङ्गमञ्चीय एवं काव्यात्मक प्रतिरूप कल्पना को कलाकृति से प्रकटित वस्तु का सम्पूर्ण चित्र रचने के लिए उत्तेजित करते हैं। इसके परिणामस्वरूप हमारे अन्तःकरण में सभी प्रकार के भावावेश अथवा भाव वस्तुओं की विभिन्नता के आधार पर उत्पन्न हो जाते हैं

१. हाल्डे० भाग १—३७३

और हमको कलाकृतिजनित अनुभव प्राप्त होता है। यह अनुभव तभी सम्भव है अगर बोधशक्ति में सभी निहितार्थों के सहित सर्वाङ्गीण कल्पनाप्रसूत प्रतिच्छाया को रचने की क्षमता है और इसलिये आत्मा बुद्धि को स्वाधिकृत इष्ट के रूप में अनुभव करती है एवं यदि उत्प्रेरक (stimulus) वस्तु तथा तज्जनित प्रतिक्रिया (response) में एक सामंजस्य है। इस प्रकार से डेकार्ट के मतानुसार कलाकृतिप्रसूत अनुभव उस बौद्धिक हर्ष का अनुभव है जिसका सहचर एक भाव है अतएव जिसके सहचर अन्य तीन प्रकार के हर्ष—ऐन्द्रिय हर्ष, कल्पनागत हर्ष एवं भावगत हर्ष होते हैं।

शुद्ध बौद्धिक हर्ष एवं कलाकृतिजनित हर्ष में भेद

डेकार्ट के मतानुसार कलाकृतिजनित अनुभव भावावेग युक्त बौद्धिक हर्ष का अनुभव है। परन्तु शुद्ध बौद्धिक हर्ष इस प्रकार का नहीं होता। उदाहरण के लिए जिस समय हम स्पष्ट रूप से आत्मा अथवा परम इष्ट के स्वरूप को समझ लेते हैं तो एक प्रकार का शुद्ध आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्द में हर्ष का सामान्य लक्षण विद्यमान होता है क्योंकि आत्मा अथवा परम इष्ट के स्वरूप को हृदयङ्गम करने में सक्षम बोधशक्ति अपने को आत्मा के स्वाधिकृत इष्ट के रूप में आत्मा के सामने प्रतिरूपित करती है।

परन्तु जिस समय बोधशक्ति (understanding) कल्पना की सहायता से स्वतन्त्र कल्पनाशक्ति से उद्भूत काव्य एवं नाटक में उपस्थापित काल्पनिक चित्रों को सम्पूर्णतया मानस चक्षुओं के सामने चित्रित करने में सक्षम होती है तो यह शक्ति अपने को आत्मा के सामने उसके स्वाधिकृत इष्ट के रूप में प्रतिरूपित करती है जिसके कारण बौद्धिक हर्ष उत्पन्न होता है। इसको कलाकृतिजनित हर्ष इसलिए कहते हैं क्योंकि यह एक भावावेश अथवा बाह्यरूप भावावेग से संयुक्त होता है। क्योंकि ठीक जिस समय पर बोधशक्ति कल्पनाप्रसूत वस्तु का बोध करती है उसी समय विभिन्न भावावेगों से सम्बन्धित वस्तुओं की काव्य अथवा नाटक से उत्पन्न प्रतिच्छायाओं के अनुसार कल्पना जीवधारी चेतनवृत्तियों को गतिमान करती है। इसके अतिरिक्त शुद्ध बौद्धिक हर्ष का कारण आत्मा की स्वतन्त्र क्रिया है परन्तु कलाकृतिजनित हर्ष का कारण आत्मा की वह क्रिया है जिसको कविता अथवा नाटक से अङ्कित-प्रभाव उत्प्रेरित करता है।

बौद्धिक हर्ष के सहचर के रूप में भावावेश

डेकार्ट ने अन्तर्भूत भावावेगों का भेद भावावेशों अथवा बहिर्भूत भावावेगों[1] (exterior emotions) से किया है। अन्तर्भूत भावावेग वे हैं जिनको स्वयं आत्मा अपने में उत्तेजित करती है। परन्तु भावावेश अथवा बहिर्भूत भावावेग वे हैं जो जीवधारी चेतनवृत्तियों की कुछ गतियों पर आधारित हैं। अन्तर्भूत भावावेग बहिर्भूत भावावेग के समान ही होते हैं और बहुधा अन्तर्भूत भावावेग बहिर्भूत भावावेगों से संयुक्त होते हैं। आत्मा के ये अन्तर्भूत भावावेग प्रायः उन भावावेशों से उत्पन्न होते हैं जो उनके प्रतिकूल हैं। उदाहरण के लिए जिस समय एक पति अपनी मृत पत्नी के लिए विलाप कर रहा हो उस समय यह सम्भव है कि उस दुःख से अत्यन्त पीड़ित हो जिसको उसकी पत्नी का अभाव उत्तेजित कर रहा हो। परन्तु फिर भी अपने विलापों में वह एक प्रकार के प्रच्छन्न हर्ष का अनुभव करता है। यह प्रच्छन्न हर्ष इतना अधिक प्रबल होता है कि उसका सहचर दुःख किसी भी प्रकार से उसको कम नहीं कर सकता है।

इसी प्रकार से जिस समय हम विचित्र साहसकथाओं को पढ़ते हैं अथवा उनको रङ्गमञ्च पर देखते हैं तो कल्पनाशक्ति के सामने उपस्थापित वस्तुओं की भिन्नता के अनुसार हममें विविध भावावेश उत्तेजित हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार की कलाकृतियों से उत्पन्न किसी भी भावावेश के साथ हम सुख का अनुभव इसलिये करते हैं क्योंकि हमारे अन्तःकरण में इस भावावेग को उत्तेजित किया गया है और कलाकृति से उत्तेजित भावावेग में हर्ष का अनुभव स्वाभाविक है। यह सुख एक बौद्धिक हर्ष है। यह किसी भी भावावेश से उत्पन्न हो सकता है यहाँ तक कि यह उस दुःख से भी उत्पन्न होता है जिसका उद्‌बोधन साहसकथा को पढ़ने से अथवा इसके प्रदर्शन को रङ्गमञ्च पर देखने से होता है।

ज्ञप्तियों और भावावेगों के अव्यवहित कारण के रूप में भाषा

यद्यपि 'मांस ग्रन्थि' (gland) की प्रत्येक गति को एक पृथक् ज्ञप्ति के साथ प्रकृति ने सम्बन्धित किया है, फिर भी हम रूढ़ि (custom) अथवा स्वभाव के साधन से अन्य ज्ञप्तियों के साथ इनको सम्बन्धित कर सकते हैं।

---

१ हाल्डे० भाग १—३९८

इस प्रकार से प्रकृति की संस्था के अनुसार यद्यपि वे शब्द[1] जो मांस ग्रंथि में गति को उत्तेजित करते हैं आत्मा को अपनी ध्वनियों के अतिरिक्त और कुछ अर्पित नहीं करते हैं फिर भी सामान्यतः रूढ़ि बुद्धि को पदों के अक्षरों की ध्वनियों की अपेक्षा उनका अर्थ ही अधिक अवगत कराती है।

अतएव डेकार्ट यह मानते हैं कि लिखे गये अथवा बोले गये शब्द[2] विविध ज्ञप्तियों एवं भावावेगों को तुरन्त उत्पन्न करने के कारण होते हैं। कुछ ऐसे शब्द हैं जो हमारी बुद्धि में युद्ध, आँधी, भय, प्रेतों (furies), क्रोध के भावावेगों एवं दुःख की ज्ञप्तियों को उत्पन्न करते हैं और अन्य ऐसे शब्द हैं जो इनसे प्रतिकूल ज्ञप्तियों को जैसे शान्ति और सुख एवं प्रेम तथा हर्ष जैसे भावावेगों को उत्पन्न करते हैं।

डेकार्ट ने उन शास्त्रकारों के मतों का खण्डन किया है जो यह प्रतिपादित करते हैं कि (१) शब्द किसी भावावेश को, अथवा वर्णों एवं ध्वनियों के रूपों से भिन्न किसी प्रतिच्छाया को बुद्धि में तुरन्त उत्पन्न नहीं करते। एवं (२) शब्द उन विविध बौद्धिक क्रियाओं को उत्पन्न करते हैं जिनकी सहायता से बुद्धि पहले अर्थ को समझती है और उसके उपरान्त अपने लिए विविध वस्तुओं की प्रतिच्छायाओं की रचना करती है। वे अपने प्रतिपक्षी से यह प्रश्न करते हैं :—'दुःखपूर्ण अथवा सुखपूर्ण ऐन्द्रिय ज्ञानों के विषय में हम क्या कहेंगे?' डेकार्ट यह मानते हैं कि सुख तथा दुःख तात्कालिक (immediate) हैं। उदाहरण के लिए यदि एक खड्ग से शरीर पर आघात किया जाय और वह शरीर को काट दे तो उसका तात्कालिक परिणाम दुःख होता है। यह पीड़ा खड्ग की एकदेशीय गति अथवा कटे हुए शरीर के साथ एकरूप नहीं है। यह उसी प्रकार से उनसे (गतियों से) भिन्न है जिस प्रकार से वर्ण, ध्वनि, स्वाद एवं गन्ध शरीर की स्वदेशीय गतियों (local movements) से भिन्न हैं। इस प्रकार से हमारे अन्दर पीड़ा तात्कालिक रूप में उत्तेजित की जाती है। यह उत्तेजना किसी बहिर्भूत वस्तु के साथ संसर्ग होने के कारण शरीर के कुछ अङ्गों के क्षुभित होने से तुरन्त उत्पन्न होती है। अतएव डेकार्ट इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संग्रथित भाषा यथार्थ तथ्यों के ही समान ज्ञप्तियों तथा भावावेगों को तत्काल जाग्रत कर सकती है। इस प्रकार की भाषा की शक्ति का प्रतिपादन आनन्दवर्धनाचार्य ने असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के स्वरूप के प्रतिपादन में किया है। परन्तु वे यह प्रतिपादित करते हैं कि भाषा

---

१. हाल्डे० भाग १–३५५ २. हाल्डे० भाग १–२९४

की अभिधाशक्ति से नहीं वरन् उसकी ध्वनिशक्ति से ज्ञप्ति तथा भावावेग तत्काल जाग्रत होते हैं। इस प्रसङ्ग में 'तत्काल' शब्द का अर्थ यह नहीं है कि ज्ञप्तियों तथा भावावेगों की उत्पत्ति में क्रमिक अवस्थाओं का अभाव है वरन् इसका अर्थ यह है कि क्रमिक अवस्थाओं की गति इतनी अधिक वेगपूर्ण होती है कि क्रमिकता का प्रत्यक्ष नहीं होता।

कलाकृतिजनित अनुभव की व्याख्या

गत उपप्रकरणों में व्याख्या किये गये विविध विषयों के आधार पर कलाकृतिजनित अनुभव के स्वरूप के विषय में डेकार्ट के मत को निम्नलिखित रूप में प्रकट कर सकते हैं :—

यदि हमें डेकार्ट-प्रतिपादित निम्नलिखित बातें भलीभाँति याद हैं तो उनके कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को समझने में कठिनाई नहीं होगी :—

(१) वर्णों के रूपों अथवा ध्वनियों की प्रतिच्छायाओं के व्यवधान के बिना भाषा तत्काल ही ज्ञप्तियों को जाग्रत करने में सक्षम है।

(२) अन्तर्भूत भावावेग बहिर्भूत भावावेगों अथवा भावावेशों से भिन्न हैं।

(३) अन्तर्भूत भावावेगों में से वे भावावेग जो अपने स्वभाव में हर्षपूर्ण हैं उन बहिर्भूत भावावेगों से भी उत्पन्न हो सकते हैं जो अन्तर्भूत भावावेगों के प्रतिकूल हैं।

(४) शुद्ध बौद्धिक हर्ष उस कलाकृतिजनित हर्ष से भिन्न है जो बौद्धिक भी है।

(५) सामान्यतः हर्ष की उत्पत्ति इस तथ्य से होती है कि मस्तिष्क अथवा बोधशक्ति किसी उस वस्तु को जो आत्मा के अधिकार में है इष्ट के रूप में प्रतिरूपित करती है।

(६) प्राकृतिक वस्तुओं से ज्ञानतन्तुओं की उत्प्रेरणा से स्वतन्त्र रूप में कल्पना भावावेशों को जाग्रत करने में सक्षम है।

जिस समय हम एक कविता को पढ़ते हैं अथवा एक नाटक को रङ्गमञ्च पर अभिनीत देखते हैं उस समय उस कल्पना के सहारे जो काव्यकृति अथवा नाट्यप्रदर्शन से प्रभावित है हमारे मस्तिष्क में अनेक ज्ञप्तियां उद्भूत होती हैं। इस प्रकार से जिस समय बोधशक्ति ज्ञप्तियों को उनके सर्वाङ्गीण रूप में अथवा पूर्णतया सम्बन्धित रूप में स्पष्टतया समझने में सक्षम होकर अपने को आत्मा की एक स्वाधिकारस्थ इष्ट वस्तु के रूप में प्रतिरूपित करती है एवं

बौद्धिक हर्ष की उत्पत्ति का कारण बनती है उस समय कल्पना कलाकृति से उत्पन्न प्रभाव के अनुसार जीवधारी चेतनवृत्तियों को गतिमान करती है एवं तदनुकूल बहिर्भूत भावावेग अथवा भावावेश को उत्पन्न करती है। अतएव यह सत्य है कि बौद्धिक हर्ष का बहिर्भूत भावावेग सहचर होता है।

इस प्रकार का हर्ष उस समय भी उत्पन्न हो सकता है जिस समय कल्पना के विषय दुःख के भावावेशों को उत्पन्न करने वाले हों। क्योंकि बौद्धिक हर्ष का कारण उद्भूत ज्ञप्तियों का स्वभाव न होकर पूर्णतया परस्पर सम्बन्धित सामंजस्यपूर्ण एक सम्पूर्ण कृति के रूप में उन ज्ञप्तियों का बोधशक्ति से सफलतापूर्वक ग्रहण करना है।

दुःखप्रधान नाटक से उत्पादित कलाकृतिजनित अनुभव की परिभाषा

रङ्गमञ्च पर दुःखप्रधान प्रदर्शन में प्रदर्शित वस्तु को विषय रूप में प्रत्यक्ष करने से कलाकृतिजनित अनुभव उत्पन्न होता है। इस अनुभव का विधायक तत्त्व तुष्टि (satisfaction) का आन्तरिक भावावेग है। इस भावावेग का अनुभव एक उदारचेता व्यक्ति एक कर्तव्य को कर सकने के कारण करता है। यह कर्तव्य दुःखप्रधान नाटक के उस नायक पर करुणा करना है जो अन्यायजनित वेदना को सहन कर रहा है। दुःखप्रधान नाटक से उत्पन्न अनुभव के विषय में डेकार्ट के मत को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने के लिए यह आवश्यक है कि निम्नलिखित विषयों पर उनके मत को जान लिया जाय :—

(१) अन्य लोगों से सम्बन्धित भली अथवा बुरी घटनाओं से उद्बुद्ध भावावेग।

(२) उदारता।

(३) करुणा।

(४) आन्तरिक भावावेग की शक्ति।

(१) अन्य लोगों से सम्बन्धित भली अथवा बुरी घटनाओं से उद्बुद्ध भावावेग

जिस समय अन्य व्यक्तियों को अपने उस इष्ट को प्राप्त करते हुए हमारे सामने प्रतिरूपित किया जाता है जिसके वे अधिकारी हैं उस समय हर्ष छोड़

कर अन्य कोई भावावेग हमारे अन्तःकरण में उत्पन्न नहीं होता। यह भावावेग गम्भीर इसलिये होता है क्योंकि यह हमको इस बात का सन्तोष प्रदान करता है कि घटनाएँ उसी प्रकार से घटित हो रही हैं जैसे उनको घटित होना चाहिये। ऐसा ही अनिष्ट घटना के विषय में भी होता है। परन्तु उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों में भेद यह है कि जिस समय कोई अनिष्ट घटना ऐसे व्यक्ति पर घटित होती है जो उसका अधिकारी है उस समय हर्ष के साथ-साथ हास्य तथा मजाक (mockery) भी होते हैं। परन्तु जिस समय हम एक ऐसे व्यक्ति को अनिष्टग्रस्त देखते हैं जो उस अनिष्ट का अधिकारी नहीं है तो हमारी [1]करुणा उत्तेजित होती है।

(२) उदारता

उदारता[2] का अर्थ यह ज्ञान अथवा संवेदना है कि ऐसा कुछ भी नहीं है जिस पर यथार्थतः मनुष्य का अधिकार हो, सिवाय उस इच्छा के जिसका प्रयोग वह स्वतन्त्रता से कर सकता है; और यह युक्तिसिद्ध नहीं है कि क्यों किसी व्यक्ति की निन्दा अथवा स्तुति इच्छाशक्ति के निर्दोष अथवा सदोष प्रयोग के आधार के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर की जाय। यह उदार व्यक्ति को इतना आत्मसम्मान करने के लिए उत्प्रेरित करती है जितना उसके लिए न्याय्य है। उदारता का अर्थ स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के सदुपयोग करने का सचेत दृढ़ एवं अडिग संकल्प है अर्थात् संकल्पकर्ता व्यक्ति का यह संकल्प कि जिस जिसको वह सर्वोत्कृष्ट मानता है उस सबको कार्यान्वित एवं सिद्ध करने के लिए अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का प्रयोग करने में कभी भी नहीं चूकेगा। यह गुण उपार्जित किया जा सकता है।

उदारचेता व्यक्ति कभी किसी से घृणा नहीं करता। जिन व्यक्तियों को वह दुष्ट कर्म करते हुए देखता है उनको दोषी ठहराने की अपेक्षा वह क्षम्य अधिक मानता है। वह यह विश्वास करता है कि मनुष्यकृत दोषों का कारण सद्भावना का अभाव नहीं वरन् अज्ञान है। वह अपने को उन व्यक्तियों से हीन नहीं समझता जो उससे अधिक बुद्धिमान अथवा धनवान् हैं और न वह उन व्यक्तियों को अपने से हीन मानता है जो उससे कम प्रतिभावान हैं।

(३) करुणा

स्वाधिकारस्थ वर्तमान इष्ट के विषय में चिन्तना आनन्द को एवं अनिष्ट के विषय में चिन्तना दुःख को उत्पन्न करती है। परन्तु जब हम यह देखते

---

१. हाल्डे० भाग १—३६०—१ २. हाल्डे० भाग १—४०१

हैं कि अनिष्ट किसी अन्य व्यक्ति पर घटित हुआ है और हम यह अनुभव करते हैं कि वह व्यक्ति उस अनिष्ट का पात्र नहीं है जिसे वह सहन कर रहा है तब हमारे अन्तःकरण में करुणा का भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार से करुणा का भाव एक प्रकार का शोक है। इस शोक में उन व्यक्तियों के प्रति प्रेम तथा सदिच्छा के भाव मिले-जुले रहते हैं जिनको हम अन्यायपूर्वक[1] पीड़ित होते हुए देखते हैं।

करुणा के दो कारण हैं (१) प्रेम एवं (२) उदारता। करुणा की प्रेमप्रसूत अन्तःकरणीय दशाएँ उन दशाओं से भिन्न होती हैं जो उदारता के कारण उत्पन्न होती हैं। अतएव उस व्यक्ति में करुणा का भाव जिसको अपनी दुर्बलता का ज्ञान है एवं जो संकटग्रस्त है प्रेमजनित है क्योंकि वह व्यक्ति दूसरों के संकटों को अपने पर घटित होते हुए अनिष्ट के रूप में देखता है एवं उसके पश्चात् करुणा का भाव पीडित व्यक्ति के प्रति प्रेम की अपेक्षा आत्मप्रेम से उत्प्रेरित होता है। ऐसी दशा में करुणा से सम्बन्धित शोक कटु होता है। परन्तु उदारस्वभाव एवं दृढबुद्धि के वे व्यक्ति जिनको अपने लिए किसी अनिष्ट का भय नहीं है और जो अपने को संकटमुक्त मानते हैं उस समय करुणा सम्बन्धित शोक से प्रभावित होते हैं जब वे दूसरे व्यक्तियों की दुर्बलताओं को देखते हैं एवं उनके शोक को सुनते हैं। क्योंकि उदारता का अर्थ सभी प्राणियों की कल्याणकामना करना है। परन्तु इस प्रकार के उदारचित्त व्यक्ति में उद्भूत करुणा सम्बन्धित शोक कटु[2] नहीं होता, उसमें कोई पीड़ाजनक डंक नहीं होता उससे उदार व्यक्ति इसलिए पीड़ित नहीं होता क्योंकि उसमें उदारता तथा सुरक्षा की आन्तरिक भावना वर्तमान होती है। दुःखप्रधान प्रदर्शन इसलिए त्याज्य नहीं है क्योंकि यह उदारता के भाव को प्रयुक्त करने का अवसर प्रदान करता है और इस प्रकार से अपनी मनुष्यजाति के प्रति कर्तव्यपूर्णता की आन्तरिक तुष्टि प्रदान करता है।

(४) आन्तरिक भावावेग की शक्ति

आन्तरिक भावावेग हमको सर्वाधिक प्रभावित करते हैं अतएव बहिर्भूत भावावेगों की अपेक्षा आन्तरिक भावावेग हम पर अधिक शक्तिशाली होते हैं। आन्तरिक भावावेग बहिर्भूत भावावेगों[3] से संयुक्त रूप में दृष्टिगोचर एवं

---

१. हाल्डे० भाग १—४१५ २. हाल्डे० भाग १—४१६

३. हाल्डे० भाग १—३९८

अनुभूत होते हैं। किसी कल्याणकारी काम को करने के बोध से उत्पन्न आन्तरिक सन्तोष[1] सब भावावेगों से सर्वाधिक मधुर भावावेग है।

अतएव जिस समय हमारी आत्मा के पास कुछ ऐसा होता है जो हमको आन्तरिक तुष्टि प्रदान करता है तो किसी भी विषयभूत वस्तु से उत्प्रेरित भावावेश के पास इतनी शक्ति नहीं हो सकती कि उसको (आत्मा को) कोई चोट पहुँचा सके। इस प्रकार की परिस्थितियों में भावावेश आनन्द के भावावेग को वर्धित करने में ही सहायक सिद्ध होते हैं क्योंकि उस समय आत्मा को यह ज्ञात होता है कि भावावेश उसको हानि पहुँचाने में अक्षम है और इसलिए आत्मा को अपनी पूर्णता का बोध हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक जीवन के किसी दुःखप्रधान तथ्य से उद्भूत अथवा किसी दुःखप्रधान नाटक के रंगमंचीय प्रदर्शन से उत्पन्न शोक का भाव क्यों कटुताशून्य ही नहीं होता वरन् उस आन्तरिक आनन्द को बढ़ाने वाला भी होता है जो किसी उस आन्तरिक अधिकृत वस्तु के कारण होता है जिसका साक्षात्कार कल्याणकारी के रूप में होता है।

दुःखप्रधान नाटक से उत्पन्न अनुभव

इस प्रकार से जब एक उदारचेता व्यक्ति विषय रूप में एक दुःखप्रदान घटना को रंगमंच पर प्रदर्शित देखता है और यह देखता है कि उसका नायक अनुचित वेदना को सहन कर रहा है तब उसकी उदारता पीड़ित व्यक्ति के प्रति अपने कर्तव्य को करने अर्थात् अपनी करुणा को प्रकट करने के लिए उसको प्रेरित करती है। इससे उसमें एक आन्तरिक तुष्टि का आविर्भाव होता है। एवं आन्तरिक भाव की इस विचित्र प्रकृति के कारण ही दुःखप्रधान नाटक[2] के प्रदर्शन से उद्भूत करुणा का भाव दुःखद नहीं होता है। इसका कारण यह भी है कि करुणा का यह भाव आत्मगत होने की अपेक्षा अधिक इन्द्रियगत एवं बहिर्भूत होता है। दुःखप्रधान नाटक के प्रदर्शन से उद्भूत करुणा के भाव में आनन्द का विधायक दर्शक का वह तुष्टि का भावावेग है जिसकी उत्पत्ति उसकी इस चिन्तना से होती है कि पीड़ित व्यक्ति के प्रति करुणा प्रकट करने से वह अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है।

व्यावहारिक जीवन की यथार्थ दुःखप्रधान घटना जनित करुणा का दुःखप्रधान नाटक के प्रदर्शन से उत्पन्न करुणा से भेद यह है कि व्यावहारिक जीवन

---

१. हाल्डे० भाग १—३६० २. हाल्डे० भाग १—४१६

की दुःखप्रधान घटना के विषय में दर्शक यह विचारता है कि वह अनिष्ट जिसको घटनाग्रस्त व्यक्ति सहन कर रहा है अधिक सन्तापक है।

दुःखप्रधान नाटक से उत्पन्न करुणा कटुताशून्य होती है

किसी भावावेग का कटु अथवा मधुर होना इस बोध पर निर्भर है कि उस भावोत्पादक वस्तु में हमको हानि पहुँचाने[1] की अथवा हमारा कल्याण करने की शक्ति है। रंगमंच पर प्रदर्शित दुःखजनक प्रदर्शन के सम्बन्ध में हमें इस बात का औपचेतनिक (subconscious) बोध होता रहता है कि नाट्य प्रदर्शित वस्तु अयथार्थ अथवा कलात्मक है इसलिए इसको देखते समय जो करुणा का भाव हमारे मन में उद्भूत होता है उसमें कटुता नहीं होती। अतएव यह करुणा का भाव उस करुणा के भाव से भिन्न है जो यथार्थ दुःखद घटना को व्यावहारिक जगत में देख कर होता है।

अस्फुट विचार के रूप में कलाकृतिजनित अनुभव

स्पष्ट विचार वह है जो आत्मा अथवा मन (mind) को शरीर से स्वतन्त्र रूप में प्राप्त होता है एवं जिसका कारण आत्मा पर उस शरीर से जनित संस्कार (impressions) नहीं है जिसके साथ वह आत्मा संयुक्त है। परन्तु अस्फुट रूप[2] विचार वह है जिसका कारण आत्मा पर शरीरजनित प्रभाव है।

इस प्रकार से भावावेग केवल अस्फुट रूप विचार ही हैं। यहां तक कि वह बौद्धिक हर्ष भी जिसका अनुभव हमको कलाकृतिजनित अनुभव में होता है घनिष्ट रूप में उस कल्पना से सम्बन्धित है जो मस्तिष्क का एक भाग है अतएव अस्फुट रूप विचार है। अतएव डेकार्ट के मतानुसार कलाकृतिजनित अनुभव एक अस्फुट विचार है।

इष्ट एवं सुन्दर तथा अनिष्ट और कुरूप में भेद

सुन्दर[3] अथवा कुरूप वह है जिसको बाह्येन्द्रियां सामान्य रूप से तथा नेत्रेन्द्रिय विशेष रूप से ऐसा (सुन्दर अथवा कुरूप) निर्धारित करते हैं। परन्तु इष्ट अथवा अनिष्ट वे हैं जिनको बुद्धितत्त्व हमारे लिए ऐसा (इष्ट अथवा अनिष्ट) प्रतिरूपित करता है। इसके अनुसार सुन्दर वस्तुओं के प्रति जो

---

१. हाल्डे० भाग १—३५७ २. हाल्डे० भाग १—२९१

३. हाल्डे० भाग १—३६९

हमारा प्रेम है उसको हम उस प्रेम से भिन्न निरूपित करने के लिए जो हममें उस वस्तु के प्रति होता है जिसको बुद्धि ने इष्ट के रूप में प्रतिरूपित किया है, आकर्षण कह सकते हैं। इसी प्रकार से हम कुरूप अथवा अनिष्ट में भी भेद को स्पष्ट कर सकते हैं। कुरूप वह है जिसको बाह्येन्द्रियां घृणाजनक प्रतिरूपित करतीं हैं। अनिष्ट वह है जिसको बुद्धि घृणाजनक प्रतिरूपित करती है।

प्रेम अथवा घृणा का वह भाव जो सुन्दर अथवा कुरूप से सम्बन्धित है उस भाव की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है जो इष्ट अथवा अनिष्ट के साथ सम्बन्धित है। इसका कारण यह है कि आत्मा के पास जो कुछ बाह्येन्द्रियों के साधन से आता है वह उस पर उससे गम्भीरतर प्रभाव डालता है जिसको बुद्धि उसके लिए प्रतिरूपित करती है।

काव्यकृतियों पर डेकार्ट के दर्शन शास्त्र का प्रभाव

डेकार्ट के दर्शन शास्त्र ने काव्य क्षेत्र में नियमों के शासन का सूत्रपात किया। प्रकृति प्रदत्त शक्ति अथवा प्रतिभाशक्ति को वे काव्य रचना का अनिवार्य साधन मानते थे परन्तु यह भी आवश्यक मानते थे कि सर्वांगीण काव्यरचना के लिए प्रतिभाशक्ति के साथ-साथ काव्यरचना के नियमों का भी ज्ञान होना चाहिए। उस युग में यह मानते थे कि कलाकृतियों पर बुद्धि का नियन्त्रण उनको दिव्यता सौंपने में समर्थ है। नियमों को प्रतिभाशक्ति के साधन माना जाता था।

इस प्रकार से इस युग में युक्तिवाद (rationalism) से प्रभावित वाइलो (सन् १६३६–१७११ ई०) तथा अन्य कलामर्मज्ञ निम्नलिखित नियमों को उत्कृष्ट काव्य की रचना के लिए आवश्यक मानते थे :—

(१) आचारिक प्रयोजन (moral purpose)—काव्य में इसका समावेश सर्वाधिक जनसंख्या को आनन्दित करने की लक्ष्यपूर्ति के लिए करना चाहिए। इस प्रयोजन की निर्धारणा काव्यवस्तु को निर्धारित करने के पूर्व ही कर लेना चाहिए क्योंकि यह प्रयोजन कलाकृति के सम्पूर्ण भाग का एवं उसके सभी अंशों का नियमित संयोजन करता है। परन्तु इस आचारिक प्रयोजन[1] को पाठक अथवा दर्शक की संमति प्राप्त करने के लिए रमणीय एवं भव्य रूप

---

१. गिल० २१७

में प्रदर्शित करना चाहिए। सुखकारी रूप को उस मधु के समान समझा जाता था जो उपदेश की कटु ओषधि पर अवलेपित किया जाता था।

(२) समुचित विषय वस्तु – आधारिक प्रयोजन की निर्धारणा से घनिष्ट रूप में सम्बन्धित एक समुचित विषयवस्तु की उपलब्धि निर्धारित प्रयोजन को प्रदर्शित करने के लिए आवश्यक समझी जाती थी। कलाकृति की विषयवस्तु को चुनने के लिए उसके क्षेत्र को इस प्रकार से विशाल किया गया था कि उसमें उत्कृष्ट साहित्य की विषयवस्तु तथा प्रकृति का समावेश संभव हो सके।

(३) आविष्कार[१] (invention)—इसका अर्थ किसी पूर्णतया नूतन वस्तु की रचना न होकर केवल कथनीय विषयसामग्री को सुव्यवस्थित करना, क्रमपूर्वक विन्यास करना एवं कुशल आलेखन (designing) करना है और उसको इस प्रकार से परिवेष्टित (dressing) करना है कि वह मनोभाव (mood) अथवा अवसर के अनुकूल बन जाए, जैसे कि विषयवस्तु के कुछ अंशों को परिवर्तित करना, कुछ अंशों को उसमें और जोड़ना एवं कुछ अंशों को उसमें से निकाल देना। आविष्कार का अर्थ यदि संक्षिप्त रूप में कहें तो यह कहना होगा कि इसका अर्थ काव्य की विषयवस्तु को उस रूप में प्रकट करना नहीं था जिस रूप में वह यथार्थतः है वरन् उस रूप में प्रकट करना था जिस रूप में उसको होना चाहिए।

परन्तु जिस समय 'प्रकृति का यथार्थ चित्रण' (truth to nature) इस युक्तिवादी सिद्धान्त का महत्त्व काव्य रचना के लिए प्रतिष्ठित हो गया तब इसी अविष्कार को 'अत्यन्त साम्य' (verisimilitude) कहने लगे थे। क्योंकि यदि हम 'अत्यन्त साम्य' के प्रतिपादकों के अनुसार सत्य के अर्थ को जानने का प्रयास करें तो हमें यह तत्काल ज्ञात हो जाता है कि काव्यसिद्धान्त का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शनशास्त्र के साथ है। सतरहवीं शताब्दि में दर्शन-शास्त्र का मुख्य ध्येय वस्तुओं के 'रूपों' का, नियमों का एवं उनके सारतत्त्वों की खोज करना था। उस युग में दर्शनशास्त्र का ध्यान वस्तुओं के उन विविध रंगों अथवा आकृतियों पर केन्द्रित नहीं था जो तुरन्त ही नेत्र इन्द्रिय को प्रभावित करते थे वरन् उसका ध्यान उन मूलरूप सिद्धान्तों पर केन्द्रित था जो प्रत्यक्ष ग्राह्य अनेकता को सुव्यवस्था तथा एकात्मता प्रदान करते थे। इसी प्रकार से कवियों का ध्येय व्यक्तिरूप मनुष्य, व्यक्तिरूप क्रिया अथवा व्यक्तिरूप वस्तु जैसा कि वे इष्ट तथा अनिष्ट से मिलेजुले रूप में इन्द्रियगोचर होते हैं नहीं था वरन् चरित्रों के विभिन्न प्रकार (types ot character) थे। कविगण

---

२. गिल —२१८

दृश्यों तथा घटनाओं को उस रूप में काव्य में चित्रित नहीं करते थे जिस रूप में वे कथाओं तथा प्रकृतिक्षेत्र में प्राप्त होते थे वरन् उनको वे युक्ति विरुद्ध अंश से शुद्ध करते थे एवं उसमें तर्कशास्त्रीय व्यवस्था का समावेश करते थे जिससे कि वे दर्शकों के चित्तों का समर्थन तर्कशास्त्रीय वाक्य (syllogism) की भांति प्राप्त कर सकें। प्राचीनयुगीन उत्कृष्ट स्वरूप काव्य (classical poetry) के परवर्ती काव्य का प्रतिपाद्य विषय वह नहीं था जो इन्द्रियों को प्रबल रूप में प्रभावित करता है वरन् वह कारण (reason) था जिसे बुद्धि खोज निकालती है एवं जो प्रत्यक्षणीय वस्तुओं में अन्तर्भूत है।

अतएव एक कवि के लिए मान्य सिद्धान्त यह था कि कवि[1] को प्रकृति के क्षेत्र से पलायन करना नहीं चाहिए उसको जीवन तथा प्रकृति से विमुख होना नहीं चाहिए, उसको 'अत्यन्त साम्य' को ध्यान में सर्वदा रखना चाहिए। कवि का मुख्य कर्तव्य सत्य को वस्त्रालंकृत करना एवं सुसज्जित करना था। इस प्रकार से 'अत्यन्त साम्य'[2] का अर्थ वस्तु का यथार्थ मूलक चित्रण नहीं वरन् वस्तु का आदर्शमूलक चित्रण था।

(४) अखण्डताएँ[3]—काल तथा देश की अखण्डताएँ युक्तिवादी वैज्ञानिक युग की विचारधारा के अनुकूल नियम थे।

(५) उचित शब्द तथा अलंकार—आत्मा को भावाविष्ट करने के लिए एवं कलानुभावक इन्द्रियों को प्रसन्न करने के लिए काव्य अथवा नाट्य कृति में उचित शब्दों एवं अलंकारों का प्रयोग इसलिए उपयोगी समझा जाता था क्योंकि वे कर्तव्यमीमांसीय सत्य (moral truth) के सम्मानपूर्वक स्वागत के लिए आत्मा के आन्तरिक प्रकोष्ठों को खोल देते थे।

(६) भावावेग—काव्य कृति में भावावेग को सर्वाधिक मूलतत्त्व मानते थे। क्योंकि यदि काव्यरचना में भावावेग को सुचारु रूप में प्रकट किया गया है तो वह पाठक के हृदय को भावावेग से परिपूर्ण कर देता है, उसको भय युक्त कर देता है एवं इस तथ्य के स्पष्ट होते हुए भी कि काव्यकृति मिथ्या एवं आविष्कृति है उसको वह भावावेगसम्बन्धित सभी गतियों का अनुभव करा देता है।

---

१. गिल० २२०   २. गिल० २२१

३. गिल० २२३

अध्याय ८

ब्रिटेन के कलाशास्त्रीय दार्शनिक

ब्रिटेन के कलाशास्त्रीय दार्शनिकों का महत्त्व

तुलनात्मक दृष्टिकोण से ब्रिटेन के कलाशास्त्रीय दार्शनिकों का महत्त्व इस बात में है कि उनमें से अनेक दार्शकि काव्य, काव्य की विषयवस्तु एवं काव्यकृतियों के उत्पादनार्थ आवश्यक साधनों का प्रतिपादन ऐसे रूपों में करते हैं कि वे भारतीय अलंकारशास्त्र, काव्यलक्षणशास्त्र एवं स्वतन्त्रकलाशास्त्र के आचार्यों की कृतियों में उपलब्ध तद्विषयक विचारों के बहुत अंशों में समान हैं। इस प्रकार से——

(१) बेकन कविकृत प्रकृति के वक्रीकरण (distortion) की चर्चा उसी प्रकार से करते हैं जिस प्रकार से भारतीय अलंकारशास्त्र के आचार्य वक्रोक्ति अथवा वैचित्र्य[1] की चर्चा करते हैं।

(२) हाब्स ने कल्पना एवं काव्यालंकारों के परस्पर सम्बन्ध को लगभग उसी प्रकार का माना है जैसा कि कुन्तक ने कविव्यापार अर्थात् कवि-कल्पना एवं उस वक्रत्व[2] में माना है जिसे कवि अलंकारों की सहायता से प्रदर्शित करता है।

(३) काल्पनिक कृतियों के स्वरूप के विषय में एडिसन का मत अधिकांश में वही है जो उत्पलाचार्य का मत है (यथाभीष्टसमुल्लेख) तथा एडिसन का जो मत कल्पना के विषय में है लगभग वही मत आनन्दवर्धनाचार्य का 'प्रतिभा' के विषय में है।

(४) बर्क यह मानते हैं कि काव्यरचना करते समय कवि की आत्मा जिस प्रकार से प्रभावित होती है उसी प्रकार से दर्शक की आत्मा उस काव्य को सुनते समय प्रभावित होती है। यह मत उस भारतीय स्वतन्त्रकला-शास्त्रीय मत के समान लगता है जिसे निम्नलिखित वाक्य में प्रकट किया है——'कवेः श्रोतुः समानोनुभवस्ततः।' एडीसन का उन भारतीय स्वतन्त्र-कलाशास्त्रियों से मतभेद है जो यह मानते हैं कि भाषा की अभिधा शक्ति से नहीं वरन् भाषा की ध्वनि शक्ति से ही केवल मूल भावावेगों को जाग्रत किया

---

१. व० जी० २२ २. व० जी० ७

जा सकता है। क्योंकि वे यह मानते हैं कि समस्त भाववाची (Compound abstract) शब्द आत्मा को बिना तदर्थभूत वस्तुओं की मध्यागत प्रतिच्छायाओं की सहायता के केवल अपनी ध्वनि से भावाविष्ट कर सकते हैं।

बेकन

कल्पना के स्वरूप के विषय में उनका अभिमत

बेकन (१५४१–१६२६) अनुभवैकप्रामाण्यवाद (Empiricism) के संस्थापक थे। उन्होंने मन[1] (mind) का विभाजन तीन भागों में किया था और प्रत्येक भाग में एक विभिन्न शक्ति मानी थी। उनके मतानुसार कल्पना काव्य को, स्मृति इतिहास को एवं बुद्धि तत्त्व (reason) दर्शनशास्त्र को उत्पन्न करते हैं। यद्यपि अपने पूर्वलिखित लेखों में उन्होंने कल्पना को स्मृति एवं बोधशक्ति के तुल्य महत्त्वपूर्ण माना था फिर भी उन्होंने अपने उत्तरकालीन लेखों में अपने इस मत को बदल दिया था और कल्पना को स्मृति तथा बोधशक्ति के बीच संदेशवाहक प्रतिपादित किया था।

बेकन यह कहते हैं कि कलाकार की रचनात्मक कल्पना[2] प्रकृति को वक्रीकृत कर देती है। अपनी इच्छा के अनुसार वह उसमें (प्रकृति में) कुछ ऐसी बातें मिला देती है जो प्रकृति में कभी भी साथ-साथ नहीं मिल सकतीं। यह कल्पना वस्तुओं के उन रूपों को प्रकट करती है जो प्रकृति के लोक में कभी घटित नहीं होते। बेकन का मत उन ड्यूरर से भिन्न है जिन्होंने सौन्दर्य को गणितशास्त्रीय सम्बन्ध से नियन्त्रित सिद्ध करने की चेष्टा की थी। उनके मतानुसार एक विलक्षण अनुपात (strangeness in proportion) सौन्दर्य का अनिवार्य गुण है। बेकन के मतानुसार सौन्दर्य कोई सम्बन्ध नहीं है। कल्पना के विषय में बेकन के मत के विरुद्ध पोप ने कहा था :—

पहले प्रकृति का अनुसरण करो और उसे अपरिवर्तनशील उपमान मानकर (कलाकृति के) गुण एवं दोषों का निर्धारण करो।

हाब्स

हाब्स (१५८८–१६७९ ई०) एक कट्टर भौतिकवादी (materialist) हैं। कल्पनाप्रसूत कृतियों के प्रति यद्यपि उनकी निन्दापूर्ण उदासीनता है, फिर भी वे अवसरवश काव्यगत सौन्दर्य के अस्तित्व को मानते हैं। कलाशास्त्र-

१. गिल० २०४ २. गिल० २१९

सम्बन्धी तीन विषयों पर उन्होंने यत्र तत्र विकीर्ण रूप में लिखा है (१) कल्पना (२) प्रतिभा एवं (३) तादात्म्य ।

(१) कल्पना

उनके दर्शनशास्त्र की सर्वाधिक मूल पूर्वमान्यता यह है कि भूततत्त्व एवं गति के अतिरिक्त कुछ भी यथार्थ नहीं है । अतएव उनके मतानुसार इन्द्रिय-बोध[1] बहिर्जगत की वस्तु से प्राप्त गति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है एवं इन्द्रियबोध से जो प्रतिच्छाया रची जाती है वह प्रति-संमर्दन (counter pressure) अथवा बहिर्मुखी गति (outward motion) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । स्मृति केवल गतियों के संस्कारों का भण्डारगृह मात्र है ।

परन्तु जब वे काव्यगत कल्पना की व्याख्या करना आरम्भ करते हैं तो वे मन की क्रिया के विषय में यान्त्रिक दृष्टिकोण का परित्याग कर देते हैं । वे मन को निम्नलिखित उन शक्तियों से युक्त मानते हैं जिसका समर्थन उनका यांत्रिक मत नहीं कर सकता :—

१. कल्पनाशक्ति साध्य एवं उसको सिद्ध करने के लिए आवश्यक साधन का साक्षात्कार करती है ।

२. यह सम्बन्धित करती है । यह वस्तुओं के मध्य में उन समानताओं का अन्वेषण करती है जो कल्पनाशक्ति के बिना अनदेखी अथवा अनजानी ही रह जाती हैं । इस प्रकार से सभी उपमायें एवं रूपक या तो कल्पनाशक्ति से उपलब्ध होती हैं या उसकी रचनायें हैं । अतएव कल्पनाशक्ति कवियों तथा व्याख्यानकला में प्रवीण व्यक्तियों को वह शक्ति प्रदान करती है जिसके साधन से वे अपनी इच्छानुसार वस्तुओं को रोचक अथवा उत्तेजक बना सकते हैं । क्योंकि अलंकार उनके प्रधान साधन हैं ।

३. कल्पना केवल समानताओं का ही नहीं वरन् असमानताओं[2] का भी अन्वेषण करती है । इस प्रकार से यह निर्णयस्वरूप भी है । इस विषय में हाब्स का मत निश्चल नहीं है । कभी-कभी वे यह मानते हैं कि कल्पना तथा निर्णय (judgement) में भेद है परन्तु वे बहुधा इस मत का खण्डन भी करते हैं । कल्पना एवं निर्णय को परस्पर भिन्न-भिन्न मान कर वे यह मानते हैं कि काव्यकृति में यद्यपि कल्पना एवं निर्णय दोनों की आवश्यकता पड़ती है फिर भी कल्पनाशक्ति अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि काव्य की भव्यता का आधार कल्पना की बहुलता है ।

---

१ गिल० २१० २. गिल० २११

४. कल्पना बुद्धितत्व के रूप में भी क्रियाशील होती है। काव्य का साध्य अनुभवगत उपादान सामग्री को इतना अधिक सुचारु रूप में तथा सुव्यवस्थित रूप में प्रकट करना है कि जब उसको सुअलंकृत किया जाता है तो वह पाठकों को मनोमुग्धकारी प्रतीत होता है। एक संगठन (system) ऐसा हो सकता है जिसकी रचना पहले से दर्शनशास्त्र ने की है। ऐसी दशा में कल्पना की कार्यशक्ति का काम उसे केवल सुअलंकृत करना एवं उसको रोचक बनाना है। परन्तु उन प्रसंगों में जहाँ पर दर्शनशास्त्र ऐसे किसी संगठन का जनक नहीं बन सका है वहां पर कल्पना शक्ति उसकी रचना करने की चेष्टा करती है। और जितना ही अधिक वह उसकी रचना करने में सफल होती है उतना ही अधिक उसकी रचना चित्ताकर्षक होती है। ऐसे प्रसंग में कल्पना बुद्धितत्त्व के रूप में कार्यशील होती है और वह विचारती है तथा वर्गीकरण करती है।

(२) प्रतिभा

कलात्मक प्रतिभा[1] वह कल्पना भी है जो वस्तुओं में समानता का अन्वेषण करती है एवं साथ ही साथ वह निर्णयशक्ति भी है जो भेदों का पता लगाती है। इसमें मन की सभी कार्यशक्तियां वर्तमान होती हैं।

(३) उनका तादात्म्य का सिद्धान्त

हमारे अन्तःकरण में जो प्रतिच्छायाएँ उत्पन्न होती हैं उनमें संयोजन, वियोजन, गुणन एवं विभाजन करना संभव है। इस प्रकार से जिस समय एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के साथ अर्थात् एक अभिनेता[2] अथवा नाटककार के साथ अपना तादात्म्य करता है, जिस समय वह यह कल्पना करता है कि वह किसी नाटक का नायक है तो वह अपने व्यक्ति की प्रतिच्छाया को मूल-नायक के कार्यों की प्रतिच्छाया से एकात्म कर देता है।

लॉक

उनकी प्रमाणमीमांसा के साथ उनके कलाशास्त्र का संबंध

लॉक (सन् १६३२-१७०४ ई०) के मतानुसार सौन्दर्य तत्व एक मिश्रित ज्ञप्ति है जिसकी गणना एक मिश्रित प्रकार (mode) के अन्तर्गत की जा सकती है। क्योंकि यह रंगों तथा आकृतियों का मिश्रित स्वरूप ही है जो दर्शक में आनन्द उत्पन्न करता है। यह यथार्थ नहीं है। और सौन्दर्यतत्त्व का बोध एक सुखमय छल (deception) है। अतएव यहां पर हम उनके

---

१. गिल० २११ २. गिल० २१०

दर्शनशास्त्र के ऐसे मूल सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगें जिनका ज्ञान कलाविषयक उनके अभिमतों को स्पष्टतया समझने के लिए आवश्यक है ।

लॉक वे प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने ज्ञान[1] की समस्या को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना था और यह प्रतिपादित किया था कि किसी दार्शनिक समस्या को सुलझाने की चेष्टा करने के पूर्व हमको इस बात का पता लगा लेना चाहिए कि हमारी मानसिक शक्तियां किन विषयों को जान सकती हैं और उनके लिए सर्वोपरि ज्ञेय तत्त्व कौन-सा है । इस प्रकार से उन्होंने कान्ट की सुप्रसिद्ध कृति 'क्रिटीक आफ प्योर रीजन' की मूल समस्या का सूत्रपात किया था । इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा उन्होंने अपने जिस ग्रन्थ में की है उसका शीर्षक 'एन एसे कंसर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग' है ।

वे एक अनुभवैकप्रामाण्यवादी थे । अतएव वे यह मानते थे कि वैज्ञानिक गवेषणा का आरम्भ बिन्दु बुद्धितत्त्व का एक सामान्य सत्य नहीं है वरन् एक विशेष मनोवैज्ञानिक तथ्य है एवं स्पष्ट करने का अर्थ यह है कि किसी प्रक्रिया के ऐतिहासिक स्रोत को इन्द्रियबोध में बताया[2] जाय । उनके मतानुसार हमारे अन्तःकरण में कोई भी जन्मजात ज्ञप्तियां अथवा जन्मजात सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं है । बुद्धि एक ऐसा अंधेरा असुसज्जित (unfurnished) प्रकोष्ठ है जिसमें केवल दो वातायन हैं । अथवा यह बुद्धि एक ऐसा सादा कागज है जिस पर कोई चिन्ह अथवा रेखाएँ नहीं हैं ।

उन्होंने कान्ट प्रतिपादित 'स्वस्वरूपस्थ वस्तु' (thing-in-itself) के विकास का पथप्रदर्शन भी किया था । क्योंकि उन्होंने गुणों का भेद दो प्रकारों में किया था—मूल गुण (Primary qualities) एवं अमूल गुण (secondry qualities) । उनके मतानुसार अमूल गुण वस्तुओं में स्वयं नहीं होते । वस्तुओं में कुछ शक्तियां होती हैं जो रंग, स्वाद एवं स्पर्श आदि का बोध हममें मूल गुणों के कारण उत्पन्न करतीं हैं । इस प्रकार से अमूल गुण केवल प्रमातृगत ज्ञप्तियाँ मात्र ही नहीं हैं । मूल गुण जैसे कि ठोसपन एवं विस्तार स्वस्वरूपस्थ वस्तुओं में होते हैं ।

सब ज्ञप्तियों के स्रोत

अन्तःकरण में ज्ञप्तियों के प्रवेश करने के लिए दो स्रोत हैं अथवा यह कहें कि दो वातायन हैं जिनसे होकर अन्धकारमय प्रकोष्ठ में प्रकाश प्रवेश

१. थिली० ३०९ २. गिल० २३३

करता है (१) बाह्य इन्द्रियां एवं (२) अन्तःकरण। बाह्य इन्द्रियां अमिश्रित गुणों के बोध का साधन हैं। गुणों के ये बोध तुरन्त विलीन नहीं हो जाते। वे अपना चिह्न छोड़ जाते हैं। ये चिह्न संग्रहीत किए जाते हैं। ये चिरस्थायी होते हैं। उनका चिरस्थायीपना बुद्धि को इस बात के लिए अवसर प्रदान करता है कि निम्नलिखित बातों के लिए वह उनका मनन करे अथवा उनका विचार करे :—

(१) उन गुणों में परस्पर भिन्नता अथवा अभिन्नता का ज्ञान।

(२) उनको उस रूप में संयुक्त करना जिस रूप में वे इन्द्रियबोधों में वर्तमान नहीं हैं, जिससे कि वह कल्पना में नूतन कृतियों की रचना कर सके और विशेपरूप ज्ञप्तियों में विद्यमान सामान्य का प्रथक्करण कर सके।

इस प्रकार से 'सामान्यों' के उद्भव का कारण मन की सामान्यांश के प्रथक्करण (abstraction) की शक्ति है एवं ये 'सामान्य' जन्मजात अथवा प्रकृतिजात नहीं हैं।

लॉक के कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को सम्यक् रूप से समझने के लिए हमको ध्यान में यह रखना चाहिए कि वे यह मानते हैं कि इन्द्रियां हमको ज्ञेय रूप में केवल सरल ज्ञप्तियां ही नहीं प्रदान करती हैं वरन् मिश्रित[1] ज्ञप्तियाँ भी प्रदान करतीं हैं। उदाहरण के लिए जिस समय विविध परस्पर मिलित गुणों से युक्त वस्तु उनका विषय होती है। इन मिश्रित गुणों में कल्पना शक्ति के सहारे बुद्धि अन्य उन ज्ञप्तियों को और जोड़ देती है जो मिश्रित गुण समूहों में वर्तमान नहीं हैं।

अन्तःकरण (inner sense) बाह्येन्द्रियों[2] से प्रदत्त ज्ञप्तियों पर बुद्धि की क्रिया का ध्यानपूर्वक अवलोकन करता है। यद्यपि अन्तःकरण का कोई सम्बन्ध बाह्य विषय से नहीं है फिर भी यह अधिकांश रूप में बाह्येन्द्रियों के समान ही है। इसीलिए इसको अन्तःकरण कहते हैं। और जिस प्रकार से बाह्य इन्द्रियों से प्रदत्त ज्ञप्तियों को इन्द्रियबोध कहते हैं उसी प्रकार से आन्तरिक इन्द्रिय से उद्बोधित ज्ञप्तियों को 'प्रतिबिम्ब' (reflection) कहते हैं क्योंकि प्रतिबिम्बस्वरूप ज्ञप्तियों की रचना में अन्तःकरण अपने को ही अपना ध्येय बिन्दु बना लेता है।

सामान्यतः अनुभवैकप्रमाणवादी कलाशास्त्रकारों के सिद्धान्तानुसार प्रति-

---

१. फुल० १४६ २. प्रिच० १०६

पादित सहृदयता तथा प्रतिभा एवं लॉक प्रतिपादित आन्तरिक इन्द्रिय[1] (internal sense) में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि आन्तरिक इन्द्रिय जिस समय सौन्दर्य का अनुभव करती है उस समय सहृदयत्व कहते हैं परन्तु जिस समय वह सौन्दर्य की रचना करती है उस समय उसको प्रतिभा कहते हैं।

व्यक्ति का एकत्व (Personal identity)

ज्ञान में आत्मबोध[2] अवश्य होता है। किसी के लिए भी यह संभव नहीं है कि वह बिना यह जाने हुए कि वह जानता है किसी वस्तु का बोध प्राप्त कर सके। जानने की स्मृति चिरस्थायी होती है और अन्य ज्ञाताओं से एक विशेष ज्ञाता को भिन्न करती है। केवल यही वस्तु व्यक्ति के एकत्व की रचना करती है। इसका विस्तार उस सीमा तक हो सकता है जिस सीमा तक अतीतकालीन ज्ञानक्रियायों की स्मृति अतीतोन्मुखी होकर विस्तृत हो सकती है। यह शरीर विधायक अंगों पर निर्भर नहीं है। क्योंकि शरीर के परिवर्तित होने पर भी यह स्थायी बनी रहती है।

अपनी प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह याद रखना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि लॉक के मतानुसार व्यक्तित्व परिवर्तनशील है। यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन के किसी विशेष समय में जीवन के किसी अंश का विस्मरण ऐसे रूप में कर देता है कि उसकी स्मृति असंभव हो जाती है तो वह वही व्यक्ति नहीं रहता जो वह अतीत काल में था। एक ही व्यक्ति स्वयं अपने से भिन्न भी होता है यदि विभिन्न समयों में विशिष्ट रूप से विलग अथवा स्पष्ट एवं असंवादनीय (uncommunicable) बोध में मग्न हो जाता है।

उनके दर्शनशास्त्र में सौन्दर्य का स्थान

लॉक के दर्शनशास्त्र में सौन्दर्य तत्त्व का स्थान क्या है? इसको पूर्ण रूप से जानने के लिए लॉक के दर्शनशास्त्र की दो बातों को स्पष्टरूप से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है—(१) बुद्धि की शक्तियां तथा (२) ज्ञप्तियों के प्रकार।

बुद्धि के पास उन सरल ज्ञप्तियों की पुनरावृत्ति करने की, परस्पर तुलना करने की तथा विविध रूपों में उनको मिलाने की शक्ति है जो दो वातायनों से

१. गिल० २३४–५ २. फुल० १५४

अर्थात् बाह्येन्द्रियों एवं आन्तरिक इन्द्रिय की सहायता से उसको प्राप्त होती हैं। एवं ज्ञप्तियां दो प्रकार की हैं—(१) सरल[1] अथवा अमिश्रित तथा (२) मिश्रित।

सरल ज्ञप्तियां वे हैं जिनको बुद्धि बाह्येन्द्रियों अथवा आन्तरिक इन्द्रिय से ग्रहण करती है। बाह्येन्द्रियों से हमको वर्ण, स्वाद, दिक्, विस्तार, गति आदि का बोध होता है। एवं प्रत्यक्ष, धारणा, (retention) तुलना आदि ज्ञप्तियां हमको आन्तरिक इन्द्रिय से प्राप्त होती हैं। परन्तु सुख-दुःख आदि वे सरल ज्ञप्तियां हैं जिनकी प्राप्ति हमको दोनों प्रकारों की इन्द्रियों से होती है।

वे मिश्रित ज्ञप्तियां जिनकी रचना मन स्वगत ज्ञप्तियों का संमिश्रण कर करता है कभी उस प्रकार से मिश्रित रूप में प्राप्त नहीं की जातीं। इन नये मिश्रित रूपों का कारण मन की मिलाने की शक्ति है। इस प्रकार की सभी ज्ञप्तियों की रचना सरल ज्ञप्तियों को मिलाकर की जाती है। किसी भी मिश्रित-ज्ञप्ति-रचना में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है जिसका बोध मूल रूप से इन्द्रियाँ के साधन से न होता हो।

ये मिश्रित ज्ञप्तियां तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विभाज्य हैं (१) प्रकार (modes) (२) द्रव्य एवं (३) सम्बन्ध। प्रकार दो प्रकार के होते हैं (अ) सरल एवं (आ) मिश्रित। सरल प्रकार अन्य प्रकार की ज्ञप्तियों के मिश्रण से शून्य एक ही प्रकार की सरल ज्ञप्तियों का मिश्रण मात्र है—जैसे 'दर्जन'। परन्तु मिश्रित प्रकार विविध प्रकार की सरल ज्ञप्तियों से रचे जाते हैं एवं सौन्दर्य ऐसा ही एक प्रकार है। क्योंकि इसकी रचना दर्शकों के लिए सुखद अथवा आनन्ददायक रंगों एवं आकृतियों के संगठन से की जाती हैं।

क्या सौन्दर्य एक यथार्थ ज्ञप्ति है ?

लॉक के मतानुसार यथार्थ ज्ञप्तियां वे हैं जिनका अस्तित्व वस्तुओं की यथार्थ सत्ता अथवा अस्तित्व के अनुरूप होता है। इस प्रकार से सरल ज्ञप्तियां इसलिए यथार्थ (real) नहीं हैं क्योंकि वे बहिर्जगत में वर्तमान वस्तुओं की प्रतिकृतियां हैं वरन् इसलिए यथार्थ हैं क्योंकि वे बहिर्जगत में वर्तमान वस्तुओं की शक्तियों के प्रभाव मात्र हैं। परन्तु मिश्रित ज्ञप्तियां न तो बहिर्भूत वस्तुओं के स्वरूप की होती हैं और न तो बुद्धि से स्वतन्त्र रूप में उनकी कोई सत्ता

---

१. थिली० ३१०–११

ही होती है। वे बुद्धि की सृष्टियां हैं। इस प्रकार की कुछ बौद्धिक रचनाएँ स्वयं वस्तुओं के 'मूलरूप' होने के कारण यथार्थ हैं। लॉक के मतानुसार इस प्रकार की 'मूलरूप' सम्बन्धी[1] रचनाएँ केवल गणितशास्त्रियों की रचनायें हैं—कवियों की नहीं। वे यह भी मानते हैं कि हमारी बुद्धि[2] में सौन्दर्य तत्त्व की कोई आधार भूमि नहीं होती। इसकी उत्पत्ति केवल आचारों तथा शिष्ट व्यवहारों से होती है।

इस प्रकार से लॉक के मतानुसार सौन्दर्य एक मिश्रित ज्ञप्ति है। इसकी गणना मिश्रित प्रकार के अन्तर्गत की जा सकती है क्योंकि विविध प्रकार की ज्ञप्तियों से इसकी रचना होती है। कलागत सौन्दर्य न तो बहिर्भूत वस्तु के समरूप है और न 'मूल रूप' सम्बन्धी ही है जैसे कि गणितशास्त्रज्ञों की रचनायें होती हैं। अतएव सौन्दर्य तत्त्व यथार्थ नहीं है।

सुखद छलना के रूप में सौन्दर्य तत्त्व

लॉक के मतानुसार सत्य अथवा मिथ्या[3] तभी अस्तित्व में आता है जब हम वस्तुओं के विषय में तर्कपूर्ण वाक्यों (propositions) की रचना करते हैं। एक वाक्य में जिन ज्ञप्तियों को साथ-साथ प्रकट करते हैं वे अपने में सत्य अथवा मिथ्या नहीं होतीं, क्योंकि हमारे पास कोई ऐसी ज्ञप्ति नहीं है जो किसी बाह्य अथवा आन्तरिक तथ्य के समरूप न हो तथा दो वातायनों में से एक से होकर बुद्धि में प्रवेश न करती हो। विलगरूप में ग्रहीत प्रमेयों का अथवा ज्ञप्तियों के समूहों का सत्य अथवा मिथ्या होना इस बात पर निर्भर है कि वे अनुभवसिद्ध तथ्यों का मण्डन करते हैं या खण्डन करते हैं। यदि इस प्रकार के समूहों के विधायक अंश एक दूसरे का खण्डन नहीं करते तो वे सत्य हैं और यदि एक दूसरे को खण्डित करते हैं तो मिथ्या हैं।

परन्तु लॉक के मतानुसार कलाकार की कल्पना[4] अपनी प्रकटनीय वस्तु को मिथ्या रंग, मिथ्या रूप एवं मिथ्या समरूपतायें प्रदान करती है और अपने असावधान दर्शकों को सत्य के पथ से च्युत कर देती है। यह उस राजगृहप्रसाधक (court dresser) के समान है जो मिथ्या रूप बनाता है और असावधान व्यक्ति को भ्रमित करता है। एवं राजगृहप्रसाधक के लिए जो महत्त्व रंग आदि का है वही महत्त्व कवियों और नाटककारों के लिए शब्दों के अलंकारिक

---

१. थिली० ३१६ २. गिल० २४९–५०
३. फुल० १५९ ४. गिल० २०३

अथवा औपचारिक प्रयोग का है। इस प्रकार के शब्द अप्रत्यक्ष रूप से (indirectly) मिथ्या ज्ञप्तियों को उत्पन्न करते हैं, भावावेगों को संचालित करते हैं, बुद्धि को सत्य से विमुख करते हैं, निर्णयों को पथभ्रष्ट करते हैं और इस प्रकार से पूर्णतया छलकारी होते हैं। परन्तु मानवीय स्वभाव ऐसा है कि उसकी रुचि इस प्रकार के स्वतन्त्रकल्पनाप्रसूत प्रदर्शनों से भ्रमित होने की ओर होती है क्योंकि इस प्रकार की भ्रान्ति सुखद होती है। उनके मतानुसार कला का कार्य सूचना देने तथा नैतिक उत्थान करने की अपेक्षा सुख देना अधिक है। अतएव लॉक के मतानुसार सौन्दर्यानुभव एक सुखदायी भ्रान्ति है जो कल्पनाप्रसूत मिथ्या रचनाओं के कलापूर्ण प्रदर्शन से उत्पन्न होती है।

शाफ़्टसबरी

उनकी युक्तिवादी (rationalistic) उन्मुखता

यद्यपि अनुभवैकप्रमाणवादी दार्शनिक मानव के पाशविक ढांचे के विधायक तत्त्वों के आधार पर सौन्दर्यानुभव को स्पष्ट करने की चेष्टा करते हुए बुद्धि तत्त्व को सौन्दर्य शास्त्र के क्षेत्र से निष्कासित कर देना चाहते थे फिर भी बुद्धितत्त्व के बल के सामने उनकी एक नहीं चली। क्योंकि निज प्रतिपादित आन्तरिक इन्द्रिय के तात्त्विक स्वरूप में उन्होंने बौद्धिक तत्त्वों को सम्मिलित कर लिया था। उदाहरण के लिए उन शाफ़्टसबरी (सन् १६७१–१७१३ ई०) ने जो सम्भवतः अठारहवीं शताब्दि में ब्रिटेन के अनुभवैक-प्रमाणवादी (empiricist) दार्शनिक मत के संस्थापक थे, आन्तरिक इन्द्रिय के तात्त्विक स्वरूप का प्रतिपादन इस रूप में किया था कि ह्यूम को कलानुभव में बौद्धिक अंश को मानने में अनुभवैकप्रमाणवाद से कोई विरोध दृष्टिगत नहीं हुआ। शाफ़्टसबरी से प्रतिपादित इन्द्रियबोध का तात्त्विक स्वरूप लॉक से प्रतिपादित स्वरूप से भिन्न है। उन्होंने इन्द्रियबोध (sense) शब्द का प्रयोग 'मूल्यानुभव'[1] (value experience) के अर्थ में किया है। उनके मतानुसार सौन्दर्य का अनुभव एक तात्कालिक एवं निश्चितस्वरूप अनुभव है जो आन्तरिक इन्द्रिय के साधन से उत्पन्न होता है। उनकी आन्तरिक इन्द्रिय (inner sense) युक्तिवादी लाइबनीज़ से प्रतिपादित उस सहानुभूति (sympathy) के समान है जो सुचरित आत्मा को पहले ही से ऐसा बना देती है कि वह दिव्य सामंजस्य से एकात्म होकर स्पंदित हो।

---

१. गिल० २३६–७

शाफ़्टसबरी से प्रतिपादित आन्तरिक इन्द्रिय अथवा सौन्दर्यबोधेन्द्रिय कोई 'इन्द्रिय' के शाब्दिक अर्थ में इन्द्रिय नहीं थी। यह एक ऐसी क्रिया है जिसमें सब अन्य क्रियायें अन्तर्भूत हैं (all embracing function); यह इन्द्रियबोध कर्ता को कलानुभव के प्रसंग में कार्य से कारण की ओर, बाहर से भीतर की ओर एवं अंश से पूर्णता की ओर ले जाती है। वे यह मानते थे कि आन्तरिक इन्द्रिय को शिक्षित किया जा सकता है तथा सुधारा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि उन्होंने अपने देशवासियों की कलाविषयक रुचि को अधिक उन्नत बनाना अपना पुण्य कर्तव्य मान लिया था।

हच्सन
सौन्दर्यानुभव के विषय में उनका अभिमत

हच्सन (१६९४-१७४७ ई०) शाफ़्टसबरी के शिष्य थे। अतएव उनके मत का उल्लेख हम उन एडीसन से पूर्व करते हैं जो हच्सन से ज्येष्ठ थे। वे यह मानते थे कि सौन्दर्यानुभव एक स्वार्थशून्य (disinterested) अनुभव है और यह स्वीकार करते थे कि इस अनुभव को 'मूलबोध' (sense) शब्द से द्योतित करना ठीक है। उनके मतानुसार 'सौन्दर्य के साक्षात्कार'[1] को 'सौन्दर्य का मूलबोध' कहना उचित ही है। क्योंकि इस मूलबोध में कोई भी बौद्धिक तत्त्व नहीं होता, सिद्धान्तों के विषय में कोई चिन्तना नहीं होती, और यह किसी इच्छा को उत्पन्न नहीं करता—क्योंकि इच्छा एक ऐसा आनन्द है जो स्वात्मप्रेम के कारण लाभ की भावी आशा से उद्भूत होता है। परन्तु सौन्दर्यानुभव सभी व्यक्तिगत लाभ की खोज से स्वतन्त्र होता है। यह स्वार्थशून्य होता है।

हच्सन का योगदान

हच्सन युक्तिवादी थे। उन्होंने एक मुख्य गणितशास्त्रीय सिद्धान्त का पता लगाया था जिसके अनुसार रेखागणित की आकृतियों, पशुओं, बीजगणित के नियमों (theorems) में सौन्दर्य की सत्ता सिद्ध होती है। यह सिद्धान्त एकात्मता तथा विविधता के बीच मिश्रित अनुपात (compound ratio) है। 'जहां पर आकृतियों की एकरूपता समान है (uniformity of bodies is equal) वहां पर सौन्दर्य विविधता के रूप में होता है' जैसे कि त्रिकोण, वर्ग, पंचभुजाकृति आदि।

---

१. गिल० २४१

अनुभवैकप्रमाणवादी कलाशास्त्रियों के दृष्टिकोण के अनुसार रसिकत्व, सामंजस्यानुभावक (sentiment) तथा प्रतिभा

सौन्दर्यपूर्ण के दर्शनीय तथा श्रव्य अंश के अनुभव के साधन के रूप में आन्तरिक इन्द्रिय को अनुभवैकप्रमाणवादी रसिकत्व (taste) के नाम से पुकारते हैं। परन्तु जहां तक आन्तरिक इन्द्रिय एक कलापूर्ण ढंग से उपस्थापित सामंजस्य आदि के अनुभव का कारण है वहां तक उसको सांमजस्यानुभावक (sentiment) कहते हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि सामान्यतः इन दोनों के बीच कोई भेद माना नहीं जाता था। इसी आन्तरिक इन्द्रिय को जो कलापूर्णकृति की रचना का साधन होती थी 'प्रतिभा कहते थे।

एडीसन

उनके कलाशास्त्रीय सिद्धान्त की दार्शनिक भूमिका

डेकार्ट के मत का उल्लेख हमने पूरे एक अध्याय में किया है और लॉक के मत का प्रतिपादन भी यथेष्ट विस्तार में किया है। ऐडिसन (१६७२–१७१९ ई०) के कलाशास्त्रीय मत की दार्शनिक भूमिका को समझने के लिए उपर्युक्त दोनों दार्शनिकों के सिद्धान्तों को स्मरण रखना आवश्यक है।

एडिसन का ध्यान मुख्य रूप से सौन्दर्यानुभवगत तथ्यों पर रहता है परन्तु वे उन तथ्यों की दार्शनिक व्याख्या की ओर अपना ध्यान नहीं देते। किसी विशेष दार्शनिक मत के वे अनुगामी नहीं हैं। फिर भी लॉक एवं डेकार्ट के दार्शनिक मतों के कारण ही उनके उस कलाशास्त्रीय मत का प्रादुर्भाव हुआ था जिसका प्रतिपादन उन्होंने 'कल्पना के आनन्द' (Pleasures of imagination) शीर्षक के अन्तर्गत लेखों में 'स्पेक्टेटर' नामक पत्र की संख्या ४११ से लेकर ४२१ तक किया था।

अपने विषय के प्रतिपादन में उन्होंने लॉक तथा डेकार्ट के दार्शनिक मत का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए इस कथन में 'कल्पना की प्रक्रिया का ऐतिहासिक स्रोत इन्द्रियबोध है' उन्होंने लॉक की पद्धति का अनुसरण किया है। उन्होंने प्रतिच्छायाओं के संगठित रूपों के विषय में डेकार्ट के सिद्धान्त का उल्लेख किया है।

एडिसन की उपलब्धि (discovery)

उन्होंने कलाशास्त्र के एक नये तथ्य 'महान' (the great) की ओर सर्वप्रथम दृष्टिपात किया था। इस प्रकार से उन्होंने बर्क प्रतिपादित 'भव्य'

(sublime) के स्वरूप की आधारभूमि तैयार की थी। बर्क के तद्विषयक प्रतिपादन ने कान्ट को गणितशास्त्रीय भव्यता (mathematically sublime) तथा शक्ति सम्बन्धी भव्यता (dynamically sublime) के प्रतिपादन में प्रभावित किया था।

कल्पना एवं उसके सुख

कल्पना मानवीय मन (mind) का वह अंश है जो बहिर्भूत वस्तुओं की उन प्रतिच्छायाओं को ग्रहण करता है जो इस अंश को नेत्रेन्द्रिय द्वारा उस समय प्राप्त होती हैं जिस समय इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होता है अथवा उन प्रतिच्छायाओं को ग्रहण करता है जिनकी रचना पूर्वानुभूत चित्रों, मूर्त्तियों, दृश्यवर्णनों आदि के आधार पर स्मृति[1] करती है। मन के इस अंश के पास एक भी ऐसी प्रतिच्छाया नहीं होती जिसको वह मूल रूप से नेत्रों की सहायता से ग्रहण नहीं करता। परन्तु मानवीय मन के पास असंख्य प्रकार से इन प्रतिच्छायाओं को चिरस्थायी बनाने की, परिवर्तन करने की, उनके अंशों को हटा देने की एवं उनको परस्पर संयुक्त करने की शक्ति होती है। यदि हमें पूर्व प्रकरण में कथित लॉक का मत याद है तो हम तुरन्त यह जान सकते हैं कि इस प्रसंग में एडीसन लॉक का अनुसरण करते हैं। एक कलाशास्त्री के रूप में उनका विचारणीय विषय केवल कल्पना का वह स्वरूप नहीं है जो नूतन एवं मौलिक कृतियों की रचना करता है वरन् कल्पना का वह अंश भी है जो इस प्रकार की रचनाओं को ग्रहण भी करता है। इस प्रकार की मानसिक कृतियां जब कल्पना पर प्रतिबिंबित होती हैं तो वे कल्पना के सुखों का स्रोत बनती हैं। कल्पना वह शक्ति है जो भूगर्भस्थित कालकोठरी में स्थित प्राणी को उन दृश्यों तथा प्रदेशचित्रों (landscapes) से उसको सुखी बनाती है जो सम्पूर्ण प्रकृति में प्राप्त सुन्दर रूपों से कहीं अधिक सुन्दर होते हैं।

कल्पना की शक्ति

मानवीय अनुभव का तथ्य यह है कि जिस समय पूर्वदृष्ट किसी वस्तु के एक विशेष अंश की प्रतिच्छाया हमारे मस्तिष्क में उद्भूत होती है उस समय वह प्रतिच्छाया उन असंख्य ज्ञप्तियों[2] को उद्बुद्ध करती है जो कल्पना लोक (स्मृति-लोक) में सुप्त दशा में रहती हैं। इस प्रकार से एक वृक्ष के प्रत्यक्ष में यह शक्ति है कि वह कल्पना लोक को उन क्षेत्रों अथवा वाटिकाओं से

---

१. एडी० ३९४ २. एडी० ४१५

परिपूर्ण कर दे जहां पर हमने उस वृक्ष को सर्वप्रथम देखा था एवं हमारी मानसिक दृष्टि के सामने उस सम्पूर्ण दृश्य को ले आए जो पूर्वकालीन अनुभूत विविध प्रतिच्छायाओं से परिपूर्ण होता है।

मानवीय अनुभव के इस तथ्य की डेकार्टकृत व्याख्या को निम्नरूप से कह सकते हैं :—

सम्पूर्ण प्राकृतिक दृश्य जैसे वाटिका से उत्पन्न ज्ञप्तियां मस्तिष्क में परस्पर बहुत कुछ संलग्न संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। अतएव जिस समय सम्पूर्ण विषयजनित ज्ञप्तियों में से एक ज्ञप्ति कल्पना में उत्पन्न होती है उस समय उस ज्ञप्ति का संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है। परन्तु यह उद्बोध इतनी मात्रा में प्रबल होता है कि यह सब निकटवर्ती संस्कारों को उद्बुद्ध कर देता है। एवं अन्य सम्बन्धित ज्ञप्तियों को उत्पन्न करता है। अपनी बारी आने पर अन्य निकटस्थ संस्कारों को ये ज्ञप्तियां सजीव करती हैं एवं अन्य ज्ञप्तियों को उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार से यह क्रम तब तक चला करता है जब तक कल्पना लोक में सम्पूर्ण चित्र अंकित नहीं हो जाता।

परन्तु इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्राकृतिक दृश्य के प्रत्यक्ष से उत्पन्न सभी ज्ञप्तियां एक प्रकार के ही संस्कारों को नहीं छोड़तीं हैं वरन् दुःखदायी ज्ञप्तियों से उत्पन्न संस्कारों की अपेक्षा सुखद ज्ञप्तियों से उत्पन्न संस्कार अधिक गम्भीर एवं विशाल होते हैं। अतएव दुःखद ज्ञप्तियों से उद्भूत संस्कार सजीव नहीं होते। इस कारण कोई भी दुःखद ज्ञप्ति कल्पना लोक में उत्पन्न नहीं होती। इसी कारण से वे दृश्य जिनको प्रत्यक्षतः देखना सुखद होता है कल्पनालोक में और भी अधिक सुखप्रद लगते हैं।

एडीसन के मतानुसार भौतिकवादी अथवा अध्यात्मवादी व्याख्या से निरपेक्ष होकर कल्पना शक्ति के विधायक तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

१. बाह्य वस्तुओं से रोचक ज्ञप्तियों को ग्रहण करना।

२. चिरकाल तक उनको संचित किए रखना।

३. अधिक सुखप्रद सम्पूर्णस्वरूप कृतियों के रूपों में उनके उत्कृष्टांशों का संगठनीकरण।

कवि एवं सहृदय पाठक दोनों के लिये यह आवश्यक है। ऐसी आकृतियों एवं प्रतिरूपों (representations) की सृष्टि करने के लिए जो पाठक की कल्पना शक्ति को उत्तेजित करें यह कवि के लिए आवश्यक है। एवं सहृदय को इसलिये यह आवश्यक है कि वह उस कल्पनात्मक चित्र को

सभी सुखप्रद विवरणों से पूर्ण कर सके जिसको प्रबल प्रभावशील अल्प शब्दों में काव्यरूप में प्रकट किया गया है।

कल्पना के प्रधान एवं अप्रधान सुख

एडीसन यह मानते हैं कि कलाकृति एवं प्रकृति दोनों से काल्पनिक सुख की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु ये दोनों सुख परस्पर भिन्न हैं। अतएव काल्पनिक सुखों का विभाजन वे दो प्रकारों में करते हैं। १–प्रधान एवं २–अप्रधान। कल्पना के प्रधान सुख प्राकृतिक वस्तुओं के तात्कालिक अस्तित्व के प्रत्यक्ष से उत्पन्न होते हैं। कल्पना के अप्रधान सुख वे हैं जो चित्र, मूर्त्ति कविता आदि कलाकृतियों को देखने और पढ़ने से उद्भूत होते हैं।

एक कलाकृति से जो ज्ञप्तियां उत्पन्न होती हैं और जो कल्पना को परिपूर्ण कर देती हैं ठीक प्राकृतिक वस्तुओं से उत्पन्न ज्ञप्तियों के समान नहीं होती हैं। क्योंकि कलाकृति में कलाकार की कल्पना प्रकृति से उपलब्ध ज्ञप्तियों में अन्य ज्ञप्तियां जोड़ देती है उनको परिवर्त्तित कर देती है एवं विविध रूपों में मिश्रित कर देती है। अतएव कलाकृति से उद्भूत ज्ञप्तियाँ प्राकृतिक वस्तुओं से उद्भूत ज्ञप्तियों से भिन्न होती हैं। एवं कल्पना के अप्रधान सुख उस मन के क्रियावान् होने पर उत्पन्न होते हैं जो मूल वस्तु से उद्भूत ज्ञप्तियों की तुलना उनसे करता है जो विभिन्न कलाओं में कल्पनाप्रसूत प्रतिरूपों से उत्पन्न होती हैं। यह तुलना अवर्णनीय रूप से आनन्दप्रद होती है।

कल्पनाजनित सुख के विशेष लक्षण

कल्पनाप्रसूत सुख इन्द्रियबोध एवं बुद्धि से जनित सुखों से भिन्न है। इन्द्रियजनित सुख स्थूलस्वरूप[1] (gross) एवं विकारपूर्ण है एवं बुद्धिजनित सुख सूक्ष्म तथा कष्टसाध्य है यद्यपि वह कल्पनाप्रसूत सुख से अधिक श्रेष्ठ इसलिए है क्योंकि वह सुख ज्ञानवृद्धि करता है एवं बुद्धि को उन्नत बनाता हैं। परन्तु कल्पनाप्रसूत आनन्द बौद्धिक सुख के समान ही महान् एवं चित्ताकर्षक है। इसकी प्राप्ति अधिक स्पष्टरूप एवं सहज है क्योंकि इसको प्राप्त करने में दर्शक को केवल अल्प ध्यान एवं अल्प विचारशक्ति का उपयोग करना होता है। क्योंकि जिस समय हम एक कृति के सौष्ठव से प्रभावित होते हैं तो हम कारण की विना पूछताछ किये हुये ही तुरन्त ही उसके सौन्दर्य को स्वीकार कर लेते हैं। इस सुख को प्राप्त करने के लिए मानसिक शक्तियों की

१. एडी० ३९५

मृदु चेष्टा की आवश्यकता पड़ती है और इसलिए उसको बुद्धिजनित सुख को प्राप्त करने के लिए कष्टसाध्य परिश्रम की भाँति कोई श्रम नहीं करना पड़ता। यह सुख शारीरिक मृदु व्यायाम के समान स्वास्थ्यप्रद होता है ।

सुख के स्वरूपभेद की व्याख्या

बहुधा यह देखने में आता है कि वे लोग जो उस भाषा को बोलते हैं और उसको भलीभाँति जानते हैं जिसमें एक कविता को लिखा गया है उस कविता के सौन्दर्य के विषय में मतभेद रखते हैं । एक व्यक्ति उस कविता का स्वागत 'सुन्दरतापूर्ण' मानकर करता है जब कि दूसरा व्यक्ति उसमें कहीं पर भी कोई भी सुन्दरता नहीं देखता । एक व्यक्ति काव्य का एक अंश पढ़ कर तल्लीन हो जाता है जब कि दूसरा व्यक्ति उस अंश की उपेक्षा कर देता है ।

रसिकत्व, आस्वाद, (relish) निर्णायक मानसिक शक्ति[1] (judgement) अथवा अनुभव में भेद के कारण निम्नलिखित तत्त्व हैं :—

१. कल्पनाशक्ति का भेद (अर्थात् सभी व्यक्तियों की कल्पनाशक्ति एक समान ही नहीं होती)

२. ज्ञान के विस्तार में भेद ।

३. कौन से शब्द एक विशेष ज्ञप्ति अथवा प्रतिच्छाया को प्रकट करने के लिए सर्वाधिक उचित हैं—इन शब्दों को पहचानने, जानने एवं प्राप्त करने की निर्णायक मानसिक शक्ति में भेद ।

ये भेद कलाकृतियों के परस्पर भेद के कारण को ही स्पष्ट नहीं करते हैं वरन् उन कलाकृतियों से उत्पन्न अनुभव के भेदों तथा उनके विषय में हमारे निर्णय के भेद को भी स्पष्ट करते हैं ।

सौन्दर्यानुभावक इन्द्रियाँ

नेत्रों एवं कानों को ही एडीसन सौन्दर्यानुभावक [2]इन्द्रियाँ स्वीकार करते हैं । उनके मतानुसार सभी इन्द्रियों में सर्वाधिकपूर्ण तथा सर्वाधिक आनन्दप्रद इन्द्रिय नेत्र है । यह मन को सर्वाधिक प्रकार की ज्ञप्तियों से परिपूर्ण कर देता है । सबसे अधिक दूर पर रखी हुई वस्तु तक यह इन्द्रिय पहुँच सकती है । नेत्र एक ऐसी इन्द्रिय है जो सर्वाधिक समय तक अपनी विषयवस्तु के भोग में बिना थकावट अथवा बिना तृप्ति का अनुभव किए हुए निरन्तर चेष्टावान रह सकती है ।

---

१. एडी० ४१४ २. एडी० ३९३–४

दृष्टि एवं स्पर्श की इन्द्रियों की परस्पर तुलना

स्पर्शेन्द्रिय से हमको आकृति, विस्तार आदि की ज्ञप्तियों का बोध हो सकता है परन्तु वे ज्ञप्तियाँ इस प्रकार की नहीं होतीं जिनका ज्ञान नेत्रेन्द्रिय से न हो सकता हो। इसके अतिरिक्त स्पर्शेन्द्रिय का कार्यक्षेत्र अपनी विषय-वस्तु की निश्चित संख्या, परिमाण तथा दूरी से सीमित है। नेत्रों का कार्यक्षेत्र इन सीमाओं से आबद्ध नहीं होता। नेत्रों की पहुँच असंख्य प्रकार की वस्तुओं तक हो सकती है। नेत्रेन्द्रिय अत्यधिक परिमाण वाली आकृतियों को समझ सकती है एवं दर्शक की पहुँच की सीमा के अन्दर नक्षत्रों के समान अतिदूरवर्ती ब्रह्माण्ड के अंशों को ला सकती है। वह नेत्रेन्द्रिय ही है जो कल्पनाशक्ति को उसकी ज्ञप्तियां प्रदान करती है।

सौन्दर्यानुभावक इन्द्रिय के रूप में कान

एडीसन का मत यह है कि एक कलात्मक गीतस्वरों (notes) की रचना की सांगीतिक ध्वनियां कल्पना में दृश्य विषयों की अस्फुट एवं अपूर्ण[1] ज्ञप्तियों को जाग्रत करतीं हैं, श्रोताओं को युद्धजनित ऐसी उत्तेजना तथा बेचैनी से भर देती हैं एवं अन्तःकरण को विषादपूर्ण (melancholy) दृश्यों अथवा मृत्यु के दृश्यों और भय से परिपूर्ण कर देती हैं अथवा लताकुंजों के सुखप्रद स्वप्नों में निमग्न कर देती हैं।

गीत से कल्पना का अप्रधान सुख प्राप्त होता है क्योंकि मूर्त्ति, चित्र अथवा काव्यात्मक वर्णन की भांति संगीत से जनित आनन्द की उत्पत्ति गानजनित ज्ञप्तियों की मूल वस्तुजनित ज्ञप्तियों के साथ मानसिक तुलना से होती है।

कल्पना के सुखों के स्रोत

(१) महत्ता (greatness)

कल्पना के आनन्दों के अनेक स्रोतों में से महत्ता[2] एक स्रोत है। इसका विधायक तत्व नेत्रेन्द्रिय की एक विषयवस्तु का बृहदाकार मात्र नहीं है वरन् एक सावयव सम्पूर्ण वस्तु में देखा गया उस वस्तु का विशालत्व है। उदाहरणतः विशाल अनजुते मरुस्थल, उत्तुङ्ग एवं बृहदाकार पर्वत, चट्टान, ढाल एवं बहुत दूर तक विस्तृत जल, हमको अपरिष्कृत शोभा (rude magnificience) से प्रभावित करते हैं।

---

१. एडी० ४१२ २. एडी० ३९७

महान से उत्पन्न कल्पना का सुख

महान से उत्पन्न कल्पना के सुख के विधायक तत्त्व आश्चर्य एवं स्वतन्त्रता के अनुभव हैं। इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

(अ) कल्पनाशक्ति की रचना प्रकृति से इस प्रकार से की गई है कि वह किसी भी महान वस्तु को ग्रहण करने के लिए आतुर रहती है एवं उससे परिपूर्ण होना चाहती है। अतएव जिस समय कल्पना परिपूर्ण हो जाती है उस समय आश्चर्य का भाव उत्पन्न होता है और बुद्धि प्राप्तसिद्धि व्यक्ति के समान पूर्ण विश्रान्ति लाभ करती है।

(आ) मानवीय बुद्धि के लिए स्वातन्त्र्य प्रेम एवं नियन्त्रण से घृणा स्वाभाविक हैं। अतएव जिस समय दृष्टिपथ की अवरोधक कोई वस्तु जैसे दीवारें अथवा पर्वत उसका (नेत्रेन्द्रिय का) नियन्त्रण कर देती है जिसके परिणाम स्वरूप कल्पना की ग्रहणशक्ति अवरुद्ध हो जाती है उस समय बुद्धि उस नियन्त्रण पर संतप्त हो जाती है तथा अपनी स्वतन्त्रता के नष्ट होने के कारण पीड़ित होती है। परन्तु यदि दृश्य किसी ऐसी वस्तु से घिरा हुआ नहीं है जो दृष्टिपथ को अवरुद्ध कर दे जैसे कि विशाल क्षितिज उस समय कल्पना की ग्रहणशक्ति उन्मुक्त दशा में होती है—उसको किसी भी प्रकार की अवरोधक सीमाओं का ज्ञान नहीं होता। अतएव कल्पना के सुख का विधायक कल्पना की स्वतन्त्रता का अनुभव है।

(२) नूतनता (Novelty)

मानवीय बुद्धि के लिए जितना स्वाभाविक स्वातन्त्र्य प्रेम है उतना ही जिज्ञासा स्वाभाविक है। अज्ञात तथा अप्रत्यक्ष को जानने तथा देखने के लिए जिज्ञासा सदैव आतुर रहती है। अतएव जब कभी भी कल्पना नूतन अथवा आश्चर्यजनक वस्तु से परिपूर्ण हो जाती है तो कल्पना का आनन्द उत्पन्न होता है। इस सुख का विधायक तत्त्व कौतूहल की तुष्टि है। वह कौतूहल ही है जो दानवाकृतियों एवं प्रकृति की अपूर्ण तथा अव्यवस्थित कृतियों को मोहकता प्रदान करता है एवं उनको कल्पना के सुखों का स्रोत बनाता है।

(३) सौन्दर्य

एडीसन का मत यह है कि कला अथवा प्रकृति की कृति के सौन्दर्य के विधायक तत्त्व रंगों की विविधता एवं उनकी मोदकता, अंग-सौष्ठव एवं अंशों का परस्पर सामंजस्य है अथवा इन सब तत्त्वों का उचित मात्रा में मिश्रण है। परन्तु सौष्ठव आदि तत्त्व अपने में सुन्दरतापूर्ण नहीं होते वरन् वे उस बुद्धि

के सम्बन्ध के कारण सुन्दरतापूर्ण होते हैं जिसकी रचना प्रकृति ने इस प्रकार से की है कि वह उसको (सौष्ठव आदि को) तुरन्त 'सौन्दर्यमय' घोषित कर देती है।

एडीसन ने एक अन्य प्रकार के सौन्दर्य को भी स्वीकार किया है। इसके विषय में उन्होंने यह कहा है कि प्राणियों की प्रत्येक उपजाति (species) के पास अपना एक विशिष्ट सौन्दर्य-बोध (notion of beauty) होता है और प्रत्येक उपजाति स्वजाति के उस सौन्दर्य से सर्वाधिक प्रभावित होती है जो कल्पना को प्राकृतिक एवं कला-जनित कृतियों के सौन्दर्य की अपेक्षा प्रबल तथा अधिक महत्त्वपूर्ण रूप में प्रभावित करता है (इस सौन्दर्य-बोध का आधार काम अथवा रति की मूल-भावना ज्ञात होती है।)

सौन्दर्यजनित आनन्द की व्याख्या

महान नूतन एवं सुन्दर से प्राप्त आनन्द की व्याख्या में एडीसन ने यह कहा है कि महान सृष्टिकर्ता ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना इस प्रकार से की है कि इस प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता है। मनुष्य के मन की रचना इस प्रकार से की गई है कि यह उसके बोध में आनन्द का अनुभव करता है जो महान अथवा सीमारहित है, जो नूतन एवं असाधारण है तथा जो मनुष्य जाति में कलाक्षेत्र में एवं प्रकृतिलोक में सुन्दरतापूर्ण है।

कल्पनाप्रसूत आनन्द शुद्धरूप से प्रमातृनिष्ठ (subjective) नहीं होते

एडीसन लॉक [1]प्रतिपादित मूल तथा अमूल (primary and secondary) गुणों के भेद को स्वीकार करते हैं और उन्होंने प्रमाण स्वरूप लॉक कृत ग्रन्थ 'एसे कनूसनिंग ह्यूमन अण्डरस्टेण्डिग' के दूसरे भाग के आठवें अध्याय का उल्लेख किया है। हमको यह ज्ञात है कि लॉक के मतानुसार कल्पनालोक गत प्रकाश तथा रंग यद्यपि केवल मानसिक ज्ञप्ति स्वरूप ही होते हैं एवं ये वस्तुओं में वर्तमान गुण नहीं हैं फिर भी वे ज्ञेय वस्तुओं में वर्तमान किसी शक्ति के कारण उत्पन्न होते हैं। अतएव कल्पनाप्रसूत आनन्द शुद्ध रूप से प्रमातृनिष्ठ नहीं होते क्योंकि मूल गुणों से युक्त बाह्यलोक में स्थित वस्तुओं की शक्ति से वे उत्प्रेरित होते हैं। यदि यह भी स्वीकार कर लें कि देखने की इन्द्रिय नेत्र पर बाह्य वस्तुओं के केवल प्रभावों से ही प्रकाश तथा रंगों की

१. एडी० ४०३

ज्ञप्तियां उत्प्रेरित नहीं होतीं वरन् अन्य कदाचित्क (occasional) कारणों से भी उत्पन्न होतीं हैं तो भी इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि वे शुद्ध रूप से प्रमातृनिष्ठ होती हैं ।

आदर्शीकृत अनुकृति के रूप में कला

मनुष्य के मन की रचना इस प्रकार से की गई है कि भौतिक संसार में जो कुछ भी यह देखता है उसमें किसी न किसी कमी का बोध अवश्य करता है । मनुष्य के मन के लिए यथार्थ जगत में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसमें कोई न कोई सुधार अथवा संशोधन न किया जा सके । इसके पास उन वस्तुओं की कल्पना करने की शक्ति है जो प्रकृति के सम्पूर्ण क्षेत्र में प्राप्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक महान, अधिक विचित्र एवं अधिक सुन्दर होती है । अतएव कलाकार का काम केवल इतना ही नहीं है कि प्रकृतिलोक में प्राप्त वस्तु की प्रतिकृति की रचना कर दे । उसका प्रधान काम यह है कि जो प्राकृतिक[1] है उसका अपनी रचना में इस प्रकार से संशोधन करे एवं उसको पूर्ण बनाए कि दर्शक की बुद्धि में कोई भी तद्विषयक संशोधनकारी ज्ञप्ति के उठने का स्थान अवशेष न रह जाय और इस प्रकार से उसकी रचना दर्शकों को सर्वोत्कृष्ट कल्पनाप्रसूत सुख प्रदान करे । परन्तु कलाकार को इस बात में सावधान रहना चाहिए कि अपनी इस प्रकृतिसंशोधन की चेष्टा में वह कहीं प्रकृति में इतना अधिक सुधार न कर दे कि उसकी रचना बेहूदा हो जाय ।

काव्य में अनुकृति

इस प्रकार से कवि यद्यपि प्रकृतिगत वस्तु की अनुकृति करता है फिर भी वह प्राकृत वस्तु के केवल अंगप्रत्यंगों की प्रतिकृति की ही रचना नहीं करता । प्रकृति के क्षेत्र में जो कुछ भी उसको दिखाई देता है उसमें वह संशोधन करता है । वह उसमें उन तत्वों को अनुप्रविष्ट करता है जो उसकी सुन्दरता तथा सजीवता को इतना बढ़ा देते हैं कि शब्दों से उत्पन्न ज्ञप्तियों की तुलना में मूल वस्तुजनित ज्ञप्तियां अधिक धूमिल एवं दुर्बल दिखाई देतीं हैं । कवि अपनी रचना में प्रकृति का स्वतन्त्र दृष्टि से देखा गया रूप प्रकट करता है और उसके उन रूपांशों (aspects) को प्रधानता प्रदान करता है जो साधारणतया हमारी दृष्टि तथा हमारे ध्यान में नहीं आते ।

---

१. एडी० ४२१

कलाकृति में भावोत्तेजक अंश

कलाकृति जितना अधिक हमारे भावों को स्पंदित करती है उतना अधिक वह आनन्ददायिनी होती है। इसके अतिरिक्त केवल व्यावहारिक जीवन के आनन्ददायी भावावेग ही कलाप्रसूत होने पर अधिक सुखद नहीं होते वरन् व्यावहारिक जीवन के दुःखद भावावेग भी उस समय सुखद हो जाते हैं जब कलाकृति उनको पराकोटिगत (high pitch) रूप में उत्तेजित करती है।

कलाकृतिजनित करुणा एवं भय जैसे भावों की सुखदता की व्याख्या एडीसन के मतानुसार निम्नलिखित है :—

भयजनक वस्तु के कलात्मक स्वरूप से आनन्द की उत्पत्ति इसलिए नहीं होती क्योंकि भयजनक वस्तु से कल्पना प्रभावित होती है वरन् इसलिए होती है क्योंकि इस प्रकार के प्रदर्शन के समय आत्मचिन्तना सुख को उत्पन्न करती है। जिस समय हम भयजनक वस्तु का कलात्मक स्वरूप देखते हैं उस समय हमारे आनन्द का कारण आपत्ति से स्वतन्त्र होने एवं सुरक्षित होने का भाव है। यह आनन्द उस सुख के समान है जो किसी मृत दानव को देख कर होता है। इसी प्रकार से जिस समय शोक एवं पीड़ा के कलात्मक स्वरूप को देखते हैं उस समय सुख के अनुभव का कारण तज्जनित शोक एवं करुणा नहीं है वरन् इसका कारण वह प्रच्छन्न तुलना है जो उस समय हम अपने और पीड़ित शोकाकुल व्यक्ति के बीच करते हैं।

यथार्थ पीड़ा एवं शोक को देखने से आनन्द की उत्पति नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रकार के दृश्य हमको प्रचण्ड रूप से प्रभावित करते हैं और हमको आत्मचिन्तन का अवसर प्रदान नहीं करते। परन्तु जिस समय इन भावावेगों को कलाकृति में प्रकट किया जाता है उस समय हम उनको अतीतकालीन एवं मिथ्या स्वरूप मान लेते हैं। अतएव अनजाने में आत्मचिन्तना जाग्रत हो जाती है और उस दुःख के भाव को जो संकटग्रस्त व्यक्ति की पीड़ा के कारण हममें उत्पन्न होता है अपनी छाया से आच्छादित कर देती है।

काव्यानुभव के लिए आवश्यक प्रमातृ-दशाएँ

१. स्वस्थ एवं सजीव कल्पनाशक्ति जो बाहर से आई हुई प्रतिच्छायाओं को अपने में स्थिर रख सके।

२. शब्दों की शक्ति का ज्ञान।

३. प्रतिच्छायाओं को सर्वाधिक सुष्ठु रूप में कौन से शब्द प्रकट करते हैं यह जानने के लिए विवेकशील निर्णयशक्ति।

४. आत्मविस्मृति ।

कल्पनाजनित सुख में आत्मविस्मृति वर्तमान रहती है। जिस समय कल्पनालोक भव्य, नूतन अथवा सुन्दर या इन सभी के सामंजस्यपूर्ण मिश्रण से परिपूर्ण हो जाता है उस समय एक ऐसी सुखद भ्रान्ति की उत्पत्ति होती है जिसमें हमारी आत्माएँ खो जाती हैं और कुछ समय के लिए हम कल्पनालोक के निवासी बन जाते हैं। ऐसे समय पर हमारी दशा प्रेमकथा (romance) के उस मन्त्रमुग्ध (enchanted) नायक के समान होती है जो यथार्थतः एक मरुभूमि में निवास करते हुए सुन्दर दुर्गों, वनों, हरे मैदानों को देखता है और पक्षियों के कलरव तथा जलधाराओं की कलकल ध्वनि को सुनता है।

लॉक के साथ एडीसन का इस बात में मतैक्य है कि कला भ्रान्तिकारी होती है। परन्तु एडीसन यह स्पष्टरूप से कहते हैं कि सौन्दर्यानुभव के समय हम मिथ्या के मिथ्यात्व को जानने की परवाह नहीं करते—हम अपने आपको प्रदर्शन में खो देते हैं।

सौन्दर्यानुभव

इस प्रकार से एडीसन के मतानुसार सौन्दर्यानुभव का तात्विक स्वरूप लॉक-प्रतिपादित तद्विषयक स्वरूप का एक संशोधन है। क्योंकि जिस समय वे लॉक के इस मत का समर्थन करते हैं कि यह अनुभव 'एक सुखदायी भ्रान्ति' के रूप में होता है उस समय वे इतना और प्रतिपादित करते हैं कि सौन्दर्यानुभव में दर्शक में आत्मविस्मृति अथवा व्यक्तिपरिवर्तन अवश्य होता है और यद्यपि यह भ्रान्ति स्वरूप होता है फिर भी उसको यह अनुभव नहीं होता कि वह (सौन्दर्यानुभव) अपने में भ्रान्तिमूलक है।

बर्कले

उनके मूलतत्त्वदर्शन एवं उनके कलाशास्त्रीय मत में सम्बन्ध

बर्कले (सन् १६८५-१७५३ ई०) के मतानुसार सौन्दर्य वह मूलभाव (feeling) है जिनमें बुद्धितत्त्व (reason) का अंश वर्तमान है। वे एक ज्ञप्तिवादी हैं। वे लॉक के इस मत का खण्डन करते हैं कि भूततत्त्व का अस्तित्व मन से स्वतन्त्र है। अतएव वे यह अस्वीकार करते हैं कि भूतजगत का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है एवं यह प्रतिपादित करते हैं कि सौन्दर्य का मूलस्रोत ईश्वर है। अतएव इस स्थल पर यह आवश्यक है कि उनके दार्शनिक मत का परिचय हम अपने पाठकों को दें।

भूतजगतविषयक उनका खण्डन

लॉक ने यह प्रतिपादित किया था कि (१) बाह्य भौतिक वस्तुएँ उन इन्द्रियबोधों को उत्पन्न करती हैं जो सुव्यवस्थित होने पर अर्थात् विविध प्रकार से संगठित, संयोजित तथा वियोजित होने पर हमारे ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र की रचना करते हैं। हमारा ज्ञान इन्द्रियबोधों तक ही सीमित है। हमको केवल अपनी ज्ञप्तियों (ideas) का ही प्रत्यक्ष बोध होता है। (२) हम यह जानते हैं कि एक बाह्य जगत का अस्तित्व है परन्तु यह उतना अधिक स्वतः स्पष्ट नहीं है जितना अधिक स्वतः स्पष्ट ज्ञान हमको स्वयं अपनी ज्ञप्तियों का होता है। हम यह कह सकते हैं कि बाह्य जगत के अस्तित्व का बोध हमको प्रत्यक्षतः नहीं वरन् अनुमान से होता है। बर्कले ने ज्ञानमीमांसा के इन्द्रियबोधवादी सिद्धान्त (sensationalistic theory) को स्वीकार किया था और एक खण्डनकारी अस्त्र के रूप में उसका प्रयोग सत्ता (being) के विषय में भौतिकवादी मत का खण्डन करने के लिए किया था। बर्कले ने यह प्रश्न किया है कि यदि हमारे ज्ञान का आधार इन्द्रियबोधों तथा प्रतिबिम्बों तक ही सीमित है तो हम किस प्रकार से उस भौतिक संसार को जान सकते हैं जो हमसे बाहर वर्तमान है, हम किस प्रकार से अपनी ज्ञप्तियों की तुलना भौतिक वस्तुओं से कर सकते हैं और प्रतिरूपात्मक (representative) प्रत्यक्ष की बात कर सकते हैं, हम किस प्रकार से उस भौतिक जगत का अनुमान कर सकते हैं जिसको हम प्रत्यक्षतः कभी नहीं जान सकते ? इसके अतिरिक्त यदि कोई ऐसा भौतिक संसार है जो ईश्वर से स्वतन्त्र रूप में वर्तमान है तो यह ईश्वर की सत्ता का निषेधक (negation) है। इस प्रकार का विश्वास नास्तिकता की ओर ले जाता है इसलिए त्याज्य है।

बर्कले के मतानुसार अस्तित्व (to be) का अर्थ प्रत्यक्ष ग्राह्य (to be perceived) होना है। ज्ञाता मन (mind) से सम्बन्धित होने पर ही वस्तुओं का अस्तित्व हो सकता है। जिस समय हम यह कहते हैं कि एक वस्तु का उस समय भी अस्तित्व है जिस समय हम उसका प्रत्यक्ष नहीं करते हैं तो हमारा अर्थ यह होता है कि उसका ज्ञान प्राप्त करने की सम्भावना है यदि हम ज्ञान प्राप्त करने की अपनी शक्ति का प्रयोग उसके सम्बन्ध में करें अथवा यह अर्थ होता है कि अन्य मनों से सम्बन्धित उस वस्तु का अस्तित्व है अथवा उसका अस्तित्व ईश्वर के मन में है। यह विश्वास करना कि 'मन से स्वतन्त्र रूप में वस्तुओं का अस्तित्व है' ज्ञानमीमांसा के इन्द्रियबोधवादी

मत (sensationalist view) को खण्डित करना है। अतएव भूततत्त्व की स्वतन्त्रता को मानना मूढ़ता मात्र है।

प्रधान एवं अप्रधान गुणों के परस्पर भेद का खण्डन

बर्कले ने स्वरचित ग्रन्थ 'एसे टुवर्ड्स् ए न्यू थियोरी आफ़ विज़न' में यह प्रतिपादित किया है कि विस्तार (extension) आकृति एवं गति का प्रत्यक्ष नेत्र एवं स्पर्श इन्द्रिय से किया जाता है और स्पर्श से प्राप्त विस्तार आदि की ज्ञप्तियां दृष्टि से प्राप्त ज्ञप्तियों से भिन्न होती हैं। अतएव जो दार्शनिक यह मानते हैं कि वस्तुओं में यथार्थतः अपने अन्दर ठोसपना, विस्तार, आकृति एवं गति होती हैं उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ये गुण स्पर्शेन्द्रिय से अथवा नेत्रेन्द्रिय से ज्ञेय हैं? क्योंकि वे गुण जिनका बोध स्पर्श से होता है उन गुणों से यथेष्ट मात्रा में भिन्न होते हैं जिनका बोध नेत्रेन्द्रिय से होता है यद्यपि एक ही शब्द से उनका बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रधान एवं अप्रधान दोनों प्रकार के गुण समान रूप से इन्द्रिय-बोध्य होते हैं। अतएव यह मानने के लिये कोई युक्ति नहीं है कि प्रधान गुण यथार्थतः वस्तु में होते हैं जब कि स्वाद, गन्ध आदि वे प्रभाव हैं जिनको प्रत्यक्षकर्ता प्रमाता पर वस्तुयें छोड़तीं हैं। अतएव भूत (matter) शब्द का अर्थ केवल इतना ही हो सकता है कि यह कोई ऐसी पूर्णतया अज्ञात वस्तु है जिसके विषय में यह नहीं कह सकते हैं कि उसमें विस्तार, आकृति आदि गुणों की सत्ता है।

एक प्रथक्कृत (abstract) ज्ञप्ति के रूप में भूततत्त्व

भूततत्त्व के विषय में बर्कले के मत का स्पष्टीकरण प्रथक्कृत ज्ञप्तियों के मूल स्वरूप एवं स्रोत के उस तात्त्विक स्वरूप (conception) के प्रकाश में कर सकते हैं जिसका व्याख्यापूर्ण प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ट्रीटीज़ कन्सर्निंग दि प्रिंसिपल्स आफ ह्यूमन नालेज़' की भूमिका में किया है। इसको निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं :—

बर्कले यह मानते हैं कि वस्तुओं का बोध हमको गुणों के पुंजों के रूप में होता है। किसी भी गुण का बोध प्रथक् रूप में हम नहीं कर सकते हैं। परन्तु बुद्धि की रचना इस प्रकार से हुई है कि वह इन गुणों में से किसी भी एक गुण को प्रथक् कर सकती है एवं अवशिष्ट गुणों से विलग रूप में उस पर विचार कर सकती है। अतएव यह तथ्य है कि यद्यपि लाल अथवा नीले रंग

का बोध कभी भी विना विस्तार (extension) तथा आकृति के नहीं होता फिर भी बुद्धि के पास इनको प्रथक् करने का एवं विलगरूप में इन पर विचार करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त जिस समय बुद्धि वस्तुओं एवं गुणों के पुंजों में परस्पर तुलना करती है उस समय वह सामान्य तत्त्वों पर अपना ध्यान लगाती है और उनको प्रथक् करती है। इस प्रकार से प्रथक्कृत गुण सामान्य मान लिया जाता है। इस प्रकार से प्रथक्कृत प्रतिच्छाया इतनी अधिक अस्पष्ट तथा दुष्परिभाषित (ill-defined) होती है कि यह अपने वर्ग की किसी भी उस विशेष वस्तु के साथ पूर्णतया समरूप नहीं होती जिसका प्रतिनिधित्व वह करती है। इतना होने पर भी यह सामान्य रूप (universal) न होकर विशेष मात्र होती है। शुद्ध रूप से प्रथक्कृत (abstract) ज्ञप्ति कोई नहीं होती। यह विचार्य वस्तु के चित्र के साथ सर्वदा सम्बन्धित होती है चाहे वह चित्र कितना ही अधिक अस्पष्ट एवं दुष्परिभाषित हो। यह वह विशेष प्रतिच्छाया है जो एक वर्ग की सभी वस्तुओं की सामान्य प्रतिकृति-स्वरूप एक पृथक्कृत ज्ञप्ति होती है। इस प्रकार से जातिवाचक नाम जैसे कि 'घोड़ा' एवं 'आदमी' किसी न किसी ऐसे अंश के द्योतक होते हैं जो सामान्यतः घोड़े और आदमी में वर्तमान होते हैं।

यदि हम प्रथक्कृत ज्ञप्ति के इस तात्विक स्वरूप को ध्यान में रखें तो हमको तुरन्त पता लग जाता है कि सामान्यतः भूततत्त्व की ज्ञप्ति अनुभूत वस्तु की उस अस्पष्ट प्रतिच्छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसमें वे प्रधान एवं अप्रधान गुण होते हैं जो समान भौतिक गुणों का प्रतिनिरूपण करने वाले सब प्रमेयनिष्ठ अनुभवों में विद्यमान होते हैं। इस प्रकार से भूततत्त्व एक प्रथक्कृत सामान्य गुणसमूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह गुणों का आधार नहीं है। अतएव भूततत्त्व के विषय में लॉक प्रतिपादित तात्विक स्वरूप युक्ति संगत नहीं है।

इन्द्रियबोध के कारण के रूप में ईश्वर

अपने इन्द्रियबोधों का कारण यदि विस्तार, आकृति और गति को मान लें तो इसका अर्थ इन्द्रियबोधवाद का निषेध करना होगा। क्योंकि हमारी सभी ज्ञप्तियां निर्व्यापार (passive) हैं, वे किसी भी रूप में व्यापृत (active) नहीं होतीं। अतः किस प्रकार से वे आकृति, विस्तार आदि जो ज्ञप्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं इन्द्रियबोधों का कारण हो सकती हैं? तो क्या इन्द्रियबोधों का कोई कारण हीं नहीं है? बर्कले कहते हैं कि ऐसा

नहीं है। परन्तु यह कारण भौतिक नहीं है जैसा कि लॉक कहते हैं यह आध्यात्मिक है, यह कारण निर्व्यापार न होकर व्यापारपूर्ण है। यह कारण दैहिक न होकर अदैहिक है। यह भूततत्त्व न होकर चेतनतत्त्व (spirit) अथवा ईश्वर है।

अपने विचारों पर तो हमारा अधिकार है परन्तु अपने इन्द्रियबोधों पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। हमारे विचार अपनी जागृति के लिए हमारी इच्छाशक्ति पर निर्भर हैं परन्तु हमारे इन्द्रियबोध हमारी इच्छाशक्ति पर निर्भर नहीं हैं। अपनी इच्छानुसार हम विचार कर सकते हैं परन्तु इन्द्रिय-बोधों के प्रसंग में हमारे पास कोई ऐसी स्वतन्त्रता नहीं है। इन्द्रियबोधों से उत्पन्न ज्ञप्तियां बलात् हम में आ जाती हैं—हमको चेष्टाशून्य (passive) होकर उनको भोगना पड़ता है। ये ज्ञप्तियां हमारी इच्छाशक्ति से उत्पन्न नहीं हैं। उनमें दृढ़ता, व्यवस्था तथा सामंजस्य होते हैं। ये ज्ञप्तियां कारणशून्य अथवा दैवयोगवश (accidental) नहीं होतीं। इन ज्ञप्तियों का कारण ईश्वर है। वह उनको एक व्यवस्थित रूप में उत्पन्न करता है। वह उनको विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों में संगठित करता है। वे यथार्थ हैं। पर ईश्वर के मन में वास करने के कारण उनको ज्ञप्तिस्वरूप माना जाता है। वह (ईश्वर) द्रव्य स्वरूप है क्योंकि वह ज्ञप्तियों का अधिकरण अथवा आधार है।

जीवात्मा

जीवात्मा एक अदेहिक एवं चेष्टावान द्रव्य (substance) है। इसके दो अंश हैं (१) बुद्धि एवं (२) इच्छा। ज्ञप्तियों के प्रत्यक्ष करने वाले इसके अंश को बुद्धि (understanding) कहते हैं। परन्तु उसके उस अंश को जो ज्ञप्तियों की सृष्टि करता है अथवा उनका विभिन्न प्रकारों में उपयोग करता है इच्छा कहते हैं। बर्कले ने जीवात्मा के उन दो अन्य अंशों का प्रतिपादन किया है (१) मूल-भाव (feeling) और (२) तर्कशक्ति (reason) जिनके प्रति सौन्दर्य तत्त्व के प्रसंग में विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित होता है। जीवात्मा के विषय में हमारे पास कोई भी ज्ञप्ति नहीं हो सकती—हम केवल उन प्रभावों का ही प्रत्यक्ष करते हैं जिनको यह उत्पन्न करती है। अतएव हमको जीवात्मा का बोध अनुमानप्रमाण से होता है।

असंख्य व्यक्ति-आत्माओं का अस्तित्व है। इन सब आत्माओं की सृष्टि

ईश्वर ने की है। अपने अस्तित्व का बोध हमको चिन्तना से एवं अन्य चिदात्माओं (spirits) का बोध तर्कशक्ति के सहारे होता है। अपने विषय में हमको केवल अस्फुट बोध (notion) मात्र होता है परन्तु अपने विषय में हमारे पास कोई ज्ञप्ति नहीं होती।

बाह्य जगत

'बिना बुद्धि (मन) (mind) के किसी भी ज्ञप्ति का अस्तित्व नहीं हो सकता।' यह बर्कले का दृढ़ मत है। परन्तु अपने मत पर दृढ़ारूढ़ रहने का साहस उनमें नहीं है। अपने अनुभव को छोड़कर अन्य वस्तुओं के यथार्थ अस्तित्व के संबंध में वे पूर्णतया अविश्वासपूर्ण (skeptical) नहीं हैं। वे यह मानते हैं वे अभिव्यक्तिआं (suggestions) जो प्रत्यक्षों की सहचर होतीं हैं यथार्थ हैं और हमारे इन्द्रियप्रत्यक्ष बाह्य जगत से उत्पन्न होती हैं और उससे सम्बन्धित होती हैं। लॉक से उनका मतभेद केवल इतना है कि वे (बर्कले) बुद्धि से स्वतन्त्र रूप में इन्द्रियबोध्य वस्तुओं के यथार्थ अस्तित्व का निषेध करते हैं। अतएव बर्कले का मत यह है कि वह बाह्य जगत जिससे संबंधित होने की अभिव्यक्ति हमारे प्रत्यक्षों से प्राप्त होती है उस सीमाहीन सर्वशक्तिमान मन (mind) में वर्तमान है जो उसको अपने में रखता है और उसको आश्रय देता है।

बर्कले का सौन्दर्यशास्त्रीय मत

स्वरचित 'एलसीफ्रोन डायलाग' नामक कृति में उन्होंने अपने सौन्दर्यशास्त्रीय मत की व्याख्या की है। 'सौन्दर्य की सत्ता मूलभाव (feeling) या तर्कशक्ति में है ?' इस प्रश्न की ही मीमांसा तक बर्कले अपने को सीमित रखते हैं। और उनका निर्णय यह है कि सौन्दर्य की सत्ता तर्कशक्ति संयुक्त मूलभाव में है। उनके मत का विशद उल्लेख निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

वह वस्तु जिसे हम सुन्दरतापूर्ण मानते हैं उसकी सुन्दरता उसके उपयोग में सुष्ठुता एवं समानुपातयुक्तता (proportion) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तर्कशक्ति की बिना सहकारिता के इस सौन्दर्यतत्त्व का अनुभव नहीं होता। क्योंकि समानुपात, अंगसौष्ठव एवं सामंजस्य अपने आप में सुन्दरतापूर्ण नहीं होते वरन् वे केवल वस्तु की उपयोगिता से सम्बन्धित होने पर ही सुन्दरतापूर्ण होते हैं। सुन्दरतापूर्ण माने जाने के लिए इन गुणों (समानुपात आदि) को इस प्रकार से सम्बन्धित रूप में व्यवस्थित करना चाहिए कि

सम्पूर्णवस्तु सर्वांगपूर्ण हो जाय—अर्थात् वह वस्तु उस लक्ष्य को पूर्ण सफलता के साथ सिद्ध कर सके जिसके लिए उसकी रचना की गई है। इसके अतिरिक्त सौष्ठव (symmetry) एवं समानुपात (proportion) इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञप्तियां नहीं हैं वरन् वे मानसिक कृतियां हैं जो इन्द्रियों को प्रदत्त सामग्री से तर्कशक्ति के सहयोग से रचित होती हैं। अतएव सौन्दर्य तर्कशक्ति का वह विषय है जिसे कि चक्षुरिन्द्रिय तर्कशक्ति के सामने उपस्थित करती है।

सौन्दर्य के चरमस्रोत के रूप में ईश्वर

एक सच्चे धर्मपुरोहित एवं अनुभव के प्रमाता तथा प्रमेय दोनों के चरमस्रोत के रूप में महानतम रूपस्रष्टा (designer) ईश्वर को दृढ़तया मानने वाले बर्कले ने यह प्रतिपादित किया था कि सौन्दर्य का चरम स्रोत ईश्वर ही है। यह सिद्ध करने के उपरान्त कि वस्तु की सुन्दरता उसकी उपयोग में सुष्ठुता एवं समानुपातयुक्तता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है बर्कले यह कहते हैं कि विचारशक्ति (thought) के बिना न तो कोई लक्ष्य ही निर्धारित किया जा सकता है और न कोई रूपरेखा ही खींची जा सकती है, बिना किसी लक्ष्य के वस्तु का उपयोग नहीं हो सकता एवं बिना उपयोग के वस्तुगत समानुपात के औचित्य का निर्धारण नहीं हो सकता है। अतएव ईश्वर को सौन्दर्य का प्रथम स्रोत मानना आवश्यक है। क्योंकि संसार की सम्पूर्ण तर्कशक्ति का वह आश्रयस्थल है।

ह्यूम

उनका सामान्य दार्शनिक मत तथा कलाशास्त्र

ह्यूम (सन् १७११–१७७६ ई०) के जीवन चरित्र के लेखकों ने यह लिखा है कि उनके पास काल्पनिकता और सौन्दर्यप्रेम का अभाव था। कला के प्रति जिस सहृदयता की आवश्यकता होती है वह उनके चरित्र में नहीं थी। कला के अनुभव करने की शक्ति उनमें नहीं थी। परन्तु यदि सावधानी से हम उनके ग्रंथों का अध्ययन करें तो हमको कलाविषयक कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं के सम्बन्ध में उनका मत ज्ञात हो सकता है यदि हम उनके दार्शनिक मत के दृष्टिकोण से उन समस्याओं का अध्ययन करें। इस प्रकार से ह्यूम के मतानुसार सौन्दर्य एक बहुतत्त्वमिश्रित जटिल (complex) ज्ञप्ति ज्ञात होती है। यह यथार्थ नहीं है। यह एक सामान्यरूप ज्ञप्ति न होकर व्यक्तिरूप ज्ञप्ति है। वे रसिकत्व की सामान्य इन्द्रियबोधशक्ति (sensibi-

lity) एवं तर्कशक्ति (reason) से भिन्नता स्थापित करते हैं। वे सौन्दर्यानुभव का स्पष्टीकरण उपयोगितानिष्ठ युक्तिवादी (utilitarian rationalist) एवं भावावेगवादी (emotionalist) के दृष्टिकोण से करते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि कलाकृतिजनित आनन्द स्वार्थशून्य होता है एवं उसमें तादात्म्य वर्तमान रहता है। अतएव उनके कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को स्पष्टरूप से हृदयंगम करने के लिए उनके सामान्य दार्शनिक मत को यथेष्ट मात्रा में श्रृङ्खलाबद्ध रूप में समझना आवश्यक है। अतएव यहां पर हम उनके दार्शनिक मत का सामान्य परिचय देंगे।

ह्यूम का युक्ति–अनास्थावाद (Skepticism)

ह्यूम निश्चल रूप से इन्द्रियबोधवादी (sensationalist) हैं अतएव वे पूर्णतया युक्ति–अनास्थावादी (skeptic) हैं। उनका मत यह है कि मानवीय ज्ञान केवल इन्द्रियबोधों तक ही सीमित है। इन्द्रियां जिसको ग्रहण करती हैं उसका ही ज्ञान हमको हो सकता है—जो इन्द्रियों के ज्ञान के परे है उसको हम जान नहीं सकते। अतएव जिस समय लॉक ने यह विश्वास किया कि भौतिक गुणों की आश्रयभूमि (substratum) भौतिक द्रव्य है एवं वर्कले ने यह विश्वास किया कि इन्द्रियबोधों के कारण स्वरूप ज्ञप्तियों के लोक की आश्रयभूमि आध्यात्मिक तत्त्व है उस समय ह्यूम न तो भौतिक और न आध्यात्मिक आश्रयभूमि को ही मानते हैं। वे यह मानते हैं कि इस प्रकार का कोई द्रव्य (गुणों का अधिकरण) हमारे ऐन्द्रिय अनुभव में नहीं आता। अतएव इसके विषय में हम कुछ भी नहीं जान सकते हैं और इसलिए उसके विषय में कुछ भी नहीं कह सकते हैं। इसी प्रकार की धारणा उनकी अनुभव-कर्ता के प्रति भी है। वे इसको (अनुभवकर्ता को) ज्ञान के क्षेत्र से बाहर मानते हैं। क्योंकि हमारे अनुभव में कोई भी आध्यात्मिक अंश नहीं है। इन्द्रियबोधों के पुञ्ज (bundle of sensations) एवं इन्द्रियबोधों की प्राप्ति करना, स्मरण करना, कल्पना करना, संयुक्त करना एवं वियुक्त करना–इन्हीं सब कर्मों के अतिरिक्त मन (mind) और कुछ नहीं है। इस प्रकार से द्रव्य, गुण तथा सम्बन्ध और इसलिए काल, दिक् तथा कार्यकारणभाव मानसिक कृतियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

यथार्थ बोध

ऐन्द्रियबोधसंस्कार (impression) तथा ज्ञप्ति में ह्यूम एक भेद मानते हैं। लॉक तथा बर्कले की भांति वे सभी प्रकारों के मानसिक प्रभावों

को बिना किसी भेदभाव के 'ज्ञप्ति' के नाम से अभिहित नहीं करते हैं। वे 'ऐन्द्रिय बोधसंस्कार' शब्द का प्रयोग केवल इन्द्रियबोधजनित संस्कारों और प्रेम, घृणा, कामना, इच्छा आदि मूलभावों (feelings) के लिए करते हैं। बोधसंस्कार ज्ञप्तियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट तथा शक्तिशाली होते हैं। परन्तु ज्ञप्तियां अपेक्षाकृत अधिक अस्पष्ट तथा अशक्त होती हैं। ये ज्ञप्तियां स्मृति तथा कल्पना की उपज हैं और बोधसंस्कारों के सम्मेलन और प्रथक्करण से इनका उद्‌भव होता है।

हम ऐन्द्रियबोधसंस्कारों पर एवं उनसे उत्पन्न प्रतिकृतियों (reproductions) पर विश्वास करते हैं। ऐन्द्रियबोधसंस्कारों के तात्कालिक प्रत्यक्ष अस्तित्व का हमको अनुभव होता है। और यह मूलभाव कि ऐन्द्रियबोधसंस्कार तात्कालिक रूप में प्रत्यक्षतः वर्तमान हैं यथार्थता का बोध है। जिसमें हम विश्वास[1] करते हैं उसको हम यथार्थ समझते हैं। कल्पनाजनित कृतियों की अपेक्षा इन ऐन्द्रियबोधसंस्कारों की स्मृतियां अधिक स्पष्ट एवं सजीव होती हैं। अतएव हम उनकी प्रतिकृतियों (reproductions) में भी विश्वास करते हैं।

वस्तुओं की बाह्यता एवं निरन्तरता

हम वस्तुओं की बाह्यता तथा निरन्तरता में विश्वास करते हैं। परन्तु यह विश्वास बोधसंस्कारों की यथार्थता पर किए गए विश्वास से भिन्न है। क्योंकि ऐन्द्रियबोधसंस्कार स्वयं प्रत्यक्ष होते हैं, वे हमारे सामने तात्कालिक साक्षात् रूप में (immediate) वर्तमान होते हैं। अतएव उनकी यथार्थता पर विश्वास करने से हम अपने को रोक नहीं सकते। परन्तु बाह्यता तथा निरन्तरता हमारे सामने तात्कालिक साक्षात् रूप में वर्तमान नहीं होतीं। सत्य यह है कि वे साक्षात् रूप में हमारे सामने वर्तमान ही नहीं हो सकतीं क्योंकि बाह्यता के बोध के लिए आत्मा का ज्ञान आवश्यक है। परन्तु आत्मा का ज्ञान उसी कारण नहीं हो सकता है जिस कारण लॉक प्रतिपादित भूतद्रव्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि ज्ञान प्राप्त करने का साधन केवल इन्द्रियां ही हैं परन्तु उक्त दोनों वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियसाध्य नहीं हो सकता। और बाह्यता के समान निरन्तरता (continuity) में भी विश्वास करना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि हमारे बोधसंस्कार बदलते रहते हैं अतएव

---

१. फुल० १८८

चाहे कोई भी वस्तु क्यों न हो उसका कोई निरन्तरतारूप बोधसंस्कार हमारे पास नहीं होता।

विश्वास के आधार के रूप में कल्पनाशक्ति

जैसा कि लॉक प्रतिपादित करते हुए से ज्ञात होते हैं, बाह्य संसार के अस्तित्व का बोध अनुमान प्रमाण से नहीं होता। और न तो जैसा कि डेकार्ट एवं बर्कले ने प्रतिपादित किया है बाह्य का ज्ञान बोधसंस्कार की महत्तर शक्तिशालिता, स्पष्टता एवं अनैच्छिकता से (involuntary character) से ही उत्प्रेरित होता है। क्योंकि मूलभावों (feeling) एवं मनोवेगों (passions) में ये सब विशेष गुण होते हैं परन्तु उनको कभी भी बाह्य नहीं माना जाता है। अतएव ह्यूम यह मानते हैं कि वह कल्पनाशक्ति[1] ही है जो (१) अपरिवर्तनता (constancy) तथा (२) सुसंगतता (coherence) के कारण हमको अनुभवगत संसार की बाह्यता तथा निरन्तरता की ज्ञप्ति प्रदान करती है।

प्रत्येक ऐन्द्रियबोधसंस्कार (impression) क्षणिक होता है। और ऐसे भी समय होते हैं जब किसी भी प्रकार से हम में किसी भी ऐन्द्रियबोध-संस्कार की सत्ता नहीं होती जैसे कि गम्भीर निद्रा तथा बेहोशी की दशा में। परन्तु कुछ ऐन्द्रिय बोध संस्कार ऐसे हैं जो कुछ समय के पश्चात् फिर से उत्पन्न होते हैं। इस बीच में या तो विविध प्रकार के अन्य ऐन्द्रियबोध-संस्कार आते हैं अथवा सब प्रकार के ऐन्द्रियबोधसंस्कारों का पूर्णाभाव होता है। ये ऐन्द्रियबोधसंस्कार परस्पर पूर्णरूप से समान अथवा लगभग समान होते हैं। और इसलिए उनकी अपरिवर्तनता विचित्र प्रकार की होती है। यही कारण है कि चिरप्रवास के बाद भी हम अपने गृहों, मित्रों एवं सम्बन्धियों को पहचान लेते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि यह प्रत्यभिज्ञा उस दशा में भी होती है जब कि प्रत्यभिज्ञेय वस्तु में यथेष्ट मात्रा में परिवर्तन हो चुकता है। मकान का कोई अंश गिरा हुआ हो सकता है और उसकी रचना अन्य रूप की हो सकती है, मित्र और सम्बन्धी व्यक्ति शारीरिक रूप में अनेक अंशों में परिवर्तित हो सकते हैं परन्तु फिर भी हम उनको ये वहीं हैं इस रूप में पहचानते हैं। अपरिवर्तनता की थोड़ी सी भग्नता के होते हुए भी पुनरुत्पन्न ऐन्द्रियबोधसंस्कारों में एक प्रकार की सुसंगतता होती है। (१) अपरिवर्तनता एवं (२) सुसंगतता

---

१. फुल० ११९–२०४

के विशेष गुणों के कारण ही कल्पना हममें यह विश्वास उत्पन्न करती है कि इन विशेष गुणों को धारण करने वाली वस्तुएँ बाह्य हैं। इसी प्रकार से जिस समय घनिष्ट रूप में समान एक अतीतकालीन और दूसरे वर्तमान दो ऐन्द्रिय-बोधसंस्कारों के मध्यवर्ती अभाव की पूर्ति कल्पना कर देती है उस समय निरन्तर अस्तित्व की ज्ञप्ति प्रकट होती है।

वैयक्तिक ऐक्य (personal identity)

ह्यूम के मतानुसार मानवीय मन का ऐक्य काल्पनिक[1] है। प्रमातृनिष्ठ ऐन्द्रियबोधसंस्कार एवं प्रमेयनिष्ठ ऐन्द्रियबोधसंस्कार समान रूप से गम्भीर निद्रा तथा संज्ञाशून्यता की दशाओं से भग्नक्रम एवं खण्डित हो जाते हैं। अतएव प्रमातृनिष्ठ ऐन्द्रियबोध संस्कारों का ऐक्य (identity) इस कारण होता है क्योंकि कल्पना सुपुप्ति आदि से उत्पन्न उनके विच्छेद की पूर्ति इस कारण कर देती है क्योंकि वे अपरिवर्तित तथा सुसंगत हैं।

ह्यूम के मतानुसार क्रमिक प्रत्यक्ष ही मन है। ऐसा कोई भी अमिश्रित (simple), अखण्डनीय, अभौतिक द्रव्य नहीं है जिसको हम जानते हों अथवा जान सकते हों। हमारे अन्दर कोई भी अमिश्रित एवं निरन्तरभावी तत्त्व नहीं है। यदि हम अपना विश्लेषण करने की चेष्टा करें तो हमको यह ज्ञात होता है कि आत्म-विश्लेषण को हम चाहे जितनी दूर तक ले जांय हमको प्रत्यक्षबोधों अथवा मूलभाव (feeling) के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। क्योंकि यदि हम पूर्ण रूप से इन्द्रियबोधवादी हैं तो हमको यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्यक्षों अथवा इन्द्रियबोधों के परे हम और कुछ भी नहीं जान सकते हैं। अतएव मन उन क्रमभावी विभिन्न प्रत्यक्षों के पुञ्ज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो कि एक प्रवाह के रूप में अनुभूत होते हैं।

एक जटिल ज्ञप्ति के रूप में द्रव्य

ह्यूम का लॉक के साथ इस बात में मतैक्य[2] है कि हमारी सभी ज्ञप्तियां अनुभवजनित हैं चाहे वे कितनी ही अनुभवातीत ज्ञात होतीं हों, क्योंकि वे यह मानते हैं कि इन्द्रियों के अनुभव से प्राप्त सामग्री को मन अन्य तत्त्वों से मिश्रित करता है, उसमें नए तत्त्वों को जोड़ता है और उसमें से कुछ अंशों

---

१. फुल० २०४–५

२. फुल० १८५

को निकाल देता है। संमिश्रित ज्ञप्तियां उनके पारस्परिक सम्बन्ध के कारण रचित होती हैं। इस अपने मत का स्पष्टीकरण ह्यूम ने निम्नलिखित रूप से किया है :—

ऐन्द्रियबोध संस्कार ज्योंही उत्पन्न होते हैं त्योंही निम्नलिखित स्मृतियों अथवा प्रतिच्छायाओं को जाग्रत करते हैं :—

(१) अपने समान ऐन्द्रिय बोधों की स्मृति को अथवा

(२) उन सन्निकट ऐन्द्रिय बोधों की स्मृति जो उनके निकट ही घटित हुए हैं अथवा एक ही समय में घटित हुए हैं अथवा

(२) उन ऐन्द्रियबोधों की स्मृति को जो उनके कारण अथवा कार्य माने जाते हैं। इस प्रकार से ह्यूम के मतानुसार विशेष गुणों के समूह से अधिक द्रव्य कुछ भी नहीं है और जिस समय हम उस द्रव्य के विषय में बात करते हैं अथवा उसके विषय में युक्ति का प्रयोग करते हैं उस समय द्रव्य शब्द का अर्थ इस समूह से अधिक कुछ नहीं होता। परन्तु यह द्रव्य गुणों का समूह मात्र ही नहीं है। यह एक नियमाश्रित संगठन है। इसमें वे ही ज्ञप्तियां संगठित की जाती हैं जो सहभावी हैं अथवा कार्यकारणभाव से परस्पर सम्बद्ध हैं।

ह्यूम का कलाशास्त्रीय अभिमत

गत पृष्ठों में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि ह्यूम ज्ञान के इन्द्रियबोधात्मकत्व सिद्धान्त (sensationalistic view of knowledge) को कितना अकाट्य स्वीकार करते हैं एवं बाह्यभूत जगत तथा अभौतिक आत्मा दोनों के विषय में वे कितना अधिक युक्ति अनास्थावादी (skeptic) हैं। परन्तु अपने स्वरचित ग्रन्थ 'ट्रीटीज आफ ह्यूमन नेचर' में जब वे कलाशास्त्रीय समस्या की व्याख्या और समाधान की चेष्टा करते हैं तो उनको अपने कठोर इन्द्रियबोधवाद का परित्याग करना पड़ता है और युक्तिवाद से समझौता करना पड़ता है। इन्द्रियबोध्य अथवा चक्षुर्ग्राह्य रूप के सौन्दर्य के सिद्धान्त के विषय में वे उपयोगितानिष्ठ युक्तिवादी (utilitarian rationalist) हैं। इस प्रसंग में वे उन बर्कले के ऋणी हैं जिन्होंने सर्वप्रथम इस अभिमत का प्रतिपादन किया था। बर्कले संबंधी एक उपप्रकरण में हमने यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार से उपयोगितावाद एवं युक्तिवाद एक दूसरे के सहचर हैं। इस प्रकार से युग की चेतना से प्रभावित होने के कारण उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—(१) कलाकृति की उत्पत्ति नियमों से नहीं वरन् प्रतिभावान की आन्तर प्रेरणा से होती है

तथा (२) आस्वादन का माप दण्ड (standard of taste) प्राणी के ढाँचे से उत्पन्न होता है। एवं उसी युग के प्रभाव से उन्होंने निम्नलिखित दो बातों का विरोध किया था—(१) नाटक में कथानक की प्रधानता का सिद्धान्त जिसका प्रतिपादन एरिस्टाटल ने किया था। एवं (२) इतिहास और कविता में भेद। वे यह मानते हुए ज्ञात होते हैं कि वह भावावेग, जो सांवेदनिक अभिचार (sympathetic magic) से दर्शक में एक भावावेग को उत्पन्न करता है, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और इतिहास तथा काव्य में प्रकार (जाति) भेद न होकर मात्राभेद मात्र है। परन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि एरिस्टाटल से प्रतिपादित देश, काल तथा कार्य की अखण्डताएँ (unities) दुःखप्रधान नाटक के लिए आवश्यक हैं यद्यपि वे नाटकीय कार्य की अखण्डता की व्याख्या में यह कहते हैं कि इस अखण्डता का कारण घटनाओं में पारस्परिक संबंध, तार्किक संबंध, कार्यकारणभावाश्रित सम्बन्ध है। और वे उस समय अपने युक्ति-अनास्थावाद का परित्याग करते हुए से ज्ञात होते हैं जब वे यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि गुण मन में वास करते हैं फिर भी 'वस्तुओं में विद्यमान कुछ गुण स्वभावतः उन विशेष मूलभावों को उत्पन्न करने के योग्य होते हैं'। क्योंकि इस कथन का स्पष्ट प्रयोजन यह है कि सौन्दर्य तथा कुरूपता के बोधों की उत्पत्ति बाह्य वस्तुओं से होती है।

सौन्दर्य एवं कुरूपता

ह्यूम के मतानुसार सौन्दर्य[१] अङ्गों की ऐसी व्यवस्था अथवा रचना है जो (१) मानवीय प्रकृति अथवा स्वभाव के मूलस्वरूप अथवा (२) परम्परा अथवा (३) कल्पना प्रवणता के कारण सुख तथा सन्तोष देने में सशक्त है। इसके विपरीत कुरूपता अङ्गों की वह रचना है जो पीड़ाजनक और आकुलताजनक होती है। परन्तु अपने ग्रन्थ 'प्लेटोनिस्ट' में वे सौन्दर्य को मानवीय स्वभाव में एक ऐसी मनोवृत्ति (sentiment) अथवा भाव (passion) कहते हैं जो एक मनुष्य को सुसमानुपातिक (well-proportioned) मूर्त्ति अथवा भद्र प्रासादादिगत भद्रस्तम्भादिकों की समरूपता (symmetry) का आस्वादन कराती है।

कल्पना एवं ऐन्द्रिय बोध का सौन्दर्य

(१) कल्पना अथवा सम्बन्ध के सौन्दर्य तथा (२) ऐन्द्रिय-बोध अथवा रूप के सौन्दर्य के ह्यूमकृत परस्पर भेद को हम किसी वस्तु के

१ बोसान्‌ १७८

स्वामी तथा उसके दर्शक के अनुभवों की तुलना करने से भली भांति समझ सकते हैं। मान लें कि एक ओर हम उस हरी घास से अच्छादित एक भूखण्ड को देखते हैं जो उसके स्वामी के लिए धनलाभ की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है और दूसरी ओर एक ऐसी फल-वाटिका को देखते हैं जिसका प्रत्येक वृक्ष फलों से लदा हुआ है और दोनों को ही सौन्दर्यपूर्ण मानते हैं। घास से आच्छादित भूखण्ड का सौन्दर्य कल्पनाजनित है क्योंकि वह भूखण्ड उस स्वामी की दृष्टि में सुन्दर नहीं है जो धनलाभ की दृष्टि से उसको देखता है। फलों से लदी वाटिका का सौन्दर्य ऐन्द्रियबोध अथवा रूप का सौन्दर्य है क्योंकि उसकी उपयोगिता वस्तु (फलों) के शारीरिक रूप में स्पष्टतया प्रकट है। परन्तु ह्यूम यह मानते हैं कि उस उपयोगिता का जिसकी ज्ञप्ति आनन्ददायिनी है दर्शक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध केवल सुन्दर वस्तु के स्वामी के साथ है। अतएव ऐसी वस्तुओं से दर्शक को जो आनन्द प्राप्त होता है उसका कारण स्वामी के साथ सहानुभूति है।

मिश्रित जटिल ज्ञप्ति के रूप में सौन्दर्य

सौन्दर्य वहाँ तक एक मिश्रित जटिल ज्ञप्ति है जहां तक यह सरल ज्ञप्तियों का मिश्रण है। परन्तु द्रव्य (substance) जैसी मिश्रित ज्ञप्तियों से भिन्न है। क्योंकि मिश्रित ज्ञप्तिरूप सौन्दर्य में द्रव्यरूप मिश्रित ज्ञप्ति के समान एक नियमाश्रित संगठन नहीं होता है। इसमें वही ज्ञप्तियां संगठित नहीं की जाती हैं जो सहभावी हैं अथवा कार्यकारणभाव से परस्पर सम्बद्ध हैं। क्योंकि जैसा हम अभी कह चुके हैं ह्यूम के मतानुसार सौन्दर्य अङ्गों की एक ऐसी रचना अथवा सुव्यवस्था है जो मानवीय स्वभाव के मूल स्वरूप, परम्परा अथवा कल्पनाप्रवणता के कारण आनन्द एवं सन्तोष देने में सशक्त है। इस प्रसंग में यह कह सकते हैं कि एरिस्टाटल प्रतिपादित कार्य की अखण्डता के अपने स्पष्टीकरण में वे यह घोषित करते हैं कि नाटकीय कार्य[1] की अखण्डता ज्ञप्तियों के कार्यकारणभाव सम्बन्ध के अनुकूल संगठन पर आधारित है।

सौन्दर्य यथार्थ तत्त्व नहीं है

ह्यूम के मतानुसार यथार्थ बोध की व्याख्या करते हुए हमने यह कहा था कि हम ऐन्द्रिय बोधों में विश्वास करते हैं, हम इन बोधों की तात्कालिक

१. गिल० २३५

उपस्थिति का अनुभव करते हैं और यह मूल–भाव (feeling) कि ऐन्द्रिय-बोध की उपलब्धि तात्कालिक है यथार्थ–बोध है । जिसमें हम विश्वास करते हैं उसको हम यथार्थ मानते हैं । परन्तु सौन्दर्य यथार्थ तत्त्व नहीं है क्योंकि यह न तो ऐसा ऐन्द्रिय बोध है जिसके तात्कालिक उपलब्धि का बोध हम करते हों और न वह किसी ऐन्द्रियबोध की यथारूप प्रतिकृति है वरन् एक ऐसी मिश्रित ज्ञप्ति है जिसकी रचना में कल्पना का हाथ अधिक रहता है ।

सौन्दर्य सामान्यरूप नहीं अपितु विशेषरूप है

इस बात में ह्यूम की सहमति बर्कले के साथ है कि सभी पृथक्कृत (abstracted) ज्ञप्तियां विशेषरूप तथा वास्तविक[1] (concrete) हैं । ये ज्ञप्तियों के ऐसे सामान्य चित्र हैं जो अन्य असंख्य तत्सम अथवा विशेषरूप चित्रों के प्रतिनिधि माने जाते हैं । ये आदर्शस्वरूप हैं । प्रत्येक प्रथक्कृत ज्ञप्ति जिसे मन अन्य ज्ञप्तिओं से अलग करता है एक विशेषरूप ज्ञप्ति-चित्र होती है जो कि प्रथक्कृत ऐसी ज्ञप्तिओं से बनी होती है जो कि अन्य तत्सम अथवा विशेषरूप विषयों में पाई जातीं हैं । इसी कारण इसका प्रयोग क्षेत्र वही है जो एक सामान्य का है । अतएव एक मिश्रित ज्ञप्ति होने के कारण सौन्दर्य सामान्यस्वरूप न होकर विशेषस्वरूप है क्योंकि कोई भी ऐसी ज्ञप्ति नहीं है जो शुद्ध रूप से सामान्य हो एवं इसलिए भी क्योंकि समान वस्तुओं के पृथक्कृत सामान्य गुणों का संघात (combination) भी यह नहीं है ।

सौन्दर्य बोध

एक गत उपप्रकरण में हमने इस बात की व्याख्या की है कि किस प्रकार से शाफ्टसबरी ने आन्तर इन्द्रिय के अर्थ को बढ़ाया था और किस प्रकार से सौन्दर्यमर्मज्ञान के साधन के रूप में इसको आस्वादन (taste) के नाम से अभिहित किया था एवं किस प्रकार से रचनात्मक कलाव्यापार के स्रोत के रूप में इसको अनुभवैकप्रमाणवादियों ने प्रतिभा की संज्ञा दी थी । इस प्रकार से जब अनुभवैकप्रमाणवादी कलाशास्त्र के आदि संस्थापक ने आन्तर इन्द्रिय के तात्त्विक स्वरूप (conception) के अन्तर्गत युक्तितत्त्व को स्वीकार कर लिया तो जैसा कि हम आगामी पृष्ठों में स्पष्ट करेंगे ह्यूम को सौन्दर्यमर्मज्ञान के साधन रूप में युक्तितत्त्व को स्वीकार करने में इन्द्रियबोधवाद (sensa-

---

१. फुल० १८५

tionalism) से विरोध का अनुभव नहीं हुआ। जिस समय वे इन्द्रिय बोध (sense) शब्द का प्रयोग प्रतिभा के प्रसंग में करते हैं उस समय उनका निहितार्थ यह होता है कि काव्य[1] तथा अन्य कलाओं के मनोवैज्ञानिक उत्पत्ति स्रोत में दिव्यता अथवा लोकोत्तर का कोई अंश नहीं है। इस प्रसंग में वे दिव्य आन्तर उत्प्रेरणा (inspiration) का निषेध करते हैं एवं यह मानते हैं कि मानवीय स्वभाव का अध्ययन यदि हम सावधानी के साथ करें तो हमको कला के मनोवैज्ञानिक कारण का पता चल सकता है। इसी प्रकार से मर्मज्ञतापूर्ण आस्वादन (taste) के प्रसंग में जब वे इस शब्द 'इन्द्रिय बोध' का प्रयोग करते हैं तो उनका प्रयोजन यह होता है कि कलाकृति के अनुभव में चिन्तना (reflection) का कोई अंश निहित नहीं होता।

अतएव हम यह मानते हैं कि आस्वादन (taste) अथवा इन्द्रियबोध (sensation) उस सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता (discern) है जो अन्यथा अपरिभाषेय है। यह केवल एक मूल भावना (feeling) मात्र है जो रचना के उन स्वरूपों एवं निश्चित प्रकार के सम्बन्धों के साधन से आनन्द तथा पीड़ा से प्रभावित होती है जिनका विश्लेषण स्वयं[2] मर्मज्ञतापूर्ण इन्द्रिय बोध (appreciating sensibility) से न होकर चिन्तना (reflection) मात्र से ही सम्भव है।

काव्य और नाट्यकृति से उद्भूत उस अनुभव की व्याख्या करने के प्रसंग में जिसका मूल विधायक इन्द्रियबोधगम्य गुणों का अनुभव न होकर आनन्द-कारी सामाजिक भावावेग है, वे अनुभव के साधन के रूप में आस्वादन के स्थान पर भावमूलक वृत्ति (sentiment) शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझते हैं।

बुद्धितत्त्व (reason) तथा आस्वादन में भेद

बुद्धि[3] का प्रयोग हम किसी वर्तमान वस्तु की सत्यता अथवा मिथ्यात्व का पता लगाने के लिए करते हैं। यह वस्तुओं को उसी रूप में देखती है जिस रूप में वे प्रकृति के क्षेत्र में वर्तमान हैं। यह शीतल (cool), भावावेगशून्य तथा स्वार्थशून्य होती है। परन्तु इसके विपरीत आस्वादन वर्तमान वस्तु के भावावेग सम्बन्धी, भावमूलक वृत्ति सम्बन्धी (sentimental) अथवा कलाशास्त्रीय महत्त्व का साक्षात्कार करता है। यह वर्तमान वस्तुओं

---

१. गिल० २४४

२. बोसान्० १८०

३. गिल० २४५

को रंग देता है चमका देता है और उनको इस प्रकार से संगठित करता है कि उनको नई सृष्टि के रूप में परिवर्तित कर देता है।

कलानुभव

ह्यूम ने कलाकृति से उत्पन्न अनुभव को (१) उपयोगिता परक युक्तिवादी एवं (२) भावावेगवादी (emotionalist) के दृष्टिकोणों से स्पष्ट किया है। उपयोगितापरक युक्तिवादी के दृष्टिकोण से वे उन वस्तुओं पर अपने ध्यान को केन्द्रित करते हैं जो मानव जाति के लिए उपयोगी हैं। इसकी व्याख्या हमने एक गत उपप्रकरण में की है। तथा भावावेगवादी दृष्टिकोण से वे अपने ध्यान को स्वतन्त्र कलाओं की रमणीक कृतियों पर केन्द्रित करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि एक भावावेगवादी के रूप में कलानुभव की व्याख्या में वे इन्द्रिय-गोचर विषयसामग्री (sense-data) की ओर अपना ध्यान नहीं देते। उनके मतानुसार कलानुभव[१] का विधायक वह आनन्ददायक भावावेश (Passion) है जो एक भले प्रकार से रचित कविता अथवा नाटक से उत्पन्न होता है। इस अनुभव में युक्ति अथवा ज्ञानशक्ति क्रियाशील नहीं होती। सौन्दर्य के अनुभव का कारण प्राणी का वैयक्तिक संगठन में वर्तमान भावावेगांश है।

परन्तु आश्चर्य इस बात पर है कि उस बौद्धिक अंश को, जिसको वे कलानुभव के लिए आवश्यक प्रक्रिया से बहिष्कृत करने की इच्छा करते हैं, एक विलग कलानुभावकशक्ति, आन्तर-इन्द्रिय अथवा आस्वादन (taste) के नाम से किसी न किसी रूप में (बुद्धितत्त्व को) अपना लेते हैं। इस प्रकार से ह्यूम स्वयं उत्कृष्ट कलाकृति से समुचित कलानुभव को प्राप्त करने के लिए, समुचित भावमूलकवृत्ति (sentiment) की अनुभूति के लिये एवं मिथ्या आस्वादन (false-taste) के सुधार के लिए [२]बुद्धितत्त्व की उपयोगिता को जोरदार शब्दों में उद्घोषित करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि आस्वादन (taste) को शिक्षित किया जा सकता है।

कलाकृति से उत्पन्न आनन्द स्वार्थशून्य होता है

सुन्दर वस्तुओं से जो आनन्द हमको प्राप्त होता है उसमें वस्तु के प्रति किसी भी स्वार्थवृत्ति का अंश नहीं होता क्योंकि उस सुन्दर वस्तु की अपने लिए किसी उपयोगिता का ध्यान दर्शक[३] को नहीं आता। दर्शक सुन्दर वस्तु

---

१. गिल० २४५ २. गिल० २४६

३. बोसान्० १७९

को देखकर इसलिए आनन्दित नहीं होता क्योंकि वह वस्तु उसके लिए उपयोगी है वरन् इसलिए आनन्दित होता है क्योंकि वह सुन्दर वस्तु उस व्यक्ति के लिए उपयोगी है जो उसका स्वामी है अथवा उस व्यक्ति के लिए उपयोगी है जो उसके गुणों से प्रभावित है। वस्तु के स्वामी के साथ सहानुभूति होने के कारण उस दर्शक को आनन्द प्राप्त होता है। इस स्थल पर कलानुभव के विषय में उन कान्ट के अभिमत के अंकुर दृष्टिगोचर होते हैं जिन्होंने उसके विशेष गुणों के रूप में (१) स्वार्थशून्यता तथा (२) प्रयोजनशून्यप्रयोजनवत्ता (purposiveness without purpose) का प्रतिपादन भविष्य में किया था।

कलानुभव में तादात्म्य

ह्यूम यह मानते हैं कि कलाकृति के अनुभव में हम किसी न किसी प्रकार से उन व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के साथ एकात्मता का अनुभव[1] करते हैं जो कलाकृति में प्रतिरूपित हैं और उनके भासमान (apparent) इन्द्रियबोध हमारे यथार्थ इन्द्रियबोध बन जाते हैं। उनके मतानुसार एक ऐसी आकृति जो उचित रूप में सन्तुलित नहीं है अरुचिकारी होती है क्योंकि उस समय जब कि सहानुभूति के कारण वह कुछ शक्ति अथवा सजीवता प्राप्त कर लेती है तो वह आकृति पतन, हानि एवं पीड़ा की दुःखदायी ज्ञप्तियों को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार से एक वह आकृति आनन्ददायक होती है जो स्वास्थ्यपूर्ण तथा शक्तिसम्पन्न है एवं जिसके अंगों का गठन इस प्रकार का होता है कि उसके शक्तिशाली होने का भाव प्रकट होता है क्योंकि सहानुभूति के कारण तत्समान इन्द्रियबोध हममें भी उत्पन्न होते हैं।

बर्क

उनका महत्त्व

पाश्चात्य कलाशास्त्र के इतिहास में बर्क (सन् १७२९–१७९७ ई०) का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम अपने आस्वादन के तात्त्विक स्वरूप के वर्णन में कलासम्बन्धी निर्णय (aesthetic judgement) की तर्कशास्त्रीय निर्णय से भिन्नता को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया था। बर्क ने निर्णय (judgement) को आस्वादन के तात्त्विक स्वरूप का एक स्वाभाविक अंश माना था। इसी ने सम्भवतः कान्ट को इस बात का संकेत दिया था कि वे अपनी तीसरी कृति का नाम 'क्रिटीक आफ जजमेन्ट' रखें।

१. गिल० २५६

इस प्रसंग में कान्ट ने निर्णय (judgement) शब्द का प्रयोग तर्कशास्त्रीय के लिए न कर कलाशास्त्रीय निर्णय अथवा आस्वादनांशभूत निर्णय एवं हेतुशास्त्रीय (teleological) निर्णय के लिए किया है।

बर्क लिखित 'ट्रीटीज़ आन सब्लाइम एण्ड ब्यूटिफुल' का अनुवाद जर्मन भाषा में कान्ट को उपलब्ध था। कान्ट ने इस ग्रन्थ से अनेक उद्धरण अपनी सहमति के साथ दिए हैं और इस ग्रन्थ को मनोवैज्ञानिक महत्त्वपूर्ण भी माना है यद्यपि दार्शनिक रूप में वे इस ग्रन्थ को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मानते हैं। बर्क ने कान्ट के भव्यताविषयक मत को प्रभावित किया था।

बुद्धि एवं उसकी शक्तियों के तात्त्विक स्वरूपों के विषय में वे लॉक के मत को स्वीकार करते हैं। परन्तु जब वे आस्वादन की व्याख्या करते हैं तो जैसा कि हम आगामी पृष्ठों में स्पष्ट करेंगे लॉक के साथ उनका मतभेद प्रकट हो जाता है। बर्क के मतानुसार कलानुभव न तो आनन्ददायी छल है, जैसा कि लॉक ने प्रतिपादित किया था और न यह अनुभव ऐसा सुखदायी छल है जिसमें दर्शक को स्वयं छल का छल के रूप में ज्ञान नहीं होता जैसा कि एडीसन ने स्वीकार किया था। बर्क यह मानते हैं कि एक कलाकृति का दर्शक के मन पर वही प्रभाव पड़ता है जो एक यथार्थ का उसके मन पर पड़ता है। अतएव बर्क के मत के अनुसार कलानुभव किसी भी प्रकार का छल नहीं है। वे अपने मत का प्रतिपादन अनुभवैकप्रमाणवादी के रूप में आरम्भ करते हैं।

जब तक बर्क कलाकृति से भावानुभव करने वाले सहृदय कलारसिक के दृष्टिकोण से कलाशास्त्रीय समस्या के समाधान की व्याख्या करते हैं तब तक बर्क परम्परागत अनुभवैकप्रमाणवाद का परित्याग नहीं करते। अतएव वे यह मानते हैं कि कलाकृति से उत्पन्न अनुभव तात्कालिक भावावेगपूर्ण अनुभव है। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि इस अनुभव में किसी भी प्रकार से बुद्धितत्त्व अथवा इच्छा शक्ति क्रियाशील नहीं होती। वे यह स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्य वस्तु का वह गुण है जो दर्शकों अथवा पाठकों में उसी मात्रा में प्रभावशील प्रेम अथवा मृदुता को उत्पन्न करता है जितनी मात्रा में अग्नि उष्णता की प्रभावशील ज्ञप्ति को उत्पन्न करती है। एवं वे यह कहते हैं कि सौन्दर्यानुभव शुद्ध रूप से प्रमातृनिष्ठ अनुभव नहीं है, बाह्य वस्तु से उस अनुभव का सम्बन्ध है। परन्तु उस समय बर्क युक्तिवाद से समझौता कर लेते हैं जिस समय वे किसी कलाकृतिविषयक निर्णय की व्याख्या में कलाकृतिगत औचित्य एवं संगति (congruity) की चर्चा करते हैं।

बर्क ने कलाशास्त्रीय समस्या के समाधान की चेष्टा तीन दृष्टिकोणों से की है—(१) प्रमाणमीमांसा के दृष्टिकोण से वे कलाकृतिजनित अनुभव की व्याख्या उन ज्ञानशक्तियों, कल्पना एवं निर्णय के आधार पर करते हैं जो परस्पर मिलकर 'आस्वादन' के विधायक हैं। भावावेगपरक दृष्टिकोण से वे यह प्रतिपादित करते हैं कि काव्य तथा नाटक से उत्पन्न कलाकृतिजनित अनुभव भावावेगपूर्ण होता है एवं काव्य तथा नाटक भावावेग को प्रदर्शित करते हैं। इस सम्बन्ध में वे भारतीय मत के समर्थक हैं। भाषाविज्ञान के दृष्टिकोण से वे यह मानते हैं कि शब्दान्तरसम्बन्धित भाववाचक शब्द (compound abstract word) जैसे प्रेम, भय आदि भावावेशों (passions) अथवा भावावेगों (emotions) को वस्तुओं की प्रतिच्छायाओं के सहयोग के बिना जाग्रत करने में सक्षम है। इस प्रसंग में आनन्दवर्धनाचार्य एवं अभिनवगुप्त जैसे ध्वनिसम्प्रदाय के भारतीय कलाशास्त्र के आचार्यों से उनका मूल भेद है। क्योंकि भारतीय आचार्यों का यह अभिमत है कि स्थायीभाव व्यंजित होते हैं, भाषा की अभिधाशक्ति से प्रत्यक्षतः उनको जाग्रत नहीं किया जा सकता। अतएव सर्वप्रथम हम बर्क के मतानुसार ज्ञान की शक्तियों का उल्लेख करेंगे।

ज्ञान की शक्तियां

बर्क ज्ञान की तीन शक्तियों[1] का प्रतिपादन करते हैं। (१) इन्द्रियबोध (२) कल्पना एवं (३) निर्णय।

१ — इन्द्रिय बोध (sense)

बर्क यह मानते हैं कि इन्द्रियों की संख्या पांच है और सभी मनुष्यों में इन्द्रियों की बनावट लगभग एक समान ही है एवं सभी मनुष्यों में वे एक समान ही कार्यशील होती हैं। उनकी बनावट तथा उनकी कार्यशीलता में भेद नहीं के बराबर है। एक नारंगी समानरूप से सभी मनुष्यों के लिए देखने में पीत, स्पर्श में मृदु और स्वाद में मधुर होती है। इस प्रकार से बाह्यवस्तुओं के इन्द्रियबोध्य गुणों के विषय में ही नहीं वरन् उनकी सुख-दुःखजनकता के विषय में भी सभी इन्द्रियबोधशक्तिशाली मनुष्यों का ऐकमत्य होता है। क्योंकि इन्द्रियाँ ज्ञप्तियों को उनसे सम्बन्धित सुख तथा दुःख के साथ अनुभूत कराती हैं।

१. बर्क ६९–७४

अब हम स्वाद की इन्द्रिय को लेंगे और यह देखेंगे कि जो कुछ हमने गत पंक्तियों में कहा है वह सत्य है कि नहीं। उस कथन की सत्यता इस बात से सिद्ध होती है कि वे उपमायें जिनको रसनेन्द्रिय के क्षेत्र से लिया जाता है सभी मनुष्यों की समझ में समान रूप से आती हैं जैसे कि मधुरस्वभाव और कटुस्वभाव, मधुरशब्द तथा कटुशब्द।

२—कल्पना

कल्पना बुद्धि की एक ऐसी रचनात्मक शक्ति है जो विभिन्न वस्तुओं को उस क्रम अथवा प्रकार के अनुसार जिनमें उनका इन्द्रियों से साक्षात्कार किया गया है, अथवा एक नितान्त भिन्नक्रम अथवा प्रकार के अनुसार वस्तुओं की प्रतिच्छायाओं का निरूपण करने में स्वतंत्र है। यह कल्पना किसी सर्वांगीण नूतन वस्तु की रचना नहीं कर सकती। यह केवल उन्हीं ज्ञप्तियों के क्रम तथा प्रकार को परिवर्तित कर सकती है जिनका बोध इन्द्रियों से होता है। कलाप्रसूत कृतियों में विविध मूलभावों, उन्मुखताओं एवं भावावेगों को उत्तेजित करने की शक्ति बहिर्भूत वस्तुओं के समान ही है। सभी मनुष्यों पर उनकी एक समान प्रभावोत्पादक शक्ति है। क्योंकि कल्पना केवल इन्द्रियबोध्य का ही निरूपण करती है इसलिए कल्पनाजनित सुख और दुःख का कारण वही है जो इन्द्रियबोध का है।

सुख का एक अधिकांश

उस कल्पना की कृतियों से उत्पन्न सुख और दुःख के अतिरिक्त, जो कल्पना से निरूपित प्राकृतिक वस्तुओं के गुणों के उत्पन्न होते हैं, कल्पना-कृतिजनित एक और सुख है जो इस बोध से उत्पन्न होता है कि निरूपित वस्तु एक मूल वस्तु की अनुकृति है। इस प्रकार से कल्पनाजनित सुख के दो कारण हैं (१) इन्द्रियबोध्य वस्तुओं को एक ऐसे नूतन एवं प्रभावशाली क्रम तथा प्रकार (manner) में निरूपित करना जो उनसे भिन्न हैं जिनमें कि बोधशक्ति से सामान्यतः वे ज्ञात होती हैं (२) इस प्रकार के निरूपणों का मूल वस्तु से सादृश्य। जिन नियमों के अधीन होकर ये कारण क्रियाशील होते हैं वे नियम प्रकृतिमूलक हैं, तथा किसी अभ्यास से उनकी उत्पत्ति नहीं होती। अतएव सभी व्यक्तियों पर उनका लगभग एक-सा ही प्रभाव पड़ता है।

विचक्षणता (wit) एवं निर्णय

लॉक प्रतिपादित इस सिद्धान्त को बर्क मानते हैं कि विचक्षणता का करणीय व्यापार सदृशता की खोज है एवं निर्णय (judgement) का करणीय व्यापार भिन्नता की खोज करना है। तात्विक रूप से अनेक अंशों में वे परस्पर इतने अधिक भिन्न हैं कि उनका मिलन इस संसार में दुर्लभ है। मानवीय बुद्धि की रचना इस प्रकार से की गई है कि उसके लिए सदृशता भिन्नता से अधिक प्रभावशालिनी होती है। सदृशता हमारे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करती है और उसको इसलिए आनन्दित करती है क्योंकि सदृशता पर ध्यान देने से हम नवीन प्रतिच्छायाओं की रचना करते हैं और अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं। परन्तु भेद रेखा को खींचने से कल्पना को कोई सहायता प्राप्त नहीं होती। यह भेद नीरस तथा कष्टसाध्य है। यह केवल अभावात्मक (negative) एवं परोक्ष आनन्द का दाता है।

'आस्वादन' की परिभाषा

बर्क परिभाषा को बहुत महत्वपूर्ण नहीं मानते फिर भी अस्वादन (taste) की परिभाषा उन्होंने नीचे लिये रूप में दी है—

"आस्वादन बुद्धि की वह शक्ति[1] है अथवा वे शक्तियां हैं जो कल्पनाजनित-कृतियों एवं ललितकलाओं की कृतियों से प्रभावित होती हैं अथवा उनके विषय में निर्णय करती हैं।"

आस्वादन की प्रकृति की छान-बीन वे यह जानने के लिए करते हैं कि क्या ऐसे कोई सामान्य, युक्तिसंगत एवं निश्चित स्वरूप नियम हैं जो कलाकृतियों से कल्पना में उत्पादित प्रभावों अथवा उनके विषय में निर्णय को नियन्त्रित करते हों। और उनकी उपलब्धि यह है कि कलाकृति के आस्वादन के नियम हैं जो उस स्वादबोध की ही भाँति सामान्य स्वरूप हैं जिसकी उपमिति के आधार कलाकृति के आस्वादन को आस्वादन कहते हैं।

आस्वादन के अंशों के रूप में कल्पना और निर्णय

आस्वादन[2] कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो कल्पनाशक्ति एवं निर्णयशक्ति से भिन्न हो। यह कोई ऐसी नैसर्गिक बोधवृत्ति (instinct) नहीं है जिसकी सहायता से बौद्धिक शक्ति के प्रयोग के विना ही प्रथम दृष्टिनिपात में ही एक

१. बर्क—६७   २. बर्क—८१

कलाकृति के गुणों अथवा दोषों से प्रभावित हो जायें। इसमें कोई शंका नहीं है कि एक कलाकृति को कल्पना से ग्रहण करने में एवं तत्परिणामस्वरूप भावावेश (passion) के जाग्रत होने में बौद्धिक शक्ति का उपयोग नहीं होता। परन्तु यदि हम किसी कलाकृति के औचित्य तथा संगति आदि के विषय में निर्णय करते हैं तो बौद्धिक शक्ति के अतिरिक्त कोई भी ऐसी दूसरी शक्ति नहीं है जिसकी सहायता से हम ऐसा निर्णय कर सकते हैं। यह आस्वादन जो कलाकृतियों के विषय में निर्णय करता है ज्ञानक्षेत्र के विस्तार, घनिष्ठ अवधान तथा बहुधा अभ्यास की सहायता से सुधारा जा सकता है। इस प्रकार से आस्वादन उस सीमा तक कल्पना शक्ति है जिस सीमा तक वह कलाकृतिगत अथवा प्रकृतिगत सौन्दर्यपूर्ण की प्रतिछाया को ग्रहण करता है और यह उस सीमा तक बुद्धि तत्त्व है जिस सीमा तक यह कलाकृति के विषय में आस्वादन सम्बन्धी निर्णय करता है।

आस्वादन के भेद का स्पष्टीकरण

आस्वादन–भेद किसी प्राकृतिक शक्ति की दुर्बलता अथवा क्षमता के कारण नहीं वरन् अनुभव एवं पर्यवेक्षण (observation) की भिन्नता के कारण उत्पन्न होता है। सामान्य आस्वादन से भिन्न समीक्षात्मक आस्वादन (critical taste) का कारण मनुष्य में किसी उत्कृष्ट शक्ति का अस्तित्व नहीं वरन् उसका उत्कृष्ट ज्ञान है। इसी लिए ऐसा होता है कि जिस समय असमीक्षात्मक आस्वादन युक्त व्यक्ति एक दोषपूर्ण कलाकृति से वैसा ही आनन्द प्राप्त करता है जैसा कि वह एक उत्कृष्ट रूप कलाकृति से पा सकता है क्योंकि यह आनन्द केवल सदृशता से उद्भूत होता है उस समय एक समीक्षात्मक आस्वादन युक्त व्यक्ति को उत्कृष्ट ज्ञानयुक्त होने के कारण दोषपूर्ण कलाकृति से कोई आनन्द नहीं प्राप्त होगा।

जिस सीमा तक 'आस्वादन' कल्पनाश्रित है उस सीमा तक वह सभी मनुष्यों में एक समान ही होता है। और सभी व्यक्ति कलाकृति से एक ही प्रकार से प्रभावित होते हैं। अतएव यदि 'आस्वादन' में कोई भेद होता है तो वह भेद मात्रा सम्बन्धी ही होता है। इसका कारण या तो उत्कृष्टतर बोधशक्ति है अथवा अधिक समय तक उत्कृष्टतर ध्यान है।

जिस समय तक हमारा प्रयोजन एक कलाकृति के इन्द्रियबोध्य गुणों से रहता है अर्थात् जिस सीमा तक एक कलाकृति हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करती है उस समय तक कलाकृतिजनित आनन्द को प्राप्त करने के लिए

कल्पना को छोड़ कर अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसा ही उस समय होता है जब कि प्रेम, भय आदि हमारे भावावेश जाग्रत होते हैं। क्योंकि भावावेशों का अनुभव प्राकृतिक सहानुभूति के कारण उत्पन्न होता है और सभी व्यक्ति बिना युक्तितत्त्व का अवलम्ब लिए हुए उनके औचित्य को स्वीकार कर लेते हैं।

परन्तु इस प्रकार की अनेक कलाकृतियां हैं जो केवल इन्द्रियबोध्य वस्तुओं के प्रतिरूपों को ही प्रदर्शित नहीं करतीं वरन् आचार, व्यावहारिक विधियाँ, चरित्रों, मनुष्य के कार्यों एवं उनके उद्देश्यों, उनके सम्बन्धों एवं उनके गुण और दोषों को प्रकट करतीं हैं। इस प्रकार की कलाकृतियां आस्वादन (taste) के कल्पनांश को ही परितृप्त नहीं करतीं वरन् उसके बुद्धितत्त्वांश को भी सन्तुष्ट करतीं हैं।

मूल-भाव तथा भावावेग

बर्क के मतानुसार कलाकृतिजनित अनुभव एक तात्कालिक भावनिष्ठ अनुभव है। अतएव यह आवश्यक है कि हम भावावेग के तात्त्विक स्वरूप के विषय में उनके मत की व्याख्या करें। इस प्रसंग में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :—

१. वे मूलभावों और भावावेशों में एक भेद रेखा खींचते हैं। सुख, दुःख एवं उदासीनता अमिश्रित ज्ञप्तियां अथवा मूलभाव हैं। वे भावावेग नहीं हैं जैसा कि पूर्ववर्ती लेखकों ने उनका वर्गीकरण किया था।

२. वे केवल उन्हीं भावावेगों[1] की व्याख्या करते हैं जो सौन्दर्य एवं भव्यता के अनुभवों में वर्तमान होते हैं। वे अपने विषय से असम्बन्धित अन्य भावावेशों के अस्तित्व अथवा महत्त्व का खण्डन नहीं करते हैं।

३. उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि परमेश्वर[2] ने कुछ गतियों एवं शारीरिक सन्निवेशों (configurations of bodies) तथा कुछ तत्परिणाम स्वरूप मानसिक मूल भावों अथवा भावावेगों के बीच सम्बन्ध के कुछ नियमों को स्थापित किया है। इन नियमों के अनुसार वस्तुएँ हमको प्रभावित करतीं हैं।

४. बर्क के मतानुसार उस वस्तु को जिसका प्रयोग भावावेशों[3] को किसी

१. बर्क—१०४ २. बर्क—२०६

३. बर्क—८४

विशेष ऊँचाई तक जाग्रत करने के लिए किया जाता है केवल अपनी नूतनता के ही कारण सुख अथवा दुःख का स्रोत नहीं होना चाहिए वरन् किसी अन्य कारण से भी सुख अथवा दुःख उत्पन्न करना चाहिए।

५. भावावेश दो कोटियों[1] के हैं। एक वे जिनका सम्बन्ध आत्म-सुरक्षा से है और दूसरे वे जिनका सम्बन्ध समाज से है। ये दोनों प्रकार के भावावेश परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि आत्म-सुरक्षा की मूल-वृत्ति (instinct) से उत्पन्न भावावेश संकट तथा पीड़ा से उद्भूत होते हैं एवं सामाजिक भावावेश आनन्द तथा तुष्टि से उत्पन्न होते हैं।

सुख दुःख एवं आनन्द

सुख तथा दुःख[2] अमिश्रित ज्ञप्तियां हैं। उनको परिभाषाबद्ध नहीं कर सकते। वे एक दूसरे को हटाने वाली निषेधात्मक ज्ञप्तियां मात्र ही नहीं हैं। उनका स्वभाव विधिधर्मी (positive) है। सुख, दुःख तथा उदासीनता रूप तीन मानसिक दशाएँ हैं। हम उदासीनता की दशा से सुख की दशा में दुःख की दशा के अनुभव के बिना ही एवं सुख की दशा के अनुभव के बिना ही पीड़ा की दशा में पहुँचते हैं। वह इन्द्रियबोध जो पीड़ा अथवा संकट के नष्ट होने पर उत्पन्न होता है 'आनन्द'[3] है।

सामाजिक भावावेश

१. कौतूहल (Curiosity)

कौतूहल[4] मानवजाति का सर्वाधिक आदिवर्ती एवं सरलतम भावावेग है। यह नूतन की वह अभिलाषा है जो सन्तुष्ट होने पर सुख देती है। यह सर्वाधिक अगंभीर भावावेग है। यह अपनी विषयवस्तु को निरन्तर बदलता रहता है। यह एक क्रियाशील तत्त्व है जो अपनी विषयवस्तु को पल भर में पार कर एक नई वस्तु की खोज करता है। थोड़ी बहुत मात्रा में यह अपने को प्रत्येक भावावेश से मिला देता है।

२. समवेदना (Sympathy)

समवेदना[5] हमको एक दूसरे व्यक्ति के स्थान पर रख देती है और जिस व्यक्ति के प्रति हमारी समवेदना होती है वह व्यक्ति अपनी उपस्थित परिस्थितियों

---

१. बर्क—९०-१ २. बर्क—८४ ३. बर्क—८९
४. बर्क—८३ ५. बर्क—१०४

में जैसा अनुभव करता है लगभग वैसा ही अनुभव हम भी करते हैं। इस भावावेग के कारण दर्शक को परिस्थितियां लगभग वैसा ही अनुभव करातीं हैं जैसा कि उन परिस्थितियों में वर्तमान व्यक्ति करता है। अतएव सुख अथवा दुःख के मूलभावों को जाग्रत करने की क्षमता उसमें होती है।

यह एक ऐसा भावावेश है जो उस समय उत्पन्न होता है जब हम किसी अन्य व्यक्ति के स्थान पर अपने को रखने और उसी व्यक्ति के समान घटना तथा परिस्थिति से प्रभावित होने के साधन से उसमें प्रवेश करते हैं, उसके साथ एक प्रकार का तादात्म्य कर लेते हैं। यदि इसका सम्बन्ध एक ऐसे व्यक्ति से है जो संकटपूर्ण तथा भयानक परिस्थिति में है, जिसमें आत्म-सुरक्षा की मूलवृत्ति से उत्पन्न भावावेश प्रमुखरूप में वर्तमान है एवं जो पीड़ा से व्याकुल है तो यह समवेदना भव्यता का स्रोत भी हो सकती है।

केवल समवेदना के साधन से ही कलाकृतियाँ एक हृदय से दूसरे हृदय में भावावेशों को संक्रामित कर सकतीहैं और यहां तक कि दुर्दशा, अतिखिन्नता एवं मृत्यु से भी आनन्द का उद्भव इसी (समवेदना) के कारण होता है।

३. अनुकृति

अनुकरण एक सामाजिक भावावेश है। जिस प्रकार से समवेदना हमको दूसरे व्यक्तियों के मूलभावों की ओर आकर्षित करती है उसी प्रकार से अनुकरण हमको अन्य लोगों के कार्यों का अनुकरण करने के लिए उत्प्रेरित करता है। हम अनुकृतिमूलक निरूपणों में युक्ति तत्त्व से स्वतन्त्र होकर आनन्दित होते हैं। ऐसा लगता है कि अनुकृति के स्वरूप के विषय में बर्क एरिस्टाटल के मत को मान्य ठहराते हैं।

४. महत्वाकांक्षा (Ambition)

पूर्णता प्राप्त करने के लिए मानवीय प्रकृति को उत्प्रेरित करने के लिए जिन महान साधनों की रचना परमेश्वर ने की है उनमें से अनुकरण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। परन्तु यह पशुओं में भी सामान्य रूप से पाया जाता है। अतएव मनुष्यों के पास यदि केवल अनुकरण करने की ही शक्ति होती तो वे केवल पशुत्व की क्रमदशा के आगे प्रगति नहीं कर सकते थे। अतएव पूर्णता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को जो दूसरा प्रगति का साधन ईश्वर ने प्रदान किया है वह महत्त्वाकांक्षा है। महत्त्वाकांक्षा उस सन्तुष्टि का भाव है जो इस चेतना से उत्पन्न होता है कि हमारे अधिकार में कुछ ऐसा है

जिसको मानवजाति मूल्यवान मानती है एवं यह लालसा है कि वह हमारे पास अन्य व्यक्तियों से अधिक मात्रा में हो। महत्त्वाकांक्षा मनुष्य को विविध प्रकारों से अपने को विशेषयोग्य बनाने के लिए उत्प्रेरित करती है। वह महत्ताजनक कार्य को अत्यन्त सुखद बना देती है। वह महत्त्वाकांक्षा ही है जो एक विद्वान के कष्टसाध्य परिश्रम को उसके लिए सुखद बना देती है क्योंकि इससे विशेषयोग्यता (distinction) की ज्ञप्ति उसमें जाग्रत होती है। इस सन्तुष्टि का अनुभव उस समय सर्वाधिक होता है जिस समय हम एक भयानक वस्तु को, उससे सम्बन्धित संकट का बिना अनुभव किए हुए, देखते हैं। यह वह महत्ता बोध एवं आन्तरिक तुष्टि है जिसका अनुभव हम उस समय करते हैं जब हम वास्तविक रूप में भव्य काव्य-कृतियों को पढ़ते हैं।

५. शोक

बुद्धि पर सुख के अवसान का तीन प्रकार से प्रभाव पड़ता है (१) जब सुख का अन्त उचित निरन्तरता के पश्चात् होता है उस समय इसका प्रभाव 'उदासीनता' है। (२) जब इसका अन्त सहसा होता है तो इससे निराशा उत्पन्न होती है। (३) यदि सुखदायी वस्तु अप्राप्य रूप से खो जाय जिससे कि उस वस्तु के उपभोग की कोई सम्भावना ही अवशेष न रह गई हो तो ऐसी दशा में शोक का भावावेश उत्पन्न होता है।

शोक तथा पीड़ा में भेद

शोक के साथ पीड़ा की कोई समानता नहीं है। क्योंकि एक शोकाकुल व्यक्ति उस भावावेश को अपने में बढ़ने देता है। वह उसमें निमग्न रहता है। वह उस भावावेश से प्रेम करता है। परन्तु पीड़ा के प्रसंग में ऐसा नहीं होता। शोक यद्यपि सुखपूर्ण अनुभव नहीं है फिर भी पीड़ा के असदृश इसका भोग इच्छापूर्वक लोग करते हैं। क्योंकि मानसिक दृष्टि के सामने यह शोच्य वस्तुओं को निरन्तर बनाए रखता है और उसके सर्वाधिक रुचिकारी अंशों में उसका निरूपण करता रहता है।

६. प्रेम

प्रेम एक सामाजिक भावावेश[1] है। यह दो प्रकार का है—(१) वह प्रेम जो उस व्यक्ति के संसर्ग के कारण उत्पन्न होता है जिसका लिंग भिन्न है

१. बर्क—१०३-४

एवं जिसका लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति है। एवं (२) वह प्रेम जो मनुष्यों और यहाँ तक की जड़ वस्तुओं के संसर्ग से उत्पन्न होता है। दोनों प्रकार के प्रेम सुख से उत्पन्न होते हैं। परन्तु वह सुख जो भिन्नलिंग व्यक्ति के संसर्ग से उत्पन्न होता है सर्वोत्कृष्ट इन्द्रियजनित सुख है। इस प्रेम का प्रभाव इतना प्रचण्ड होता है कि इससे प्रभावित व्यक्ति उस समय उन्मादग्रस्त हो जाता है जिस समय बिना पुनर्मिलन की आशा के वह अपने प्रिय से बिछुड़ जाता है। यह आकुलता के एक प्रकार (mode) के साथ अपने को मिश्रित कर सकता है, जैसे कि उस समय जब हम अप्राप्य रूप से खोई हुई प्रिय वस्तु की याद करते हैं। अप्राप्य रूप से खोई हुई प्रिय वस्तु की स्मृति से शुद्ध पीड़ा नहीं उत्पन्न होती। क्योंकि हम खोई हुई प्रिय वस्तु को स्मरण करने की इच्छा करते हैं। दूसरे प्रकार का प्रेम अपनी विषयवस्तु के प्रति केवल मृदुता रूप मूलभाव को जाग्रत करता है। इसका प्रभाव प्रथम प्रकार के प्रेम के समान प्रचण्ड नहीं होता।

आत्मसुरक्षा की मूलवृत्ति से उत्पन्न भावावेश

१. महाभय

बुद्धि की कार्य करने एवं युक्ति करने की शक्तियों को महाभय[1] पूर्णतया हर लेता है। पीड़ा एवं मृत्यु की सम्भावना के बोध से इस महाभय की उत्पत्ति होती है और इसलिए यह (महाभय) इस प्रकार से कार्यशील होता है कि सम्भावित पीड़ा को लगभग वास्तविक पीड़ा में परिवर्तित कर देता है। महाभय उत्पन्न करने वाली वस्तु का आकार चाहे वह विशाल हो या लघु हो भव्य है। क्योंकि जो वस्तु संकट उत्पन्न कर सकती है उसको बुद्धि 'तुच्छ' नहीं मान सकती जैसे कि विषभरा सर्प। तुङ्ग लहरों से आकुल समुद्र अपनी ध्वंसकारी सम्भावनाओं के साथ भव्यता का एक उत्कृष्ट दृष्टान्त है।

महाभयंकर वस्तु की दुर्बोधता एवं उसमें संभावनीय संकट की सम्पूर्ण मात्रा की अग्राह्यता भयंकर वस्तु की भयंकरता को बढ़ा देती है। उदाहरण के लिए सम्भावित भयंकर वस्तु की भयंकरता को रात और भी अधिक बढ़ा देती है। अपनी दुर्बोधता के कारण ही भूत-प्रेतादि उन लोगों को भयंकर लगते हैं जो उन पर विश्वास करते हैं।

---

१. बर्क—१०८-९

२. आश्चर्य

आश्चर्य वह भावावेग है जो महान एवं भव्य से उस समय उत्पन्न किया जाता है जब यह अति प्रचंडता से दर्शक को प्रभावित करता है। इस भावावेग में कुछ संत्रास की मात्रा के साथ सभी गतियाँ कुछ समय के लिए स्तब्ध हो जाती हैं। इस भावावेश में बुद्धि सम्पूर्णतया आश्चर्यकारी वस्तु से परिपूर्ण हो जाती है। इसलिए किसी भी अन्य ज्ञप्ति के लिए बुद्धि में कोई भी रिक्त स्थान अवशेष नहीं रह जाता। यह वस्तु के विषय में युक्ति करने के लिए बुद्धि पर रोक लगा देता है। यह भव्यता का चरम प्रभाव है। उसके निचले प्रभाव प्रशंसा, श्रद्धा एवं आदर हैं।

प्रेम और सुन्दर

मनुष्य में प्रेम एक मिश्रित भावावेश[1] है। इसका कारण आत्म-प्रजनन (Self-propogation) अथवा सन्तानोत्पादन की मूलवृत्ति है। इस मूलवृत्ति के साथ कुछ सामाजिक इन्द्रियबोध्य गुणों की ज्ञप्ति मिश्रित रहती है। ये गुण उस एषणा (appetite) को उद्बोधित एवं परिवर्धित करते हैं जो समान रूप से पशुओं में भी होती है। इसमें सदैव कुछ न कुछ संभोगेच्छा (lust) का अंश वर्तमान रहता है। इस मिश्रित भावावेश की विषयवस्तु लैंगिक सौन्दर्य (beauty of sex) है। परन्तु कुछ इन्द्रियबोध्य गुणों से युक्त केवल नर एवं नारी ही नहीं वरन् पशु और वृक्ष भी अपने प्रति हमारे अन्तः-करण में मृदुता तथा स्नेह को उत्प्रेरित करते हैं। अतएव सामान्यरूप से सौन्दर्य एक सामाजिक गुण है। और दोनों प्रकार के प्रेम की विषयवस्तु सौन्दर्ययुक्त (beautiful) है।

लक्ष्यसाधकता एवं समानुपातिकता सौन्दर्यविधायक नहीं हैं

बर्क अपने पूर्ववर्ती उन कलाशास्त्रीय चिन्तकों से सहमत नहीं हैं जो यह मानते हैं कि समानुपात (proportion) सौन्दर्य[2] का विधायक है। क्योंकि समानुपात बौद्धिक बोध से उत्पन्न होता है और इन्द्रियों एवं कल्पना पर तत्काल क्रियाशील नहीं हो सकता है। और किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिए अङ्गों की योग्यता भी सौन्दर्य का विधायक नहीं है। क्योंकि सिंह के पंजे यद्यपि नष्ट करने के लिए सर्वाधिक योग्य होते हैं फिर भी क्या वे

---

१. बर्क—९४

२. बर्क—१३९

सुन्दरतापूर्ण[1] होते हैं। परन्तु कलाकृतियों से समानुपात तथा लक्ष्यसाधन की योग्यता को बहिष्कृत नहीं कर सकते। बर्क भी यह स्वीकार करते हैं कि वास्तुगत सौन्दर्य समानुपात[2] पर अवलम्बित है और इस कारण से युक्तिमूलक है।

भव्य

आत्मसुरक्षा की मूलवृत्ति से सम्बन्धित भावावेश[3] पीड़ा एवं संकट की सम्भावना के बोध पर निर्भर होते हैं। पीड़ा तथा संकट शुद्ध रूप से पीड़ापूर्ण उस समय होते हैं जिस समय उनके कारण हमको तत्काल प्रभावित करते हैं। परन्तु उस समय वह आनन्दप्रद होते हैं जब हममें पीड़ा एवं संकट के साथ-साथ इस बात का भी बोध बना रहता है कि पीड़ा और संकट के कारण हमको तत्काल प्रभावित नहीं करते हैं। इस प्रकार से वह अनुभव जो उस समय होता है जिस समय हम किसी व्यक्ति को अपनी ओर नंगी तलवार लिए हुए आक्रमण करने के लिए दौड़ते हुए देखते हैं, उस अनुभव से भिन्न होता है जो कि उस समय उत्पन्न होता है जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की ओर दौड़ते हुए देखते हैं एवं हमको यह बोध होता है कि उसका लक्ष्य हमको घायल करना नहीं है। जिस समय हममें संकटपूर्ण परिस्थितियों से स्वतन्त्रता के बोध के साथ-साथ पीड़ा एवं संकट की ज्ञप्ति वर्तमान होती है उस समय हमारे अन्तःकरण में आनन्द की उत्पत्ति होती है। यह अनुभव भावधर्मी (positive) आनन्द से भिन्न है क्योंकि पीड़ा तथा संकट की ज्ञप्ति के आधार पर यह आश्रित रहता है। वह वस्तु भव्य है जो इस प्रकार के आनन्द को उत्पन्न करती है।

बर्क के मतानुसार गत पंक्तियों में कथित वस्तुओं के अतिरिक्त निम्नलिखित वस्तुएँ भी भव्य हैं :—

शक्ति[4] भव्य है। क्योंकि सामान्यतः वह प्रत्येक वस्तु भव्य है जो शक्ति का ही कोई न कोई परिवर्तित रूप है। आकार का विशालत्व भव्य है। लम्बाई की अपेक्षा गहराई एवं ऊँचाई भव्यता की ज्ञप्ति को उत्पन्न करते हैं। अंगों की क्रमरूपता तथा स्वरूप एकता (uniformity) कृत्रिम असीमता की विधायक हैं। असीमता भव्य है। भवन की उच्चता भव्य है। वैभव

---

१. बर्क—१५२ २. बर्क—१५५

३. बर्क—१०३ ४. बर्क—११५

शालीनता[1] (magnificence) अर्थात् शोभापूर्ण उत्कृष्ट वस्तुओं की अतिमात्रा जैसे कि नक्षत्रों से पूर्ण आकाश भव्य है। प्रचण्ड प्रकाश, जैसे सूर्य का प्रकाश भव्य है, उच्च ध्वनि जैसे कि मेघों की गड़गड़ाहट एवं सिंह का गर्जन भव्य है।

इस प्रकार से बर्क के मत में वह भव्य[2] है जो बुद्धि से अनुभवनीय भावावेगों में से सर्वाधिक प्रबल भावावेग को उत्पन्न करता है एवं इस प्रकार का भावावेग उन वस्तुओं से उत्प्रेरित होता है जो पीड़ा तथा संकट की ज्ञप्तियों और इसलिए आनन्दपूर्ण भय को उत्पन्न करती हैं। यह भावावेग सर्वाधिक शक्तिशाली है क्योंकि इससे सम्बन्धित पीड़ा की ज्ञप्ति आनन्द की ज्ञप्ति से अधिक सबल होती है। परन्तु मृत्यु की अपेक्षा हम पीड़ा को अधिक पसन्द करते हैं। अतएव मृत्यु पीड़ा से अधिक सबल रूप से प्रभावित करती है। परन्तु संकट तथा मृत्यु भी उस समय आनन्दप्रद होते हैं जिस समय वे अत्यन्त घनिष्ठता के साथ हमारा स्पर्श नहीं करते, हमसे कुछ दूरी पर होते हैं एवं किसी न किसी प्रकार से उनमें संशोधन हो चुका होता है। अतएव भव्यता उस आनन्दपूर्ण महाभय को उत्पन्न करने का कारण है जो उस पीड़ा, संकट अथवा मृत्यु तक की ज्ञप्ति से मिश्रित है और जिसका साक्षात्कार हमको तत्काल प्रभावित न करने वाले रूप में होता है।

काव्य एवं भावावेग

बर्क की प्रतिष्ठा एक दार्शनिक के रूप में कम परन्तु साहित्यालोचक के रूप में अधिक है। काव्य एवं नाटक के विषय में उनके सिद्धान्त हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि भारतीय काव्यलक्षणकारों एवं नाट्यशास्त्र के प्रतिपादकों की भाँति वे यह मानते हैं कि काव्य तथा नाटक भावावेगों को प्रदर्शित करते हैं। वस्तुतः हमने उनसे प्रतिपादित भावावेग के तात्त्विक स्वरूप (conception) का निरूपण केवल काव्यविषयक एवं नाट्यविषयक उनके सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए तथा कलानुभव की व्याख्या करने के लिए किया है।

परन्तु काव्य और नाटक भावावेगों को शब्दों में प्रकट करते हैं। अतएव काव्यसम्बन्धी एवं नाट्यसम्बन्धी उनके सिद्धान्तों की व्याख्या करने के पूर्व शब्दों की शक्ति के विषय में हम उनके अभिमत का उल्लेख करेंगे। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि 'शब्दान्तरसम्बन्धित भाववाचक' शब्दों

---

१. बर्क—१२८ २. बर्क—९१

की शक्ति के स्वरूप के विषय में बर्क का अभिमत डेकार्ट के तद्विषयक मत से बहुत अधिक विकसित है और बर्क का यह मत कि 'प्रेम' तथा 'भय' के समान शब्दान्तरसम्बन्धित भाववाचक शब्द भावावेग को प्रत्यक्षतः (अपनी अभिधा शक्ति से) उत्पन्न करते हैं ध्वनिसम्प्रदाय के भारतीय स्वतन्त्र-कलाशास्त्र के आचार्यों के तद्विषयक मत से मूल रूप में भिन्न है।

शब्दों की शक्ति

जिस प्रकार से शब्द हमको प्रभावित करते हैं वह उस प्रकार से बहुत भिन्न है जिसके अनुसार प्राकृतिक वस्तुयें एवं यहाँ तक कि चित्र एवं मूर्ति कलाओं की कृतियां भी हमको प्रभावित करती हैं। परन्तु शब्दों के पास सौन्दर्य तथा भव्यता की ज्ञप्तियों को उत्प्रेरित करने की उतनी ही शक्ति है जितनी कलाकृति-विधायक अन्य साधनों के पास है अथवा शब्दों के पास यह शक्ति उनसे भी अधिक है।

शब्द एवं भावावेग

शब्द तीन प्रकार के हैं :—

१—समष्टिवाचक शब्द (Aggregate words)—ये वे शब्द हैं जो प्रकृति से संगठित की गई अनेक ज्ञप्तियों के द्योतक होते हैं। जैसे कि मनुष्य, घोड़ा, वृक्ष आदि शब्द हाथों, पैरों आदि की ज्ञप्तियों की निश्चितरूप रचना (determinate composition) के द्योतक होते हैं।

२—समष्टिविधायक अवयवों के द्योतक शब्द (Simple abstract words)—परम्परा के अनुसार ये शब्द उस समष्टि की एक सरल ज्ञप्ति के द्योतक हैं जिसको द्योतित करने के लिए एक समष्टिद्योतक शब्द (Aggregate word) का प्रयोग करते हैं। जैसे लाल, नीला, गोल आदि।

३—शब्दान्तर संबन्धित भाववाचक शब्द (Compound abstract words)—ये वे शब्द हैं जो उपर्युक्त दो प्रकारों की ज्ञप्तियों के स्वच्छन्द संगठन एवं उनके बीच विविध प्रकार के घनिष्ठ अथवा अल्प जटिल सम्बन्धों के द्योतक हैं। जैसे पुण्य, सत्यशीलता, न्यायाधीश, प्रेम, भय आदि। ये शब्द ज्ञप्तियों को जाग्रत करते हैं। परन्तु मानस चक्षुओं के सामने स्वद्योतित वस्तु का कोई स्पष्ट चित्र उपस्थित नहीं करते। ये शब्द अव्यवस्थित रूप में मिली जुली दुर्बोध्य (confused) ज्ञप्तियों को द्योतित करते हैं। वे केवल

ध्वनियां मात्र हैं जिनका प्रयोग उन विशेष अवसरों[1] पर करते हैं, जब हम किसी कल्याण को प्राप्त करते हैं अथवा किसी अनिष्ट को सहते हैं या किसी अन्य व्यक्ति को दुःखपूर्ण या सुखपूर्ण देखते हैं। जब हम इन शब्दों को सुनते हैं तो हम अपने अभ्यास के आधार पर यह जान लेते हैं कि उनका अर्थ क्या है। अतएव यह होता है कि जब कभी भी इन शब्दों का प्रयोग किसी अवसर का समुचित उल्लेख किए बिना ही किया जाता है तो वे उन्हीं मानसिक प्रभावों को उत्पन्न करते हैं जिनको उन्होंने उन समयों पर उत्पन्न किया या जब कि उनका प्रयोग समुचित परिस्थितियों में किया गया था जिसके कारण मन में उन शब्दों को सुन कर एक प्रकार से प्रभावित हो जाने की आदत बन गई थी।

प्रथम दो प्रकार के शब्द श्रोता पर क्रमागत तीन [2]प्रभावों को छोड़ते हैं। (अ) ध्वनि समूहों का बोध (आ) ध्वनि समूहों से निरूपित वस्तुओं का बोध (इ) आत्मगत प्रभाव (सुख दुःख आदि)। परन्तु तीसरे प्रकार के शब्द (शब्दान्तर सम्बन्धित भाववाचक शब्द) आत्मगत प्रभावों को केवल ध्वनि समूहों से ही उत्पन्न करते हैं, उनके बीच में तदनुकूल वस्तुओं की प्रतिच्छायाओं का अस्तित्व नहीं होता क्योंकि ऐसी कोई निश्चित स्वरूप अमिश्रित वस्तुयें अथवा उनके वे संगठन नहीं होते जिनके वे शब्द द्योतक हैं। भावावेशों के द्योतक शब्द इसी कोटि के हैं। अतएव भावावेशों का तत्काल द्योतन बिना बहिर्निष्ठ वस्तु-प्रतिच्छायों का आश्रय लिए ध्वनि—समूह करते हैं।

काव्य शुद्धरूप से अनुकृतिमूलक नहीं है

मनुष्य के भावावेशों एवं व्यवहारों का प्रकटीकरण काव्य का लक्ष्य है। यह शुद्ध रूप से अनुकृतिमूलक[3] नहीं है। क्योंकि बहिर्निष्ठ वस्तुतों की भांति भावावेशों का अनुकरण करने के लिए उनका कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। परन्तु यदि कोई कवि अनुकरण करने के लिए किसी विशेष व्यक्ति को किसी विशेष परिस्थिति में लेता है जैसा कि वह नाट्यकाव्य में करता है तब वह शुद्ध अनुकरण करता है। परन्तु वर्णनात्मक काव्य में वस्तुओं के लिए शब्द मात्र का उपयोग किया जाता है।

१. बर्क—२०८
२. बर्क—२०९-१०
३. बर्क—२१५

काव्य का प्रभाव गम्भीरतर होता है

अन्य कलाओं की कृतियों की अपेक्षा काव्य की कृतियों का प्रभाव[1] अधिक गम्भीर होता है। इसके तीन कारण हैं :—

१. हम असाधारण रूप से अन्य लोगों के भावावेशों में हिस्सा बँटाते हैं। जैसे ही अन्य व्यक्तियों के भावावेशों के सूचक चिह्न हमको प्राप्त होते हैं वैसे ही हम उनसे सहज रूप में प्रभावित हो जाते हैं और उनसे सहानुभूति रखने के लिए बाध्य होते हैं। अन्य कलाओं की कृतियों की अपेक्षा काव्यकृति का प्रभाव इसलिए गम्भीरतर रूप में पड़ता है क्योंकि ऐसे और कोई सूचक चिह्न (tokens) नहीं है जो शब्दों के समान अधिकांश भावावेगों की सभी परिस्थितियों को उतनी पूर्णता से प्रकट कर सकें तथा क्योंकि काव्य की रचना सर्वाधिक उत्कृष्ट तथा सर्वाधिक उपयुक्त शब्दों से की जाती है। इसके अतिरिक्त हमारे भावावेशों पर अधिकांश वस्तुओं का प्रभाव उतनी मात्रा में स्वयं उनका नहीं पड़ता जितना कि उन वस्तुओं के विषय में अन्य लोगों के अभिमतों का पड़ता है—और अन्य लोगों के अभिमत केवल शब्दों में ही प्रकट होते हैं।

२. अनेक ऐसी प्रभावशाली वस्तुयें हैं जो यथार्थतः बहुत कम घटित होती हैं। परन्तु उनको निरूपित करने वाले शब्द बहुधा प्रयुक्त किए जा सकते हैं। अतएव शब्दों को गम्भीर प्रभाव डालने का एवं बुद्धि में अपनी गम्भीर जड़ को जमाने का सुअवसर प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त शब्दों से निरूपित कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनको असंख्य व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में कभी नहीं देखते जैसे कि महायुद्ध एवं दुर्भिक्ष और कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका इन्द्रियबोध कभी नहीं होता जैसे कि परमेश्वर, स्वर्ग आदि। फिर भी इन वस्तुओं के द्योतक शब्दों के पास बुद्धि को प्रभावित करने की शक्ति होती है।

३. शब्दों के साधन से हम इस प्रकार के मिश्रणों की रचना कर सकते हैं जिनको हम यथार्थ जगत में कभी नहीं पाते। इस प्रकार से शब्द हमको इष्ट परिस्थितियों को भली-भाँति प्रकट करने की क्षमता प्रदान करते हैं और सामान्य सरल वस्तुओं को नूतन जीवन एवं शक्ति देते हैं।

कल्पना को प्रभावित करने के लिए स्पष्टता अनावश्यक है

शाब्दिक रचना हमारी कल्पना को चित्र से अधिक प्रभावित करती है। क्योंकि सजीव एवं ओजस्वी शाब्दिक वर्णन के साधन से हम अन्तःकरण में

१. बर्क—२१६

वस्तुओं की उन अपूर्ण एवं अस्फुट ज्ञप्तियों को उत्पन्न कर सकते हैं जो किसी भी चित्र की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली भावावेगों को जाग्रत कर सकती हैं। यह तथ्य कि भावावेगात्मक प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए प्रतिच्छायाओं की स्फुटता अनावश्यक है इस बात से पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि वाद्य संगीत हमारे अन्तःकरण में भावावेगात्मक प्रभाव उत्पन्न करता है।

दुःखप्रधान नाटक से अनुभव

इस अभिमत के विषय में कोई विवाद नहीं है कि वस्तुएँ[1] जो व्यावहारिक जगत में मिलने पर हमको क्षोभपूर्ण कर देती हैं जब नाटक अथवा काव्य में प्रदर्शित की जाती हैं तो अत्यन्त आनन्द का कारण बनती हैं। बर्क के पूर्व शास्त्रकारों ने दुःखप्रधान नाटक के दर्शन से उद्भूत आनन्द की व्याख्या दो भिन्न प्रकारों से की थी। या तो दुःखप्रधान नाटक से आनन्द की उत्पत्ति का कारण वे यह मानते थे कि (१) यह इस बात का बोध है कि दुःखप्रधान घटना यथार्थ न होकर काल्पनिक है। अथवा (२) यह बोध कि हम जिस अनिष्ट को प्रतिनिरूपित देखते हैं उससे हम स्वयं मुक्त हैं।

बर्क के कथनानुसार ये युक्तिपरक व्याख्याएँ हैं। वे यह विश्वास करते हैं कि भावावेशों का कारण शारीरिक यन्त्र अथवा मस्तिष्क की विचित्र रचना है और भावावेशों को जाग्रत करने में युक्ति तत्त्व का इतना हाथ नहीं है जितना कि सामान्य लोग मानते हैं।

यदि हम यह भलीभाँति जानने की इच्छा करते हैं कि काव्यरूप अथवा नाट्यरूप में प्रदर्शित दुःखप्रधान घटना किस प्रकार से प्रभावित करती है तो यह जानना आवश्यक है कि व्यावहारिक संसार में दुःखप्रधान घटनायें किस प्रकार से प्रभावित करती हैं। वह यथार्थ दुःख जिसमें हम दूसरे व्यक्ति को निमग्न देखते हैं आनन्द का स्रोत है—यह निम्नलिखित तथ्य से सिद्ध हो जाता है।

यह एक सामान्य तथ्य है कि यथार्थ सङ्कट एवं पीड़ापूर्ण दृश्यों की ओर जनसमूह आकृष्ट होता है और मनुष्य ऐसे (सङ्कट तथा पीड़ापूर्ण) दृश्यों को परित्याज्य नहीं मानते हैं। ऐसा होना असम्भव होता यदि इस प्रकार के दृश्य शुद्ध पीड़ा के जनक होते, यदि इस प्रकार के दृश्यों से उत्पन्न अनुभव में आनन्द का कोई न कोई अंश न होता। इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य

१. बर्क—९७

है कि दुःखग्रस्त व्यक्ति जितना अधिक महान् होता है एवं जितना कम वह उस दुःख पाने का अधिकारी होता है उतना ही अधिक आनन्द हमको ऐसे दृश्यों को देखकर होता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि 'महाभय' एक ऐसा भावावेश है जो हमको उस समय आनन्दित करता है जब हमको वह अत्यन्त घनिष्ठता से स्पर्श नहीं करता एवं करुणा वह भावावेश है जो सर्वदा इसलिए आनन्दमय होता है क्योंकि यह प्रेम तथा सामाजिक स्नेह से उत्पन्न होता है।

जब कभी भी प्रकृति हमारी रचना किसी क्रियासाध्य लक्ष्य के लिए करती है उस समय वह भावावेश जो हमको उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है एक प्रकार के सुख से संयुक्त होता है। इस भावावेश की सुखदता उस वस्तु पर निर्भर नहीं होती जो इसे उत्प्रेरित करती है। सृष्टिकर्त्ता की रचना के अनुसार हम सभी सहानुभूति के एक सूत्र से ग्रथित हैं। सहानुभूति का यह बन्धन सहानुभूति के समानुपातिक (proportionate) आनन्द से दृढ़ीभूत होता है। यदि यह भावावेश दुःखपूर्ण होता तो हम इस (भावावेश) के उत्तेजक सब स्थानों और व्यक्तियों को छोड़ देते।

दुःख एवं सङ्कटपूर्ण दृश्य से अनुभूत आनन्द में व्याकुलता का अंश मिला रहता है। परन्तु वही आनन्द इसको त्यागने से हमको रोकता है और उससे अनुभूत दुःख सङ्कटग्रस्त के प्रति सहानुभूति को प्रकट कर अपने दुःख को हलका करने के लिए उत्प्रेरित करता है। यह सब स्वभावतः घटित होता है। इसमें विचारणाशक्ति का प्रयोग नहीं होता है।

व्यावहारिक संसार तथा कलाकृति से उत्पन्न दुःखप्रधान अनुभवों में भेद

रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित दुःखप्रधान घटना के दृश्य से उत्पन्न अनुभव केवल इसी बात में उस अनुभव से भिन्न होता है जो हमको यथार्थ–दुःखप्रधान घटना के दर्शन से प्राप्त होता है कि रङ्गमञ्चीय प्रदर्शनजनित अनुभव में उस आनन्द का एक अंश और मिला रहता है जो इस बोध से उत्पन्न होता है कि प्रदर्शन एक अनुकृति है। यह आनन्द न तो छलमूलक है और न इस विचारणा के कारण है कि दुःखप्रधान निरूपण अयथार्थ है। क्योंकि कोई प्रदर्शन जितना ही अधिक यथार्थ के निकट होता है उतना ही अधिक वह आनन्ददायक होता है। परन्तु दुःखप्रधान निरूपण हमको उतनी मात्रा में

प्रभावित नहीं करता जितनी मात्रा में यथार्थ घटना हमको प्रभावित करती है।

लिखते समय में कवि को आत्मा की दशा[1] एवं उसकी रचना को सुनते समय श्रोता की आत्मा की दशा एक समान ही होती है।

---

१. वर्क—२१२

अध्याय ९

जर्मनी में स्वतन्त्रकलाशास्त्रीय विचारधाराएँ

लीबनीज़

उनका महत्त्व

तुलनात्मक दृष्टिकोण से लीबनीज़ (सन् १६४६–१७१६ ई०) का महत्त्व तीन कारणों से है—(१) वे स्वतन्त्रकलाकृतिजनित अनुभव के विभिन्न तलों को मानते हैं जैसे इन्द्रियबोध का तल, भावावेग का तल, बौद्धिक तल एवं लोकातीत (transcendental) तल। इनमें से अधिकांश तल ऐसे हैं जिनको [1]अभिनवगुप्त ने भी माना है। (२) वे यह मानते हैं कि स्वतन्त्रकलाकृतिजनित अनुभव के चरम तल पर व्यक्ति का सामान्यीकरण हो जाता है। यह अभिमत भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र में प्रतिपादित साधारणीभाव से मिलता-जुलता है। (३) वे इस कलाकृतिजनित अनुभव को स्वार्थशून्य मानते हैं।

लीबनीज़ सौन्दर्य[2] को सामञ्जस्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते थे यद्यपि आभासमान विरोध को अपने अन्दर रखने की क्षमता उसमें होती है। कलाकृतिजनित अनुभव के तात्त्विकस्वरूप के प्रतिपादन में वे अपने पूर्वस्थापित सामञ्जस्य (pre-established harmony) के प्रसिद्ध सिद्धान्त से प्रभावित थे। वे यह मानते हैं कि अपने चरमतल पर कलाकृतिजनित अनुभव सामान्य सामञ्जस्य[3] (universal harmony) का अनुभव है। कलाकृति में इस सामान्य सामञ्जस्य को प्रतीकात्मक रूप में प्रकट करते हैं। यही प्रतीकात्मक रूप उसके अनुभव का साधन है। अतएव लीबनीज़ के कलाशास्त्रीय मत को प्रतिपादित करने के पूर्व हम संक्षेपतः इस 'सामान्य सामञ्जस्य' की व्याख्या करेंगे।

लीबनीज़ का दार्शनिक मत

स्पिनोज़ा एवं डेकार्ट के दार्शनिक अभिमतों के विरुद्ध उन्होंने दो आपत्तियों को उठाया था। उन्होंने (१) उस यान्त्रिक कारणतावाद को खण्डित करने की चेष्टा की जिसको डेकार्ट एवं स्पिनोजा दोनों मानते थे तथा (२) डेकार्ट प्रतिपादित बुद्धि (mind) एवं शरीर के परस्पर सम्बन्ध को मिथ्या सिद्ध

---

१. स्व० क० शा० भाग १–१५४

२. बोसान्—१७७ ३. गिल० २२७

करने का उन्होंने प्रयास किया। डेकार्ट तथा स्पिनोजा दोनों यह मानते थे कि विस्तार (extension) के अतिरिक्त भूततत्त्व कुछ नहीं है और इस प्रकार दोनों यह मानते थे कि विचार के अतिरिक्त बुद्धि कुछ और नहीं है। परन्तु लीबनीज़ के विश्लेषण ने यह प्रकट किया कि भूततत्त्व विस्तार मात्र के अतिरिक्त और भी कुछ है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि भूततत्त्व विस्तार और शक्ति है। उसी प्रकार से सूक्ष्मतर परीक्षण से उन्होंने यह सिद्ध किया कि बुद्धि विचार एवं शक्ति है।

यदि भूततत्त्व और मनस्तत्त्व अथवा बुद्धितत्त्व दोनों में शक्तितत्त्व सामान्य रूप से व्यापक तत्त्व है तो स्वभावतः यह एक ऐसा पदार्थ है जिसके मनस्तत्त्व एवं भूततत्त्व अथवा विचार एवं विस्तार गुण मात्र हैं। यह शक्तिपदार्थ यथार्थ है क्योंकि इसके तात्त्विक स्वरूप का विचार बिना किसी अन्य तात्त्विक स्वरूप की सहायता के किया जा सकता है। यह शक्ति पदार्थ विस्तारशून्य, परोक्ष (अदृश्य), सरल, आधारभूत एवं अनश्वर है।

परन्तु शक्ति पदार्थ एक नहीं है। शक्तियों की संख्या अनेक है। और प्रत्येक शक्ति में उपर्युक्त गुण हैं। इस परिणाम पर लीबनीज़ भूततत्त्व एवं मनस्तत्त्व दोनों के अवधानपूर्वक परीक्षण के उपरान्त पहुँचे थे। डेकार्ट के मतानुसार भूततत्त्व का सार विस्तार है। परन्तु लीबनीज़ यह प्रश्न करते हैं कि तब तक विस्तार किस प्रकार से सम्भव हो सकता है जब तक कि विस्तारपूर्ण वस्तु का प्रत्येक देशिक बिन्दु ऐसा न हो जो कि अपने को दूसरे देशिक बिन्दु से ग्रसित न होने दे—अपने को दूसरे देशिक बिन्दुओं में निमग्न न होने दे? अतएव प्रत्येक देशिक बिन्दु को शक्ति का एक केन्द्र मानना चाहिये। उसी प्रकार से प्रत्येक मनस्तत्त्व में अपनी एक विशेषता होती है जो अन्यत्र कहीं भी नहीं प्राप्त हो सकती क्योंकि प्रत्येक मनस्तत्त्व की विचारधारा अपनी होती है। मनस्तत्त्वों का परस्परनिवेश (interpenetration) नहीं होता। प्रत्येक मनस्तत्त्व दूसरे मनस्तत्त्वों से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार से संख्या में जितने व्यक्ति हैं उतनी ही मन की शक्तियाँ भी हैं। इन शक्तियों को लीबनीज़ अविभाज्य शक्तिपदार्थ (monad) कहते हैं।

भौतिक अथवा मानसिक प्रत्येक अविभाज्य शक्तिपदार्थ में आत्म-प्रतिनिरूपण (self-representation) की क्षमता होती है। यह क्षमता चाहे जितनी अस्फुट अथवा अनिश्चित स्वरूप हो परन्तु यह अवश्य वर्तमान होती है। इस प्रकार से जड़ तथा चेतन में भेद केवल इतना ही है कि जड़ में जीवन संज्ञाशून्य दशा में होता है।

भूततत्त्व का लीबनीज़ प्रतिपादित तात्त्विक स्वरूप

भूततत्त्व का प्राथमिक गुण उसके एक भाग की उसके दूसरे भाग से अवेध्यता (impenetrability) है अर्थात् दो वस्तुएं एक ही स्थान विन्दु में वर्तमान नहीं हो सकतीं। प्रत्येक अविभाज्य शक्तिपदार्थ को वस्तुओं को अगल-बगल विभिन्न देशिक विन्दुओं में निवास करते हुए निरूपित कर अपनी विलगना तथा अवेध्यता का प्रतिनिरूपण करना (representation) आवश्यक है। इस प्रकार से विस्तार भूततत्त्व का अप्रधान गुण है। यह भूततत्त्व की आवश्यक अवेध्यता की अभिव्यक्ति है।

आन्तरिक अनुभव के रूप में देश

प्रत्येक प्रकार का उच्चपदीय अविभाज्य शक्तिपदार्थ (monad) आत्मनिष्ठ एवं विषयनिष्ठ दोनों रूपों में अपनी विलक्षणता एवं स्वतन्त्रता को अपने प्रति निरूपित करता है। स्वतन्त्रता का आत्मनिष्ठ प्रतिनिरूपण वैयक्तिकता (individuality) एवं विलग व्यक्तित्व (personality) के मूलबोधों के रूपों में होता है। स्वतन्त्रता का विषयनिष्ठ प्रतिनिरूपण अपने शरीर की अन्य शरीरों से विलगता के रूप में प्रकट होता है।

इस प्रकार की विलगता का प्रतिनिरूपण देश (space) के आधार पर होता है। अतएव यह देश कोई बहिर्निष्ठ वस्तु नहीं है वरन् प्रत्येक अविभाज्य शक्तिपदार्थ (monad) के आन्तरिक अनुभव का स्वरूप मात्र है। शुद्ध शारीरिक अस्तित्व के तल पर अस्फुट रूप में विलगता को प्रतिनिरूपित करने का यह एक प्रकार मात्र है। मानसिक तल पर अस्फुट रूप से विलगता को प्रतिनिरूपित करने के प्रकार आत्मबोध एवं व्यक्तित्व हैं।

सर्वोत्कृष्ट अविभाज्य शक्तिपदार्थ के रूप में परमेश्वर

अनुभवगम्य जगत् (reality) के विधायक असंख्य अविभाज्य शक्ति पदार्थ हैं जो अनन्तता (infinity) से लेकर शून्य (zero) तक विविध मात्राओं में एक ही विश्व को अपने में प्रतिनिरूपित करते हैं। परन्तु शून्य मात्रा का अर्थ प्रतिनिरूपण करने की शक्ति का पूर्णाभाव न होकर 'लगभग शून्य' है। अतएव ईश्वर वह अविभाज्य शक्तिपदार्थ है जिसमें विश्व के प्रति निरूपण असंख्य मात्रा में होते हैं और उनका यथार्थीकरण होता है। वह सब अविभाज्य शक्तिपदार्थों का अविभाज्य शक्तिपदार्थ है। वह पूर्ण बुद्धितत्त्व है। सभी वस्तुओं की प्रकृति का चाहे वे (वस्तुएँ) वास्तविक हो या

सम्भावित हों, उसका निरूपण स्पष्ट, सम्पूर्ण एवं पूर्णतया बोध्य होता है। वह शुद्ध चित् स्वरूप है। वह पूर्ण है। वह शुद्ध क्रिया रूप है।

अविभाज्य शक्तिपदार्थों का वर्गीकरण

प्रतिनिरूपण करने की क्षमता के लगभग नगण्य अनुक्रम (gradation) के कारण यद्यपि अविभाज्य शक्तिपदार्थों की श्रृंखला निरन्तर एवं अभङ्ग है फिर भी लीबनीज़ ने स्थूल रूप से उनका वर्गीकरण तीन वर्गों में किया है।

१—बाह्य संज्ञाशून्य अविभाज्य शक्तिपदार्थ (swooning monads) अपनी विलक्षणता एवं देशिक अलगाव के रूप में अपनी व्यक्ति का अपने प्रति प्रतिनिरूपण करने से ये अविभाज्य शक्तिपदार्थ भूतजगत के विधायक हैं। ये उन निर्जीव वस्तुओं के विधायक हैं जो एक प्रधान केन्द्रीय अविभाज्य शक्तिपदार्थ तथा उसके चारों ओर ग्रथित कुछ छोटे-छोटे अविभाज्य शक्तिपदार्थों से निर्मित होती हैं। प्रधान केन्द्रीय अविभाज्य शक्तिपदार्थ ही उस वस्तु को सम्पूर्ण आकार तथा संश्लिष्टता प्रदान करता है। परन्तु यह अविभाज्य शक्तिपदार्थ बाह्य संज्ञाशून्य दशा में रहता है।

२—पशु-आत्मा रूप अविभाज्य शक्तिपदार्थ—ये शक्तिपदार्थ संज्ञाशून्य शक्तिपदार्थों से अधिक उच्चपदीय होते हैं। इनके पास (१) सरल मूलभाव एवं (२) स्मृति होते हैं। इन शक्तिपदार्थों की क्रिया पशुओं की चेतना में प्रकट होती है।

३—मानवीय-आत्मा रूप अविभाज्य शक्तिपदार्थ—ये शक्तिपदार्थ पशु-आत्मा रूप अविभाज्य शक्तिपदार्थों से अधिक उच्चपदीय होते हैं। इनके पास मूलभाव (feeling) एवं स्मृति की शक्तियाँ ही नहीं होतीं वरन् (१) चिन्तना (२) आत्म-बोध एवं (३) युक्ति करने की भी शक्तियाँ होती हैं।

केन्द्रीय अविभाज्य शक्तिपदार्थ के रूप में आत्मा

जिस प्रकार से निर्जीव वस्तुओं (inorganic bodies) में एक वह केन्द्रीय अविभाज्य शक्तिपदार्थ होता है जिसके चारों ओर छोटे अविभाज्य शक्तिपदार्थ ग्रथित रहते हैं और जो उस वस्तु को सम्पूर्ण आकार प्रदान करता है उसी प्रकार से सजीव वस्तुओं में भी, जैसे मनुष्यों एवं पशुओं के शरीर, एक केन्द्रीय अविभाज्य शक्तिपदार्थ अर्थात् आत्मा-अविभाज्य शक्तिपदार्थ होता है जिसके चारों ओर अन्य शक्तिपदार्थ ग्रथित होते हैं। मनुष्य और पशुओं के पास शरीर हैं। वे शारीरिक एवं चेतना पूर्ण वस्तुएँ हैं। वे शारीरिक तथा

मानसिक दोनों रूपों में अपने अनोखापन एवं व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं। वे अपने प्रति केवल अपने शरीरों को ही निरूपित नहीं करते वरन् अन्य प्राणियों से विलग अपनी चेतना को भी निरूपित करते हैं।

पूर्वस्थापित सामंजस्य का सिद्धान्त

लीबनीज़ अपने दार्शनिक मत का आरम्भ डेकार्ट एवं स्पिनोज़ा के द्वैतवाद के खण्डन से करते हैं। उनके दार्शनिक मत के विरुद्ध लीबनीज़ की आपत्ति यह है कि मनस्तत्व एवं भूततत्त्व में परस्पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया किस प्रकार से सम्भव है यदि वे परस्पर इतनी अधिक मात्रा में विरुद्ध हैं जितना कि डेकार्ट ने प्रतिपादित किया है अथवा यदि वे किसी एक तत्त्व के ही दो अंशों अथवा गुणों के रूप में भी हैं जैसा कि स्पिनोज़ा ने उनको माना है? परन्तु लीबनीज़ प्रतिपादित 'अविभाज्य शक्तिपदार्थ' (monad) के सिद्धान्त के विरुद्ध भी यही आपत्ति उठाई जा सकती है। यदि मनस्तत्व और भूततत्त्व एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते तो अविभाज्य शक्तिपदार्थ एक दूसरे को किस प्रकार से प्रभावित कर सकते हैं? क्योंकि ये अविभाज्य शक्तिपदार्थ एक दूसरे के भौतिक तल पर विरोधी हैं तथा मनोवैज्ञानिक तल पर अपनी पूर्ण विविक्तता (privacy) को बनाए रखते हैं और अपने आन्तरिक जीवन के विषय में किसी को कुछ भी नहीं बताते हैं। लीबनीज़ प्रतिपादित अविभाज्य शक्तिपदार्थों का स्वरूप लॉक प्रतिपादित उन मनस्तत्त्वों के समान नहीं है जिनमें आवागमन के वातायन बने हुए हैं। अविभाज्य शक्तिपदार्थों में कोई वातायन नहीं हैं अतएव न तो कोई उनके अन्दर बाहर से जा सकता है और न कोई उनके अन्दर से बाहर आ सकता है। तो किस प्रकार से बहिर्निष्ठ भौतिक संसार एवं अन्य आत्माओं दोनों के विषय में हमको प्रमेयनिष्ठ बोध प्राप्त हो सकता है? किस प्रकार से हम यह विचार कर सकते हैं कि हमारे बाहर एक जगत वर्तमान है और हम उसके एक अंश हैं।

इन आपत्तिजनक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए लीबनीज़ ने 'पूर्वस्थापित सामंजस्य' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसका उल्लेख नीचे लिखे रूप में कर सकते हैं:—

अविभाज्य शक्तिपदार्थों का सृष्टा परमेश्वर है। उसने इनकी रचना केवल इस प्रकार से नहीं की है कि आत्म-प्रतिनिरूपण (self-representation) की अनुक्रमिक शक्ति से युक्त होकर वे एक अखण्ड श्रृंखला बनाए हुए हैं वरन् उसने उनको इस प्रकार से व्यवस्थित किया है कि एक अविभाज्य

शक्ति पदार्थ में चाहे जो परिवर्तन अथवा प्रचय (development) घटित हो उनका प्रभाव यह है कि सभी अन्य अविभाज्य शक्तिपदार्थों के आन्तरिक अनुभवों में तदनुकूल परिवर्तन घटित हो जाएँ। एक अविभाज्य शक्तिपदार्थ के अन्तर्गत परिवर्तन अन्य सभी अविभाज्य शक्तिपदार्थों में निरूपित होता है। वे परिवर्तन जो एक अविभाज्य शक्तिपदार्थ के कारण अन्य अविभाज्य शक्तिपदार्थों में उत्पन्न होते हैं, अपने कारणस्वरूप मौलिक (original) अविभाज्य शक्तिपदार्थ की ओर संकेत करते हैं (refer) उनमें यह मूलबोध जगाते रहते हैं कि वे कुछ ऐसा देख रहे हैं जो उनसे बाहर के संसार में घटित हो रहा है। अविभाज्य शक्तिपदार्थ संख्या में इतनी सारी घड़ियों के समान है जिनकी सृष्टि सृष्टिकर्ता ने इस भांति से की है कि बिना किसी प्रतिक्रिया के उनके आन्तरिक परिवर्तन परस्पर समकालीन ही होते हैं।

अविभाज्य शक्तिपदार्थों के परमेश्वरकृत सर्जन के प्रकार के विषय में लीबनीज़ का यह मत है कि ये शक्तिपदार्थ उससे अग्नि से स्फुलिंग के समान उद्भूत होते हैं। ईश्वर से अविभाज्य शक्तिपदार्थों की उत्पत्ति के लीबनीज़ प्रतिपादित सिद्धान्त को शास्त्रीय भाषा में 'स्फुरण' (fulguration) का सिद्धान्त कहते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि यह सिद्धान्त प्लोटाइनस प्रतिपादित 'उद्भववाद' (emanation) के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि स्फुलिंग की उपमिति के आधार पर उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अविभाज्य शक्तिपदार्थों का अस्तित्व परस्पर स्वतन्त्रतापूर्ण होता है। उत्पन्न हो जाने के पश्चात् परमेश्वर के साथ उनका उतना ही कम सम्बन्ध रहता है जितना कि चिंनगारी और आग का है। परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि प्लोटाइनस ने यह प्रतिपादित किया था कि सृष्टि का सृष्टिकर्ता के साथ वही सम्बन्ध है जो सूर्य की किरणों का सूर्य के साथ है। ऐसा ज्ञात होता है कि लीबनीज़ एरिस्टाटल प्रतिपादित उस बौद्धिक आत्मा के तात्त्विक स्वरूप (conception) से प्रभावित हुए थे जिसको वे दिव्यप्रकाश का स्फुलिंग मानते थे। ईश्वर ने इस संसार की रचना इसलिए की थी क्योंकि वह कल्याणमय है और यह जगत सभी सम्भावित संसारों की अपेक्षा अधिक उत्तम है।

ज्ञान के अनुक्रमिक वर्ग (Grades)

लीबनीज़ ने ज्ञान के चार अनुक्रमिक[1] वर्गों का प्रतिपादन किया है :—

१—अस्फुट अथवा मलिन ज्ञान।

---

१. गिल०—२२८

इसकी रचना छोटे-छोटे प्रत्ययों से होती है जैसे कि स्वप्न दशा में अस्फुट प्रतिच्छायाओं का समूह ।

२—स्पष्ट परन्तु अस्फुट ज्ञान ।

यह वह ज्ञान है जिसमें रङ्ग जैसे आभासों को पहचान तो जाते हैं परन्तु बौद्धिक रूप में उनकी परिभाषा नहीं दे सकते ।

३—स्पष्ट ज्ञान ।

यह वह ज्ञान है जिसकी परिभाषा अथवा वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है ।

४—स्फुट एवं पूर्ण (intuitive) ज्ञान ।

यह वह ज्ञान है जिसमें ज्ञेय वस्तु के सभी लक्षणों और चिह्नों को सम्पूर्णतया जाना जाता है और उनको एक पूर्ण पर्यवेक्षण में संग्रहीत करते हैं ।

सूक्ष्म जगत (microcosm) के रूप में अविभाज्य शक्तिपदार्थ

प्रत्येक अविभाज्य शक्तिपदार्थ के पास प्रतिनिरूपण की शक्ति है । यह समग्र विश्व का प्रतिनिरूपण करता है । यह सूक्ष्माकार में संसार है । परन्तु प्रत्येक अविभाज्य शक्तिपदार्थ विभिन्न मात्रा की स्फुटताओं में संसार को अपने दृष्टिकोण से प्रतिनिरूपित करता है । जितना अधिक उच्चपदीय कोई अविभाज्य शक्तिपदार्थ है उतनी ही अधिक स्पष्टता से संसार के भाग का अर्थात् अपने निकटतम अविभाज्य शक्तिपदार्थों का प्रतिनिरूपण करने की क्षमता उसमें होती है ।

सूक्ष्म जगत् के रूप में अविभाज्य शक्तिपदार्थों का मानना यह सूचित करता है कि प्रत्येक अविभाज्य शक्तिपदार्थ के पास यह क्षमता है कि वह उस प्रत्येक वस्तु का मूलबोध कर सके जो सम्पूर्ण विश्व के किसी भी भाग में किसी समय घटित होती है । परन्तु अविभाज्य शक्तिपदार्थ निम्नतम से लेकर उच्चतम तक एक अनुक्रमिक (graduated) प्रगति पूर्ण (progressive) श्रृङ्खला की कड़ियों के समान हैं । अतएव प्रत्येक अविभाज्य शक्तिपदार्थ सबको स्पष्ट रूप से प्रतिनिरूपित करने की क्षमता से युक्त नहीं होता है ।

लीबनीज़ का कलाशास्त्रीय सिद्धान्त

उपर्युक्त दार्शनिक मत के आधार पर लीबनीज़ ने अपने कलाशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था । उनका यह सिद्धान्त उनसे पूर्ववर्ती सभी कलाशास्त्रीय सिद्धान्तों का परस्पर विरोधशून्य समन्वय (synthesis)

मात्र है चाहे उन सिद्धान्तों का सम्बन्ध कलानुभव के साधनों के साथ हो या कला के स्वरूप के विषय में हो अथवा कलाकृति के लक्ष्य से सम्बन्धित हो। लीबनीज़ ने यह प्रतिपादित किया है कि कलानुभव के अनेक तल हैं जिसका निम्नतर तल उच्चतर तल की ओर ले जाता है। वे यह मानते हैं कि एक उत्कृष्ट कलाकृति से क्रमशः हमको इन्द्रिय सम्बन्धित, भावावेग सम्बन्धित, बुद्धि सम्बन्धित तथा आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होते हैं और रसिकत्व (taste) एक ऐसी कलासम्बन्धी शक्ति है जिसके साधन से विभिन्न तलों पर उपर्युक्त अनुभव प्राप्त होते हैं। वे यह भी मानते हैं कि कलाकृति हमारा नैतिक उत्थान भी करती है। इस प्रकार से लीबनीज़ ने कला के विषय में पूर्वप्रतिपादित 'कला चरित्र का उन्नायक है', इस सिद्धान्त का एवं उसके अनुभवैकप्रमाण-वादी, युक्तिवादी एवं अध्यात्मवादी सिद्धान्तों के परस्पर विरोध का परिहार करते हुए एक समन्वयात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।

रसिकत्व (Æsthetic taste)

लीबनीज़ ने रसिकत्व को बुद्धि से भिन्न माना है। वे यह कहते हैं कि रसिकत्व उस अस्पष्ट प्रत्यय का जनक है जिसका कोई पर्याप्त वर्णन सम्भव नहीं है। यह बहुत कुछ मूलवृत्ति (instinct) के समान है। परन्तु यह स्वयं कोई मूलवृत्ति[1] नहीं है। जिसको युक्तितत्त्व तथा परम्परा ने 'सुन्दरतापूर्ण' घोषित किया है उसका आस्वादन इस रसिकत्व का कार्य है। इसके कार्य का आरम्भ अस्फुट प्रत्ययों से होता है परन्तु यह कला-प्रदर्शन से शिक्षा लेने की और प्रदर्शन को पूर्णतया युक्तिशक्ति से ग्रहण करने की चेष्टा करता है जिसके समनन्तर उसे अलौकिक साक्षात्कार (intuitive vision) प्राप्त होता है। रसिकत्व के विषय में उनके अभिमत से यह ज्ञात होता है कि कलाकृतिजनित अनुभव की चार भूमियों की स्थापना उन्होंने की है।

१. कलानुभव का आरम्भ अस्फुट प्रत्ययों से होता है। इस तल पर कलाजनित अनुभव का विधायक वह मूलभाव (feeling) है जो किसी ऐसी वस्तु से उत्पादित है जिसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती फिर भी जो (वस्तु) हमारे अन्तःकरण में सहानुभूति को प्रबुद्ध करती है। हम एक पूर्व उपप्रकरण में यह लिख आये हैं कि लीबनीज़ ने ज्ञान के चार वर्गों का उल्लेख किया है। अतएव प्रथम एवं निम्नतम क्रमदशा पर कलाकृतिजनित अनुभव ज्ञान की

१. गिल०—२२९

दूसरी कोटि के अन्तर्गत होता है अर्थात् जिस कोटि में स्पष्ट परन्तु अस्फुट प्रत्यक्ष होता है जिसमें रङ्ग आदि प्रतिभास पहचाने तो जाते हैं परन्तु बौद्धिक रूप में उनकी परिभाषा नहीं की जा सकती है।

लीबनीज़ के मतानुसार इस क्रमतल पर कलाकृतिजनित अनुभव के आत्मनिष्ठ एवं विषयनिष्ठ दोनों अंशों को परिभाषाबद्ध नहीं कर सकते हैं। वे यह मानते हैं कि निश्चित रूप से यह बताना असम्भव है कि वस्तुओं की रुचिरता के विधायक कौन से तत्त्व हैं एवं न यह बताना सरल है कि हमारे मानसिक ढांचे के कौन से विधायक तत्त्वों को यह (कला का अनुभव) मुग्ध करता है।

लीबनीज़ के मतानुसार काव्य के पास प्रभावित करने की अपरिमित शक्ति है। यह श्रोता को निश्चेष्ट, उत्तेजित, अश्रुपूर्ण एवं हास्यपूर्ण कर सकता है। इन्द्रियानुभवैकप्रमाणवादियों के मतानुसार भावावेगों का अस्तित्व इन्द्रियानुभव की भूमि पर होता है। अतएव वे लीबनीज़ जो यह मानते हैं कि निम्नतम तल पर कलाकृतिजनित अनुभव के विषय में इन्द्रियानुभवैक-प्रमाणवादी दृष्टिकोण ठीक है स्वभावतः यह मानते हैं कि इस तल का चरम बिन्दु भावावेगात्मक अनुभव है।

२. अस्फुट प्रत्यक्षों के उपरान्त, लीबनीज़कृत रसिकत्व की परिभाषा के अनुसार यह रसिकत्व कला के प्रदर्शित स्वरूप से शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ करता है और तदनन्तर पूर्णतया युक्ति से उसको ग्रहण करने लगता है। अतएव दूसरी क्रमदशा के तल पर कलाकृति का अनुभव बुद्धिजनित अनुभव है। आनुपातिक रूप में (as an affair of ratio) कला-प्रदर्शित रूप को पूर्णतया युक्तितत्त्व से ग्रहण करना इस अनुभव का स्वरूप है। क्योंकि लीबनीज़ उस सीमा तक युक्तिवादी हैं जहाँ तक वे यह मानते हैं कि सौन्दर्य अनुपातिक है। यह मानने में कि कला अपने प्रेमियों का चारित्रिक उत्थान करती है लीबनीज़ एरिस्टाटल के मत का अनुगमन करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि सौन्दर्य की चिन्तना अपने में सुखद है एवं इसलिए स्वार्थशून्य है।

३. कला के प्रदर्शित रूप को पूर्णतया युक्तितत्त्व से ग्रहण करने के अनन्तर सहृदय अलौकिक साक्षात्कार (intuitive vision) प्राप्त करता है। लीबनीज़ के मतानुसार, हमको यह भली भाँति ज्ञात है कि साक्षात्कार (intuitive knowledge) वह ज्ञान है जिसमें प्रदर्शित वस्तु के सभी चिह्न विशद रूप से ज्ञात होते हैं और एक सम्पूर्ण पर्यवेक्षण में संग्रहीत होते हैं।

अतएव जिस समय लीबनीज़ उस अलौकिक साक्षात्कार की बात करते हैं जिस तक प्रदर्शन की बौद्धिक उपलब्धि ले जाती है तो उनका अर्थ यह होता है कि कलाकृतिजनित अनुभव के तीसरे तल पर प्रदर्शित कलाकृति के सभी चिह्न पूर्ण विशदता के साथ ज्ञात होते हैं और एक सम्पूर्ण पर्यवेक्षण के रूप में संग्रहीत होते हैं।

४. लीबनीज के मतानुसार कलाकृतिजनित अनुभव के चौथे क्रमतल की दशा का विशेष गुण यह है कि कलाकृति में प्रतीकात्मक प्रदर्शन के साधन से सामान्य सामंजस्य[1] का अनुभव होता है। यदि हम निम्नलिखित बातों का ध्यान रखें तो चौथी क्रमदशा पर कलाकृतिजनित अनुभव का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा :—

(अ) कलाकृति प्रतीक रूप में सामान्य सामंजस्य को प्रकट करती है।

(आ) प्रतीक वह है जो प्रतीक्य वस्तु से उसी प्रकार से सम्बन्धित है जिस प्रकार से वास्तुकलाकारकृत आकृतिरेखा चित्र (projection in perspective) बनी हुई पूरी इमारत से सम्बन्धित होता है।

(इ) लीबनीज़ व्यक्ति रूप तथा सामान्य रूप सामंजस्य को भिन्न-भिन्न मानते हैं। हमें यह ज्ञात है कि (१) व्यक्ति रूप अविभाज्य शक्तिपदार्थों (monads) में ज्ञान के अस्तित्व का स्पष्टीकरण डेकार्ट एवं स्पिनोजा से प्रतिपादित प्रकार से भिन्न रूप में लीबनीज़ ने 'पूर्व स्थापित सामंजस्य' के सिद्धान्त के प्रतिपादन की सहायता से किया था। (२) यदि हम 'पूर्व स्थापित' विशेषण की उपेक्षा कर दें तो व्यक्ति के प्रसंग में सामंजस्य का अर्थ यह होगा कि सूक्ष्म जगद्रूप होने के कारण प्रत्येक अविभाज्य शक्तिपदार्थ में यह शक्ति है कि वह सम्पूर्ण संसार का प्रतिनिरूपण अपने प्रति करे परन्तु अनुक्रमिक श्रृंखला की एक केवल मध्यस्थ कड़ी होने के कारण इसके पास वस्तुतः उसके कुछ अंशों का ही स्पष्ट रूप से प्रतिनिरूपण करने की शक्ति होती है जैसे कि उसके वे अंश जो निकटतम देश में वर्तमान हैं। अतएव व्यक्तिरूप सामंजस्य का अर्थ है एक व्यक्तिरूप अविभाज्य शक्तिपदार्थ में सम्पूर्ण जगत के कुछ अंशों अथवा भागों का सीमित प्रतिनिरूपण।

हम यह भी जानते हैं कि अविभाज्य शक्तिपदार्थों का अविभाज्य शक्तिपदार्थ (monad of monads) होने के कारण ईश्वर पूर्ण है एवं उसकी पूर्ण बुद्धि में सभी वास्तविक अथवा संभावनीय वस्तुओं की प्रकृति सम्पूर्ण स्पष्टता

१. गिल० २२७

के साथ प्रतिनिरूपित होती है। अतएव पूर्ण बुद्धि में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतिनिरूण 'सामान्य सामंजस्य' है। कलाजनित अनुभव की चौथी और अन्तिम क्रमदशा के वर्णन में लीवनीज़ प्लोटाइनस के समान अध्यात्मवादियों के सम्प्रदाय के अनुगामी हो जाते हैं। कलाकृतिजनित अनुभव के इस तल पर सूक्ष्म जगद्रूप अविभाज्य शक्ति पदार्थ विभु हो जाता है, व्यक्ति सामान्य में परिवर्तित हो जाता है, अविभाज्य शक्तिपदार्थ ईश्वरत्व को प्राप्त करता है।

परन्तु दार्शनिक युक्तिवाद के प्रतिनिधि होने के रूप में लीबनीज़ यह मानते हैं कि विज्ञान की अपेक्षा कला कम महत्त्वपूर्ण है। उनके कलाशास्त्रीय सिद्धान्त में वे अंकुर वर्तमान थे जिन्होंने बामगार्टन[1] को 'स्वतन्त्र कलाशास्त्र' की नींव रखने में सक्षम बनाया।

बामगार्टन

उनका महत्त्व

कलाशास्त्र की समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए बामगार्टन (सन् १७१४–१७६२ ई०) का महत्त्व इस बात में है कि पाश्चात्य कलाशास्त्र के इतिहास में उन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया था कि कला का एक स्वतन्त्र महत्त्व है एवं यह घोषणा की थी कि कला की समस्याएँ एक भिन्न विज्ञान का विषय हैं। इस विज्ञान का नामकरण उन्होंने 'एस्थेटिक' किया। इस नाम का प्रयोग आज भी प्रचलित है यद्यपि उसके अर्थ में थोड़ा-सा अन्तर आ गया है। वे यह कहते हैं कि काव्य के प्रकटनीय तत्त्व इस प्रकार के होते हैं कि भाषा में उनको भलीभाँति प्रकट नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार से उन आनन्दवर्धनाचार्य ने जो ध्वन्यर्थ के सिद्धान्त के प्रथम प्रतिपादक थे यह सिद्ध किया था कि उस स्थायी भाव को जो काव्य-कला का केन्द्रीय एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकटनीय विषय है भाषा की अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य शक्तियों से प्रकट नहीं कर सकते।

बामगार्टन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लीबनीज़ एवं वुल्फ़ ने भावावेशों तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का केवल गुणों के आधार पर वर्णन किया था। इन गुणों के कारण ही वे अमूर्त ज्ञप्ति (abstract idea) से भिन्न थे। उपर्युक्त दार्शनिकों में से प्रत्येक

---

१. गिल० २२९

ने अपने मत के अनुसार भावावेशों तथा इन्द्रियबोधों की व्याख्या ज्ञान की अस्फुट क्रिया के रूप में की और इसलिए उनको उन अमूर्त (abstrect) ज्ञप्तियों से भिन्न माना जिनका विशेष गुण स्पष्टता है। एवं वुल्फ ने आत्मा की दो शक्तियों अर्थात् (१) ज्ञान शक्ति एवं (२) एषणा (appetite) शक्ति के आधार पर विज्ञानों[१] का वर्गीकरण व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक (theoretical) वर्गों में किया। तत्त्वविद्या (ontology), सृष्टिनियम मीमांसा, (cosmology) मनोविज्ञान एवं ईश्वरविषयक शास्त्र (theology) उनके मत के अनुसार सैद्धान्तिक विज्ञान हैं। एवं मूलतत्त्वदर्शन, कर्तव्य-मीमांसा शास्त्र (ethics) राजनीति एवं अर्थशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान हैं। परन्तु तर्क शास्त्र सभी विज्ञानों में प्रवेश का साधन है।

बामगार्टन की देन

बामगार्टन एक युक्तिवादी थे। लीबनीज़ प्रतिपादित ज्ञान के वर्गीकरण को उन्होंने मान लिया था और लीबनीज़ की ही भाषा में यह स्वीकार कर लिया था कि कलाकृतिजनित अनुभव एक स्पष्ट परन्तु अस्फुट बोध (clear but confused knowledge) है। बामगार्टन की विशेष देन यह है कि वुल्फ़-कृत सैद्धान्तिक विज्ञानों के वर्ग में उन्होंने एक अन्य विज्ञान को और जोड़ दिया जिसका नामकरण उन्होंने 'एस्थेटिक'[२] किया था। उनके मतानुसार 'एस्थेटिक' का प्रतिपाद्य विषय 'अस्फुट' ज्ञान का अस्फुट स्वरूप है अर्थात् वह ज्ञान है जो मूल भाव (feeling) के रूप में होता है। बोसान्केट की व्याख्या के अनुसार 'ज्ञान के अस्फुटत्व' का बामगार्टनकृत अर्थ यह है कि अस्फुट ज्ञान वह है जिसको भली भाँति शब्दों में प्रकट करना असंभव है। ऐसा ज्ञात होता है कि वे इस अस्फुट ज्ञान को उस स्फुट ज्ञान से भिन्न मानते हैं जिसको भली भाँति हम अभिधामूलक शब्दों में प्रकट कर सकते हैं। वे यह मानते हैं कि रंगों के सामंजस्य में जैसी ज्ञप्ति प्रकटित होती है वैसी अस्फुट ज्ञप्ति का अपना एक स्वीय वर्ग होता है और वह युक्तितत्त्व से भिन्न मूलभाव से संबंधित होता है।

संक्षिप्त रूप में लिखते हुए हम यह कह सकते हैं कि बामगार्टन की कलाशास्त्रीय देनें निम्नलिखित हैं :—

(१) उस बौद्धिक[3] सिद्धान्त को मूलभाव रूप प्रतिभास (phenomena) तक विस्तृत करना जिसका प्रधान प्रतिपाद्य विषय ज्ञान मात्र था।

---

१. थिली० ३८० २. बोसान्० १८३

३. बोसान्० १८२

(२) सौन्दर्यतत्त्व के दर्शन को दर्शनशास्त्र की एक विलग शाखा के रूप में प्रतिष्ठित करना ।

(३) इसका नामकरण ऐसी संज्ञा से करना जिसको सभी परवर्ती शास्त्रकारों ने स्वीकार कर लिया ।

(४) एडीसन, बर्क, हचसन आदि उनके पूर्वकालीन तथा समकालीन शास्त्रकारों ने काव्यगत कुछ स्वतन्त्र तत्त्वों का पता लगाया था,—बामगार्टन ने उन सबका संगठन अवधानपूर्वक विशद रूप में रचे गए मत के रूप में किया ।

काव्य की विषयवस्तु और उसका महत्व अथवा उसकी पूर्णता

बामगार्टन यह मानते हैं कि काव्य की विषयवस्तु एवं उसका महत्त्व शुद्ध बौद्धिक विषयवस्तु एवं महत्त्व से भिन्न हैं । काव्य की विषयवस्तु अथवा उसके महत्त्व अथवा उसकी पूर्णता को तर्कशास्त्र और विज्ञान की विषयवस्तु एवं उसके महत्त्व से भिन्न सिद्ध करने के लिए उन्होंने लीबनीज़ प्रतिपादित स्पष्ट परन्तु अस्फुट ज्ञान एवं स्पष्ट ज्ञान के भेद को स्वीकार किया था। उन्होंने कलाकृतिजनित अनुभव को 'स्पष्ट परन्तु अस्फुट ज्ञान' के स्वरूप का माना था । उनके मत के अनुसार काव्य की विषयवस्तु निम्नलिखित है :—

(१) काव्य की विषयवस्तु व्यक्ति है अथवा वह है जो अकेले दृष्टान्त (single example) के निकटतम है । परन्तु विज्ञान की प्रतिपाद्य वस्तु सामान्य है । काव्य के उचित प्रतिपाद्य तत्त्व विशेषरूप इन्द्रियबोध एवं भावावेग हैं । परन्तु युक्तितत्त्व का उनसे कोई प्रयोजन नहीं है ।

(२) कल्पनाप्रसूत विषय (fiction) (जो वर्तमान अनुभवों के विश्लेषण से उपलब्ध तत्त्वों का सामंजस्यपूर्ण पुनः संगठन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है) काव्य की उत्कृष्ट प्रतिपाद्य वस्तु है । परन्तु युक्तितत्त्व केवल तथ्यों की ही व्याख्या करता है ।

काव्य की पूर्णता के स्वरूप के विषय में उनके मत को निम्न रूप में लिख सकते हैं :—

मलिन प्रतिच्छायाओं के पास संख्या में उतने अंग नहीं होते जितने अंग उनको अन्य प्रतिच्छायाओं से भिन्न करने के लिए आवश्यक हैं । अतएव इस प्रकार की प्रतिच्छायाएँ कविता की पूर्णता में कोई योगदान नहीं देतीं । परन्तु स्पष्ट प्रतिच्छायायें इतने अधिक अंगों से युक्त होती हैं कि उनको सहज रूप से ही अन्य प्रतिच्छायाओं से भिन्न कर सकते हैं । अतएव बामगार्टन का

मत यह है जिस काव्य की प्रतिच्छायाएँ जितना अधिक स्पष्ट है उतना ही अधिक वह पूर्ण हैं। इस प्रकार से ऐसा ज्ञात होता है कि कलाकृतिजनित अनुभव के स्वरूप को अपनी व्याख्या में प्रयुक्त 'स्पष्ट परन्तु अस्फुट ज्ञान' वाक्यांशगत 'स्पष्ट' शब्द के निहितार्थ को बताने की चेष्टा की है। इस (स्पष्ट परन्तु अस्फुट) पद को बामगार्टन ने लीबनीज़ के दर्शनशास्त्र से लिया था। ऐसा ज्ञात होता है कि बामगार्टन यह मानते हैं कि एक काव्य-कृति से जो कलाकृतिजनित अनुभव प्राप्त होता है उसके दो अंश हैं—इन दो अंशों में से एक अंश स्पष्ट है परन्तु दूसरा अंश अस्फुट है। स्पष्टता वस्तुओं की उन प्रतिच्छायाओं में होती है जिनके अङ्गों को इतनी अधिक विशदता में प्रदर्शित करते हैं कि श्रोता अथवा पाठक के मन में तत्स्वरूप स्पष्ट प्रतिच्छायायें उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु ये प्रतिच्छायायें ही किसी भी प्रकार से कवि के प्रातिभ चक्षुओं से साक्षात्कृत का विशदतम प्रकटीकरण नहीं करती हैं। ये प्रतिच्छायायें अभिव्यंजक होती हैं और इसलिए सहृदय को उससे अधिक अनुभव कराती हैं जितना वस्तुतः शब्दों में प्रकट किया गया है। और क्योंकि यह अभिव्यंजित तत्त्व स्पष्ट विचार की भूमि तक नहीं आता वरन् मूलभाव (feeling) का ही विषय होता है, अतएव काव्य का यह अंश 'अस्फुट' धूमिल अथवा दुर्बोध होता है। अतएव काव्य के अभिव्यंजित अथवा संवेदना रूप में अनुभूत (felt) अंश में दुर्बोधता अथवा अस्फुटता होती है। हम इस विषय की विशदतर व्याख्या एक अन्य शीर्षक के अन्तर्गत शीघ्र ही करेंगे।

अनुकृति के रूप में कला

लीबनीज़ यह मानते थे कि हमारा संसार सर्वाधिक पूर्ण है। बामगार्टन ने उनका यह मत स्वीकार कर लिया था और यह माना था कि वह प्रकृति अर्थात् संसार जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से गम्य है कला का उपमान है क्योंकि प्रकृति के पास उन रूपों की सर्वाधिक विविधतायें हैं जिनको सामंजस्यपूर्ण संगठन में संगठित कर सकते हैं। अतएव उनके मतानुसार आदर्शरूप प्रकृतिलोक अर्थात् इन्द्रियबोध्य जगत का स्पर्धापूर्ण, समानतापूर्ण एवं प्रतिस्पर्धापूर्ण चित्रण अनुकृति है। यह इन्द्रियबोध्य जगत का केवल प्रतिचित्रण (copying) मात्र नहीं है वरन् किसी सर्वांगीण चित्रणीय वस्तु के उन अंशों का परिहार है जो उससे असामंजस्यपूर्ण हैं, उसके अंग-प्रत्यंगों का सविस्तर और विशदतापूर्ण चित्रण, विशाल स्पष्टता एवं इन्द्रियबोध्य उन अंशों का सम्मेलन जो उसमें

वर्तमान नहीं हैं, अनुकृति है। उनके मतानुसार प्रकृति का इस प्रकार का अनुकरण कला का नियम है।

उनका अनुकरण का सिद्धान्त प्लेटो के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि प्लेटो इन्द्रियबोध्य जगत को यथार्थ ज्ञप्तियों के लोक का केवल एक प्रतिबिम्बमात्र, एक अपूर्ण प्रतिकृतिमात्र, मानते थे परन्तु बामगार्टन लीबनीज़ के मत का अनुसरण करते हुए इस इन्द्रियबोध्य जगत को स्वयं पूर्ण मानते हैं।

काव्य के तात्त्विक स्वरूप के विषय में उनका अभिमत

बामगार्टन के मतानुसार 'काव्य इन्द्रियबोध्य का एक पूर्ण वर्णन है'। वे यह घोषित करते हैं कि काव्य से सम्बन्धित सामग्री एक स्वतन्त्र विज्ञान का विषय है। वे काव्य को स्पष्ट विचार का एक साधन मानते हैं। काव्य में वर्णित इन्द्रियानुभवों, कल्पनाओं, कल्पित कथाओं एवं भावावेशों की गतियों की धूमिल परन्तु स्फुट प्रतिच्छायाओं को वे अज्ञानमय अंधकार से स्पष्ट विचार के लोक तक पहुँचाने के लिए एक सुन्दर मार्ग का प्रदाता मानते हैं। वे काव्य को एक विशिष्ट व्यवस्था एवं पूर्णता से युक्त स्वीकार करते हैं एवं यह मानते हैं कि एक स्वतन्त्र शास्त्र उसकी व्याख्या करने के लिये आवश्यक है।

काव्य में पूर्णता

काव्य की पूर्णता अथवा उसका नैसर्गिक महत्त्व वस्तुओं की तर्कशास्त्रीय परिभाषा देने में न होकर उस वर्णन की विशद पूर्णता में होती है जो उन ज्ञप्तियों के दृत प्रवाह को उत्पन्न करता है जिनको मस्तिष्क बिना किसी सचेतन चेष्टा के सामंजस्यपूर्ण एक सम्पूर्ण वस्तु के रूप में संगठित कर सकता है। एक कविता जितना ही अधिक पूर्ण होती है उतना ही अधिक वह एक पूर्ण व्यक्ति के अंग-प्रत्यंगों की विविधता को इस प्रकार से प्रकट करती है कि बुद्धि उनका बोध एक ही बोधक्रिया से कर लेती है।

काव्य की पूर्णता व्यवस्था के कुछ ऐसे प्रकारों पर भी निर्भर होती है जो तर्कशास्त्रीय सम्बन्ध न होकर उनसे समानान्तर होते हैं जैसे कि (१) प्रतिज्ञा का निर्णय से सम्बन्ध (२) समानता का संबंध एवं (३) ऐतिहासिक संबंध। तार्किक व्यवस्था तथा काव्यात्मक व्यवस्था में भेद यह है काव्यात्मक व्यवस्था युक्तितत्त्व के पंजों से मुक्त होती है। वह काव्य जो वर्णित युक्तिश्रृंखला, दो वस्तुओं की समानता एवं ऐतिहासिक सम्बन्ध को बौद्धिक ज्ञान के रूप में नहीं वरन् मूलभाव के रूप में अनुभूत कराता है, उत्कृष्ट है।

यदि एक कविता उन दो वस्तुओं की समानता को जिनका उल्लेख उसमें किया गया है उनके आंगिक विश्लेषण (analysis) द्वारा नहीं वरन् उपमा के सहारे इस प्रकार से प्रकट करती है कि बिना युक्तितत्त्व की सहायता के तुरन्त उसका बोध हो जाता है तो वह उत्कृष्ट काव्य है। यदि एक कविता ऐतिहासिक सम्बन्धों को इस प्रकार से प्रकट करती है कि एक सम्पूर्णता के रूप में युक्तितत्त्व की संयोजनकारी क्रिया के बिना उसका तुरन्त बोध हो जाता है तो ऐसी कविता उत्कृष्ट है। भावावेग के मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक अंशों को उचित क्रम में प्रकट करने से भी एक कविता में पूर्णता आती है।

काव्य का लोक मूलभाव (feeling) का लोक है। यह उस विज्ञान के लोक से भिन्न है जिसका लोक युक्तितत्त्व (reason) का लोक है। काव्य मूल-भाव से उत्पन्न होकर मूलभाव को मुग्ध करता है परन्तु विज्ञान युक्तितत्त्व से उद्भूत होकर उसी को सन्तुष्ट करता है।

सौन्दर्य तथा सत्य

बामगार्टन के मतानुसार सौन्दर्य 'संवेदना के रूप में अनुभूत (felt) पूर्णता' है। सौन्दर्य तथा सत्य का भेद शुद्ध रूप में प्रमातृनिष्ठ है। यथार्थ वस्तु के एक ही गुण (पूर्णता) को सत्य अथवा सौन्दर्य इस आधार पर कहते हैं कि उसका बोध युक्तितत्त्व (reason) से किया गया है अथवा संवेदना (feeling) से किया गया है। इस प्रसंग में 'पूर्णता' का जो तात्त्विक स्वरूप बामगार्टन ने माना है उसका कारण उन बुल्फ का अनुगमन है जो यह मानते हैं कि 'पूर्णता' का अर्थ सम्पूर्ण (whole) का अंशों से तार्किक सम्बन्ध अथवा अनेकता में एकता (unity in multiplecity) है। अतएव उनके मतानुसार अंगों के परस्पर तथा सम्पूर्णता से सामंजस्य की अनुभूति के अतिरिक्त सौन्दर्य और कुछ नहीं है। इसके अनुसार कुरूपता वह है जिसमें सामञ्जस्य की यह संवेदना वर्तमान नहीं है।

बामगार्टन ने सौन्दर्य के विषय में यह कहा है कि यह संवेदनाप्राप्त पूर्णता का बोध (felt perfection) है। यह इन्द्रियकृत सराहनाजन्य (sensitive appreciation) पूर्णता का बोध नहीं है। क्योंकि जिस दार्शनिक परम्परा का वे अनुगमन करते हैं उसके अनुसार स्वतन्त्रकलाशास्त्र (Æsthetics) का प्रतिपाद्य विषय संवेदनानुभूत वस्तु है और प्रमाता एवं प्रमेय का भेद मूलतत्त्व दर्शन का विषय है। वह कलाशास्त्र का विषय नहीं है।

अध्याय १०

कान्ट का लोकोत्तरीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र

कान्ट का महत्त्व

स्वतन्त्रकलाशास्त्र के तुलनात्मक दृष्टिकोण से कान्ट (सन् १७२४–१८०४ ई०) का महत्त्व इसलिए है क्योंकि वे यह मानते हैं कि (१) सौन्दर्यानुभव अपने प्रमातृ पक्ष में स्वार्थशून्य एवं व्यक्तित्व से स्वतन्त्र होता है तथा अपने प्रमेय पक्ष में भूततत्त्व के साथ सम्बन्ध से मुक्त होता है (२) इसमें कल्पना एवं बोध शक्ति अनुभवप्राग्भावी (a priori) एवं लौकिक (empirical) सामान्य प्रत्यय (concept) से मुक्त होते हैं (३) यह सौन्दर्यानुभव प्रमातृनिष्ठ प्रयोजनशील (subjectively purposive) होता है, इसका अर्थ यह हुआ कि वह प्रयोजन जिसको हम कलात्मक क्रिया का कारण परिकल्पित (assume) करते हैं उस मूलभाव (संवेदना) से सम्बन्धित है जो आत्मनिष्ठ (subjective) है परन्तु उन सबसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं जो विषयनिष्ठ (objective) हैं। एवं (४) यह सौन्दर्यानुभव सार्वजनिक रूप में सप्रमाण (universally valid) है। प्रगतिशक्तिशाली भव्यता (dynamically sublime) के प्रसङ्ग में वे निश्चित रूप से यह स्वीकार करते हैं कि प्रकृतिगत एक वह वस्तु जिसको भय का स्रोत मानते हैं भव्यता का माध्यम (medium) मात्र ही है। क्योंकि भारतीय कलाशास्त्र के भट्टनायक से परवर्ती प्रतिपादकों ने यह माना था कि रसानुभव में प्रमाता एवं प्रमेय (सहृदय तथा प्रदर्शन) दोनों का निर्व्यक्तीकरण अर्थात् साधारणीकरण होता है। भरत मुनि से लेकर सभी परवर्ती कलाशास्त्र के प्रतिपादकों ने यह स्वीकार किया था कि कलाकार का प्रयोजन उस रसानुभव को उत्पन्न करना है जो वस्तुतः आत्मनिष्ठ है। एवं अभिनवगुप्त ने यह स्पष्ट किया था कि कलाकृति रसानुभव का माध्यम मात्र है। कान्ट ने कलाशास्त्र की समस्या का समाधान दो दृष्टिकोणों से किया है और तीसरे दृष्टिकोण की उन्होंने उपेक्षा की है अर्थात् अभिनेता के दृष्टिकोण से उन्होंने कला की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा नहीं की है, क्योंकि विशेष रूप से उन्होंने नाट्यकला पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं किया है। भरतमुनि तथा उनके टीकाकारों ने कला की समस्याओं का समाधान

तीनों दृष्टिकोणों से अर्थात् नाटककार, अभिनेता एवं दर्शक के दृष्टिकोणों से किया है।

कान्ट यह मानते हैं कि कलाकृति के रचयिता कलाकार का और उसका आस्वादन करने वाले सहृदय का अनुभव समरूप होते हैं। स्वतन्त्रकलाकृतियों को उत्पन्न करने के लिए वे प्रतिभाशक्ति को अपने में पर्याप्त मानते हैं फिर भी ज्ञप्तियों को समुचित रूप प्रदान करने के लिए वे काव्य रचना के नियमों के ज्ञान को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दोनों बातों के विषय में भरत मुनि से उनकी सहमति है। कान्ट भी काव्य की आत्मा की बात उठाते हैं और यह मानते हैं कि काव्य की यह आत्मा 'कलात्मक ज्ञप्ति' (æsthetic idea) है जिसको केवल प्रतिभाशक्ति ही प्रदान कर सकती है। यह (काव्य) उस स्वतन्त्र कल्पना का प्रतिनिरूपण (representation) है जो अनिश्चित रूप परन्तु संख्या में इतने अधिक विचारों को उत्पन्न करती है जिनका किसी भी निश्चित स्वरूप सामान्य प्रत्यय (definite concept) में ग्रहण सम्भव नहीं है। इस प्रसङ्ग में वे किसी ऐसे तत्त्व की चर्चा करते हैं जो बहुत अंशों में आनन्दवर्धनाचार्य से प्रतिपादित 'ध्वनि' के समान है। निम्नलिखित दो कथनों की तुलना कीजिये :—

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तम् विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु। (ध्वन्यालोक १–४)

(वह अंश जो ललनाओं में उनके प्रसिद्ध अङ्गों के अतिरिक्त लावण्य के समान सहृदयों में प्रतिभासित होता है।)

एवं

'एक कविता अत्यन्त स्वच्छ तथा रमणीय होने पर भी आत्मा से शून्य हो सकती है—एक नारी के विषय में भी हम यह कह सकते हैं कि वह सुन्दरतापूर्ण है, उसका संलाप रुचिर है—और उसका स्वभाव मृदु है फिर भी वह आत्मा से रहित है। ऐसी दशा में आत्मा (spirit) से हमारा तात्पर्य क्या है ?

कान्ट का लोकोत्तरवाद (transcendentalism) एवं उनका स्वतन्त्रकलाशास्त्र

कान्ट का दार्शनिक मत लोकोत्तरवादी है। उन्होंने तीन प्रकारों के अनुभवों अर्थात् १. सैद्धान्तिक (theoretical), २. व्यवहारिक एवं ३. सौन्दर्य अथवा कलासम्बन्धी की व्याख्या क्रमशः अपने तीन ग्रन्थों अर्थात्

क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न, क्रिटिक ऑफ़ प्रेक्टिकल रीज़न तथा क्रिटिक ऑफ़ जज़मेण्ट में की है। अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की चिन्तनाओं से उनकी अग्रगामिता इस बात में थी कि उन्होंने उपर्युक्त तीन विभिन्न प्रकार के अनुभवों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक मानसिक शक्तियों या अंशों में विद्यमान अनुभवप्राग्भावी तत्त्वों (a priori principles) (जो साँचों के समान होते हैं जिनमें इन्द्रिय अथवा बुद्धि से गृहीत अनुभूतियाँ ढलती हैं) को प्रदर्शित किया था। जिस प्रकार से इन्द्रिय शक्ति (sensibility) में विद्यमान अनुभवप्राग्भावी तत्त्व देश तथा काल हैं; सैद्धान्तिक ज्ञान को उत्पन्न करने वाली बुद्धिशक्ति (understanding) में विद्यमान अनुभवप्राग्भावी तत्त्व पदार्थ (categories) गुण आदि हैं; और व्यावहारिक अथवा कर्तव्यमीमांसाशास्त्रीय अनुभव की उत्पादिका इच्छा शक्ति में वर्तमान अनुभवप्राग्भावी तत्त्व स्वतंत्रता है उसी प्रकार से 'प्रयोजनशून्य प्रयोजन' (purposiveness without purpose) उस सौन्दर्यविषयक निर्णय शक्ति (judgement of taste) में वर्तमान अनुभवप्राग्भावी तत्त्व है जो कल्पना की स्वतन्त्र नियमानुकूलता (imagination's free conformity to law) के आधार पर वस्तु का निर्णय करती है और जो प्रमुख रूप से सौन्दर्यानुभव का कारण है। कान्ट के मतानुसार जिस दार्शनिक मत का प्रतिपाद्य विषय अनुभव प्राग्भावी तत्त्व है वह लोकोत्तर (अ १२) है और जिस समय वे सौन्दर्यतत्त्वविषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं तो उनका ध्यान इसी कोटि के तत्त्वों पर लगा रहता है। अतएव इन पृष्ठों पर उनके कलासम्बन्धी एवं कलाकृतिजनितअनुभवसंबंधी सिद्धान्त को हमने लोकोत्तरवादी स्वतन्त्रकलाशास्त्र कहा है। यह तो स्वतः स्पष्ट है कि इन्द्रियशक्ति में विद्यमान सभी अनुभवप्राग्भावी तत्त्वों के विज्ञान को कान्ट ने लोकोत्तरपरक बोध (transcendental æsthetic) कहा है।

यह तथ्य कि 'क्रिटीक ऑफ जज़मेन्ट' नामक अपने ग्रन्थ में कान्ट का प्रतिपाद्य अनुभवप्राग्भावी तत्त्व हैं स्पष्ट हो जाता है यदि हमको यह याद रहे कि 'क्रिटीक ऑफ जज़मेन्ट' की प्रस्तावना में स्वयं उन्होंने यह लिखा है कि ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर हैं:—

१—क्या इस सौन्दर्यविषयक निर्णयशक्ति के पास अपने लिए अनुभव-प्राग्भावी तत्त्व हैं?

२— क्या ये तत्त्व विधायक (constitutive) हैं अथवा केवल नियामक मात्र हैं?

३—क्या सुख और दुःख[1] के मूलभावों के अनुभवप्राग्भावी नियम दे प्रदान करते हैं ?

कान्ट का ज्ञानमीमांसा सिद्धान्त एवं स्वतन्त्रकलाशास्त्र

कान्ट के मतानुसार कलाकृतिजनित अनुभव स्वतन्त्र कल्पना[2] एवं उस स्वतन्त्र बुद्धिशक्ति (understanding) के उस पारस्परिक सामंजस्य का अनुभव है जो इन्द्रियमात्रबोध्य प्रत्यक्ष[3] (intuition) के विषय के रूप के अवबोध (apprehension) मात्र से संबन्धित है । यह अनुभव शुद्ध रूप से आत्म-निष्ठ होता है । यह सुखदायक (pleasant) एवं कल्याणकारी (good) के अनुभव से भिन्न है । यह स्वार्थनिरपेक्ष है । यह सार्वजनिक रूप में प्रामाणिक है (universally valid) साधारण सविकल्प इन्द्रिय बोधात्मक अनुभव (determinate empirical experience) से भिन्न कलाकृतिजनित अनुभव के स्वरूप अथवा प्रकृति को स्पष्टतया समझने के लिए यह आवश्यक है कि 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न' में प्रतिपादित कान्ट के ज्ञानमीमांसा सिद्धान्त को स्पष्टतया समझ लें । क्योंकि कलाकृतिजनित अनुभव का निरूपण करने में जिस रचनाप्रणाली (technique) को उन्होंने अपनाया है वह उस रचना-प्रणाली का संशोधित रूप है जिसका उपयोग उन्होंने सविकल्प इन्द्रियबोधात्मक अनुभव की व्याख्या करने में किया है ।

'क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न' की समाधानीय समस्या

क्रिटीक आफ प्योर रीजन नामक सम्पूर्ण ग्रन्थ की प्रधान समस्या यह है—बिना सभी बाह्य अनुभवों के बोधशक्ति एवं युक्तिशक्ति क्या और कितना जान सकती हैं ? (मैक्स मू० २३) इस मूल समस्या का समाधान करने के लिए कान्ट ने मानवीय ज्ञान का विश्लेषण उसके अंशों में किया और यह स्पष्ट किया कि (१) ज्ञान की सम्भावना के लिए आवश्यक मूल पूर्वमान्यताएँ (presuppositions) क्या हैं ? (२) वे कौन से तत्त्व हैं जो ज्ञेयरूप में प्रदत्त हैं । (३) इसको (ज्ञान को) मनुष्य के मन के प्राकृतिक स्वभाव से कितना योगदान मिलता है ? एवं (४) ज्ञान की उत्पत्ति में कौनसी विविध प्रक्रियायें आवश्यक हैं ?

---

१. वर०—२ २. कास०—१४०

३. वर० ३०-१

कान्ट की पूर्वमान्यताएँ (Assumptions)

कान्ट की पूर्वमान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) मानवीय ज्ञान[1] की आश्रय भूमि वह सामग्री है जो ज्ञेय रूप में प्रदत्त है अर्थात् यह मानवीय ज्ञान अपनी ज्ञेय वस्तु का उत्पादक कभी नहीं होता।

(२) मानवीय ज्ञान की ज्ञेय वस्तुएँ प्रतिभास (phenomenon) मात्र हैं परन्तु वस्तुओं के स्वस्वरूप (things-in-themselves) हमको पूर्णतया अज्ञात रहते हैं अर्थात वस्तुओं के प्रतिभास और उनके स्वस्वरूप परस्पर भिन्न होते हैं। एवं (३) विभिन्न व्यक्तिरूप ज्ञाता मनों[2] (knowing minds) का अस्तित्व है।

सौन्दर्य ज्ञान (æsthetic) एवं इन्द्रियसाध्य (sensible) बोध

मानवीय ज्ञान का उसके अंशों में जो विश्लेषण कान्ट ने किया है उससे यह प्रकट होता है कि यह मानवीय ज्ञान दो स्रोतों[3] से उद्भूत होता है (१) इन्द्रियशक्ति (sensibility) एवं (२) बुद्धिशक्ति (understanding)। प्रथम बोधस्रोत उसका ग्रहण करता है जो उसको बाहर से प्राप्त होता है। बहिर्भूत वस्तु से यह किसी एक रूप में प्रभावित होता है। बहिर्भूत वस्तु का इसमें प्रतिनिरूपण होता है। बहिर्भूत वस्तु इस ज्ञान में अपने वास्तविक रूप में प्रतिनिरूपित नहीं होती वरन् दशाओं से परिवर्तित होकर उन रूपों में प्रतिनिरूपित होती है जिन रूपों में इन्द्रियग्राह्य प्रत्येक ज्ञेय वस्तु को आवश्यक रूप में प्रकट होना चाहिए।

इन्द्रियशक्ति निश्चेष्ट (passive) है। बाह्य जगत से ज्ञेय रूप में जो इसके पास आता है उस पर यह कोई प्रतिक्रिया नहीं करती। वरन् यह एक ऐसे दर्पण की भाँति है जो यथार्थ प्रतिबिम्ब प्रदान नहीं करता वरन् इसमें जो कोई भी वस्तु प्रतिबिंबित होती है वह विकृत (distorted) दिखाई देती है। यह सूर्य की उन किरणों के समान है जो अन्तरिक्ष में वर्तमान जल की बून्दों को हमारी दृष्टि के सामने इन्द्रधनुष के रूप में प्रकट करतीं हैं।

स्वतन्त्रकलाशास्त्र सामान्य रूप से इन्द्रियशक्ति (sensibility) के नियमों को प्रतिपादित करने वाला विज्ञान है। ठीक जिस प्रकार के तर्कशास्त्र

१. कास० ३ २. पेट० भाग १–७१ ३. मैक्स मू० ४०–१

बुद्धिशक्ति (understanding) के नियमों का प्रतिपादक विज्ञान है। इस प्रकार से ऐसा ज्ञात होता है कि कान्ट ने बामगार्टन के सौन्दर्यतत्वशास्त्रविषयक मत को कुछ अंशों में स्वीकार कर लिया था क्योंकि कान्ट यह स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र इन्द्रियसाध्य ज्ञान का विज्ञान है अर्थात् उस ज्ञान का विज्ञान है जिसकी उत्पत्ति इन्द्रियशक्ति से होती है। परन्तु वे बामगार्टन के इस मत का कि इन्द्रियसाध्य बोध [1]अस्फुटरूप होता है और इसलिए उन लीबनीज़ एवं वुल्फ के मत का खण्डन करते हैं जिसके आधार पर बामगार्टन ने अपने मत का प्रतिपादन किया था।

इन्द्रियजन्य ज्ञान का मूल स्वभाव

इन्द्रियजनित ज्ञान इन्द्रियबोध्य साक्षात्कारात्मक (intuitive) ज्ञान है। यह अपनी ज्ञेय वस्तु से अव्यवहित रूप से सम्बन्धित होता है। यह सभी विचारों को विषयवस्तु प्रदान करता है। यह बहिर्भूत वस्तु से उत्पन्न किया गया मन पर पड़ा हुआ प्रभाव स्वरूप है। यह तभी प्रकट अथवा घटित होता है जब बहिर्भूत वस्तुएँ ज्ञेय रूप में प्रदत्त होती हैं। यह बोध आवश्यक रूप से इन्द्रियशक्ति के अनुभवप्राग्भावी [2]तत्वों (साँचों) (a priori forms of sensibility) अर्थात् देशकाल के अनुकूल होता है। यह वस्तु के स्वरूप को प्रकट नहीं करता। वरन् इससे हमको उसका आभास (appearance) ही ज्ञात होता है। देश और काल की व्यवस्थानुसार व्यवस्थित इसमें अनेक इन्द्रियबोध्य वर्तमान होते हैं। यह ज्ञान का वह रूप है जो इस पर बुद्धिशक्ति की प्रतिक्रिया के पूर्व होता है। यह ज्ञान का वह रूप है जिसके अंशों को बुद्धिशक्ति के किसी पदार्थ (category) के अनुसार व्यवस्थित नहीं किया गया है। यह एक व्यक्तिरूप ज्ञप्ति है और एक सामान्य रूप ज्ञप्ति[3] के तात्विक स्वरूप का यह विरोधी है। इसमें ऐसे कोई तत्व नहीं हैं जिनको अन्य ज्ञप्तियों में सामान्य रूप से वर्तमान माना जा सके।

ऐन्द्रिय निर्विकल्प बोध एवं प्रतिभास

जैसा कि हम गत उपप्रकरण में कह आये हैं एक निर्विकल्प प्रत्यक्ष (intuitive knowledge) अथवा इन्द्रियबोध की अपरिभाषित ज्ञेय वस्तु एक प्रतिभास[4] (phenomenon) है। प्रतिभास के दो अंश हैं (अ) भूततत्व

१. मैक्स मू० ३४—६ २. कास०—४
३. पेट० भाग० १—९४ ४. मैक्स मू०—१६

एवं (आ) रूपतत्त्व। उसका इन्द्रियबोध्य अंश उसका भूतांश है और उसके अनेक भूततत्त्व सम्बन्धी अंशों को किसी एक व्यवस्था में व्यवस्थित रूप में दिखाने वाला अंश उसका रूपांश (form) है। अतएव निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रतिभास का प्रतिनिरूपण मात्र ही है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में हम जिन वस्तुओं का साक्षात्कार करते हैं वे स्वयं में वैसी नहीं होतीं जैसी हमको दिखाई देतीं हैं और न तो उनके सम्बन्ध अपने में ऐसे होते हैं जैसे कि वे हमको दृष्टिगोचर होते हैं। यदि[1] हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष में से प्रमाता को निकाल दें तो केवल उसके सभी गुण ही नहीं अर्थात् देशकाल में वस्तुओं के सम्बन्ध मात्र ही नहीं वरन् स्वयं देश तथा काल भी नष्ट हो जाएँ। क्योंकि उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व स्वयं में न होकर केवल प्रमाता में ही है।

प्रतिभास एवं उनका आधार

कान्ट यह मानते हैं कि जैसे वह व्यक्ति जिसकी आँखों पर सर्वदा के लिए अडिग रूप से नीले रङ्ग का चश्मा लगा दिया गया है, दृष्टिगोचर वस्तुओं के वास्तविक एवं सच्चे रङ्गों को नहीं देख सकता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का वास्तविक रंग कुछ भी हो वह उसको नीले रङ्ग की दिखाई देती है उसी प्रकार से मनुष्य स्वस्वरूपस्थ वस्तु (thing-in-itself) को अर्थात् वस्तु स्वयं में क्या है इसको नहीं जान सकता है। इसका कारण यह है कि देश तथा काल दो सामान्य एवं आवश्यक ऐसी दशाएँ हैं जिनके बिना कोई भी ज्ञान सम्भव नहीं है और इसलिए मनुष्य की बोधशक्ति किसी भी ज्ञेय वस्तु को उस रूप में नहीं जान सकती है जो उपर्युक्त सभी प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की दशाओं से स्वतन्त्र है। कान्ट को इस विषय में कोई शङ्का नहीं है कि अव्यवहित (immediate) ज्ञेय वस्तु, प्रतिभास अथवा प्रत्यक्षणीय बहिर्भूत वस्तु के परे भी कुछ है। केवल यही तथ्य कि आभास का अस्तित्व है यह सिद्ध कर देता है कि एक यथार्थ (reality) है जो आभासित होता है। यही तथ्य कि एक व्यक्ति आँखों पर से कभी न हटने वाले नीले रङ्ग के चश्मे से कुछ देखता है इस बात को प्रमाणित करता है कि कोई न कोई बोध्य वस्तु है, उसका रङ्ग चाहे कुछ भी हो। यद्यपि एक वस्तु के रङ्ग के विषय में भ्रम हो सकता है फिर भी उसके अस्तित्व के बारे में कोई भ्रम नहीं हो सकता।

इस विषय में कान्ट की युक्ति हेत्वाभासपूर्ण हो सकती है, उनके इस

१. मैक्स मू०—३४

सिद्धान्त में असङ्गति दोष हो सकता है परन्तु वे दृढ़ रूप से इस सिद्धान्त पर आरूढ़ रहते हैं। कान्ट को इस विषय में कोई शङ्का नहीं है कि इन्द्रियबोध्य संसार यथार्थ संसार नहीं है अर्थात् यह स्वस्वरूपस्थ वस्तुओं का संसार नहीं है। यह प्रतिभास अथवा आभास मात्र है। उनको इस विषय में भी कोई शङ्का नहीं है कि वस्तुओं के प्रत्यक्षणीय रूपों के परे स्वस्वरूपस्थ वस्तुओं (things-in-themselves) का जगत् अथवा प्रतिभासाश्रय लोक (noumena) का अस्तित्व है।

कान्ट विज्ञानवादी नहीं हैं

'निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय आभास है' इस पूर्व प्रतिपादित मत का अर्थ यह नहीं है कि कान्ट 'विज्ञानवादी' (subjectivist) हैं, कि वे यह मानते हैं कि व्यक्ति का अन्तःकरण आत्म-सीमित (self-confined) है, कि प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी का ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो उसके अन्तःकरण में है और यह कि सर्वसामान्य प्रमेयरूप किसी संसार का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि इस प्रकार का मत यदि मान लें तो एक ही वस्तु में अनेक व्यक्तियों का सहयोग असम्भव हो जावेगा। विज्ञानवादी यह मानते हैं कि व्यक्ति—अन्तःकरण (individual mind) के बाहर किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है और इसलिए किसी सर्वसामान्य संसार का अस्तित्व नहीं। ऐसी दशा में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि किसी भी ऐसी वस्तु का अस्तित्व हो जिसके प्रति अनेक व्यक्तियों की क्रियायें प्रवृत्त हो सकें।

अतएव कान्ट यह मानते हैं कि हमारा ज्ञेय जगत दिक्व्यापी है, देश (space) को भरता है, कुछ समय स्थायी रहता है, कार्यकारणता के नियम के अनुसार परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए नित्य द्रव्यों से इस जगत की रचना हुई है, यह समस्त मनुष्यों का सामान्य ज्ञेय है एवं वैज्ञानिक निरीक्षण का विषय है। वे व्यक्ति के बोधों में वर्तमान एवं बहिर्निष्ठ घटनाओं में वर्तमान कालक्रमों में भेद मानते हैं। अतएव वे यह मानते हैं कि यद्यपि बाह्य समस्त जगत का केवल एक अंश ही हमारी इन्द्रियों को एक समय में उत्प्रेरित करता है फिर भी इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि बाह्य समस्त जगत का अस्तित्व नहीं है। यद्यपि हम केवल पृष्ठ के उसी मुख भाग को देख सकते हैं जिसको हम पढ़ रहे हैं परन्तु इसका माने यह तो नहीं हो सकता कि उस पृष्ठ के दूसरी ओर पृष्ठ का अस्तित्व है ही नहीं।

कान्ट अपने समकालीन उन वैज्ञानिकों की उपलब्धियों को स्वीकार करते

हैं जो गुणों को दो प्रकार का मानते हैं। १. प्रमुख एवं २. अप्रमुख। कान्ट के पूर्व लॉक ने यह भेद प्रतिपादित किया था। इसके साथ-साथ वे लॉक के मत के खण्डन के औचित्य को भी स्वीकार करते हैं। कान्ट का मत यह है कि प्रमुख तथा अप्रमुख दोनों प्रकार के गुणों का सम्बन्ध आभास मात्र से है—स्वस्वरूपस्थ वस्तुओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु कान्ट न तो वर्कले के ज्ञप्तिवाद को मानते हैं, न ह्यूम के युक्तिअनास्थावाद को स्वीकार करते हैं और न विषयभूत संसार के विषय में लोकप्रसिद्ध मत को ही स्वीकार करते हैं कि यह स्वस्वरूपस्थ वस्तुओं (things-in-themselves) अर्थात् उन वस्तुओं से रचित है जिनके रूप को मनुष्य के मस्तिष्क ने किसी भी प्रकार से परिवर्तित नहीं किया है।

कान्ट के[1] अन्तिम स्वीकृत मत को निम्न प्रकार से कह सकते हैं :—

(१) अप्रधान गुण : ये गुण हमारी वैयक्तिक इन्द्रियों एवं नियत देश में हमारी स्थिति पर निर्भर हैं। ये गुण आत्मनिष्ठ हैं।

(२) प्रधान गुण : ये गुण वस्तुनिष्ठ हैं और सभी व्यक्तियों के लिए सामान्य हैं। परन्तु वे भी मानवीय मस्तिष्क की सामान्य रचना (गठन) पर निर्भर हैं यद्यपि व्यक्ति के मस्तिष्क की विशिष्ट रचना पर वे अवलम्बित नहीं है। वे प्रत्यक्षगत वे आकार, रूप एवं गति नहीं हैं जो हमारी विविध बोध-इन्द्रियों एवं देश में हमारी विविध स्थितियों के अनुसार विभिन्न होते हैं। वैज्ञानिक मापों से इन गुणों को निर्धारित कर सकते हैं और सभी व्यक्तियों के लिए ये एक समान हैं।

(३) स्वस्वरूपस्थ वस्तु : यह मानवीय मस्तिष्क से पूर्णतया स्वतन्त्र है। मानवीय मस्तिष्क वस्तु के स्वस्वरूप को जान नहीं सकता है। क्योंकि सभी मानवीय ज्ञान दशापरक हैं। जो दशामुक्त (unconditioned) है वह स्वस्वरूप में कभी भी मानवीय ज्ञान में प्रवेश नहीं कर सकता है। परन्तु कान्ट के स्वस्वरूपस्थ वस्तु पर विश्वास करने का कारण यह है कि वे बोध और चिन्तना (knowing and thinking) में एक विभाग रेखा खींचते हैं और यह मानते हैं कि यद्यपि हमको 'स्वस्वरूपस्थ वस्तु' का बोध नहीं हो सकता है परन्तु हम उसके विषय में विचार कर सकते हैं। यह वह नहीं है जो अनुभव में प्रदत्त है। यह केवल एक तर्कशास्त्रीय परिकल्पना (postulate) मात्र है।

---

१. पेट० भाग १—६०

इन्द्रियबोध्य साक्षात्कार के दो भेद

कान्ट के मतानुसार इन्द्रियबोध्य साक्षात्कार (intuition) दो प्रकार का है १ अनुभव सम्बन्धी एवं २ शुद्ध। अनुभव सम्बन्धी इन्द्रियबोध्य साक्षात्कार की उत्पत्ति के लिये निम्नलिखित दशाएँ आवश्यक हैं :—

१. उन नित्य द्रव्यों का विषयरूप जगत जो कार्यकारण नियम के अनुसार एक दूसरे के प्रति क्रिया से परस्पर सम्बन्धित हैं। यह संसार अपने में यथार्थ का अर्थात् स्वस्वरूपस्थ वस्तु का आभास मात्र है।

२. इन्द्रियशक्ति जिसके अन्तर्गत वे दोनों प्रकारों की इन्द्रियाँ अर्थात् बाह्य एवं आन्तरिक इन्द्रियाँ हैं जिनके साथ उनके निज-निज देश और काल स्वरूप अनुभवप्राग्भावी रूप वर्तमान हैं।

३. स्वात्म-परामर्शस्वरूप एकत्व (unity of apperception) इसका वर्णन हम आगामी उपप्रकरण में करेंगे। मनोवैज्ञानिक विधि से नहीं वरन् तार्किक विधि से जो घटित होता है उसको निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं :—

बाहरी वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार से उद्भूत प्रतिनिरूपणों को बाह्य इन्द्रिय के अनुभव प्राग्भावी (a priori) रूप के अनुसार व्यवस्थित किया जाता है। इन प्रतिनिरूपणों को आन्तरिक इन्द्रिय ग्रहण करती है और अपने अनुभवप्राग्भावी रूप से उनको प्रभावित करती है एवं इस प्रकार से वे काल के अनुक्रम में व्यवस्थित किये जाते हैं। इस प्रकार से जब बोध्यवस्तु देशकाल के अनुक्रमों में व्यवस्थित हो जाती है एवं उसका सम्बन्ध स्वात्म-परामर्शस्वरूप एकत्व (unity of apperception) के साथ स्थापित हो जाता है तो लौकिक (empirical) इन्द्रियबोध्य साक्षात्कार अथवा निर्विकल्प प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है।

शुद्ध इन्द्रिय बोध्य साक्षात्कार[1] का ज्ञेय इन्द्रियशक्ति के अनुभवप्राग्भावी रूप मात्र ही हैं। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इन्द्रियबोध्य साक्षात्कार के दो अंश होते हैं। १ भूततत्त्व एवं २ रूपतत्त्व। अतएव जिस समय हम किसी प्रत्यक्ष से भूततत्त्व का निराकरण करते हैं और हमारे पास केवल रूपतत्त्व मात्र रह जाता है उस समय हमको शुद्ध ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है। जिस समय रूपतत्त्व को हम भूततत्त्व से विलग कर लेते हैं उस समय सम्बन्धों की व्यवस्था (system of relations) अर्थात् उस देश अथवा

१. पेट० भाग १—१०४

काल के अतिरिक्त जिसके अनुसार आभास व्यवस्थित होते हैं और कुछ अवशेष नहीं रह जाता है। समस्त भूततत्त्व से विलगरूप में सम्बन्धों की व्यवस्था के बोध के अतिरिक्त शुद्ध ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष और कुछ नहीं है।

शुद्ध ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष में पृथक्करण (abstraction) का स्वभाव

जिस समय कान्ट यह कहते हैं कि पृथक्करण के कारण शुद्ध ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष (intuition) की उत्पत्ति होती है उस समय वे यह मानते हैं कि यह पृथक्करण उस पृथक्करण से भिन्न है जिसका उपयोग हम अनुभवों से लौकिक सामान्य प्रत्ययों (empirical concept) के पृथक्करण में करते हैं। उदाहरण के लिए जिस समय हम अनेक वस्तुओं में लाल रंग देखते हैं और उन वस्तुओं से उस रंग को पृथक् करते हैं उस समय हम केवल वर्तमान वस्तुओं के भेदों की उपेक्षा मात्र कर देते हैं और उनसे पृथक् उनके सामान्य चिह्न के रूप में लालिमा का विचार करते हैं। इस प्रकार का सामान्य प्रत्यय अनुभव से स्वतन्त्र नहीं होता। यदि देश एवं काल इस प्रकार के सामान्य प्रत्यय (concept) होते तो उनकी अनुभवप्राग्भाविता को स्वीकार करने के कारण कान्ट हास्यास्पद हो जाते।

अतएव कान्ट यह मानते हैं कि देश तथा काल की ज्ञप्तियां विविध बोध्य वस्तुओं में सामान्यरूप से वर्तमान सम्बन्धों अथवा लक्षणों के सामान्य प्रत्यय नहीं हैं। देश तथा काल के प्रत्यक्ष में हम वस्तुओं के सामान्य साम्बन्धिक गुणों को (भूततत्त्व से) पृथक नहीं करते हैं वरन् केवल देश-कालगत वस्तुओं की उपेक्षा कर देते हैं अथवा उनका निराकरण कर देते हैं और इस प्रकार से हमारे पास बोध्य विषय के रूप में केवल देश तथा काल पूर्ण व्यक्ति (individual whole) के रूप में अवशिष्ट रह जाते हैं।

ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष में इन्द्रियगत प्रभावों का संयोजन (synthesis of apprehension in intuition)

हम गत उपप्रकरण में यह कह आए हैं कि कान्ट के मतानुसार इन्द्रियबोध्यनिर्विकल्प प्रत्यक्ष का ज्ञेय विषय अनेकात्मक होता है और इन्द्रियशक्ति मन की एक चेष्टाशून्य कार्यशक्ति है। यदि हम 'अनेकात्मक' अथवा 'अनेकात्मकता' शब्द के अर्थ का विश्लेषण करें तो हमें यह पता लगता है कि इसमें

'अनेकता में एकता' की ज्ञप्ति निहित है। अतएव यदि[1] हम एक 'अनेकात्मक' का बोध करना चाहते हैं तो हमको उसकी 'एकता' तथा 'अनेकता' दोनों का ज्ञान होना चाहिए अर्थात् (१) हमको अनेकात्मक के अंशों का बोध विभिन्न क्रमभावी क्षणों में होना चाहिए। यदि कान्ट की भाषा में कहें तो कहेंगे कि हमको अनेकात्मक के अंशों का अतिशीघ्रता से[2] ग्रहण करना चाहिए एवं (२) इन सब अंशों को एकता के सूत्र में बाँधना चाहिए, अर्थात् अनेकता में किसी प्रकार की एकता को उत्पन्न करना चाहिए।

यह वह दूरतम बिन्दु है अथवा यह वह अन्तिम सीमा है जहाँ तक कान्ट मानवीय बोध को उसके तत्त्वों में विश्लेषण करने में समर्थ हो सके हैं। इस विश्लेषण से जो तत्त्व प्रकट हुआ है वह देशकाल के सम्बन्धों से मुक्त एक विलग रूप असंबंधित इन्द्रियगत प्रभाव (sense impression) मात्र है क्योंकि दोनों (देश-काल) क्रमपूर्ण होते हैं अतः उनमें अनेकता निहित होती है।

ज्ञान की उत्पत्ति की तार्किक प्रक्रिया में यह अवस्था पूर्णतया अपरिभाषेय है। यह इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष मात्र भी नहीं है। यह बाह्यता का बोध भी नहीं है। यह एक ज्ञप्ति मात्र है जिसको लॉक काल्पनिक विचार (notion) कहते हैं। यह मन का विलग रूप संस्कार मात्र है जैसा कि निम्नलिखित इन्द्रियगत संस्कारों के संयोजन[3] (synthesis of apprehension) के वर्णन से द्योतित होता है :—"उन अवबुद्ध ज्ञप्तियों का संयोजन जो कि ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष में मनोगत संस्कारों के रूप में होती हैं।" ये ज्ञप्तियां केवल आत्मनिष्ठ मात्र होती हैं, क्योंकि यदि हम यह स्वीकार कर लें कि विचार (thought) और अवबोध (apprehension) में भेद है तो ये ज्ञप्तियां किसी वस्तु की ज्ञप्तियां नहीं हैं। तथ्य यह है कि उनका वर्णन 'आत्मनिष्ठ' कह कर करना पूर्णतया युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि केवल अवबोध मात्र के लिए वे विषय वस्तु से भिन्न प्रमाता के रूप का परिवर्तन नहीं है। चिन्तना की प्रक्रिया के अधीन होने पर ही ज्ञप्तियों को एक विषयवस्तु से सम्बन्धित मानते हैं। एवं जब तक कोई वस्तुनिष्ठ बोध नहीं है तब तक किसी आत्मनिष्ठ बोध का भी अस्तित्व नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञेय और ज्ञाता अन्योन्याश्रित वस्तु हैं और सदैव एक दूसरे की सत्ता को सूचित करते हैं।

---

१. पेट० भाग १—३५७ २. मैक्स० मू० ८२

१. पेट० भाग १—३६०

इस प्रकार से जिस समय कान्ट संयोजन प्रक्रिया के अंश के रूप में 'अनेकात्मक के अंशों के अति शीघ्रता से ग्रहण करने' की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य यह होता है कि तार्किक रूप में अनेकता के अंश क्रमानुसार अतिशीघ्रता से लौकिक स्वात्मपरामर्श (empirical consciousness) से सम्बन्धित किये जाते हैं।

परन्तु कान्ट इन्द्रियशक्ति (sensibility) में बाह्य वस्तुओं से उत्पादित प्रभावों की क्षणिकता को मानते हैं। अतएव जिस समय मन अनेकता के एक अंश से उसके दूसरे अंश तक पहुँचता है तो पूर्वांश मिट जाता है। अतएव वे यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष में इन्द्रियगत संस्कारों के संयोजन के लिये एक अन्य संयोजन अर्थात् पुनरुत्पादित इन्द्रियसंस्कारों के संयोजन (synthesis of reproduction) की आवश्यकता होती है।

कल्पना में पुनरुत्पादित इन्द्रियगत संस्कारों का संयोजन

(synthesis of reproduction in imagination)

इन्द्रियशक्ति (sensibility) गत प्रभाव में विलग रूप बिन्दु (वे विभिन्न इकाइयां जो सम्मिलित होकर इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष की एक 'अनेकता' की विधायक होती हैं) शंकाशून्य रूप में क्षणिक होते हैं। वे आते हैं और चले जाते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे मन के लिए सर्वदा के लिये पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। इन्द्रियशक्ति पर जो प्रभाव एक बार उत्पन्न किए जा चुके हैं उनके नष्ट हो जाने पर भी फिर से उनको उत्पन्न कर सकते हैं। इन्द्रियबोध्य अनेकता के विलगरूप अंशों को फिर से उत्पन्न कर सकते हैं और उनको उस समय फिर से उत्पन्न करते हैं जिस समय वह अनेकता (manifold) हमारी इन्द्रियों के सामने प्रत्यक्ष वर्तमान नहीं होती है।

अतएव कल्पना में पुनरुत्पादित इन्द्रियगत संस्कारों के संयोजन का अर्थ कल्पना में इन्द्रियबोध्य 'अनेकता' के उन तत्त्वों को फिर से उत्पन्न करना है जो आए हैं और चले गए हैं और मन के सामने उनको सम्मिलित रूप में स्थिर रखना है। कान्ट ने मन की एक अन्य शक्ति का प्रतिपादन किया है जो पुनरुत्पादित इन्द्रियगत संस्कारों के संयोजन को संभव करती है। कान्ट इसको 'कल्पना शक्ति' के नाम से अभिहित करते हैं।

इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष अन्धा होता है

'क्रिटिक आफ प्योर रीजन' के उस दूसरे भाग, जिसको कान्ट ने 'लोकोत्तरीयता के तत्त्व' (Elements of transcendentalism) यह नाम दिया है,

की प्रस्तावना में इन्द्रियशक्ति (sensibiliy) और बुद्धि (understanding) और इसलिए सामान्यरूप प्रत्यय (concept) और इन्द्रियसाध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष (intuition) में परस्पर सम्बन्ध के विषय में कान्ट ने अपने[1] मत को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है :—

'हमारा बोध हमारी आत्मा के दो मूल स्रोतों से उत्पन्न होता है। प्रथम स्रोत प्रतिनिरूपणों का ग्रहण करता है (संस्कारों को ग्रहण करने की शक्ति) और दूसरे स्रोत के पास इन प्रतिनिरूपणों की सहायता से ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है (सामान्यरूप प्रत्ययों की स्वयं-क्रियाशीलता) (spontaneity of concepts)। प्रथम स्रोत के कारण ज्ञेय वस्तु हमें प्राप्त होती है और दूसरे स्रोत के कारण ज्ञेय वस्तु सामग्री का चिन्तन होता है·········अतएव इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष एवं सामान्यरूप प्रत्यय हमारे सभी ज्ञान के विधायक तत्त्व हैं। अतएव अनुरूप इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष के बिना सामान्यरूप प्रत्यय और सामन्यरूप प्रत्यय के बिना इन्द्रिय बोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष कोई भी यथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता है।'

जैसा कि आगामी दूसरे पृष्ठ पर ही कान्ट ने स्वयं स्पष्ट किया है 'ग्रहण करने की शक्ति (receptivity) से उनका तात्पर्य 'इन्द्रियशक्ति है' और 'स्वयं क्रियाशीलता' से उनका तात्पर्य 'बुद्धिशक्ति' है। 'ग्रहण करने की शक्ति' उस समय प्रतिनिरूपणों को ग्रहण करने की शक्ति है जिस समय वह किसी भी रूप में बहिर्भूत वस्तुओं से प्रभावित होती है। और 'स्वयं क्रियाशीलता' प्रतिनिरूपणों को उत्पन्न करने की शक्ति है। ग्रहण करने की शक्ति उस समय ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रदान करती है जिस समय इन्द्रियगत पुनरुत्पादित संस्कारों के संयोजन से सहकृत इन्द्रियगत प्रभावों के संयोजन के साधन से इन्द्रियगृहीत विविध संस्कारों को देशकाल सम्बन्धी व्यवस्था में व्यवस्थित किया जाता है। यह इन्द्रियशक्ति एवं कल्पनाशक्ति के परस्पर सहयोग से उत्पन्न होता है। दूसरा स्रोत अथवा 'स्वयं क्रियाशीलता' हमको अपने ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष की ज्ञेय वस्तुओं की चिन्तना करने में सक्षम करता है। ज्ञान का यह स्रोत हमको इस बात के लिए शक्ति प्रदान करता है कि हम ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष की विषय वस्तु को उस एक सामान्यरूप प्रत्यक्ष के अन्दर ला सकें, जिसको यह शक्ति अनुभव के पूर्व ही (a priori) उत्पन्न करती है। ये दोनों कार्यशक्तियाँ समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि यदि इन्द्रिय

---

१. मैक्स० मू०—४०

शक्ति का अस्तित्व न हो तो विषय वस्तु हमको नहीं प्राप्त हो सकती। और यदि बुद्धिशक्ति न हो तो विषयवस्तु की 'चिन्तना' नहीं हो सकती। वह ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही है जो चिन्तना को 'विषयसामग्री' प्रदान करता है। बिना विषयसामग्री के विचार शून्यरूप होते हैं और बिना सामान्यरूप प्रत्यय के ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष अन्धे होते हैं। बोध की उत्पत्ति इन्द्रियशक्ति तथा बुद्धिशक्ति दोनों के सहयोग से होती है। उनके अपने परस्पर भिन्न एवं अपरिवर्तनशील कार्य होते हैं। इन्द्रियशक्ति विचार नहीं कर सकती और बुद्धिशक्ति प्रत्यक्ष नहीं कर सकती।

अभी तक हमारा प्रतिपाद्य विषय इन्द्रियसाध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष के उत्थान में आवश्यक कार्य शक्तियां (faculties) एवं प्रक्रियाएँ रही हैं। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इन्द्रियसाध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष का कारण मन की दो कार्य-शक्तियों अर्थात् (१) इन्द्रियशक्ति एवं (२) कल्पनाशक्ति का परस्पर सहयोग है। और हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि यह (ऐन्द्रियक निर्विकल्प) कल्पना में पुनरुत्पादित इन्द्रियगत संस्कारों के संयोजन से सहकृत इन्द्रियगत प्रभावों के संयोजन (synthesis of apprehension) से उत्पन्न होता है। परन्तु यह सब मिलकर ज्ञान को नहीं वरन् अन्ध ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष मात्र को ही उत्पन्न कर सकते हैं। इस स्थान तक प्राप्त कान्ट के अभिमत को हम निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं :—

सभी वस्तुओं के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम जो हमको अनुभव प्राग्भावी रूप में प्राप्त होना चाहिए वह ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत 'अनेकता' (manifold) है। उसके प्राप्त हो जाने के उपरान्त दूसरी बात कल्पना शक्ति से इस अनेकता का संयोजन है। किसी वस्तु के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तीसरी आवश्यक वस्तु उन सामान्यरूप प्रत्ययों का योगदान है जो बुद्धिशक्ति पर निर्भर है।

लौकिक अनुभव एवं सौन्दर्यानुभव में सामान्यतत्त्व के रूप में ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष

अपने 'क्रिटीक आफ़ प्योर रीज़न' नामक ग्रन्थ में कान्ट उन सिद्धान्तों की उपेक्षा करते हैं जिनका प्रतिपादन उन्होंने अपने तीसरे 'क्रिटीक' अर्थात् 'क्रिटीक आफ़ जजमेण्ट' में किया है। तथ्य यह है कि 'क्रिटीक आफ़ प्योर रीज़न' को लिखते समय तक स्वतन्त्रकलाशास्त्र के सिद्धान्त उनके मन में निश्चित स्वरूप नहीं ले पाये थे। अतएव अपने 'क्रिटीक आफ़ प्योर रीज़न' में

जिस मत का वे प्रतिपादन करते हैं वह यह है कि इन्द्रियशक्ति कल्पनाशक्ति एवं बुद्धिशक्ति के परस्पर सहयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियशक्ति निश्चेष्ट होकर उसको ग्रहण करती है जो 'अनेकता' रूप में प्रदत्त है। कल्पना शक्ति इस 'अनेकता' को देश काल सम्बन्धी व्यवस्था में फिर से उत्पन्न करती है और उन सबको एकता के सूत्र में बाँधती है एवं इस प्रकार से अन्धे ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष को उत्पन्न करती है। यहाँ तक ही और इससे आगे नहीं उस ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष बोध की सीमा है जो तार्किक बोध से भिन्न है। यह वही अन्ध ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष है (जो इन्द्रियशक्ति एवं पुनरुत्पत्तिकारी कल्पनाशक्ति के सहयोग से उत्पन्न होता है। जो बुद्धिशक्ति अथवा बुद्धिनिष्ठ अनुभवप्राग्भावी नियमों के सभी प्रभावों से स्वतन्त्र होता है) जिसका उल्लेख कान्ट ने सौन्दर्यानुभव के प्रसङ्ग में उस समय किया है जिस समय वे यह प्रतिपादित करते हैं कि सौन्दर्यानुभूति अथवा कलाकृति-जनित अनुभूति उस स्वतन्त्र कल्पना एवं उस स्वतन्त्र बुद्धि के बीच सामंजस्य का अनुभव है जो ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष की विषयवस्तु के रूप (form) के अवबोध (apprehension) के साथ सम्बद्ध हैं।

अतएव ज्ञात यह होता है कि 'लोकोत्तरपरक बोध' (transcendental æsthetics) में बुद्धिशक्ति से विलग इन्द्रियशक्ति की जो व्याख्या कान्ट ने की है वह 'क्रिटीक आफ़ जजमेण्ट' के प्रसंग में भी सार्थक है। यह निश्चयपूर्वक उन तत्त्वों को चिह्नित कर विलग करती है जो लौकिक इन्द्रियानुभव और सौन्दर्यानुभव दोनों में सामान्यरूप से वर्तमान पाये जाते हैं। इसमें उस प्रक्रिया का उल्लेख है जो इन्द्रियशक्ति से सम्बन्धित सभी अनुभवों में सामान्य-रूप से पायी जाती है। सौन्दर्यानुभव को ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष से भिन्न करने वाली प्रक्रिया निर्विकल्प प्रत्यक्ष-जननी प्रक्रिया के उपरान्त शुरू होती है। वह प्रक्रिया जो सविकल्प (determinate) इन्द्रियानुभव की अपनी विशेषता है, सामान्यरूप प्रत्यय के अनुसार संयोजन की प्रत्यभिज्ञा है।

सामान्यरूप प्रत्यय के अनुसार संयोजन की प्रत्यभिज्ञा

(synthesis of recognition in concept)

'क्रिटीक आफ़ प्योर रीज़न' में बुद्धिशक्ति सम्बन्धी पदार्थों (categories of thought) की चर्चा कान्ट ने की है और उनको बुद्धिशक्तिजन्य माना है। वे ऐसे नियम हैं जिनके अनुसार ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष गृहीत अनेकता में संयोजनजन्य एकता उत्पन्न की जाती है। वे अनुभवप्राग्भावी अर्थात् वे

आवश्यक एवं सामान्यरूप हैं। एक वस्तु का सविकल्प ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष गृहीत अनेकता का संयोजन बुद्धिशक्तिजन्य कथित नियमों के अनुसार नहीं किया जाता है एवं यह प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता कि संयोजन उक्त नियमों के अनुसार है।

इस प्रसङ्ग में स्पष्ट रूप से यह स्मरण रखना आवश्यक है कि कान्ट इस स्थान पर केवल सविकल्प इन्द्रियजनित अनुभव की ही चर्चा कर रहे हैं और यह कि बुद्धिशक्ति सम्बन्धी पदार्थों की जिस आवश्यकता एवं सामान्य रूपता (universality) के सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्होंने किया है वह सीमित रूप है। क्योंकि यह (सिद्धान्त) सविकल्प इन्द्रिय सम्बन्धी प्रत्यक्ष के विषय में तो उचित रूप से ठीक उतरता है परन्तु सौन्दर्यानुभव के विषय में ठीक नहीं उतरता। तथ्य यह है कि 'क्रिटीक आफ़ जजमेण्ट' नामक ग्रन्थ में कान्ट की चेष्टा यह स्पष्ट करने की है कि सौन्दर्यानुभव ऐन्द्रिय सविकल्प अनुभव से भिन्न है और यह भिन्नता मुख्यतया इस बात में है कि सौन्दर्यानुभव बुद्धिशक्ति-जन्य नियमों अर्थात् बुद्धिशक्ति सम्बन्धी पदार्थों (categories of thought) से मुक्त होता है।

ऐन्द्रिय सविकल्प अनुभव के तल पर एक ज्ञेय का बोध देश और काल के क्रमों में व्यवस्थित बोध मात्र नहीं है। हमको एक वस्तु का सविकल्प ज्ञान तभी होता है जब प्रत्यक्षीकृत उस अनेकता से एक चित्र बन जाता है जिसका प्रत्येक अंश अन्य अंशों से एक निश्चित रूप में सम्बन्धित है और वह एक ऐसे सामान्य लक्षण से युक्त है कि उसके कारण वह अन्य वस्तुओं से भिन्न है। अतएव कान्ट यह मानते हैं कि सविकल्प इन्द्रियानुभव के तल पर मानवीय बोध के लिए आवश्यक कल्पनाशक्ति से किये जाने वाले संयोजन को बुद्धिशक्ति स्वजन्य नियमों से आवश्यक रूप में बाँध देती है। वे यह मानते हैं कि मानवीय मन का स्वभाव यह है अर्थात् मानवीय मन की रचना इस प्रकार से की गई है कि ऐन्द्रिय सविकल्प बोध को पाने के लिए यह अनेकता के विधायक तत्वों को संयोजन के कुछ उन नियमों के अनुसार संयोजित करता है जो बुद्धिशक्ति में अनुभवप्राग्भावी रूप में वर्तमान रहते हैं। ऐन्द्रिय सविकल्प के लिए आवश्यक विशिष्ट प्रक्रिया 'उत्पादक' (productive) कल्पनाशक्ति की क्रिया है। ऐन्द्रिय निर्विकल्प से गृहीत तत्वों को कल्पना फिर से उत्पन्न करती है और बुद्धिशक्ति के अनुभवप्राग्भावी नियम के अनुसार प्रत्येक तत्व को अन्य तत्वों से सम्बन्धित करती है। यह 'ये तत्व प्रमाता की

एक दशा मात्र हैं', इस रूप में इन तत्वों का निरूपण नहीं करती। अपितु यह विविध तत्वों का निरूपण उस एक चित्र के रूप में करती है जिसकी रचना नियमपूर्वक की गई है।

वह प्रत्यभिज्ञा जो सामान्यरूप प्रत्यय के अनुसार किये गये संयोजन की प्रत्यभिज्ञा (synthesis of recognition in concept) में विद्यमान होती है पूर्वज्ञात के दुबारा बोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह दुबारा बोध उस नियम से सम्बन्धित होता है जो अनुभवप्राग्भावी रूप में बुद्धिशक्ति में विद्यमान अतएव ज्ञात रहता है और इस बार उसी का बोध उस चित्र में होता है जिसे कल्पनाशक्ति ने बुद्धिशक्ति के संयोजनविषयक अनुभवप्राग्भावी नियम के अनुसार रचा है। हम एक वस्तु को उस समय जानते हैं जब एक वह विशिष्ट चित्र जिसकी रचना कल्पनाशक्ति ने इन्द्रियगृहीत सामग्री से सामान्य नियम के अनुसार की है, सामान्य नियम के प्रयोग का दृष्टान्त माना जाता है अर्थात् जिस समय हम विशेष को सामान्य के अन्तर्गत कर देते हैं। मन को बुद्धिशक्ति के पदार्थों का ज्ञान विलग रूप में रहता है। यह बोध उन पदार्थों की उस पूर्व दशा का है जिस दशा में वे देश और काल के क्रम के अनुसार व्यवस्थित इन्द्रियगृहीत अनेकता को उनके अन्तर्गत करने के लिए प्रयोग करने के पहले वर्तमान रहते हैं। जिस समय किसी इन्द्रियगृहीत अनेकता का अवबोध एक पदार्थ के अन्तर्गत रूप में होता है उस समय इसका फिर से बोध होता है। परन्तु इस बार इसका बोध विलग रूप में न होकर एक ऐसे चित्र में होता है जिसकी रचना कल्पना ने एक योजना (scheme) के अनुसार की है।

बुद्धिशक्ति के पदार्थ इस प्रकार के संयोजन के अत्यन्त सामान्य नियम हैं। प्रत्येक प्रत्यभिज्ञासम्बन्धी संयोजन (synthesis of recognition) आवश्यक एवं सामान्य रूप से उन नियमों के अनुकूल होता है। वे अनुभव-प्राग्भावी हैं। बिना उनकी क्रिया के लौकिक अनुभव के तल पर मानवीय बोध असम्भव है। अतएव प्रत्यभिज्ञासम्बन्धी संयोजन लौकिक सविकल्प ज्ञान की प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और चरम बिन्दु है।

सभी अनुभवों की आधारभूत पूर्वमान्यता के रूप में लोकोत्तरीय स्वात्म-परामर्श (transcendental apperception)

'क्रिटीक आफ़ प्योर [1]रीजन' ग्रन्थ में कान्ट स्पष्ट रूप में दृढ़ता से यह

[1] मैक्स० मू०—८८

कहते हैं कि—'हमारी बुद्धि में कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, एक प्रकार के ज्ञान का दूसरे प्रकार के ज्ञान से संयोग अथवा ऐक्य सम्भव नहीं हो सकता जब तक वह अखण्ड स्वात्म-परामर्श न हो जो ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष ग्राह्य सभी सामग्री का पूर्ववर्ती है और जिससे सम्बन्धित हुए बिना वस्तुओं का कोई प्रतिनिरूपण सम्भव नहीं है। इस शुद्ध मौलिक एवं परिवर्तन-शून्य बोध को मैं लोकोत्तरीय स्वात्म-परामर्श (transcendental apperception) कहूँगा। ऐसा ही इसका नाम उचित है यह इस तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि शुद्धतम विषयनिष्ठ एकता भी अर्थात् अनुभवप्राग्भावी सामान्य रूप प्रत्ययों (देश काल) की एकता तभी सम्भव है जब सभी ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्षों का सम्बन्ध इससे हो......हमारे अनुभव में साथ-साथ आने वाले सभी सम्भावित प्रतिभासों में यही लोकोत्तरीय स्वात्म-परामर्श की एकता नियमों के अनुसार इन सभी प्रतिनिरूपणों के पारस्परिक सम्बन्धों की रचना करती है।'

कान्ट की यह मूल पूर्वमान्यता है कि संयोजन के प्रतिनिरूपण (representation of combination) का बोध इन्द्रियों से कभी नहीं हो सकता। वे यह मानते हैं कि संयोजन के तात्त्विक स्वरूप में निम्नलिखित तत्त्व होते हैं :—

(१) अनेकता (२) अनेकता का संयोजन (३) सभी प्रकार के ज्ञान के लिए आवश्यक संयोजनजनित एकता का प्रतिनिरूपण (representation of synthetic unity)। संयोजनजनित एकता का प्रतिनिरूपण अनेकता एवं संयोजन दोनों में एक विशिष्ट तथा अधिक तत्त्व है। संयोजन के बोध की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है अतएव संयोजन से इसकी उत्पत्ति होना[1] असम्भव है। संयोजन के तात्त्विक स्वरूप के विधायक तत्त्वों में से एक तत्त्व यह एकता का प्रतिनिरूपण है। यह वह एकता नहीं है जिसका द्योतन एकता नामक पदार्थ (category of unity) से होता है वरन् यह स्वात्म-परामर्श रूप एकता (unity of apperception) अथवा लोकोत्तरीय आत्मबोध रूप एकता (transcendental self-consciousness) है। यह सर्वोच्च एवं सर्वाधिक सामान्य रूप एकता है। क्योंकि यह एकता सभी सामान्य प्रत्यय रूप एकताओं की पूर्वमान्यता (presupposition) है।

यदि हम उपर्युक्त उद्धरण का अध्ययन इस मूल मान्यता के प्रकाश में

---

१. कैम्० स्मि०—२८४

करें तो हमको ज्ञात होता है कि कान्ट यह मानते हैं कि निम्नलिखित तीनों बोधों की पूर्वमान्यता स्वात्म-परामर्श रूप एकता है :—

(१) शुद्ध इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष की (२) विशेष वस्तुओं के बोध की एवं (३) उस प्रकृति के बोध की जो सभी सविकल्प बोधों के नियमानुसार संयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

स्वात्मपरामर्शरूप एकता तथा शुद्ध ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष

वह अनुभव काल का अनुभव है जिसके आधार पर कान्ट यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि स्वात्मपरामर्श रूप एकता सभी अनुभवों की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य रूप में आवश्यक है । क्योंकि काल का अनुभव एक ऐसा तथ्य है जिसकी यथार्थता को ललकारा[1] नहीं जा सकता । यह मानवीय बुद्धि के पास एक ऐसा तथ्य है जिसके अस्तित्व के विषय में कोई भी प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। यह एक तथ्य अनुभव है। यह तथ्यसंगत (factual) अनुभव एक क्रमश्रृङ्खलारूप अनुभव है । अतएव इस क्रमश्रृङ्खला का इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प साक्षात्कार करने के लिए हमको प्रत्येक विषयांश का बोध विलग रूप में करना होगा और तदनन्तर उनकी पुनरुत्पत्ति करना होगी । उसके पश्चात् सभी विषयांशों को एकताबद्ध करना होगा और इस बात का पुनर्बोध (प्रत्यभिज्ञा) करना होगा कि जिसको एकता सूत्रबद्ध किया गया है वह वही है जो क्रमश्रृङ्खला में अनुभूत हुआ था। इस प्रसंग में दो बातें ऐसी हैं जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है—(१) समय का ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष मेरा बोध बन सके इसलिए यह आवश्यक है कि इसका सम्बन्ध मेरे स्वात्म-परामर्श के साथ हो अर्थात् 'मैं इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष करता हूँ' यह ज्ञान इसके साथ-साथ वर्तमान रहना चाहिए। एवं (२) 'मैं इन्द्रिय-बोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष करता हूँ' यह बोध चिरस्थायी होना चाहिए अर्थात् क्रमश्रृंखला के बोध, एवं परवर्ती पुनरुत्पत्ति तथा उनको एकसूत्रबद्ध करने की सभी दशाओं में इसे स्थायी रहना चाहिए। क्योंकि यदि आन्तरिक इन्द्रिय के उन संस्कारों के साथ 'मैं इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष करता हूँ' नहीं रहता जो उस क्रमश्रृङ्खला के उन विभिन्न अंशों के विधायक हैं जिनको एकताबद्ध बनाए रहने से काल का इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है

१. कैम्० स्मि०—२४३

तो इन बोधसंस्कारों का हमारे लिए रत्ती भर भी महत्त्व नहीं होगा। उनका अस्तित्व मेरे लिए उतना ही नगण्य होगा जितना उन इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्षों का होता है जिनका सम्बन्ध मुझसे भिन्न व्यक्ति के 'मैं इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष करता हूँ' के साथ है। अतएव कान्ट यह मानते हैं कि स्वात्म-परामर्श अथवा आत्म-बोध इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अनुभव में वह तत्त्व है जो जब इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के साथ रहता है तब उस इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष को अन्य व्यक्ति के 'मैं इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष करता हूँ' से भिन्न 'यह मेरा इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष है' यह बोध उत्पन्न करता है अर्थात् मेरे लिए इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष को संभव बनाता है। वे यह भी मानते हैं कि यह आत्म-बोध परिवर्तनशील न होकर स्थायी है। क्योंकि यदि यह स्थायी न होकर परिवर्तनशील होता तो क्रमश्रृङ्खला का पूर्ण रूप में बोध करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। यह विचार और भी अधिक स्पष्ट हो सकता है यदि एक लौकिक सामान्यरूप प्रत्यय (empirical concept) के प्रसंग में स्वात्म-परामर्शरूप एकता की हम व्याख्या करें।

उदाहरण के रूप में हम संख्या छ को लें और यह पता लगाएँ कि किस प्रकार से इस अखण्डरूप अनुभव का संभव होता है। इस प्रकार के अनुभव को सम्भव बनाने के लिए यह आवश्यक है कि क्रमश्रृङ्खला के क्रमभावी अंशों, उदाहरण के लिए अ आ इ ई उ ऊ को मन के सामने एक ही समयविन्दु में एक संगठित रूप में वर्तमान रखें। अतएव यदि क्रमश्रृङ्खला के अन्तिम अंश 'ऊ' तक बुद्धि के पहुँचने पर क्रमश्रृङ्खला के अन्य पांच अंश अर्थात् अ से उ तक बोधक्षेत्र से बाहर चले गए हैं तो इस अन्तिम अंश 'ऊ' का बोध पांच अन्य अंशों के परवर्ती होने के रूप में नहीं हो सकता। अतएव क्रमश्रृङ्खला के क्रमभावी अंशों के अवबोधों का संयोजन पूर्णतया आवश्यक है।

परन्तु यदि प्रत्येक बोधसंस्कार के क्षणिक होने के कारण क्रमश्रृङ्खला की पूर्ववर्तिनी कड़ियां बोध में आईं और नष्ट भी हो गईं तो ऐसी दशा में वह सामग्री कहां है जिसका संश्लेषण मन करे? अतएव यह मानना आवश्यक है कि इन्द्रिगत प्रभावों के संयोजन (synthesis of apprehension) के लिये कल्पना में पुनरुत्पादित इन्द्रियगत प्रभावों का संयोजन (synthesis of reproduction in imagination) सर्व प्रथम आवश्यक है।

परन्तु विना इस बोध के कि मन के सामने सम्प्रति वर्तमान चित्र वे ही

हैं जो कुछ समय पूर्व उसके सामने आए थे अथवा कम से कम वे उन विषय सामग्रियों का प्रतिनिरूपण अथवा प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका अनुभव मन ने कुछ समय पूर्व किया है, कल्पना की पुनरुत्पादिका क्रिया व्यर्थ हो जावेगी। क्योंकि वैसी दशा में प्रत्येक प्रतिनिरूपण एक नया अनुभव होगा और इस रूप में पूर्ववर्ती क्रमश्रृङ्खला के अंशों से सर्वथा असम्बन्धित होगा और इसलिए पूर्वानुभव की विषयभूत सामग्री का पुनरुत्पादन न होकर एक मौलिक उत्पादन होगा। अतएव संख्या छ और इसी प्रकार से काल के बोध के लिए प्रत्यभिज्ञा का होना अत्यंत आवश्यक है।

'परन्तु प्रत्यभिज्ञा उस क्रम की प्रत्यभिज्ञा है जो एकता अथवा समग्रता (whole) का विधायक है। यह एकता उस सामान्यरूप प्रत्यय पर आश्रित है जो उस अनेकता को एक प्रतिनिरूपण के रूप में संगठित करता है जिसका इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष क्रमपूर्ण रूप में किया गया है और उसके पश्चात् परवर्तीकाल में जिसका पुनरुत्पादन किया गया है। इस प्रकार से संयोजन की प्रत्यभिज्ञा (synthesis of recognition) लौकिक सामान्यरूप प्रत्ययों में और उन्हीं के साधन से घटित होती है। वर्तमान दृष्टान्त में एकीकरण करने वाला लौकिक सामान्यरूप प्रत्यय छ संख्या है।

कान्टकृत प्रमाता का अनुमान (deduction) मुख्यतया तीसरे संयोजन पर आधारित है। जिस प्रकार से अवबोध (apprehension) पुनरुत्पत्ति पर अवलम्बित है और दोनों प्रत्यभिज्ञा पर आश्रित हैं उसी प्रकार से प्रत्यभिज्ञा भी एक अन्य स्वपूर्वभावी तत्त्व को पूर्वमान्यता के रूप में आवश्यक मानती है। और वह तत्त्व आत्म-बोध है। क्योंकि अतीतकालीन अनुभवों के प्रतिनिधि रूप में पुनरुत्पन्न चित्रों की प्रत्यभिज्ञा उसी समय संभव हो सकती है जिस समय एक ऐसी नित्य आत्मा हो जो सम्पूर्ण क्रमश्रृंखला में अपनी एक रूपता का बोध करती हो।

इस प्रकार से काल संख्या अथवा रेखा के अपने क्रमबद्ध बोध के एक विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि यह बोध जटिल संयोजनात्मक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होता है एवं यह कि इन संयोजनों की पूर्वमान्यता एक ऐसी एकता है जो अपने को प्रकट करने के दो प्रकारों को जानती है—विषयनिष्ठ रूप में एक सामान्यरूप प्रत्यय के साधन से आत्मप्रकटन करना तथा प्रमातृनिष्ठ रूप में आत्मबोध में आत्मप्रकटन करना।

स्वात्मपरामर्श की एकता लोकोत्तर है

वह आत्म–बोध भी स्वयं लौकिक (empirical) अनुभवसिद्ध है जिसको हमने सभी ऐन्द्रिय अनुभवों की सम्भावना[1] की आधार भूमि इसलिए सिद्ध किया है क्योंकि यह संयोजन की प्रत्यभिज्ञा की आधार स्वरूप पूर्वकल्पना है। अतएव कान्ट ने यह स्वीकार किया है कि सभी प्रकार के बोधों की अतएव लौकिक अनुभवसिद्ध आत्मबोधों की भी सम्भावना की चरम आश्रयभूमि स्वात्मपरामर्श की लोकोत्तरीय एकता है। यह अनुभव प्राग्भावी रूप में अनुभव की पूर्ववर्तिनी है।

लोकोत्तरीय आत्मा के पास अपनी ऐसी कोई अन्तर्वस्तु (Content) नहीं है जिसकी सहायता से यह आत्मबोध कर सके। यह बोध केवल एकात्मता (identity) भर है—'मैं मैं हूँ।' यह एक रूप मात्र भर है जिसकी सहयता से वह विषयभूत सामग्री, जो आत्मा का कभी भी अंश नहीं होती फिर भी, आत्मा को विषय रूप में ज्ञात होती है। इस प्रकार से यद्यपि काल अथवा कालावधि (duration) के बोध में आत्मा को अनुभव के सम्पूर्ण क्रमों में अपनी एकात्मता का बोध होना चाहिए फिर भी उन अनुभवों में उस एकात्मता का पता कभी भी नहीं लगता। उनकी एक दशा (condition) के रूप में ही उसका विचार हम कर सकते हैं। यह स्मृति के लिये आवश्यक पूर्वभावी तत्त्व है और इसलिए स्मृति इसका (आत्मा का) स्थान ग्रहण नहीं कर सकती। आभासों में इसकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

इस प्रकार से हमको दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :—

१—सभी बोधों में आत्म-बोध संनिहित होता है।

२—आत्मबोध केवल एक रूप मात्र है जिसके आधार पर उस विषयभूत सामग्री को जो आत्मा का अंश नहीं है आत्मा के लिए इसका अस्तित्व है इस रूप में ज्ञात किया जाता है।

दूसरे निष्कर्ष से यह स्पष्ट है कि शुद्ध-आत्मबोध, अर्थात् वह बोध जिसमें आत्मा को केवल अपना ही ज्ञान होता है अन्य किसी विषयवस्तु का ज्ञान नहीं होता, असंभव है। आत्मा को स्वात्म-परामर्श के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वात्म-परामर्श के समय में अनात्म का भी परामर्श करे। अपने में यह एक रूप मात्र है।

---

१. केम्० स्मि० २५०

अभी तक जिन विषयों की व्याख्या की गई है उनको संक्षिप्त रूप में हम निम्नप्रकार से कह सकते हैं—

१—परिवर्तन के रूप में समय के बोध में लौकिक स्वात्म-परामर्श सन्निहित होता है।

२—लोकोत्तरीय स्वात्म-परामर्श लौकिक स्वात्म-परामर्श का आवश्यक पूर्व-भावी (condition) है।

३—स्वयं लोकोत्तरीय आत्म–बोध भी विषय वस्तु के बोध के साथ ही साथ हो सकता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि कान्ट के मतानुसार आत्मबोध तथा विषयवस्तुबोध परस्पर एक दूसरे के लिये आवश्यक हैं। जब तक दोनों का बोध एक ही कालबिन्दु में नहीं होगा तब तक दोनों में से किसी एक का भी बोध संभव नहीं है।

लौकिक तथा लोकोत्तरीय आत्मा

आन्तरिक प्रत्यक्ष में अपनी दशाओं के निश्चित स्वरूपों (determination) के अनुसार आत्मबोध के अतिरिक्त लौकिक आत्मा[1] और कुछ नहीं है। यह सर्वदा परिवर्तित होती रहती है। 'यह संख्या में एक ही है' ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यह एक ऐसा तत्व है जो प्रत्येक सम्पूर्णरूप अनुभव में वर्तमान रहता है। लोकोत्तरीय आत्मा एक ऐसी दशा (Condition) है जो सब अनुभवों की पूर्ववर्तिनी है एवं उनको संभव बनाती है। यह मौलिक एवं परिवर्तनशून्य बोध है।

कान्ट यह मानते हैं कि स्वात्म-परामर्श आत्मा का अपनी अविराम क्रिया के बोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्रिया के बोध के रूप में यह इन्द्रिय-गत संस्कारों (Sense Impression) के सभी अवबोधों से सम्पूर्णतया भिन्न-स्वभाव एवं भिन्नस्रोत होता है। आत्मा की इस एकता एवं एकात्मता की अनुभूति तब प्राप्त होती है जब एक अनुभव के समय मन की क्रियाओं पर ध्यान को केन्द्रित किया जाता है।

यह ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष की सभी ज्ञेय सामग्री से पूर्ववर्तिनी होती है। केवल इसी आत्मा से सम्बन्धित होने से वस्तुओं के सभी प्रतिनिरूपण संभव होते हैं। नियमों के अनुसार एक अनुभव में संयोजन के योग्य सभी आभासों को यह आत्मा संयुक्त करती है। स्वात्म-परामर्श की एकता सभी

१. केम्० स्मि० २०७–८

एकताओं का एकमात्र स्रोत है। बाह्येन्द्रियों से गृहीत अनेकता को संगठित करने के लिए नियमस्वरूप सामान्यरूप प्रत्यय की एकता स्वात्म-परामर्श की एकता पर निर्भर है। क्योंकि एक सामान्यरूप प्रत्यय में संनिहित बोध की एकता असंभव हो जाएगी यदि मन अपनी उस क्रिया की एकता का बोध प्राप्त न कर सके जिससे यह अनेकता को एक 'ज्ञान' के रूप में संश्लिष्ट रूप में (synthetically) संयुक्त करती है। परन्तु किस प्रकार से एक सामान्यरूप प्रत्यय के अनुसार इन्द्रियगृहीत अनेकता को संयोजित करने के लिये आवश्यक संयोजनकारी क्रिया की एकात्मता का बोध हो सकता है जब तक मन (आत्मा) को अपनी एकात्मता का बोध न हो।

इस प्रकार से कान्ट के मतानुसार मन का मूल एवं आवश्यक अपनी एकात्मता का बोध उस तत्समान आवश्यक संयोजन की एकता का बोध है जिसने समस्त आभासों को सामान्यरूप प्रत्यय के अनुसार संयोजित किया है।[1] क्योंकि प्रतिनिरूपणों की अनेकता में अपनी एकात्मता के विषय में मन विचार नहीं कर सकता यदि उसको अपनी उस क्रिया की एकात्मता का बोध न हो जिससे वह (मन) इन्द्रियबोध्य अनेकता का संगठन एक सामान्यरूप प्रत्यय के अन्तर्गत करता है।

अनुभव प्राग्भावी (a priori) सामान्यरूप प्रत्ययों (concepts), देश और काल, की विषयनिष्ठ शुद्धतम एकता भी ऐन्द्रियक निर्विकल्प ज्ञानों के लोकोत्तरीय स्वात्म-परामर्श के साथ सम्बन्ध से ही संभव है। स्वात्म-परामर्श की संख्यात्मक एकता सभी सामान्यरूप प्रत्ययों के लिये अनुभव प्राग्भावी रूप में अनिवार्यतः आवश्यक है। कान्ट यह स्वीकार करते हैं कि उस लोकोत्तरीय विषय[2] की कल्पना स्वात्म-परामर्शरूप एकता की उपमिति के आधार पर की जाती है जो आत्मा की एकता की विपरीत प्रतिवस्तु (opposite counterpart) मात्र है। यह स्वात्म-परामर्श स्वयं प्रमाता के आत्मनिष्ठ प्रतिनिरूपण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसको सिद्ध करने के लिए कान्ट यह युक्ति देते हैं—'यदि प्रतिनिरूपणों का सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु के साथ न होता जो मेरी आत्मा के समानान्तर है तो मैं किसी भी वस्तु का प्रतिनिरूपण अपने से बाहरी रूप में न कर सकता और इस प्रकार से आत्मनिष्ठ आभासों को वस्तुनिष्ठ अनुभव नहीं बनाता'।

---

१. केम्० स्मि० २०८ २. केम्० स्मि० २०९

इस प्रकार से हमने यह स्पष्ट किया है कि सौन्दर्य के अनुभव की उत्पत्ति के लिये आवश्यक प्रक्रिया किस प्रकार से उस प्रक्रिया के समान है जो सविकल्प प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक इन्द्रियगृहीत विषय के निर्विकल्प प्रत्यक्ष में होती हैं। और हम आगामी पृष्ठों में यह स्पष्ट करेंगे कि सौन्दर्यानुभव का अन्य प्रकार के अनुभवों से भेद को स्पष्ट करने के लिए कान्ट ने जो रचनाविधि (technique) अपनाई है वह उस रचनाविधि का संशोधित रूप मात्र है जिसको लौकिक अनुभव की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए अपनाया गया है। उदाहरणतः कल्पनाशक्ति, बुद्धिशक्ति और निर्णयशक्ति (judgement)। परन्तु कलाशास्त्र के प्रसंग में मन के इन अंशों की व्याख्या करने के पूर्व हम कान्ट के पूर्ववर्ती उन शास्त्रकारों के कलाशास्त्रीय सिद्धान्तों और कान्टकृत उनके खण्डनों की ओर अपना ध्यान देगें जिन्होंने 'क्रिटिक आफ़ जजमेन्ट' में प्रतिपादित कलाशास्त्रीय समस्या की रचना में पथप्रदर्शक का काम किया है।

कान्ट के पूर्ववर्ती स्वतन्त्रकला शास्त्रकारों के स्वतन्त्र-कलाशास्त्रविषयक विचार

कान्ट के निकटवर्ती पूर्वकालीन शास्त्रकारों की चेष्टाएँ निम्नलिखित थीं—

१—तर्कशास्त्र, कर्तव्यमीमांसाशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र की अन्यशाखाओं के क्षेत्रों से कलाशास्त्र के क्षेत्र को विलग करना।

२—यह सिद्ध करना कि कलाकृतिजनित अनुभव का सम्बन्ध जिस मानवीय शक्ति से है वह एक ओर युक्तिशक्ति से भिन्न है और दूसरी ओर इन्द्रिय शक्ति से विलग है।

३—यह प्रमाणित करना कि कलाकृतिजनित अनुभव सविकल्प ऐन्द्रिय अनुभव से इस बात में भिन्न है कि कलाकृतिजनित अनुभव प्रत्यक्षणीय वस्तु के भूततत्त्वांश में स्वार्थवृत्ति (interest) से रहित होता है। एवं—

४—शुद्ध एवं सापेक्षिक (relative) सौन्दर्य तथा सौन्दर्य एवं भव्यता के भेद को समान रूप में स्पष्ट करना।

इस प्रकार से बामगार्टन ने यह घोषणा की थी कि कला की समस्याओं का समाधान करने के लिए एक भिन्न विज्ञानशाखा है। एडीसन[1] ने यह प्रतिपादित किया था कि कल्पनाप्रसूत सुख युक्तिजनित सुख से कम संस्कृत एवं इन्द्रियबोधजनित सुख से कम स्थूल होते हैं।

---

१. गिल० ३२२

शाफ्टसबरी, हच्सन एवं केमेस ने कलाकृतिजनित अनुभव को स्वार्थ-वृत्तिशून्य (disinterested) सिद्ध किया था। वर्क ने सौन्दर्यपूर्ण एवं भव्यता के विषय में लिखा था और उनके परस्पर भेद को स्पष्ट किया था।

वामगार्टन के मत का कान्टकृत खण्डन

कान्ट के पूर्व कलाशास्त्र की समस्या का समाधान करने का प्रयास लीबनीज के दर्शनशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया गया था जैसा कि वामगार्टन ने किया था अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया गया था जैसा कि एडीसन तथा वर्क ने किया था। कान्ट ने उन बामगार्टन के मत का खण्डन निम्न-लिखित रूप में किया जो यह मानते थे कि कलाकृतिजनित अनुभव पूर्णता का अस्फुट (confused) बोध है—

१—इस बात का पता लगाना कठिन है कि हमारे ज्ञान का अस्फुटत्व[1] किस प्रकार से सुखदायी रूप से सम्बन्धित है।

२—संख्या में बहुत थोड़े से व्यक्ति ऐसे हैं जिनको कर्तव्यमीमांसाशास्त्र प्रतिपादित औचित्य (right) के तात्विक स्वरूप का स्फुट बोध है। अतएव 'कर्तव्यमीमांसाशास्त्रीय औचित्य प्रत्यय को क्या हमें कलाकृति जनित अनुभव के तुल्य मानना चाहिए ?'

३—ज्ञान की स्पष्टता[2] एवं ज्ञान की अस्पष्टता में केवल मात्राभेद ही है। एक व्यक्ति ज्ञेयवस्तु पर अपना जितना अधिक ध्यान लगाएगा उतना ही अधिक स्पष्ट तात्विक स्वरूप का बोध उसको प्राप्त होगा। अतएव केवल मात्राभेद (quantitative difference) ही कलाकृतिजनित अनुभव के विशिष्ट लक्षण का विधायक नहीं हो सकता।

४—कलाकृतिजनित अनुभव का पूर्णता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि पूर्णता का अर्थ अनेकता की एकता (unity of manifold) एवं किसी भी ज्ञेय वस्तु की सर्वांगपूर्णता भी हो सकता है। परन्तु यह तथ्य कि कोई वस्तु सर्वांगपूर्ण है उसको सुन्दरतापूर्ण नहीं बना सकता। पूर्णता का अर्थ यह भी हो सकता है कि पूर्णस्वरूप वस्तु एक प्रयोजन को सिद्ध करती है। परन्तु उस प्रयोजन के विचार से जिसे एक वस्तु सिद्ध करती है कलाकृति-जनित अनुभव स्वतन्त्र होता है।

---

१. वर० ७७ २. गिल० ३२४

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का कान्टकृत खण्डन

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के शास्त्रकारों ने कलाकृतिजनित अनुभव को समस्या का समाधान इन्द्रियानुभवाश्रित मनोविज्ञान (empirical psychology) के दृष्टिकोण से किया था। प्रत्यक्षगत तथ्यों पर आधारित सामान्यानुमान (generalization) के आधार पर कलाकृतिजनित अनुभव का यह सम्प्रदाय स्पष्टीकरण करता है। इस प्रकार की व्याख्या कलाकृतिजनित अनुभव के सर्वसामान्य प्रामाणिकता (universal validity) के दावे के औचित्य को सिद्ध नहीं कर सकती। क्योंकि सर्वसामान्य प्रामाणिकता केवल 'अनुभव प्राग्भावी' दशाओं (a priori condition) से ही उत्पन्न हो सकती है।

कान्ट की बुद्धि में स्वतन्त्र कलाशास्त्र का विकास

कान्ट का दर्शन अनुभवप्राग्भावी तत्त्वों का दर्शन है। अतएव कला शास्त्र को उनका मुख्य योगदान स्वभावतया यह है कि कलाकृतिजनित अनुभव की कारणभूत कलास्वादन शक्ति (judgement of taste) के अनुभव प्राग्भावी मूल तत्त्व (fundamental principle) की उन्होंने स्थापना की। उनके मतानुसार यह तत्त्व 'प्रयोजन हीन प्रयोजनपरता अथवा आत्मनिष्ठ प्रयोजन परता' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु अपनी पूर्वलिखित कृतियों में कान्ट ने रसिकत्व (taste) को केवल इन्द्रियानुभवसिद्ध[1] (empirical) ही माना था। उदाहरणतः 'क्रिटीक आफ प्योर रीजन' के प्रथम संस्करण में उन्होंने यह माना था कि कलास्वादन शक्ति (taste) को युक्तितत्त्व पर आधारित करने की बामगार्टनकृत चेष्टा निस्सार है। क्योंकि यह (कलास्वादनशक्ति) इन्द्रियानुभवसिद्ध (empirical) है।

परन्तु इसी ग्रन्थ के दूसरे संस्करण में उन्होंने बामगार्टन के मत के प्रति अपने अभिमत को संशोधित किया और यह लिखा कि 'अपने मूल स्रोतों में (in its main sources) कलास्वादनशक्ति इन्द्रियानुभव सिद्ध है।' जिस समय आगे चल कर उनकी दार्शनिक ज्ञप्तियां पूर्ण रूप से प्रौढ़ हो गईं उस समय ही उनको इस तथ्य का ज्ञान हो सका कि कलास्वादनशक्ति का अपना एक 'अनुभवप्राग्भावी' तत्त्व है।

---

१. गिल० ३२६

अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारों के मतों की कान्ट कृत प्रोन्नति

कान्ट के पूर्व परस्पर—विरुद्ध दो दार्शनिकमतों का अस्तित्व था—एक के नेता इन्द्रियानुभवैक प्रामाण्यवादी (empiricist) लॉक थे और दूसरे के नेता युक्तिवादी लीबनीज थे। लॉक ने इन्द्रियप्रत्यक्ष एवं यथार्थ जगत के प्रमेयनिष्ठ अनुभव को महत्त्वपूर्ण माना था। वे यह मानते थे कि बुद्धि एक कोरे कागज का पृष्ठ है जिस पर विभिन्न इन्द्रियों के मार्ग से आए हुए बोध अंकित हो जाते हैं। परन्तु लीबनीज ने इन्द्रियप्रसूत बोध के महत्त्व को कम से कम माना और युक्तिशक्ति के महत्त्व को स्थापित किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि चाहे जिस प्रकार से ज्ञान का प्रारम्भ हुआ हो यदि वह यथार्थतः ज्ञान है तो उसको निश्चितस्वरूप एवं प्रमाणित करने योग्य (demonstrable) आवश्यक रूप से होना चाहिए। कान्ट ने इन दोनों इन्द्रियजन्य बोध एवं युक्तिशक्ति को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानते हुए इनके बीच समन्वय करने की चेष्टा की। उन्होंने यह स्वीकार किया कि बिना रूपतत्त्व के ऐन्द्रिय बोध (sensation) अन्ध हैं एवं बिना ऐन्द्रिय बोध के रूपतत्त्व छूछा, निस्सार है। उन्होंने यह माना कि ऐन्द्रिय अनुभव (sense experience) ज्ञेय सामग्री को प्रदान करता है और युक्तिशक्ति उसको स्वरूप देती है। परन्तु कान्ट का वास्तविक योगदान उतना महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए इन्द्रियशक्ति एवं युक्तिशक्ति के परस्परावलम्बन को उन्होंने स्पष्टतया सिद्ध किया था वरन् उससे अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी अनुभवप्राग्भावी तत्त्व की खोज थी। जिस समस्या का समाधान वे करना चाहते थे वह यह थी मन का वह सामान्यस्वरूप (general constitution of mind) क्या है जो रेखागणित तथा भौतिक विज्ञान जैसी ज्ञान की शाखाओं की पूर्वमान्यता है ? और मानवीय मन में ऐसे कौन से तत्त्व हैं जो कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्र और स्वतन्त्रकलाशास्त्र को सम्भव बनाते हैं। कान्ट का उत्तर यह है कि (१) देश और काल का, कारणता का, सदाचार के नियम एवं स्वतन्त्रता का तथा प्रयोजनहीन प्रयोजनपरता के सिद्धान्त का अनुभवप्राग्भावी स्वरूप ही रेखागणित, भौतिकविज्ञान, कर्तव्यमीमांसाशास्त्र एवं स्वतन्त्रकलाशास्त्र को क्रमशः सम्भव बनाते हैं एवं (२)—द्रव्यरूप आत्मा नहीं वरन् स्वात्म-परामर्शरूप एकता सभी अनुभवों की आवश्यक पूर्वमान्यता

है। उनका ह्यूम से मतभेद है क्योंकि वे संयोजनरूप क्रियाओं को 'अनुभव प्राग्भाविनी' मानते हैं, केवल व्यावहारिक ही नहीं मानते जैसा कि ह्यूम उनको मानते थे।

कान्ट के पूर्ववर्ती शास्त्रकारों ने विलग-विलग जिन विषयों का प्रतिपादन किया था उन सबको एक सूत्र में ग्रथित कर उन्होंने एक सर्वांगीण मत की स्थापना की थी। उन्होंने सुव्यवस्थित रूप से कलाकृतिजनित अनुभव की दार्शनिक पूर्वमान्यताओं को स्पष्ट किया। उन्होंने समस्त अनुभवों में कलाकृतिजनित अनुभव का समुचित स्थान निर्धारित किया और इन्द्रियशक्ति एवं युक्तिशक्ति से भिन्न एक अन्य मानवीय शक्ति (कलास्वादन शक्ति) से उसको सम्बन्धित किया।

'क्रिटीक आफ़ जजमेन्ट की समस्या

'क्रिटीक आफ प्रेक्टिकल रीजन' नामक स्वग्रन्थ में भी कान्ट ने उसी लोकोत्तरीय विधि का आश्रय लिया जिसका अवलम्ब उन्होंने 'क्रिटीक आफ़ प्योर रीजन' में लिया था। जिस प्रकार से देश, काल एवं कारणता नामक अनुभव प्राग्भावी रूपों के आधार पर रेखागणितशास्त्र एवं भौतिक विज्ञान में वर्तमान ज्ञान की आवश्यकता तथा सामान्यता का स्पष्टीकरण उन्होंने किया था उसी प्रकार से मनुष्य के कर्तव्य-बोध (sense of duty) की व्याख्या उन्होंने अनुभव प्राग्भाविनी इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता अर्थात् अनुलंघनीय कर्तव्यों (categorical imperative) में प्रदर्शित कर्तव्यबोध से आदेशित कर्मों को करने की स्वतन्त्रता के आधार पर किया था। कारणों की श्रृङ्खला में इच्छा शक्ति की स्वतन्त्रता कोई एक कड़ी नहीं है। कार्य का आरम्भ करने में यह स्वतन्त्र है।

भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यकारणभाव का सिद्धान्त (idea of causality) सदाचार (morality) के क्षेत्र में व्यर्थ पाया गया और उसके स्थान पर इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता को स्थापित किया गया। अतएव कार्यकारणता एवं स्वतन्त्रता दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त बन गए और उनके समन्वय की आवश्यकता पड़ गई। क्योंकि यदि विलग लोकों में वे इस प्रकार की विरोधिनी शक्तियों के रूप में वर्तमान होतीं तो सदाचार का कोई भी प्रभाव वास्तविक संसार पर न पड़ता और वह एक निस्सार आदर्श मात्र ही रह जाता। अतएव अपने ग्रन्थ 'क्रिटीक आफ़ जजमेन्ट' में कान्ट जिस समस्या का समाधान करते हैं वह यह है कि वह कौन सी संयोजक

कड़ी है जो इन दोनों को एक सूत्र में बांधती है अर्थात् कार्यकारणता एवं स्वतन्त्रता के परस्पर विरोध का समन्वय किस प्रकार से कर सकते हैं ? और वे यह मानते हैं कि ध्यानप्रवण कलास्वादनविषयक निर्णयशक्ति (reflective judgement ' यह वांछित संयोजक कड़ी है ।

'क्रिटीक आफ जजमेन्ट' की समस्या को कान्ट ग्रन्थ की प्रस्तावना में निम्नलिखित रूप से कहते हैं :—

१—अब क्या उस निर्णयशक्ति के पास भी जो हमारी बोधजनक शक्तियों की श्रृङ्खला में बुद्धिशक्ति (understanding) और युक्तिशक्ति को संयुक्त करने वाली कड़ी है, अपने अनुभवप्राग्भावी (a priori) नियम हैं ?

२—क्या ये नियम विधायक (constitutive) भी हैं अथवा नियामक (regulative) मात्र हैं (इस प्रकार से किसी विशेष क्षेत्र का निर्देश नहीं करते) ? तथा

३—क्या वे उस सुख दुःख संवेदना को, जो ज्ञानशक्ति एवं इच्छाशक्ति[1] के बीच एक संयोजक कड़ी है, कोई अनुभव प्राग्भावी नियम प्रदान करते हैं ?

समाधान

अपने किसी भी पूर्ववर्ती दार्शनिक की अपेक्षा अधिक भली भांति कान्ट ने अपना पूरा जीवन (हमारे संपूर्ण ज्ञान समुदाय में) (अ) गणितशास्त्र और भौतिकविज्ञान एवं (आ) सदाचार और धर्म को उचित स्थान प्रदान करने की चेष्टा में व्यतीत किया । अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ही उन्होंने कलाशास्त्र के उचित स्थान को निर्धारित करने के विषय में प्रयास किया था । वे अपनी प्रस्तावना के अन्तिम अनुच्छेद में यह कहते हैं कि—"तो इस स्थान पर मैं अपने समालोचनात्मक विचारों के प्रतिपादन का अन्त करता हूँ । अविलम्ब ही मैं सैद्धान्तिक अंश की ओर अपना ध्यान इसलिए लगाऊँगा कि अपनी वृद्धावस्था[2] के अधिक अनुकूल क्षणों से यथासम्भव लाभ उठा सकूं ।'

परन्तु 'क्रिटीक आफ् प्रेक्टिकल रीजन' के कुछ अंश को ही जब उन्होंने लिखा तो उनको ऐसा ज्ञात हुआ कि उन्होंने संवेदना[3] (feeling) के स्वरूप की संतोषप्रद व्याख्या नहीं की है । अतएव उन्होंने उत्कृष्ट मानसिक शक्तियों का त्रिवर्गीय वर्गीकरण किया (अ) बुद्धिशक्ति (आ) युक्तिशक्ति एवं

---

१. बर० २ २. बर० ५ ३. बर० १६ [प्रस्तावना]

(इ) निर्णयशक्ति, यह वर्गीकरण उन्होंने चेतना के तीन चरमरूपों के अनुसार किया था। इस प्रकार से कान्ट के मतानुसार बुद्धिशक्ति (understanding) ज्ञान की शक्ति है, युक्तिशक्ति इच्छास्वरूप अभिलाषा की शक्ति है और निर्णयशक्ति सुख दुःख की संवेदना की शक्ति है। तथा वे यह मानते हैं कि सुख-दुःख की संवेदनाशक्तिरूप निर्णयशक्ति से सम्बन्धित उनका तीसरा ग्रन्थ पूर्वलिखित दोनों ग्रन्थों के बीच में पड़ी हुई खाईं पर पुल बांधती है। क्योंकि निर्णयशक्ति, सुख-दुःख की संवेदनाशक्ति रूप है और इसलिए जिस प्रकार से सुख की संवेदना एक वस्तु के हमारे प्रत्यक्ष और उस सुखदाई वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा के बीच एक संयोजक कड़ी है उसी प्रकार से यह निर्णयशक्ति बुद्धिशक्ति एवं युक्तिशक्ति के बीच एक संयोजक कड़ी है।

कान्ट ने इस विषय में अपने मत को 'क्रिटीक आफ़ जजमेन्ट' की प्रस्तावना के तीसरे उपखण्ड में निम्नरूप में व्यक्त किया है[1]।

'और क्योंकि अभिलाषाशक्ति (faculty of desire) से सुख-दुःख आवश्यक रूप में सम्बन्धित हैं······हम यह भी मान सकते हैं कि 'निर्णयशक्ति' ज्ञान की शुद्ध शक्ति से अर्थात् प्राकृतिक सामान्यरूप प्रत्ययों (natural concept) के क्षेत्र से स्वतन्त्रता के सामान्यरूप प्रत्ययों (concept of freedom) के क्षेत्र में संक्रमण (transition) को संभव करेगी।

अतएव 'क्रिटीक आफ् जजमेंट' में वे अपने समीक्षात्मक कार्य को पूर्ण कर देते हैं। इस ग्रन्थ में प्रस्तावना में कथित समस्या का समाधान निम्न प्रकार से किया गया है :—

१—जिस प्रकार से पूर्वलिखित दो समीक्षात्मक ग्रन्थों में प्रतिपादित बुद्धिशक्ति और युक्तिशक्ति के अपने अनुभव प्राग्भावी नियम हैं उसी प्रकार से निर्णयशक्ति के भी अनुभवप्राग्भावी नियम हैं।

२—युक्तिशक्ति के नियमों की भांति निर्णयशक्ति सम्बन्धी नियम विधायक नहीं हैं। वरन् वे अनुभव के नियामक मात्र हैं। वे वस्तुओं के विशेष लक्षणों के विषय में कुछ भी सुनिश्चित (positive) नहीं बताते। वे केवल उन दशाओं की ओर संकेत करते हैं जिनके अन्तर्गत वस्तुओं का प्रत्यक्ष करना हमको आवश्यक लगता है।

---

१. बर० १६

३—स्वतन्त्रकलाशास्त्र एक लोकोत्तरीय दर्शनशास्त्र है जिसका आधार अनुभव प्राग्भावी नियम हैं।

सौन्दर्यास्वादन सम्बन्धी निर्णय (æsthetic judgement) का स्वभाव

कान्ट अपने लोकोत्तरीय तर्कशास्त्र में यह स्पष्ट करते हैं कि बुद्धिशक्ति के चार पदार्थ हैं—

(१) गुण (२) मात्रा (परिमाण)(३) सम्बन्ध एवं (४) प्रकारता (modality)। और कलाकृतिजनित अनुभव के स्वभाव का प्रतिपादन करते हुए यह कहते हैं कि (१) गुण[1] के अनुसार यह स्वार्थवृत्तिशून्य है। (२) मात्रा के अनुसार यह सामान्य रूप है। (३) सम्बन्ध के अनुसार इसमें विशेषप्रयोजनशून्य प्रयोजनपरता संनिहित है एवं (४) प्रकारता के अनुसार यह आवश्यक है। वे स्वतन्त्र और परतन्त्र सौन्दर्य में भेद करते हैं और यह मानते हैं कि कलाकृतिजनित अनुभव सामान्यरूप प्रत्ययों से स्वतन्त्र होता है। इस अनुभव का कारण एक अनुभवप्राग्भाविनी दशा होती है, इसलिए यह आवश्यक भी है।

प्रविधि (technique) का स्पष्टीकरण

पूर्व प्रकरणों में हम यह कह आए हैं कि ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक प्रक्रिया एवं प्रविधि सविकल्प ऐन्द्रिय अनुभव एवं कलाकृति जनित अनुभव दोनों में समान रूप से वर्तमान होती है और सविकल्प ऐन्द्रिय अनुभव की विशिष्ट प्रक्रिया संयोजन की प्रत्यभिज्ञा है। कलाकृतिजनित अनुभव की विशिष्ट प्रक्रिया का स्पष्टीकरण वे निर्णयशक्ति बुद्धिशक्ति एवं कल्पनाशक्ति के आधार पर करते हैं। और इनमें उन शक्तियों से भिन्न शक्तियां मानते हैं जिनके द्वारा वे सविकल्प लौकिक प्रत्यक्ष उत्पन्न करती हैं अतएव हम उन विशेष शक्तियों का वर्णन करेंगे जिनको कान्ट स्वतन्त्रकला-शास्त्र के प्रसंग में इनमें मानते हैं।

मनः शक्ति के एक स्वरूप के रूप में निर्णयशक्ति

कान्ट के मतानुसार निर्णयशक्ति विशेष और सामान्य[2] को यथार्थ और आदर्श को एकसूत्रबद्ध करने के काम को दो रूपों में पूरा करती है। बुद्धिशक्ति

---

२. बर० १९ (प्रस्तावना)   १. बर० १६–१७

के सामान्य नियमों से आरम्भ कर यह विशेष की ओर उन्मुख हो सकती है। अथवा विशेष से आरम्भ कर सामान्य की ओर उठ सकती है। पहले काम को वे सविकल्पता जनक (determinant) निर्णय तथा दूसरे काम को ध्यान प्रवण निर्णय (reflective judgement) कहते हैं। कान्ट के दार्शनिक मत के अनुसार कलास्वादन शक्ति (taste) का सम्बन्ध ध्यानप्रवण निर्णय से है।

बोध के एक स्वरूप के रूप में निर्णय

(Judgement as a form of consciousness)

कान्ट के दर्शन शास्त्र में 'निर्णय' शब्द का प्रयोग मन की एक शक्ति के अर्थ में ही नहीं किया गया है वरन् बोध के एक ऐसे रूप में भी किया गया है जिसमें उद्देश्यपद एवं विधेयपद एक विशिष्ट सम्बन्ध में मिले रहते हैं। इस प्रकार से अपनी प्रथम समीक्षा (क्रिटीक आफ् प्योर रीजन) की समस्या का उल्लेख करते हुए कान्ट 'निर्णय' शब्द का प्रयोग करते हैं : 'किस प्रकार से अनुभवप्राग्भावी संयोजनात्मक निर्णय (synthetic a priori judgement) सम्भव होते हैं ? इस रूप में एक दृष्टिकोण से यह अनुभव प्राग्भावी अथवा अनुभवानन्तर भावी है और दूसरे दृष्टिकोण से संयोजनात्मक अथवा विश्लेषणात्मक है। जैसे कि 'शरीर विस्तार पूर्ण है' यह शरीर भारी[1] है। यह एक शक्ति से उत्पन्न होता है जिसको भी 'निर्णय' कहते हैं।

मनःशक्ति के रूप में निर्णय के विभिन्न तात्त्विक स्वरूप

विभिन्न समीक्षाओं (अर्थात् क्रिटीक् आफ प्योर रीजन, क्रिटीक आफ़ प्रेक्टिकल रीजन तथा क्रिटीक आफ़ जजमेन्ट) में मन की एक शक्ति के रूप में 'निर्णय' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। 'क्रिटीक आफ़ प्योर रीजन' में इसका अर्थ मन की वह शक्ति है जो हमको यह निर्णय करने का सामर्थ्य प्रदान करती है कि कोई विशेष किसी सामान्य नियम का दृष्टान्त है या नहीं है।[2] सामान्य के अन्तर्गत विशेष को रखने की शक्ति बुद्धि की शक्ति है यह माना नहीं जा सकता। क्योंकि बुद्धिशक्ति का विशिष्ट कार्य अनुभव प्राग्भावी अथवा लौकिक सामान्यरूप प्रत्ययों को उत्पन्न करना है जो सामान्य नियमों

---

१. प्रि०—३   २. मैं० मू० १०८–९

के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। विशेषों के क्षेत्र से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अनेक उदाहरणों की सहायता से कान्ट यह सिद्ध करते हैं कि बुद्धिशक्ति और निर्णयशक्ति दो विभिन्न शक्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए एक राजनीतिज्ञ की बुद्धि में अनेक सुन्दर राजनैतिक नियम हो सकते हैं और फिर भी एक विशेष परिस्थिति में वह यह निर्णय करने में असमर्थ हो सकता है कि वह परिस्थिति ज्ञात सामान्य नियम के अन्तर्गत आती है या नहीं। इस प्रकार के व्यक्ति के पास बुद्धिशक्ति की कमी नहीं है वरन् निर्णयशक्ति का अभाव है। वह सामान्य को पृथक् रूप में तो समझ सकता है परन्तु वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि उसके प्रत्यक्ष में जो वस्तु है वह उस सामान्य के अन्तर्गत आती है या नहीं आती। इस प्रकार से प्रथम समीक्षा अर्थात् 'क्रिटीक आफ प्योर रीजन' में प्रयुक्त निर्णय वह शक्ति है जो पदार्थ (category) को ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष से और इसलिए इन्द्रियशक्ति को बुद्धिशक्ति से सम्बन्धित करती है। यह उनके बीच में एक संयोजक कड़ी है। यह मध्य में रहकर उन्हें सम्बन्धित करती है।

यह शुद्ध रूप से मानवीय शक्ति है। यह शक्ति उस मानवजाति के अधिकार में है जो शुद्ध रूप से युक्तिशक्ति पूर्ण[1] (rational) नहीं है परन्तु समान मात्रा में युक्ति शक्तिमती और इन्द्रियशक्तिमती है, एवं जो केवल मन मात्र के साधन से ही वस्तु-बोध नहीं कर सकती वरन इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से सम्बन्धित मन के साधन से कर सकती है। न तो शुद्ध रूप से युक्तिशक्ति पूर्ण प्राणियों (यदि एक शक्ति के रूप में निर्णय के तात्त्विक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हम इस प्रकार के प्राणियों के अस्तित्व को मानते) के पास यह शक्ति होती है और न पशुओं के ही पास यह शक्ति होती है। यह सैद्धान्तिक (theoretical) निर्णय शक्ति है।

वह कार्य जिसे निर्णयशक्ति उस व्यावहारिक जगत में करती है, जिसकी व्याख्या क्रिटीक आफ़ प्रेक्टिकल रीजन में की गई है, उस कार्य से भिन्न है जिसे यह सैद्धान्तिक क्षेत्र में करती है। क्योंकि व्यावहारिक सामान्यरूप प्रत्यय (practical concept) केवल युक्तिशक्तियुक्त प्राणियों के लिये ही प्रामाणिक नहीं (valid) हैं वरन परतत्त्व अर्थात् परमेश्वर के लिए भी प्रामाणिक हैं। ये परम (absolute) नियम हैं। परन्तु मानव प्राणी आंशिक रूप से युक्तिशक्तियुक्त एवं आंशिक रूप से इन्द्रियशक्तियुक्त हैं। अतएव वे व्यावहारिक

१. कैस० १८४

निर्णय कर सकें इसलिए उनको निर्णयशक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इन्द्रियबोध्य संसार में घटित हुआ कार्य सदाचरण के परम नियम के अनुसार है यह निर्णय करने के लिए उसकार्य को युक्तिशक्ति के सामान्य रूप परम नियम के अन्तर्गत स्थापित करना होता है। इस प्रकार की स्थापना को व्यावहारिक निर्णय शक्ति संभव करती है।

परन्तु 'क्रिटीक आफ़ जजमेंट' में जिस निर्णयशक्ति का प्रतिपादन कान्ट करते हैं वह न सैद्धान्तिक है और न व्यावहारिक है। यह ध्यानप्रवण (कलास्वादन संबन्धी) निर्णयशक्ति (reflective[1] judgement) है। क्रिटीक आफ जजमेन्ट की प्रस्तावना के चौथे उपप्रकरण में कान्ट ने निम्नलिखित रूप में ध्यानप्रवण (कलास्वादन सम्बन्धी) निर्णय शक्ति को सविकल्पज्ञान-सम्बन्धी निर्णयशक्ति से भिन्न माना है :—

सामान्यतः निर्णयशक्ति[2] 'एक विशेष एक सामान्य के अन्तर्गत है' यह निर्णय करने की शक्ति है।

यदि निर्णयशक्ति किसी विशेष को उस सामान्य के अन्तर्गत करती जो उपलब्ध है तो यह निर्णयशक्ति सविकल्पज्ञानविषयक है। परन्तु यदि केवल ऐसा विशेष ही वर्तमान हो जिसके लिए 'सामान्य' की खोज करना पड़े तो ऐसी परिस्थिति में निर्णय करने वाली शक्ति ध्यानप्रवण (कलास्वादन सम्बन्धी) निर्णयशक्ति है।

इसका अर्थ यह है कि 'क्रिटीक आफ़ प्योर रीजन' में प्रतिपादित सविकल्प स्वरूप निर्णय (determinant judgement) के प्रसंग में वह रूप बुद्धिशक्ति में पूर्वकाल से ही वर्तमान रहता है जिसके अनुसार इन्द्रियगत संस्कारों को व्यवस्थित करना होता है। अतएव जैसे ही कोई इन्द्रियगत संस्कार घटित होता है वैसे ही हम यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि अन्य कौन से इन्द्रिय-गत संस्कारों को होना चाहिए और किस प्रकार से विभिन्न इन्द्रियगत संस्कारों को सम्बन्धित करना चाहिए जिससे कि पूर्णरचनायोजना (scheme) के वे अनुरूप हों।

परन्तु कलास्वादन सम्बन्धी निर्णय के प्रसंग में 'रूप' बुद्धिशक्ति में पूर्वकाल से ही वर्तमान नहीं रहता। जैसे-जैसे प्रत्येक इन्द्रियगत संस्कार उत्पन्न होता है वैसे-वैसे मन में दूसरे इन्द्रियगत संस्कार तक पहुँचने की

---

१. कैस० १८५ २. वर०—१६—१७

आन्तरिक प्रेरणा बढ़ती रहती है। इस प्रकार से कलाकृतिजनित अनुभव की उत्पत्ति में स्वतन्त्रता होती है।

इन्द्रियगत संस्कार बुद्धिशक्ति के किसी भी नियम से नियमित नहीं होते। कल्पनाशक्ति की क्रीड़ा (play of imagination) मात्र से एक इन्द्रियगत संस्कार से दूसरे तक पहुँचा जाता है। क्योंकि कल्पना असंख्य विभिन्न संगठनों को उत्पन्न कर सकती है अतः यह सुझाव देती है कि कौन से इन्द्रियगत संस्कार ऐसे हैं जो विद्यमान इन्द्रियगत संस्कार के साथ सर्वोतम ढंग से ठीक बैठेंगे।

उपर्युक्त उद्धरण का भावार्थ स्पष्ट होगा यदि हम पूर्णतया कलात्मक अथवा स्वतन्त्र कल्पना और उत्पादक (productive) कल्पना के भेद को हृदयंगम कर लें।

कल्पना

कान्ट के मतानुसार कल्पना तीन प्रकारों[1] की है १—पुनरुत्पादक २—उत्पादक एवं ३—स्वतन्त्र अथवा कलात्मक। गत पृष्ठों में हमको पुनरुत्पादक कल्पना का उल्लेख 'कल्पना में पुनरुत्पादितों के संयोजन' के प्रसंग में करने का अवसर प्राप्त हुआ था। वे योजना की रूप रेखा (scheme) की सहायता से इन्द्रियगृहीत सामग्री पर बुद्धिशक्ति के सामान्यरूप प्रत्ययों को लागू करने (schematism) के प्रसंग में उत्पादक कल्पना की चर्चा करते हैं।

उत्पादक कल्पना

उत्पादक कल्पना के महत्त्व को समझने के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि (१) कान्ट शक्तिवादी मनोवैज्ञानिक (Faculty psychologist) नहीं हैं। वे मन की उन विभिन्न शक्तियों के वास्तविक अस्तित्व को नहीं मानते हैं जो क्रमपूर्वक अपने कार्यों को पूरा करतीं हैं, यद्यपि उनके ग्रन्थों के अनुवादों में 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। मानवीय ज्ञान की उत्पत्ति के लिए आवश्यक तत्त्वों का विश्लेषण करना ही उनका केवल लक्ष्य है और (२) उन्होंने उत्पादक कल्पना को सामान्यों एवं विशेषों अथवा विचारों तथा यथार्थ (thought and reality) के बीच सम्बन्ध की एक प्रमुख दार्शनिक समस्या का समाधान करने के लिए माना था।

---

१. कैस०—२१६

कान्ट के दार्शनिक मत के अनुसार पदार्थों की उत्पत्ति शुद्ध बुद्धि (thought) से हुई है और इसीलिए स्वतः उनका कोई सम्बन्ध इन्द्रियबोध्य बाह्य आभासों से नहीं होता। अतएव समस्या यह उठती है कि बाह्य आभासों के विषय में हम कैसे कह सकते हैं कि पदार्थों (categories) के साथ उनका सम्बन्ध है, एक ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष को हम किस प्रकार से एक सामान्य के अन्दर समाविष्ट कर सकते हैं ? अर्थात् किस प्रकार से सैद्धान्तिक निर्णय (theoretical judgement) उत्पन्न हो सकता है ? और कान्ट का समाधान यह है कि उस उत्पादक कल्पना से यह सम्भव हो सकता है जो लोकोत्तरीय 'योजना की रूप रेखा' (schemeta) को उत्पन्न करती है। इन लोकोत्तर 'योजना की रूपरेखाओं' में इन्द्रियबोध्य तथा बुद्धिबोध्य दोनों तत्त्व विद्यमान होते हैं एवं इसलिए ये दोनों अर्थात् पदार्थों और आभासों के सजातीय (homo genious) होते हैं। इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरण से कर सकते हैं—

कारण-कार्य (ground and consequent) रूप शुद्ध पदार्थ अपने में बुद्धि का केवल रूप मात्र है। इसका समय से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस पदार्थ के विश्लेषण मात्र से हमको यह ज्ञात नहीं हो सकता कि यह कालगत वस्तुओं से सम्बन्धित हो सकता है या नहीं ? परन्तु हम काल से इसे सम्बद्ध कर सकते हैं। ठीक यही काम उत्पादक कल्पना उस समय करती है जब 'काल में आवश्यक क्रम की रूप-रेखा' को वह उत्पन्न करती है। यह रूप रेखा (schema) कारण-कार्य रूप शुद्ध पदार्थ को अधिक सुनिश्चित अर्थ प्रदान करती है। इस प्रकार से शुद्ध पदार्थ 'रूप रेखा' से युक्त हो जाता है (schematised)। काल में आवश्यकक्रम रूप रेखा शुद्ध पदार्थ की इन्द्रिय-ग्राह्य सहसम्बन्धी (sensuous correlate) की आवश्यकता को पूर्ण करती है और बाह्य आभासों पर शुद्ध पदार्थ के प्रयोग को सम्भव बनाती है।

उत्पादक कल्पना[1] को उत्पादक इसलिए कहते हैं क्योंकि यह अनुभव से स्वतन्त्र है और साथ ही साथ अनुभव की आवश्यक प्राग्भाविनी दशा भी है। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य यह बात है कि कल्पनाशक्ति अपनी क्रिया में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है। बुद्धिशक्ति (understanding) के नियमों से इसका नियन्त्रण होता है। यदि इस प्रकार के नियम न हों तो यह कुछ भी निष्पादित नहीं कर सकती है।

१. केस० २१७

कलात्मक अथवा स्वतन्त्र कल्पना

पुनरुत्पादक कल्पना स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि लौकिक अनुभवसिद्ध (empirical) नियम उसका नियन्त्रण करते हैं। उत्पादक कल्पना भी स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि यह बुद्धिशक्ति के अनुभव प्रागभावी नियमों पर निर्भर है। कलात्मक कल्पना ही केवल स्वतन्त्र है क्योंकि बुद्धिशक्ति के नियमों पर यह निर्भर नहीं है। इसको पुनरुत्पादक नहीं मान सकते हैं क्योंकि इसका अर्थ यह मानना होगा कि साम्बन्धिक नियमों (Law of asssociation) पर यह निर्भर है। यह उत्पादक एवं नैसर्गिक रूप से स्वतः प्रेरित (spontaneous) है। सम्भावित ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्षों (intuition) के स्वच्छन्द रूपों (arbitrary forms) को यह उत्पन्न करती है। बुद्धिशक्ति के निश्चित नियमों से यह कल्पना नियंत्रित नहीं होती क्योंकि वैसी दशा में भी स्वतन्त्र होने का उसका कोई भी दावा नहीं रहेगा। सौन्दर्यपूर्ण वस्तु केवल ऐसा ही रूप कल्पना को प्रदान करती है जिसमें अनेकता का संयोजन विद्यमान होता है। यह रूप इस प्रकार का होता है जिसको अपनी स्वच्छन्दता में कल्पना ने बुद्धिशक्ति के किसी विशेष नियम के अनुसार नहीं वरन् केवल सामान्य नियम के अनुसार उत्पन्न किया होता है।

स्वतन्त्र कल्पना, कलास्वादन शक्ति एवं प्रतिभा

'क्रिटीक आफ़ जजमेन्ट' में कान्ट ने दो शक्तियों की कल्पना की है—(१) कलास्वादनशक्ति[1]—यह वह शक्ति है जो कल्पना की स्वतन्त्रतापूर्ण नियमानुकूलता के आधार पर एक वस्तु के विषय में निर्णय करती है एवं (२) प्रतिभा—यह वह शक्ति है जो कलात्मक ज्ञप्तियों[2] को अर्थात् स्वतन्त्र कल्पना के ऐसे निरूपणों को जिनसे प्रभूत विचार उत्पन्न होते हैं उपस्थित करती है। परन्तु कोई भी निश्चितस्वरूप ज्ञप्ति अथवा सामान्य रूप प्रत्यय स्वतन्त्र कल्पना की सृष्टि का निरूपण पूर्णतया नहीं कर सकता। अतएव प्रतिभा से प्रकटित कलात्मक ज्ञप्तियों को भाषा की सहायता से पूर्णतया बोधगम्य नहीं बनाया जा सकता। कान्ट ने कलास्वादन शक्ति एवं प्रतिभा दोनों के प्रसंग में कल्पना की व्याख्या की है। प्रतिभा के अंश के रूप में कल्पना का वर्णन कान्ट ने निम्नलिखित रूप में किया है :—

स्वतन्त्र उत्पादक शक्ति के रूप में कल्पना सृजनात्मक प्रतिभा (produc-

१. बर० ९६ २. बर० १९७

tive genius) का एक अंश है। इस अंश में यह इतनी अधिक शक्तिशाली[1] है कि मानों यह वास्तविक प्रकृति से प्रदत्त सामग्री की सहायता से एक अन्य प्रकृति की सृष्टि कर सकती है। यह कल्पना उस सांबन्धिक नियम से स्वतन्त्र है जो इन्द्रियानुभवसंबंधो कल्पना का नियन्त्रण करता है और इसीलिए प्रकृति प्रदत्त सामग्री की सहायता से एक ऐसी अन्य प्रकृति की सर्जना कर सकती है जो अनुभूत प्राकृतिक सामग्री से अत्यन्त भिन्न और प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट होती है। अपनी सृष्टियों में कल्पना उसको प्रदर्शित करने की चेष्टा करती है जो ऐन्द्रिय अनुभव की सीमाओं से परे है और युक्तितत्त्व की ज्ञप्तियों (ideas of reason) की समानता करने की चेष्टा करता है। जिस प्रकार से युक्तितत्त्व की ज्ञप्तियों को बुद्धिशक्ति के निश्चित सामान्यरूप प्रत्ययों के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता उसी प्रकार से कलात्मक कल्पना की ज्ञप्तियों को भी उसके अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता।

इस प्रकार से स्वतन्त्र कल्पना शक्ति की सहायता से कलात्मक प्रतिभा-शक्ति परोक्ष प्राणियों की युक्तिमूलक ज्ञप्तियों (rational ideas), आनन्दपूर्ण प्राणियों के लोक (स्वर्ग), नरक आदि को इन्द्रियग्राह्यरूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा करती है। उस समय भी जब यह कल्पना मृत्यु, ईर्ष्या एवं पाप जैसी अनुभवगम्य वस्तुओं को प्रदर्शित करती है तब यह अनुभव[2] के क्षेत्र से परे जाने की चेष्टा करती है और इन्द्रियबोध्यरूप में उनको इतनी अधिक पूर्णता में प्रकट करती है जिसका प्रकृति के लोक में भी कोई दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता। इसकी कृतियों में इतने अधिक विचार वर्तमान होते हैं कि उतने अधिक विचार न तो इन्द्रियानुभवसम्बन्धी निश्चितरूप प्रत्ययों और न अनुभव प्राग्भावी सामान्यरूप प्रत्ययों में कभी भी प्राप्त हो सकते हैं।

कलात्मक प्रतिभा की कृतियों में विद्यमान तत्त्व

कलात्मक प्रतिभा की कृति में दो तत्त्व होते हैं—१. सामान्यरूप प्रत्यय (concept) एवं २. उसके गुण। कान्ट यह कहते हैं कि कलात्मक प्रतिभा अपनी कृति के प्रयोजन के रूप में उसके (कृति के) निश्चितरूप सामान्य प्रत्यय[3] की पूर्व कल्पना करती है (presupposes) परन्तु 'युक्तिमूलक ज्ञप्ति' (rational idea) के रूप में यह पूर्णतया भाषा में प्रकट नहीं किया जा सकता। इसको किसी प्रकार से परिभाषाबद्ध नहीं कर सकते। अतएव जिस समय सृजनात्मक कल्पना इस सामान्यरूप प्रत्यय को अभिव्यक्त करने

१. बर० १९८ २. बर० १९८–९९ ३. कैस० २८३

की चेष्टा करती है उस समय वह एक चित्र की रचना करती है। इस चित्र में कुछ ऐसे अंश होते हैं जो सामान्यरूप प्रत्यय का निरूपण अपूर्णतया करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे अंश भी होते हैं जो अपूर्णतया निरूपित सामान्यरूप प्रत्यय के विधायक तत्त्व नहीं हैं। ये अंश सृजनात्मक कल्पना का अपना योगदान हैं। ये सामान्यरूप प्रत्यय से सम्बद्ध परिणामों एवं अन्य सामान्यरूप प्रत्ययों के साथ इसके सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। इनको उस एक वस्तु के गुण कहते[1] हैं जिसका 'युक्तिमूलक ज्ञप्तिरूप' सामान्यरूप प्रत्यय पूर्णतया व्यक्त नहीं किया जा सकता।

मान लें कि सृजनात्मक प्रतिभा कल्पना में स्वर्ग के अजेय शासक के रूप में जुपिटर (रोम के प्राचीन धर्म के अनुसार इन्द्र) के चित्र की रचना करना चाहती है। इस चित्र में निम्नलिखित तत्त्व होंगे।

१—वे रूप जो जुपिटर के निश्चितस्वरूप परन्तु सूक्ष्मतया अपरिभाषेय सामान्यरूप प्रत्यय के कुछ तत्त्वों के अभिव्यंजक हैं।

२—वे रूप जो उनके खगेश्वर और उनके पंजों में विद्युत के विधायक हैं। इनमें से दूसरा तत्त्व सृजनात्मक कल्पना का अपना विशेष योगदान है। यह स्वर्ग के शक्तिशाली राजा का कलात्मक गुण है। कल्पना की इस प्रकार की सृष्टियां तर्कशास्त्रीय गुण नहीं हैं। वे किसी तर्कशास्त्रीय सामान्यरूप प्रत्यय के विधायक तत्त्व नहीं हैं। वे ऐसी किसी वस्तु का निरूपण करते हैं जो कल्पना को इस बात का अवसर प्रदान करती है कि वह सजातीय (kindred) उन अनेक निरूपणों पर आत्मप्रसार करले जो शब्दों से परिभाषित सामान्यरूप प्रत्यय में प्रकट किए गए विचारों से अधिक विचारों को जाग्रत करते हैं। वे मन के सामने तत्सजातीय निरूपणों के असीम क्षेत्र में प्रवेश करने की सम्भावना को उत्पन्न कर उसको सजीव बनाते हैं। वे कलात्मक प्रतिभा की सृष्टि की आत्मा, प्राण अथवा जीवन ही हैं।

स्वतन्त्र बुद्धि शक्ति

एक पूर्व उपप्रकरण में हमने इन्द्रियानुभव सम्बन्धी ज्ञान की उत्पत्ति में बुद्धिशक्ति के कार्य की व्याख्या कुछ विस्तार के साथ की थी। उसमें हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि (१) सामान्यरूप प्रत्यय से असंबंधित इन्द्रियशक्ति एवं कल्पना शक्ति के सहयोग से उत्पन्न ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष अन्धे होते हैं एवं ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष विहीन सामान्यरूप प्रत्यय निस्सार होते

१. बर० १९९

हैं। (२) बुद्धिशक्ति सामान्यरूप प्रत्ययों की जननी है और इसलिए बुद्धि-शक्ति एवं कल्पनाशक्ति इन्द्रियसंबंधी सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति में सदैव संबंधित रहतीं हैं। परन्तु कथित अनुभव में यह सम्बन्ध निश्चितरूप होता है। अपनी उत्पादन-क्रिया में कल्पना का नियन्त्रण वे निश्चितरूप एवं स्पष्टतया परिभाषित सामान्यरूप प्रत्यय करते हैं जिनको बुद्धिशक्ति प्रदान करती है। कल्पना बुद्धिशक्ति के नियन्त्रण को स्वीकार कर लेती है और बुद्धिशक्ति के सामान्यरूप प्रत्ययों के अनुरूप होती है अतएव सीमित होती है। इस प्रकार से इन्द्रियसम्बन्धी सविकल्पज्ञान में कल्पना को नियमों की प्रदाता स्वतंत्र बुद्धिशक्ति है।

परन्तु कलाकृति के उत्पादन में इतनी अधिक पूर्णता से बुद्धिशक्ति कल्पना को नियन्त्रित नहीं करती। यह कोई निश्चित अनुल्लंघनीय नियम प्रदान नहीं करती वरन् उन अनिश्चितस्वरूप एवं मृदु नियमों को प्रदान करती है जिनको स्वच्छन्दतापूर्वक कल्पना संशोधित एवं विस्तारित कर सकती है। [1]सृजनात्मक प्रतिभारचित कृति के विश्लेषण से दो अंश (aspects) प्रकट होते हैं :—(१) निश्चितस्वरूप परन्तु अपरिभाषेय सामान्यरूप प्रत्यय एवं (२) उसके गुण। सभी सामान्यरूप प्रत्यय बुद्धिजनित होते हैं। अतएव यह निश्चितरूप परन्तु दृढ़तया अपरिभाषेय एवं शिथिल सामान्यरूप प्रत्यय कलाकृति को बुद्धिशक्ति का योगदान है। इस प्रसङ्ग में कान्ट यह विचारते हुए से ज्ञात होते हैं कि जिस प्रकार से एक संघात्मक राज्य के केन्द्रीय शासन के शिथिल एवं मृदु नियम संघात्मक राज्य के विभिन्न स्वतन्त्र प्रादेशिक राज्यों की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होते उसी प्रकार बुद्धिशक्ति के सामान्यरूप प्रत्यय भी [2]कल्पना की स्वच्छन्दता के बाधक नहीं होते। बुद्धिशक्ति का बिना विरोध किये हुए सामान्यरूप प्रत्ययों को संशोधित एवं विस्तारित करने में कल्पना स्वतन्त्र है। इस प्रकार से स्वतन्त्रकलाशास्त्र के प्रसङ्ग में बुद्धिशक्ति को स्वतन्त्र कहा गया है क्योंकि कल्पना को नियमप्रदान करने में यह उन अनुल्लंघनीय नियमों तक सीमित नहीं रहती है जिनसे ऐन्द्रिय सविकल्प ज्ञान सम्बन्धी कल्पना की उत्पादक क्रिया का नियन्त्रण होता है।

यहाँ तक कलाशास्त्र के सम्बन्ध में बुद्धिशक्ति की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन हमने कलाकृति की सृष्टि के सम्बन्ध में किया है। परन्तु यह उस अनुभव के सम्बन्ध में भी स्वतन्त्र है जिसको इस प्रकार की कलाकृति अपने दर्शकों में

---

१. बर० १९९ २. बर० ९६

उत्पन्न करती है। क्योंकि सृजनात्मक कल्पना अपनी कृतियों में चाहे जिसका निरूपण करे बुद्धिशक्ति उसके आस्वादन के लिए आवश्यक उस एक अनिश्चित रूप नियम का पता लगा सकती है जो ऐन्द्रिय सविकल्प ज्ञान के नियन्त्रणकारी निश्चितरूप नियमों से बहुत भिन्न होता है। इस प्रकार से कलाकृति की रचना एवं उसकी अनुभूति दोनों में स्वतन्त्र कल्पनाशक्ति तथा स्वतन्त्र बुद्धिशक्ति के बीच सुलभ सम्बन्ध, विरोध का अभाव एवं सामञ्जस्य होता है।

कलास्वादनशक्तिरूप निर्णयशक्ति

(Judgement of taste)

जैसा कि हम गत उपप्रकरण में कह आये हैं [1]कलास्वादनशक्ति वह शक्ति है जो कल्पना की स्वतन्त्र नियमानुकूलता के आधार पर एक वस्तु के विषय में निर्णय करती है। यदि कल्पना निश्चितरूप नियमों से पूर्णतया नियन्त्रित है तो निर्णय सैद्धान्तिक होता है। [2]अतएव कलास्वादन विषयक निर्णय में कल्पना की नियमानुकूलता नियमविहीन (conformity to law without law) होती है। कलास्वादन शुद्ध रूप से कल्पनाशक्ति और बुद्धिशक्ति के सामञ्जस्य का स्वात्मगत अनुभव है। एक अव्यवस्थित अस्फुट रेखाकृति से भिन्न एक वृत्त के समान व्यवस्थित आकृति से जो मानसिक तुष्टि हमको प्राप्त होती है उसका कारण बुद्धिशक्ति है। कलास्वादनशक्ति का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कलास्वादनशक्तिरूप निर्णयशक्ति का कोई सम्बन्ध वस्तु की उपयोगिता अथवा उसके प्रयोजन के साथ नहीं है। किसी वस्तु के भौतिक अंश की चिन्तना के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध वस्तु के रूप अंश मात्र से ही है।

कलास्वादनविषयक निर्णय आत्मनिष्ठ है

जिस समय हम किसी वस्तु को सुन्दर अथवा कुरूप कहते हैं उस समय उस वस्तु के वस्तुत्व से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता है। हम केवल उस सुख दुःख की संवेदना से सम्बन्धित होते हैं जिसका अनुभव हम वस्तु को अपने प्रति निरूपित करने के समय करते हैं। कलास्वादनविषयक निर्णय तार्किक निर्णय से भिन्न है क्योंकि तार्किक निर्णय[3] में हम एक वस्तु को गुण से संयुक्त करते हैं। जैसे कि जिस समय हम यह कहते हैं कि मेज़ वृत्ताकार है तो मेज़ (वस्तु) को हम वृत्ताकार (गुण) से संयुक्त करते हैं। परन्तु

१. बर० ९६ २. बर० ९७ ३. कैस० १७८

जब हम यह कहते हैं कि 'मेज़ सुन्दर है' तो हम उसको किसी गुण से संयुक्त नहीं करते। हमारे इस कथन का अर्थ यह होता है कि मेज़ के निरूपण में हम आनन्द लेते हैं। यह शुद्धरूप से आत्मनिष्ठ निर्णय है। इसमें हम वस्तु के निरूपण को प्रमाता एवं सुख की संवेदना के साथ सम्बन्धित करते हैं।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य है कि कान्ट ने सुख दुःख के अतिरिक्त अन्य किसी संवेदना को शुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ नहीं माना है। रङ्ग तथा इसी प्रकार के अन्य इन्द्रियबोध कुछ मात्रा में प्रमेयनिष्ठ होते हैं क्योंकि वस्तुओं के विशेषण के रूप में उनका प्रयोग होता है। परन्तु कलास्वादनविषयक निर्णय में वस्तु के निरूपण को हम उस दुःख सुख की संवेदना से सम्बन्धित करते हैं जो दोनों (सुख तथा दुःख) आत्मनिष्ठ हैं अतएव यह आत्मनिष्ठ निर्णय है।

सुखदायकवस्तुविषयक निर्णय का सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय से भेद

वह निर्णय जो सुखदायक कही जाने वाली वस्तु से सम्बन्धित होता है, वस्तु के प्रति स्वार्थवृत्ति (interest) को प्रकट करता है परन्तु सौन्दर्यपूर्ण वस्तु से सम्बन्धित निर्णय स्वार्थवृत्तिशून्य होता है।

स्वार्थवृत्ति की परिभाषा दो प्रकार से दी गई है। १—यह सुख एवं वैषयिक कामना को उत्पन्न करने वाली शक्ति (appetitive faculty) के बीच वह सम्बन्ध है जिसके विषय में बुद्धि यह निर्णय करती है कि यह एक सामान्य नियम के अनुसार उचित है, ठीक है। २—यह वह तुष्टि है जिसको हम एक वस्तु के अस्तित्व के साथ सम्बन्धित करते हैं। इस प्रकार से स्वार्थ वृत्ति में तीन तत्त्व संनिहित होते हैं—१— आत्मनिष्ठ दशा (सुख), २—वैषयिक कामना को उत्पन्न करने वाली शक्ति—यह आवश्यक रूप से उस वस्तु के अस्तित्व से सम्बन्धित है जिसके प्रति वह उन्मुख होती है, और इसलिए ३—वस्तु का अस्तित्व। सौन्दर्यविषयक निर्णय का सम्बन्ध केवल उस ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष के रूप के साथ होता है जो ध्यान का विषय है। यह केवल ज्ञप्ति से चिपका रहता है और [1]वस्तु के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतएव वैषयिक कामना को उत्पन्न करने वाली वह शक्ति क्रियाशील नहीं हो सकती जो आवश्यक रूप से एक वस्तु के अस्तित्व के साथ सम्बन्धित

१. ब्र० ५०.

है और इसलिए न तो तुष्टि और वैषयिक कामना को उत्पन्न करने वाली शक्ति में कोई सम्बन्ध होता है और न तुष्टि का कोई सम्बन्ध वस्तु के अस्तित्व के ही साथ होता है। इसलिए सौन्दर्यपूर्ण वस्तु का निर्णय स्वार्थवृत्तिशून्य होता है।

कल्याणकारीवस्तुविषयक निर्णय का सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय से भेद

कल्याणकारीवस्तुविषयक निर्णय से सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय का वही भेद है जो भेद सुखदायी वस्तु और सौन्दर्यपूर्ण वस्तु विषयक निर्णयों में है। अर्थात् कल्याणकारीवस्तुविषयक निर्णय स्वार्थवृत्तिमय होता है परन्तु सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय स्वार्थवृत्तिशून्य होता है। अब हम यह स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार से कल्याणकारीवस्तुविषयक निर्णय में स्वार्थवृत्ति निहित होती है। कल्याणकारीवस्तुविषयक निर्णय के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

१—भविष्य परिणाम से सम्बन्धित युक्तिशक्ति।

२—उस वस्तु का सामान्यरूप प्रत्यय जिसके विषय में यह निर्णय करना है कि यह कल्याणकारी है।

३—प्रयोजन का सामान्यरूप प्रत्यय।

४—अभिलाषाशक्ति।

सुखदायीवस्तुविषयक निर्णय वस्तु को उस रूप में निरूपित करता है जिस रूप में उसका सम्बन्ध इन्द्रिय से है। यह निर्णय करने के लिए कि यह वस्तु इच्छाशक्ति के विषय के रूप में[1] कल्याणकारी है यह आवश्यक है कि प्रयोजन का सामान्यरूप प्रत्यय (concept of purpose) इसे युक्तिशक्ति के सिद्धान्तों (principles of reason) के अन्दर ले आवे। एक वस्तु का कल्याणकारी होना तभी सिद्ध हो सकता है जब वह किसी के लिए कल्याणकारी हो और इस कारण एक साधन के रूप में तुष्टिप्रद हो, तथा अपने आप में तुष्टिप्रद हो यदि वह स्वयं साध्य (end) है और इसलिए स्वयं कल्याणकारी है।

दोनों सूरतों में प्रयोजन का सामान्यरूप प्रत्यय निहित होता है। अतएव युक्तिशक्ति का अभिलाषा शक्ति से सम्बन्ध होता है इसलिए दोनों ही सूरतों में एक वस्तु की उपस्थिति में तुष्टि उत्पन्न होती है। इस प्रकार से तुष्टि और

---

१. बर०—५१

अभिलाषा शक्ति के उस सम्बन्ध के कारण जो उस वस्तु की सत्ता से संबंधित है, कल्याणकारी वस्तु से सम्बन्धित तुष्टि एक स्वार्थवृत्तिमय (interested) तुष्टि है। सुखकारी एवं कल्याणकारी वस्तुओं से उत्पन्न तुष्टियों में भेद यह है कि सुखदायीवस्तुजनित तुष्टि ऐन्द्रिय तुष्टि है जब कि कल्याणकारीवस्तुजनित तुष्टि युक्तिमूलक (rational) तुष्टि है।

कलास्वादनविषयक निर्णय की सर्वसामान्य प्रामाणिकता
(Universal validity)

जब हमने सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय का भेद सुखकारी तथा कल्याणकारीवस्तुविषयक निर्णय से स्पष्ट किया था तो हमने यह सिद्ध किया था कि सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय स्वार्थवृत्तिशून्य है परन्तु सुखप्रद अथवा कल्याणकारी वस्तु विषयक निर्णय स्वार्थवृत्तिपूर्ण है। परन्तु कलाकृतिविषयक निर्णय का दूसरा विशेष लक्षण सर्वसामान्य प्रामाणिकता, (universal validity) उसके प्रथम विशेष लक्षण, स्वार्थवृत्तिशून्यता से अभिव्यक्त होता है। क्योंकि जिस समय एक व्यक्ति सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय करता है उस समय वह सभी व्यक्तिमूलक उन्मुखताओं[1] से स्वतन्त्र होता है, वह किसी भी रूप में व्यक्तिगत पक्षपात अर्थात् वस्तु के प्रति रुचि अथवा अरुचि से प्रभावित नहीं होता। इस प्रकार के निर्णय में वह व्यक्तित्वविधायक तत्वों से स्वतन्त्र होता है। अतएव वह निर्णय तथा उसमें प्रकटित आनन्द को वह अपनी व्यक्ति से सम्बन्धित नहीं करता। वह यह निर्णय मानों तर्कशास्त्रीय रूप में करता है। अतएव यह सर्वसामान्यरूप में प्रामाणिक होता है।

परन्तु यह तर्कशास्त्रीय निर्णय से भिन्न है। क्योंकि इसकी (सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय की) प्रामाणिकता की उत्पत्ति सामान्यरूप प्रत्यय से नहीं होती। अतएव कलास्वादनविषयक निर्णय की प्रामाणिकता प्रमेयनिष्ठ न होकर प्रमातृनिष्ठ होती है। यह प्रमेयनिष्ठ सम्बन्धों से स्वतन्त्र है। यह निर्णयकर्ता की एक पूर्वमान्यता (presupposition) मात्र है। वह यह पहले से ही मान लेता है कि क्योंकि उसका सौन्दर्य विषयक आनन्द वस्तु के 'रूप' पर निर्भर है और वह वस्तु के अस्तित्व में स्वार्थवृत्ति नहीं रखता इसीलिए सभी लोग उससे वही आनन्द प्राप्त करेंगे।

यह समझना कठिन नहीं है कि सैद्धान्तिक निर्णय किस प्रकार से सर्व-

---

१. बर०—५६

सामान्य प्रामाणिकता का दावा करता है। क्योंकि कान्ट ने बुद्धिशक्ति के सामान्यरूप प्रत्ययों की प्रमेयनिष्ठ प्रामाणिकता को स्थापित किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ क्रिटीक आफ़ प्योर रीज़न में यह सिद्ध किया है कि इन्द्रियगृहीत सामग्री (sense data) पर 'पदार्थों' को बिना प्रयुक्त किये हुए मानवीय ज्ञान असम्भव है। उन सामान्यरूप प्रत्ययों को प्रयुक्त करने के कारण जिनकी प्रमेयनिष्ठ प्रामाणिकता पहले से सिद्ध है सैद्धान्तिक निर्णय सर्वसामान्य प्रामाणिकता का युक्तितः दावा कर सकता है क्योंकि उसका आधार सामान्य सामान्यरूप प्रत्यय है। परन्तु कलास्वादनविषयक निर्णय की सर्वसामान्य प्रामाणिकता समझना कठिन है क्योंकि वह सामान्यरूप प्रत्यय पर आधारित नहीं होता। हम इसको समझ सकते हैं यदि हम उस 'वैषयिक अभिरुचि-शून्यता', 'स्वार्थवृत्तिशून्यता' का अर्थ पूर्णतया समझ लें जो कलात्मक अनुभव का गुणात्मक विशेष लक्षण है। इसका अर्थ यह है कि निर्णयकर्ता व्यक्ति (personality) उन तत्वों से शून्य है जो उसके व्यक्तित्व के विधायक हैं अर्थात् वह उन तत्वों से मुक्त है जो उसको वैषयिक संसार के भौतिक पक्ष से सम्बन्धित करते हैं एवं जो उसको वस्तु के भौतिक अस्तित्व से सुख प्राप्त करने के लिए बाध्य करते हैं। अतएव निर्णयकर्ता प्रमाता कलाकृतिजनित अनुभव में व्यक्तित्व विधायक तत्वों से रहित होकर साधारणीभूत हो जाता है। और क्योंकि कलास्वादनविषयक निर्णय में निरूपण का सम्बन्ध इस प्रकार के साधारणीभूत प्रमाता के साथ होता है इसलिए सर्वसामान्यता इसमें निहित होती है; स्पष्टतया उद्घोषित (asserted) नहीं होती। कलास्वादन-विषयक निर्णय में सर्वसामान्य प्रामाणिकता निहित होती है क्योंकि इसमें निरूपण का सम्बन्ध स्वतन्त्र एवं साधारणीभूत प्रमाता एवं उसके सुख दुःख की संवेदना के साथ होता है।[1] कलाकृतिविषयक निर्णय में 'सर्वसामान्यता तर्कशास्त्रीय न होकर कलात्मक मात्र होती है। कलाकृतिविषयक निर्णय की सर्वसामान्यता'[2] यह घोषित करती है कि इस निर्णय में सभी प्रमाताओं का ऐक्य हो जाता है क्योंकि वे व्यक्तित्वविधायक तत्वों से स्वतन्त्र हो जाते हैं एवं इसमें स्वतन्त्र कल्पनाशक्ति और स्वतन्त्र बुद्धिशक्ति के बीच अनिश्चित (indefinite) सामञ्जस्य होता है।

कलास्वादनविषयक निर्णय की प्रमातृनिष्ठ प्रयोजनपरता

कलास्वादनविषयक निर्णय का तीसरा विशेष लक्षण प्रयोजनशून्य प्रयोजन-

---

१. कैस०—१९४ २. कैस०—१९६–९७

परता अथवा प्रमातृनिष्ठ प्रयोजनपरता है। गत पृष्ठों में हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि कलास्वादनविषयक निर्णय स्वार्थवृत्तिशून्य होता है अर्थात् वस्तु के अस्तित्व के साथ इसका कोई लगाव नहीं होता है, यह वस्तुसाध्यप्रयोजन के विचार से स्वतन्त्र होता है, यह केवल रूप पर ही अपनी मननशक्ति केन्द्रित करता है और वस्तु के भौतिक पक्ष से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार से कलास्वादनविषयक निर्णय का प्रथम विशेष लक्षण 'स्वार्थवृत्तिशून्यता' द्योतित करता है कि यह निर्णय उस प्रयोजन से स्वतन्त्र है जिसे वह वस्तु सिद्ध कर सकती है। क्योंकि जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं कि वह निर्णय जो उस वस्तु के प्रयोजन के निरूपण पर अवलम्बित है जिसके विषय में निर्णय किया जा रहा है कलात्मक निर्णय अथवा सौन्दर्यतत्त्व-विषयक निर्णय नहीं है वरन् व्यावहारिक निर्णय है।

यह विचार स्पष्ट हो सकता है यदि हम कलाशास्त्रीय प्रसंग से भिन्न प्रसंगों में प्रयोजन अथवा प्रयोजनपरता के अर्थ की स्पष्ट व्याख्या करें।

मान लें कि एक व्यक्ति भवन रचना करना चाहता है। इसके पहले कि भवन की वास्तविक रचना की जाय यह आवश्यक है कि योजना का एक ऐसा सुव्यवस्थित चित्र मन में विद्यमान हो जो कर्तव्य क्रिया का निर्धारण और उसका संचालक कर सके। अब प्रश्न यह है कि 'इस मनोगत योजना के पास क्या कोई नियन्त्रक नियम है ?' यदि वह योजना अस्तव्यस्त नहीं है यदि वह नियमशून्य एक संकलन (promiscuous) मात्र नहीं है तो उसके पास एक नियामक नियम होना चाहिए। यह नियम प्रयोजन के तात्त्विक स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह नियम उस लक्ष्य की ज्ञप्ति मात्र है जिसे भवन को सिद्ध करना है—यह वह ज्ञप्ति है जो भवन का निमित्त कारण है, यह वह ज्ञप्ति है जिसके अभाव में भवन का अस्तित्व नहीं हो सकता। अतएव ऐसे प्रसंग में प्रयोजन का अर्थ वह अभीष्ट कार्य है जिसे भवन पूर्ण होने पर सिद्ध करता है। यह अभीष्ट कार्य मन में सुव्यवस्थित योजना चित्र की रचना का नियन्त्रण करता है। यह एक कारण है जिसका वास्तविक भवन केवल कार्य मात्र है।

इस प्रकार से जिस समय हम एक वस्तु को प्रयोजनपर (purposive) निर्धारित करते हैं उस समय हमारा अर्थ यह होता है कि हमारे सामने वर्तमान वस्तु उस लक्ष्य की ज्ञप्ति (idea of end) का कार्य है जिस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए इसकी रचना की गई है। एवं यह कि यह उस

मानसिक योजना चित्र का प्रतिनिरूपण है जिसने एक लक्ष्य की ज्ञप्ति के अनुशासन में जन्म लिया था। अतः प्रयोजनपरता एक वह लक्ष्य की ज्ञप्ति की कारणता[1] (causality) है जो उस भौतिक वस्तु के रूप में एक 'कार्य' को उत्पन्न करती है जो उस मानसिक योजना चित्र का भौतिक प्रतिनिरूपण मात्र है जो उत्पादक क्रिया का पथ प्रदर्शक है।

कलास्वादनविषयक निर्णय में उपर्युक्त शब्दार्थ के अनुसार प्रयोजनपरता नहीं होती। इस प्रकार की प्रयोजनपरता ज्ञेयवस्तुनिष्ठ प्रयोजनपरता है। कलास्वादनविषयक निर्णय ज्ञेयवस्तुनिष्ठ प्रयोजन (objective purpose) से युक्त नहीं होता। इस निर्णय में प्रयोजनपरता तो होती है परन्तु यह प्रयोजनपरता केवल प्रमातृनिष्ठ है। प्रयोजनपरता का वह नियम जो कलाकृतिविषयक निर्णय में क्रियाशील होता है विधायक न होकर नियामक अथवा ध्याननियन्त्रक होता है। इस मान्यता को स्थापित करने में कि कलास्वादनविषयक निर्णय के प्रसंग में क्रियाशील नियम विधायक नहीं हैं कान्ट यह मानते हुए से लगते हैं कि वस्तु के प्रतिनिरूपण में प्रयोजन की ज्ञप्ति कोई विधायक तत्व नहीं है। यह पूर्णरूप एक वस्तु के विचार का कोई अंग नहीं है जैसा कि एक इन्द्रियानुभूत वस्तु, उदाहरण के लिए गतपृष्ठ पर कथित भवन के विषय में होता है। कलास्वादनविषयक निर्णय के प्रसंग में प्रयोजनपरता का नियम वहीं तक क्रियाशील है जहां तक ध्यान करने मात्र के लिए इसकी पूर्वकल्पना (assume) कर ली जाती है। क्योंकि अपने सम्मुख वर्तमान वस्तु की सम्भावना[2] का स्पष्टीकरण हम तब तक नहीं कर सकते जब तक एक उस लक्ष्य की ज्ञप्ति रूप निमित्त कारण की पूर्वकल्पना न कर लें जो वह प्रयोजन है जिसने उस मानसिक योजनाचित्र का नियन्त्रण किया था जिसको हम भौतिक उपादान सामग्री में प्रतिनिरूपित किया हुआ पाते हैं। कलाकृतिविषयक निर्णय में इसकी पूर्वकल्पना करने में हम वस्तु के भौतिक पक्ष में स्वार्थवृत्ति से स्वतन्त्र होते हैं। हमारा ध्यान केवल 'रूप' और इस 'रूप' को अपने मानस चक्षुओं के सामने प्रतिनिरूपित करने की शक्ति के परस्पर सम्बन्ध पर ही केन्द्रित रहता है। जिस समय हम एक वस्तु के विषय में यह निर्णय करते हैं कि वह प्रयोजनपर है परन्तु उस प्रयोजन को वस्तु के कार्य, अर्थात् बुद्धिशक्ति और कल्पनाशक्ति को अनिश्चित सामंजस्य में काम करने के लिये उत्प्रेरित करने, से संबंधित करते हैं उस समय हमारी प्रयोजन-

१. बर०-२७६ २. कैस०-२०३

परता की ज्ञप्ति वस्तुगत सम्बन्ध से स्वतन्त्र होती है। इसका उस परिणाम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता जिसको भौतिक संसार में उत्पन्न करना उस वस्तु का उद्देश्य है, इसका सम्बन्ध ज्ञातृनिष्ठ ही होता है अथवा इसका संबंध केवल मानसिक शक्तियों के सामंजस्य मात्र से होता है। अतएव प्रयोजनपरता का वह नियम जिसका उपयोग कलाविषयक निर्णय में करते हैं शुद्ध रूप से ज्ञातृनिष्ठ होता है। यह प्रयोजनपरता का वह नियम है जिसमें वस्तुनिष्ठ प्रयोजन नहीं होता है अतएव इसको 'वस्तुनिष्ठ प्रयोजनपरता' के विरुद्ध 'ज्ञातृनिष्ठ प्रयोजनपरता' कहते हैं। यह प्रयोजनशून्य प्रयोजनपरता है।

सौन्दर्यविषयकनिर्णयकर्ता प्रयोजनशून्य प्रयोजनपरता के जिस नियम की पूर्वकल्पना करता है वह कुछ ऐसा है जिसके विषय में यह कह सकते हैं कि यह प्रदर्शन (कलाकृति) के प्रति दर्शक के विचार क्रम को निर्धारित करता है, यह निर्णयकर्ता को कलाकृति के भौतिक अंश से स्वार्थपूर्ति करने के विचार से विमुक्त करता है, यह स्वार्थवृत्तिशून्यता को उत्पन्न करता है, यह निर्णयकर्त्ता को व्यक्तित्वविधायक तत्वों से स्वतन्त्र रखता है। परन्तु व्यक्ति का साधारणीकरण (universalisation) वस्तु के भौतिक अंश में अभिरुचिशून्यता, स्वार्थवृत्तिशून्यता का परिणाम मात्र है। यह अपने को स्वतन्त्र कल्पनाशक्ति और स्वतन्त्र बुद्धिशक्ति के सामंजस्य में अभिव्यक्त करता है क्योंकि सामंजस्य की संवेदना प्रयोजनशून्य प्रयोजनपरता के नियम का परिणाम नहीं है वरन् उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। अतएव कलास्वादनविषयक निर्णय 'संबंध' (पदार्थ) के अनुसार प्रयोजन हीन प्रयोजनपर है।

कलाविषयक निर्णय आवश्यक है

कलाविषयक निर्णय 'प्रकारता' (modality) (पदार्थ) के अनुसार 'आवश्यक'[१] है। 'हम मानते हैं कि सौन्दर्यपूर्ण का तुष्टि के साथ आवश्यक संबंध है।' यह आवश्यकता विचित्र प्रकार की है। यह सैद्धान्तिक आवश्यकता एवं व्यावहारिक आवश्यकता दोनों से भिन्न है। यह सैद्धान्तिक आवश्यकता से भिन्न है क्योंकि यदि यह भिन्न न होती तो अनुभव के पहिले ही (a priori) यह ज्ञात हो जाता कि उस सौन्दर्यपूर्ण वस्तु से सभी लोग समान तुष्टि का अनुभव करेंगे। यह व्यावहारिक आवश्यकता भी नहीं है

१. बर०—९१

क्योंकि उस दशा में तुष्टि एक वस्तुनिष्ठ नियम (objective law) का आवश्यक परिणाम होगी। अतएव कलाविषयक निर्णय में जिस 'आवश्यकता' को हम मानते हैं वह निदर्शनात्मक (exemplary) है। यह उस निर्णय के विषय में सभी लोगों के ऐकमत्य की वह आवश्यकता है जिसको एक ऐसे सार्वत्रिक नियम का दृष्टान्त मानते हैं जिसका उल्लेख निश्चित रूप में नहीं कर सकते। कलाविषयक निर्णय वस्तुनिष्ठ उस सैद्धान्तिक निर्णय से भिन्न है जिसकी आवश्यकता निश्चित सामान्यरूप प्रत्यय से उपलब्ध होती है क्योंकि कलाजनित अनुभव में कल्पनाशक्ति और बुद्धिशक्ति का सम्बन्ध अनिश्चित (indeterminate) होता है। अतएव कलाविषयक निर्णय के प्रसंग में 'आवश्यकता' का स्वरूप सैद्धान्तिक निर्णय के प्रसंग में मानी गई आवश्यकता से भिन्न होता है। यह केवल ज्ञातृनिष्ठ एक आवश्यकता है। यह प्रत्येक की स्वकृति का दावा रखती है। वह व्यक्ति जो एक वस्तु के विषय में कलात्मक निर्णय करता है दावे के साथ यह मानता है कि उस वस्तु के विषय में प्रत्येक व्यक्ति का निर्णय उसी प्रकार का होना चाहिए जिस प्रकार का निर्णय वह स्वयं करता है। सब के मतैक्य के दावे का कारण यह है कि इस निर्णय का आधार सर्वसामान्य होता है।

परन्तु इस प्रकार से स्थापित आवश्यकता सोपाधिक (conditioned) होती है। इस आवश्यकता की उपाधि सामान्य इन्द्रिय (common sense) है। यह सामान्य इन्द्रिय एक ऐसा प्रमातृनिष्ठ तत्व[1] है जो सामन्यरूप प्रत्यय के आधार पर नहीं वरन् संवेदना के आधार पर यह निर्णय करता है कि एक वस्तु सुखदायी अथवा दुःखदायी है या नहीं है, लेकिन फिर भी यह मानता है कि इसके निर्णय में सर्वसामान्य प्रामाणिकता (universal validity) है। यह 'सामान्य इन्द्रिय' बुद्धिशक्ति से भिन्न है क्योंकि यह सामान्यरूप प्रत्यय के आधार पर नहीं वरन संवेदना के आधार पर निर्णय करती है। कलास्वादन-विषयक निर्णय इस सामान्य इन्द्रिय की पूर्णकल्पना (presupposition) कर लेने पर ही संभव है।

भव्यता के विषय में कलात्मक निर्णय का स्वरूप

कान्ट के मतानुसार कलात्मक निर्णय दो प्रकार का होता है (१) सौन्दर्यपूर्ण वस्तु के विषय में एवं (२) भव्यतापूर्ण वस्तु के विषय में। गत

---

१. बर०–९२–१

उपप्रकरणों में हमने कुछ विस्तार के साथ सौन्दर्यपूर्ण वस्तु के विषय में कलात्मक निर्णय के स्वरूप की व्याख्या की है। भव्यतापूर्णवस्तुविषयक कलात्मक निर्णय के विशेष लक्षणों का उल्लेख करने के पूर्व हम अपने पाठकों का ध्यान उन लक्षणों की ओर आकर्षित करेंगे जो सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक निर्णय में भी समान रूप से प्राप्त होते हैं। वस्तुतः स्वयं कान्ट भव्यता के निरूपण का प्रारम्भ उन लक्षणों के उल्लेख से करते हैं जो समान रूप में दोनों में पाए जाते हैं। इन समान रूप में प्राप्त लक्षणों को संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से कह सकते हैं :—

(१) दोनों स्वतः आनन्ददायक हैं।

(२) दोनों ही तर्कमूलक न होकर ध्यानप्रवणतामूलक हैं।

(३) इनसे उत्पन्न तुष्टि न तो उस प्रकार की है जो इन्द्रियबोध पर निर्भर है और ऐन्द्रियसुखदायक वस्तु से प्राप्त होती है और न उस प्रकार की है जो एक निश्चित सामान्यरूप प्रत्यय से सम्बन्धित है और कल्याणकारी वस्तु से प्राप्त होती है।

(४) इनका संबंध अनिश्चितस्वरूप सामान्यरूप प्रत्ययों के साथ होता है।

(५) बोधजनक स्वतन्त्र शक्तियों के बीच अनिश्चितरूप सामंजस्य से दोनों का संबंध है।

(६) ये दोनों विलक्षण (singular) होते हैं।

(७) ये दोनों सर्वसामान्य एवं आवश्यक हैं।

सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक एवं भव्यतापूर्णवस्तुविषयक निर्णयों में भेदजनक बातें निम्नलिखित हैं :—

१—प्राकृतिक[1] क्षेत्र में सौन्दर्यपूर्ण विषयक अनुभव का संबंध वस्तु के ऐसे रूप से होता है जो निश्चित रूप से सीमित है। परन्तु भव्यता का संबंध वस्तु के ऐसे रूप के साथ होता है जो निःसीम है यद्यपि इसकी सम्पूर्णता मनोग्राह्य है।

२—अतएव यह मानते हैं कि सौन्दर्यपूर्ण वस्तु बुद्धिशक्ति के अनिश्चितस्वरूप सामान्यरूप प्रत्यय को परन्तु भव्यतापूर्ण युक्तिशक्ति की एक अनिश्चितरूप ज्ञप्ति को निरूपित करती है।

३—सौन्दर्यपूर्ण के संबंध में तुष्टि गुण के निरूपण से सम्बद्ध होती है जब कि भव्यता के संबंध में यह तुष्टि मात्रा (परिमाण) के साथ संबद्ध होती है।

---

१. बर० १०२–३

४—सौन्दर्य से जो तुष्टि प्राप्त होती है वह भव्यता से प्राप्त तुष्टि से सर्वथा भिन्न है। सौन्दर्यपूर्ण के अनुभव में आनन्द की उत्पत्ति प्रत्यक्षतः होती है 'क्योंकि सौन्दर्यपूर्ण प्रत्यक्षतः अपने साथ जीवनवृद्धि (furtherance of life) की संवेदना को लाता है।' परन्तु भव्यता के प्रसंग में आनन्द की उत्पत्ति केवल अप्रत्यक्षतः ही होती है। इसकी उत्पत्ति प्राण शक्तियों की क्षणिक अवरुद्धता एवं तत्परिणामस्वरूप उनके समनन्तर प्रबलतर प्रवाह से होती है।

५—भव्यता से उत्पन्न तुष्टि में प्रशंसा और आदर की अपेक्षा भावात्मक (positive) आनन्द की मात्रा कम होती है। अतएव यह अभावात्मक (negative) आनन्द है।

६—प्रकृतिलोकगत सौन्दर्यपूर्ण वस्तु अपने रूप में प्रयोजनपरता को प्रदर्शित करती है और इस कारण निर्णय करने के पहले ही वह निर्णयानुकूल (preadapted to judgement) मालूम पड़ती है। अतएव स्वयं में वह एक तुष्टिदायक वस्तु बन जाती है। परन्तु प्रकृति लोक गत भव्यतापूर्ण वस्तु अपने रूप में प्रयोजनपरता के नियम को खण्डित करती हुई सी ज्ञात होती है अतएव यह हमारी निर्णयशक्ति के अनुकूल नहीं होती, हमारी निरूपणशक्ति के लिए भी यह उपयुक्त नहीं है, यह हमारी कल्पना पर आघात-सा करती है।

सौन्दर्य और भव्यता में जो भेदजनक बातें हैं उनका उल्लेख हमने गत पङ्क्तियों में किया है। इन बातों में से अन्तिम बात को कान्ट सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण मानते हैं। अतएव अब हम यह समझाने की चेष्टा करेंगे कि इस भेद का (संख्या ६) अर्थ क्या है ?

हम यह कह चुके हैं कि प्रकृति लोक में सौन्दर्यपूर्ण वस्तु प्रयोजनपरता को प्रकट करती है। प्रकृतिक्षेत्रगत उस रूप को जिसको हम प्रयोजनपर मानते हैं उन यान्त्रिक नियमों के अनुसार स्पष्ट नहीं कर सकते हैं जो स्फटिक जैसी प्राकृतिक वस्तु की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। सौन्दर्य-पूर्ण वस्तु के प्रसङ्ग में प्रकृति यान्त्रिक ढङ्ग से नहीं वरन् रचनाविधि सम्बन्धी ढङ्ग से (technically) काम करती है। ऐसा ज्ञात होता है कि एक कलाकार की भाँति वह किसी योजना के अनुसार काम करती है।

प्रकृति पर योजनानुसारिता के आरोपण का कारण केवल यह है कि अन्य किसी प्रकार से हम अपने को यह समझा नहीं सकते हैं कि प्रकृतिगत सौन्दर्य का सम्बन्ध इस अंश में प्रमातृनिष्ठ ही होता है कि प्रकृति का प्रयोजन कल्पनाशक्ति और बुद्धिशक्ति के बीच सामञ्जस्य को उत्पन्न करना है। हम

एक वस्तु को सौन्दर्यपूर्ण[1] इस आधार पर मानते हैं कि वस्तु का बोध करती हुई कल्पना यह अनुभव नहीं करती कि यह केवल असम्बन्धित अंशों से बनी हुई एक अनेकता है परन्तु यह अनुभव करती है कि व्यवस्था और सीमा का कोई नियम है जो अनुभूत अनेकता को सम्बन्धित करता है, यद्यपि वह अनिश्चित रूप है। हमको यह अनुभव होता है कि वह वस्तु जिसे हम अपने प्रति निरूपित करते हैं नितान्त रूपशून्य नहीं है और यह कि बुद्धिशक्ति कल्पना को एक कोई अनिश्चितरूप नियम प्रदान करती है जिसके अनुसार वह क्रियाशील होती है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि प्रयोजनशून्य प्रयोजनशीलता के नियम को केवल उस वस्तु के प्रसङ्ग में ध्यान का नियन्त्रक (principle of reflexion) मान सकते हैं जिसको हम रूपहीन अनुभव नहीं करते हैं।[2] अतएव भव्यता की अनुभूति के प्रसङ्ग में हमारे सामने समस्या यह आती है—'हम किस प्रकार से उस वस्तु को जिसके विषय में हम यह निर्णय करते हैं कि यह भव्य है प्रयोजनपरता को प्रकट करने वाली, क्रमपूर्ण व्यवस्था का निरूपण करने वाली, मान सकते हैं? क्योंकि एक वस्तु को भव्य हम इसीलिए कहते हैं क्योंकि वह रूपहीन है। एक वस्तु की भव्यता इस बात में निहित होती है कि उसमें अंशों की अनेकता उस मात्रा से अधिक होती है जिसे हमारी कल्पना ग्रहण कर सकती है।

इस समस्या के कान्टकृत समाधान को निम्नरूप में कह सकते हैं :—

भव्य के विषय में हमारे निर्णय का आधार कल्पना और बुद्धि के बीच अनिश्चित एवं अनिश्चेय सम्बन्ध नहीं है जैसा कि सौन्दर्यशाली के अनुभव में होता है, वरन् इसका आधार कल्पना तथा युक्तिशक्ति के बीच ऐसा ही सम्बन्ध है। भव्यविषयक निर्णय के विषय में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि केवल इसी के कारण से कि कल्पना इन्द्रियबोध्य वर्तमान वस्तु का पूर्णतया ग्रहण नहीं कर सकती, ज्ञाता यह अनुभव करता है कि वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष के तल से ऊपर उठ गया है। वस्तु का प्रतिनिरूपण करते हुए मन इस वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने में अपने को असमर्थ पाता है। अतएव उसको युक्तिशक्ति एवं उसकी उन ज्ञप्तियों का आश्रय लेना पड़ता है जो उस लोक के नियम हैं जो इन्द्रियबोध्य लोक के परे हैं। तदनुसार मन उस वस्तु को, जिसका पूर्णतया ग्रहण कल्पनाशक्ति नहीं कर

---

१. कैस० २२०   २. कैस० २२१

सकती, युक्तिशक्ति की एक अनिश्चित स्वरूप ज्ञप्ति का निरूपण मानता है। क्योंकि युक्तिशक्ति की ज्ञप्तियाँ इन्द्रियबोध्यातीत असीम संसार की ज्ञप्तियाँ हैं। अतएव भव्यविषयक निर्णय के प्रसङ्ग में प्रयोजनपरता का नियम कल्पना और युक्तिशक्ति के बीच सम्बन्ध को सूचित करता है।

कल्पना एवं युक्तिशक्ति के परस्पर सम्बन्ध के स्वरूप का उल्लेख निम्न प्रकार[1] से कर सकते हैं :—

भव्यविषयक निर्णय में निर्णयशक्ति इस आधार पर एक वस्तु को सम्पूर्णतया महान् निर्णीत करती है कि उसको इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है कि इन्द्रियबोध्य जगत् में कल्पना इतने महान् मापकदण्ड को पाने में असमर्थ है जो वर्तमान वस्तु की महानता को नापने में मापकदण्ड का कार्य करने में समर्थ हो। ऐसी परिस्थिति निर्णयकर्ता को एक भिन्न मापकदण्ड अर्थात् इन्द्रियबोध्यातीत की उस ज्ञप्ति को स्मरण करने के लिए उत्प्रेरित करती है जिसकी तुलना में इन्द्रियज्ञेय संसार की प्रत्येक वस्तु अतीव छोटी होती है। ऐसा करने में यह कल्पना को युक्तिशक्ति से सम्बन्धित करती है। परन्तु क्योंकि यह निर्णय कलाविषयक निर्णय है इसलिए कल्पना को युक्तिशक्ति की किसी निश्चित ज्ञप्ति से सम्बन्धित नहीं वरन् केवल सामान्यरूप युक्तिशक्ति के नियम से सम्बन्धित किया जाता है।

अनिश्चितस्वरूप बुद्धिशक्ति के सामान्यरूप प्रत्ययों के अनुकूल कल्पना हो सके इसलिए जिस प्रकार से सौन्दर्यवान के विषय में कलाविषयक निर्णय अपनी स्वतन्त्र क्रीड़ा में व्यस्त कल्पनाशक्ति को बुद्धिशक्ति से सम्बन्धित करता है उसी प्रकार से भव्यविषयक निर्णय के प्रसंग में यह (कलाविषयक निर्णय) सामान्यरूप युक्तिशक्ति को ज्ञप्तियों से अपनी अनुकूलता लाने के लिए कल्पनाशक्ति को युक्तिशक्ति से संबंधित करता है।

इस प्रकार से वह वस्तु जिसके विषय में यह निर्णय किया जाता है कि 'भव्य'[2] है निर्णयकर्ता के मन से सम्बन्धित होने पर ही प्रयोजनपर होती है। यह केवल उसी सीमा तक प्रयोजनपर होती है जहाँ तक यह कल्पनाशक्ति एवं युक्तिशक्ति के अनिश्चित रूप संबंध को उत्पन्न करती है। भव्य से सम्बन्धित निर्णयकर्ता में इस तथ्य का बोध उत्पन्न हो जाता है कि वह एक युक्तिशक्तिमान् प्राणी है और उसकी बोधसीमा केवल इन्द्रियबोध्य जगत तक ही नहीं है। उसमें इस तथ्य का बोध उत्पन्न हो जाता है कि वह इन्द्रियबोध्य जगत

१. कैस० २३६ २. कैस० २३७

से ऊपर उठ सकता है और इस शक्ति का ज्ञान उसको शुद्ध प्रमातृनिष्ठ आनन्द से परिपूर्ण कर देता है।

कान्ट यह मानते हैं कि किसी प्राकृतिक वस्तु को भव्य कहना गलत है। क्योंकि किस प्रकार से वह वस्तु तुष्टि का स्रोत मानी जा सकती है जिसके विषय में हमारा अनुभव यह है कि यह प्रयोजन को भग्न करती है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वस्तु उस भव्यता का अपूर्ण निरूपण मात्र है जिसको केवल मन में ही प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी इन्द्रियबोध्य वस्तु शुद्ध भव्यता से पूर्ण नहीं हो सकती। भव्यता का सम्बन्ध केवल युक्ति-शक्ति की उन ज्ञप्तियों के साथ है जो उस समय प्रेक्षक के अन्तःकरण में उठ खड़ी होती हैं, आहूत होती हैं, जिस समय उनको एक इन्द्रियबोध्य वस्तु में अपूर्णतया प्रदर्शित किया जाता है।

सौन्दर्यवान वस्तु के अनुभव में मन शान्तदशा में होता है। परन्तु भव्यता के अनुभव में यह गतिमान होता है।

भव्यता के भेद

कान्ट ने भव्यता[1] के दो भेद प्रतिपादित किए हैं:—

(१) गणितमूलक भव्य (mathematically sublime) एवं (२) गतिमान भव्य (dynamically sublime) इसका कारण वे यह मानते हैं कि निम्नलिखित दो आधारों पर प्रकृति को हम भव्य उद्घोषित करते हैं—

१—प्रकृति हमको ऐसी वस्तुएँ प्रदान करती है जिनको हम असीम रूप से महान मानते हैं और जिनको हम पूर्ण विशालता (magnitude) से युक्त समझते हैं।

२—प्रकृति की कुछ कृतियाँ ऐसी होती हैं जिनसे वह (प्रकृति) हममें यह संवेदना उत्पन्न करती है कि उसका हमारे ऊपर पूर्ण प्रभुत्व है। प्रथम तथ्य (संख्या १) के कारण हम प्रकृति को गणितमूलक भव्य मानते हैं और दूसरे तथ्य (संख्या २) के कारण इसको गतिमान भव्य मानते हैं।

सामान्यतः भव्य

इसके पूर्व कि हम दोनों प्रकारों के भव्यों की व्याख्या करें हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि सामान्यतः भव्य का क्या अर्थ है। सामान्यतः भव्य वह है जिसके विषय में हम यह निर्णय करते हैं कि यह संपूर्णतया महान् है।

१. बर० १०५

संपूर्णतया महान् (१) बुद्धिशक्ति का कोई सामान्यरूप प्रत्यय नहीं है (२) न इन्द्रिय ग्राह्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष है (३) न युक्तिशक्ति का कोई सामान्य रूप प्रत्यय है। यह बुद्धिशक्ति का सामान्य रूप प्रत्यय नहीं है इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं:—

अनुभवोत्पत्ति के पूर्व (a priori) हम यह कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय-गोचर वस्तु परिमाण युक्त होगी। इस कथन के लिए किसी एक वस्तु की अन्य वस्तुओं के साथ तुलना करना आवश्यक नहीं है। ऐसा कहने के लिए हम इसलिए समर्थ हैं क्योंकि 'परिमाण' बुद्धिशक्ति का एक अनुभवप्राग्भावी पदार्थ है। और इसलिए जबतक इन्द्रियबोध्य वस्तु को हम इस पदार्थ के अन्दर समावेशित न कर दें तबतक कोई बोध सम्भव नहीं है। परन्तु किसी निश्चित परिमाण को हम अनुभवप्राग्भावी नहीं कह सकते हैं। एक इन्द्रिय-बोध्य वस्तु के परिमाण को निश्चित करने के लिए अर्थात् यह निश्चित रूप में कहने के लिए कि वस्तु का परिमाण कितना है हमको इसकी तुलना किसी मापक मानदण्ड से अथवा उपमान से करना आवश्यक है। मापक मानदण्ड के रूप में मानी गई इकाई के सम्बन्ध में ही केवल कोई वस्तु बड़ी होती है। इस प्रकार से एक नगर को हम विशाल उसी समय मानते हैं जब वह बहुत मीलों में विस्तृत हो। अतएव भव्यता के निर्णय में निहित 'पूर्णतया महान्' का प्रत्यय बुद्धिशक्ति के सामान्यरूप प्रत्यय से भिन्न है क्योंकि इसका निहितार्थ अतुलनीय महानता है।

इसको युक्तिशक्ति का सामान्यरूप प्रत्यय भी नहीं मान सकते हैं। क्योंकि युक्तिशक्ति के सामान्यरूप प्रत्यय इन्द्रिय अगोचर लोक से सम्बन्धित हैं। अतएव यदि 'पूर्णतया महान्' युक्तिशक्ति का सामान्य रूप प्रत्यय होता तो इसका व्यवहार इन्द्रियबोध्यवस्तुविषयक निर्णय में नहीं किया जा सकता था। इसलिए 'पूर्णतया महान' का प्रत्यय कलास्वादनविषयक निर्णयशक्ति के अन्तर्गत आता है जिसका सम्बन्ध किसी भी बुद्धिशक्ति के नियम के साथ उस समय नहीं होता है जिस समय किसी वस्तु का 'पूर्णतया महान' के रूप में यह शक्ति निर्णय करती है। 'यह वस्तु पूर्णतया महान् है' इस प्रकार का निर्णय केवल इस संवेदना से सम्बन्धित होता है कि हम यह कल्पना नहीं कर सकते हैं कि इससे भी अधिक महान वस्तु कोई दूसरी हो सकती है।

गणितमूलक भव्य

गणितमूलक महान गणितमूलक भव्य से भिन्न है। गणितमूलक महान एक सैद्धान्तिक निर्णय है। इसका सम्बन्ध बुद्धिशक्ति के सामान्यरूप

प्रत्यय के साथ है। यह मापक मानदण्ड के साथ सम्बन्धित है। इसमें एक ऐसी 'इकाई' का विचार निहित है जिसको ऐसा मापक मानदण्ड मानते हैं जिसकी संख्या के बाहुल्य के आधार पर बोध्य वस्तु की महानता का स्पष्टीकरण करते हैं। परन्तु 'गणितमूलक भव्य' एक ध्यानमूलक कलास्वादनविषयक निर्णय है। बुद्धिशक्ति के किसी निश्चितस्वरूप सामान्यरूप प्रत्यय के साथ वह सम्बन्धित नहीं है। यह सैद्धान्तिक भूमि का स्पर्श नहीं करता। यह एक मूल संवेदनामूलक निर्णय है। इसमें कोई तुलना निहित नहीं होती है। यह इस संवेदना पर आधारित है कि वर्तमान बोध्य वस्तु की अपेक्षा किसी अन्य वस्तु की अधिक महानता की कल्पना करना असम्भव है। इसको गणितमूलक भव्य इसलिए कहते हैं क्योंकि यह एक ऐसा निर्णय है जिसका सम्बन्ध 'महानता' से है, और इस प्रकार के सभी निर्णय गणितमूलक होते हैं।

गणितमूलक भव्य में आदर की भावना

गणितमूलकभव्यविषयक निर्णय अपने को 'वस्तु के प्रति आदर की संवेदना में' अर्थात् 'उस ज्ञप्ति तक पहुँचने की असमर्थता की संवेदना में जो हमारे लिए एक नियम है' प्रकट करता है। परन्तु यथार्थतः आदर वस्तु के प्रति नहीं होता वरन् युक्तिशक्ति के नियम के प्रति होता है। यह उस आदर की संवेदना के समान है जो 'पूर्णरूप कर्तव्यमीमांसीय नियम[1]' के प्रति होती है। कर्तव्यमीमांसीय आचरण की भूमि पर एक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसके सभी कार्य पूर्णतया कर्तव्यमीमांसीय नियम के अनुसार होना चाहिए जो निरपेक्ष (unconditionally) रूप में आदेश देता है। परन्तु साथ ही साथ उसको अपनी इस असमर्थता का भी बोध रहता है कि वह अपनी सब क्रियाओं का संचालन इस प्रकार से नहीं कर सकता कि वे अनुल्लंघनीय कर्तव्यमीमांसीय नियम के पूर्णतया अनुकूल हों। अवशता का यह अनुभव नियम के प्रति आदर की संवेदना को उत्पन्न करता है। कलास्वादनविषयक निर्णय की सहचरी आदर की संवेदना अधिकांश में कर्तव्यमीमांसीय नियम के प्रति आदर की संवेदना के समान होती है। क्योंकि भव्यविषयक निर्णय भी कल्पनाशक्ति की इस असमर्थता का परिणाम स्वरूप होता है कि वह समग्र ज्ञेय वस्तु का ग्रहण एक ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष में नहीं कर सकती।

---

१. कैस० २३८

यह असमर्थता निर्णयकर्ता की युक्तिशक्ति को सम्पूर्ण समग्रता (absolute totality) की ज्ञप्ति के विषय में विचारने को बाध्य करती है। परन्तु भव्य-विषयक निर्णय के साथ वस्तु के प्रति आदर का भाव इसलिये उत्पन्न होता है क्योंकि इसका निरूपण हमको युक्तितत्त्व एवं उसकी सम्पूर्ण समग्रता की ज्ञप्ति से सम्बन्धित करता है। अतएव सूक्ष्म रूप में यदि कहें तो यह कहेंगे कि यह (आदर) वस्तु के प्रति न होकर युक्तितत्त्व के उस नियम के प्रति होता है जिसकी स्मृति विमर्शकर्ता को इसलिए हो जाती है क्योंकि कल्पना ज्ञेय के सब विधायक तत्त्वों को एक ही ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष में ग्रहण नहीं कर सकती है।

सुख और दुःख के मिश्रित अनुभव के स्वरूप में भव्य का अनुभव

हम गत पंक्तियों में यह कह चुके हैं कि भव्यविषयक निर्णय के साथ-साथ युक्ति तत्त्व की उस ज्ञप्ति अर्थात् 'सम्पूर्ण समग्रता' के प्रति आदर की संवेदना होती है जिसको ऐन्द्रिय कल्पना (sensuous imagination) पकड़ नहीं सकती है। भव्य की संवेदना में एक दुःख[1] का अंश भी होता है क्योंकि ज्ञेय वस्तु के सम्पूर्ण तत्त्वों को एक ही इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष से जानने में मन की शक्ति, कल्पना, की असमर्थता का अनुभव होता है। पर इसमें सुख भी होता है क्योंकि इसमें युक्ति की ज्ञप्ति की स्मृति होती है और इस कारण इसमें निर्णयकर्ता इन्द्रियशक्ति की भूमि से उठकर युक्तिशक्ति की भूमि पर पहुँच जाता है।

आदर की संवेदना की विधायक सुख-दुःख की मिश्रित संवेदना[2] अधिकांश रूप में उस संवेदना के समान होती है, जिसका अनुभव हम सदाचार-जन्य अनुभव में करते हैं। क्योंकि सदाचार के नियम के प्रति आदर में एक प्रकार का सुख निहित होता है, क्योंकि यह हमको यह ज्ञान कराता है कि हम सदाचार के नियम से संचालित तथा नियमित हैं और इसलिये इसमें इन्द्रियबोध भूमि से युक्तिशक्ति की भूमि तक उत्थान भी निहित होता है। परन्तु इसमें दुःख का भी एक अंश वर्तमान है क्योंकि अल्पशक्ति से पूर्ण व्यक्ति होने के स्वरूप में सदाचारसम्बन्धी नियम का पूर्णतया पालन करने की अक्षमता का भी बोध होता रहता है।

---

१. बर० ११९ २. कैस० २३९

भव्यविषयक निर्णय में प्रयोजनपरता की विचित्रता

भव्यविषयक निर्णय में युक्तिशक्ति बुद्धिशक्ति का स्थान ले लेती है। इसका अनुभव करने में दो आवश्यक मानसिक शक्तियाँ अर्थात् कल्पना और बुद्धिशक्ति नहीं हैं जो कि सौन्दर्यविषयक निर्णय के लिए आवश्यक हैं वरन् कल्पना और युक्तिशक्ति[1] हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि वे अपने पारस्परिक वैषम्य के कारण संगत होती है (harmonize)। परन्तु सौन्दर्यपूर्णविषयक निर्णय के प्रसंग में जो शक्तियाँ सक्रिय होती हैं उनमें पारस्परिक वैषम्य नहीं होता। उनमें पूर्णतया पारस्परिक अनुरूपता (accord) होती है। सौन्दर्यपूर्णविषयक निर्णय में हम प्रमातृनिष्ठ प्रयोजनपरता इसलिए मानते हैं क्योंकि इसके विषय में निर्णय करने के लिए जिन मानसिक शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है उनमें पारस्परिक अनुरूपता पूर्णतया होती है। परन्तु भव्यविषयक निर्णय के प्रसंग में प्रमातृनिष्ठ प्रयोजनपरता की ज्ञप्ति हमारे इस ज्ञान से उत्पन्न होती है कि कल्पना और युक्तिशक्ति में पारस्परिक संगति का अभाव है परन्तु इस विषमता के बोध में हमें आनन्द आता है क्योंकि युक्तिशक्तियुक्त प्राणी होने के कारण हमें अपनी इन्द्रियशक्ति और युक्तिशक्ति के वैषम्य का अनुभव आनन्दप्रद होता है। कान्ट इस विचार को निम्नलिखित रूप में प्रकट करते हैं:—

"क्योंकि[2] जिस प्रकार से सौन्दर्यपूर्णविषयक निर्णय में कल्पना और बुद्धिशक्ति अपने पारस्परिक सामञ्जस्य की सहायता से मानसिक शक्तियों की प्रमातृनिष्ठ प्रयोजनपरता को उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार से इस (भव्यविषयक निर्णय) के प्रसंग में कल्पना एवं युक्तिशक्ति अपनी विषमता की सहायता से (मानसिक शक्तियों की प्रमातृनिष्ठ प्रयोजनपरता को) उत्पन्न करती हैं। अर्थात् वे यह संवेदना उत्पन्न करती हैं कि हमारे अधिकार में शुद्ध आत्मजीवनपूर्ण (self-subsistent) युक्तिशक्ति अथवा विशालताप्रशंसक वह शक्ति है जिसकी उत्कृष्टता को इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष में केवल उस शक्ति (कल्पना) की अक्षमता से ही स्पष्ट कर सकते हैं.........."

गतिमान भव्य

गतिमान भव्य की व्याख्या का आरम्भ कान्ट ने 'शक्ति' और 'प्रभुत्व' (dominion) के परस्पर भेद को स्पष्ट करते हुए किया है। कान्ट के मता-

---

१. कैस० ७४१ २. बर० १२१

नुसार 'शक्ति'[1] वह है जो महान अवरोधों का अतिक्रमण कर सकती है। इसी शक्ति को उस दशा में प्रभुत्व कहते हैं जिस समय यह उन प्रतिरोधों का अतिक्रमण करती है जो उससे उपस्थित किये जाते हैं जो स्वयं शक्तिमान् है। एक कलाविषयक निर्णय गतिमान भव्य सम्बन्धी होता है अगर निर्णयकर्ता एक प्राकृतिक वस्तु को शक्तिसम्पन्न रूप में देखता है परन्तु यह अनुभव करता है कि उस शक्तिसम्पन्न प्राकृतिक वस्तु का उस (निर्णयकर्ता) पर कोई प्रभुत्व नहीं है, क्योंकि वह एक नैतिक प्राणी (moral being) है। अर्थात् वह प्राकृतिक पदार्थ इतना अधिक प्रबल नहीं है कि वह व्यक्ति इसका प्रतिरोध न कर सके जो अपनी इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का ज्ञाता है, जो इस तथ्य को भलीभांति जानता है कि नैतिक प्राणी के रूप में उस पर प्रकृति की सम्पूर्ण शक्ति अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकती।

एक प्राकृतिक वस्तु के विषय में यह निर्णय करने के लिए कि यह गतिमान भव्य है दूसरी आवश्यक दशा यह है कि इसको केवल शक्तिमान के ही रूप में देखना नहीं चाहिए वरन् भय के स्रोत के रूप में भी देखना चाहिए। वस्तु का अपने मानस चक्षुओं के सामने निरूपण करने में हमको यह अनुभव करना चाहिए कि हम सफलतापूर्वक उसका शारीरिक प्रतिरोध नहीं कर सकते हैं, शारीरिक शक्ति के सम्बन्ध में हमको उस वस्तु को असीम रूप से अपने से महत्तर देखना चाहिए। हमको विचार करना चाहिए कि यह प्राकृतिक वस्तु हमारी शारीरिक सत्ता को नष्ट कर सकती है। इस प्रसंग में वह बात जिस पर सर्वाधिक जोर देना आवश्यक है यह है कि इस तथ्य के होते हुए भी कि हम उस वस्तु को भयोत्पादक मानते हैं हमको यथार्थतः भयभीत नहीं होना चाहिए। क्योंकि यथार्थ भय निर्णयशक्ति की क्रिया को अवरुद्ध कर देता है। अतएव गतिमान भव्यविषयक निर्णय के लिए आवश्यक अन्य दशा प्राकृतिक वस्तु की शारीरिक श्रेष्ठतर शक्ति का विरोध करने में काल्पनिक शारीरिक विवशता की संवेदना है।

इस प्रकार के निर्णय के लिए आवश्यक तीसरी दशा यह है कि हमको अपने नैतिक (moral) व्यक्तित्व का बोध होना चाहिए। जिस प्रकार गणितमूलक भव्य से प्रदत्त सामग्री को एक इन्द्रियबोध्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष में ग्रहण करने की वह अक्षमता जिसका अनुभव कल्पनाशक्तियुक्त प्राणी के रूप में हम करते हैं हमारे अन्तःकरण में 'सम्पूर्ण समग्रता (absolute

---

३. बर० १०३

totality) रूप युक्तिशक्ति की ज्ञप्ति का बोध उत्पन्न करती है और इन्द्रिय-बोध्य भूमि से हमको ऊपर उठाकर युक्तितत्त्व की भूमिपर ले जाती है, उसी प्रकार से एक भयंकर वस्तु में प्रकटित प्रकृति की भौतिक शक्ति को देखने पर वह अक्षमता जिसका अनुभव शारीरिक प्राणी के रूप में हम करते हैं हममें नैतिक व्यक्तित्व का बोध उत्पन्न करती है। हमको शरीर की भूमि से नैतिक भूमि तक ऊपर उठाती है और हममें अपनी नैतिक श्रेष्ठता की संवेदना को उत्प्रेरित करती है।

अतएव एक प्राकृतिक वस्तु का निर्णय गतिमान भव्य के रूप में हम इसलिए करते हैं क्योंकि इसका एक काल्पनिक निरूपण इसकी शक्ति का विरोध करने में अक्षमता की संवेदना की सहायता से हमको अपने नैतिक व्यक्तित्व का बोध कराता है और हमको यह ज्ञान देता है कि प्रकृति हमारे अस्तित्व के शारीरिक अंश को सम्पूर्णतया विनष्ट कर सकती है परन्तु हमारे नैतिक अंश पर उसका कोई प्रभुत्व नहीं है।

हम गत पँक्तियों में यह कह चुके हैं कि (१) गणितमूलक भव्यता एक प्राकृतिक वस्तु का गुण नहीं है वरन् उसकी सत्ता मानवीय बुद्धि में ही होती है। (२) गणितमूलक भव्यविषयक निर्णय में ही निहित संवेदना एक दुःख-सुख मिश्रित संवेदना है। यही सत्य गतिमान भव्य पर भी लागू होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि कान्ट ने उन्हीं प्राकृतिक वस्तुओं को भव्यतापूर्ण लिखा है जिनको बर्क ने प्रकृतिक्षेत्रगत भव्यता के दृष्टान्त के रूप में लिखा था जैसे कि (१) मोटी,[1] ऊपर लटकती हुई, भय उत्पादक पतनोन्मुख शिलाएँ (२) आकाश में लदे हुए घनघोर मेघ जो सौदामिनी के कौंधों से पूर्ण और वज्रगर्जन से युक्त हैं। परन्तु बर्क से उनका मतभेद यह है कि कान्ट के मतानुसार सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भव्यता उस निर्णयकर्ता से सम्बन्धित होती है जो इन्द्रियबोध्य भूमि से युक्तिशक्ति की भूमि पर पहुँचता है जैसा कि गणितमूलक भव्यता के अनुभव में होता है अथवा नैतिक भूमि पर पहुँचता है जैसा कि गतिमान भव्य के प्रसंग में होता है। कान्ट के मतानुसार वह प्राकृतिक वस्तु जिसको भयोत्पादक रूप में देखते हैं 'भव्य का केवल माध्यम (medium) मात्र है (अर्थात् वह वस्तु है जिसकी सहायता से भव्य का अनुभव प्राप्त होता है)। परन्तु अनेक स्थलों पर प्राकृतिक वस्तुओं की चर्चा[2] उन्होंने गतिमान भव्य के रूप में भी की है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वे

१. बर० १२५ २. बर० १३७

प्रकृति में भी सुन्दरता और भव्यता मानते हैं। सौन्दर्यपूर्ण के विषय में कान्ट का अभिमत निम्नलिखित शब्दों में संक्षेपतः उल्लिखित है :—

"प्रकृति सौन्दर्यपूर्ण है क्योंकि यह कलाकृति की भाँति दिखाई देती है, और कलाकृति को केवल तभी सौन्दर्यपूर्ण कह सकते हैं जब हमको उसका बोध कलाकृति के रूप में होता हो और फिर भी वह प्रकृति के समान दिखाई देती हो।"

कलाशास्त्रीय समस्या के प्रति दो दृष्टिकोण

कान्ट कलाशास्त्रीय समस्या को सुलझाने की चेष्टा दो दृष्टिकोणों से करते हैं। (१) एक कलाकृति के निर्णेता के दृष्टिकोण से एवं (२) कलाकृति के उत्पादक (कलाकार) के दृष्टिकोण से।

हमने अभी तक कलास्वादनविषयक निर्णय (judgement of taste) के स्वभाव की व्याख्या की है। इस प्रसंग में हमने 'आस्वादनशक्ति' का उल्लेख चलताऊ ढंग से किया है। आस्वादनशक्ति एक वस्तु के विषय में कलात्मक निर्णय करने की शक्ति है। इस निर्णय का आधार कल्पनाशक्ति की अनिश्चित-स्वरूप नियम के प्रति स्वतन्त्र अनुकूलता है। यह निर्णय स्वतन्त्र कल्पना से सम्बन्धित होता है। परन्तु सौन्दर्यपूर्ण के विषय में निर्णय करने में आस्वादन-शक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। अतएव अब हम इसकी व्याख्या विस्तार-पूर्वक करेंगे।

आस्वादनशक्ति

आस्वादनशक्ति उस मानवीय मन की विशेष शक्ति[1] है जो सौन्दर्यपूर्ण के विषय में निर्णय करती है। यह कल्पना और बुद्धिशक्ति के सामंजस्य का अनुभव[2] करती है। व्यावहारिक और सैद्धान्तिक क्षेत्रों में जो शक्तियां सक्रिय होती हैं उनसे यह शक्ति भिन्न है। इसको आस्वदन[3] शक्ति इसलिए कहते हैं क्योंकि प्रकृति अथवा कला की एक कृति के विषय में निर्णय करने में यह किसी भी प्रकार से युक्तिशक्ति, तर्क अथवा प्रमाण (proof) से प्रभावित नहीं होती। इसको आस्वादनशक्ति उस इन्द्रिय की उपमिति के आधार पर कहते हैं जिसको इसी नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रसंग में कान्ट उसकी केवल प्रतिध्वनि ही उत्पन्न करते हैं जिसको बर्क ने लिखा था। इस

१. बर० १७३ २. कैस० २६३

३. बर० १५८

बात का कारण बताते हुए कि इस शक्ति को वे आस्वादन क्यों कहते हैं वे यह कहते हैं—

क्योंकि यद्यपि एक व्यक्ति एक भोज्य पदार्थ के सब विधायक अंशों की गणना मेरे सामने कर सकता है और मुझको यह बता सकता है कि उस भोज्य पदार्थ का प्रत्येक विधायक अंश मेरे लिए सुखदायी है और न्यायसंगत रूप से इस विशेष भोज्य की प्रशंसा भी कर सकता है फिर भी मैं इन सब युक्तियों को नहीं सुनता। मैं उस भोज्य पदार्थ को जिह्वा और तालु की सहायता से ग्रहण करता हूँ और उसके बाद (सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर नहीं) मैं अपना निर्णय देता हूँ।'[1]

जिस प्रकार से भोज्य की सुस्वादुता की पुष्टि में दिए गए प्रमाण उसको हमारी जिह्वा के लिए रुचिकारी नहीं बना सकते उसी प्रकार से वे प्रमाण जो यह सिद्ध करते हों कि हमारे सामने विद्यमान वस्तु सुन्दर है, हमारी कलास्वादनविषयक निर्णयशक्ति (आस्वादनशक्ति) से 'यह सुन्दर है' ऐसा निर्णय नहीं करवा सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति हमको एक ऐसी कविता सुनाता है जो हमारी रुचि के अनुकूल नहीं है तो कोई भी युक्ति वह चाहे जितने महान प्रमाणों पर आधारित हो हमारी आस्वादनशक्ति (कलास्वादनविषयक निर्णयशक्ति) को प्रभावित नहीं कर सकती। इसका अपना एक अनुभवप्राग्भावी नियम है। परन्तु यह नियम विधायक न होकर ध्यानप्रवणतानियन्त्रक है। यह अनुभवप्राग्भावी नियम 'प्रयोजनशून्य प्रयोजनपरता' अथवा प्रमेयनिष्ठ प्रयोजनपरता के विरुद्ध प्रमातृनिष्ठ प्रयोजनपरता है। अतएव इससे किए हुए निर्णय सर्वमान्य और आवश्यक होते हैं।

कान्ट प्रतिपादित 'आस्वादनशक्ति' का तात्विक स्वरूप अनुभवैकप्रमाणवादियों से स्वीकृत तद्विषयक तात्विकस्वरूप से मूलतः भिन्न है। अनुभवैकप्रामाणवादी यह मानते हैं कि यह 'आस्वादनशक्ति' संस्करणीय एवं शिक्षणीय है। परन्तु कान्ट इसको अनुभवप्राग्भावी मानते हैं। कान्ट का अभिमत यह है कि कलास्वादनविषयक निर्णय के लिए यद्यपि संस्कृति' का होना आवश्यक है फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि यह आस्वादन मूलतः संस्कृतिजन्य है। जिस प्रकार सदाचारिक ज्ञप्तियों (moral ideas) की संवेदना की मानव समाज में सत्ता केवल परम्परागत नहीं होती वरन् उसकी जड़ें मानवीय स्वभाव के मूल में होती हैं उसी प्रकार से आस्वादन अर्थात् सौन्दर्य के प्रति भावुकता,

१. कैस० २४६

सहृदयता, परम्परामूलक न होकर जन्मजात और स्वाभाविक होती हैं। जब हम एक व्यक्ति को सौन्दर्य से प्रभावित होता हुआ नहीं देखते तो हम यह कहते हैं कि 'अमुक व्यक्ति में आस्वादनशक्ति का अभाव है'। जिस समय हम किसी व्यक्ति को उससे उदासीन देखते हैं जिसके विषय में हम यह निर्णय करते हैं कि यह भव्य है तो हम यह कहते हैं कि 'अमुक व्यक्ति में संवेदना का अभाव है।' प्रत्येक व्यक्ति में संवेदना और कलास्वादनशक्ति की सत्ता को हम आवश्यक मानते हैं। आस्वादन और संवेदना में भेद इतना है कि सौन्दर्यपूर्णवस्तुविषयक कलात्मक निर्णय के प्रसंग में हम प्रत्येक व्यक्ति की स्वभावतः सहमति की मांग करते हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में नैतिक संवेदना का अस्तित्व है यह मानने (assumption) के कारण भव्यविषयक कलात्मक निर्णय के प्रसंग में हम प्रत्येक व्यक्ति की सहमति आवश्यक मानते हैं।

मन की इस शक्ति (अस्वादन) से जो निर्णय किया जाता है उसका निरूपित वस्तु के भौतिक अंश से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे निर्णय रूप मात्र से सम्बन्धित होते हैं उनमें बुद्धिशक्ति का पदार्थ निहित नहीं होता।

कलाकार का दृष्टिकोण

कलाकार के दृष्टिकोण से कला की समस्या का समाधान करते हुए कान्ट ने निम्नलिखित प्रश्नों को उठाया है :—

१—मन की वे कौन-सी शक्तियां हैं जो ऐसी कलाकृतियों को उत्पन्न करतीं हैं जिनके विषय में यह निर्णय किया जाता है कि ये सर्वसामान्य एवं आवश्यक रूप में सौन्दर्यपूर्ण हैं ?

२—क्या कलाकार के पास किसी विशेष मानसिक शक्ति का होना आवश्यक है ?

३—क्या कला अनुकृति है ?

४—कलाकृति के उत्पादन में नियमों का क्या महत्व है ?

५—कलाकृतियों की आत्मा अथवा प्राण क्या है ?

जब कान्ट ने इन प्रश्नों को उठाया था तो उनके मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की कला का स्वरूप वर्तमान था। उपर्युक्त प्रश्नों का सम्बन्ध कुछ प्रकार की कलाओं से है—उनके अतिरिक्त जो कलायें हैं उनसे इन प्रश्नों का कोई सम्बन्ध नहीं है। तथ्य यह है कि कलाओं का विभाजन उन्होंने दो वर्गों में किया था।

(१) यांत्रिक एवं (२) ललित (æsthetical)। उन्होंने इनकी परिभाषा निम्नलिखित रूप में दी है—

'यदि वह कला (कलाकृति ?) जो सम्भावित वस्तु के बोध के लिए पर्य्याप्त है, ऐसे कार्यों को पूरा करती है जो उसको (सम्भावित वस्तु को) केवल वास्तविक बनाने के लिए आवश्यक हैं तो वह यान्त्रिक कला है, परन्तु यदि उसका अव्यवहित प्रयोजन (design) आनन्द संवेदना है तो इसको ललित कला कहते हैं।'

उदाहरण के लिए मोटरकार की रचना करने वाले एक यान्त्रिक कलाकार (mechanic) की बुद्धि में एक निश्चित प्रयोजन है जिसको वह अपनी कलाकृति से सिद्ध करना चाहता है। उसकी कलात्मक क्रिया एक निश्चित उद्देश्य से नियंत्रित है। वह यह चाहता है कि एक ऐसी मोटरकार बनाई जाय जो घण्टे में सत्तर मील की गति से दौड़ सके। इस प्रकार की मोटरकार की रचना वह वस्तुतः कर सके इसलिए उसको आवश्यक यान्त्रिक नियमों का स्पष्टरूप से बोध होना चाहिए और उन नियमों के अनुसार काम करना चाहिए।

इस प्रकार की यान्त्रिक कलाकृति से आनन्द प्राप्त करने की क्षमता के लिए हमको अपनी बुद्धि में उसी प्रयोजन को रखना चाहिए जिसने यान्त्रिक कलाकार की उत्पादक-क्रिया को नियंत्रित किया था। इस प्रकार की वस्तु के प्रदर्शित होने पर हमारे सुख का कारण केवल उसके बाह्य रूप को देखना भर ही नहीं है वरन् उस लक्ष्य की सिद्धि है जिसको सिद्ध करने के लिए उसकी रचना की गई है अर्थात् एक घन्टे में सत्तर मील दौड़ने की गतिशक्ति। इस प्रकार से एक यान्त्रिक कलाकृत्ति को रचने में कलाकार अपने उत्पादन में एक प्रमेयनिष्ठ प्रयोजन एवं उन निश्चित नियमों से नियन्त्रित है जिनके अनुसार एक ऐसी वस्तु का उत्पादन होता है जो वांछित प्रयोजन को सिद्ध करती है। और ऐसी कला की सराहना ऐसे प्रयोजन की सिद्धि के बोध पर निर्भर होती है।

परन्तु ललित कलाकृति इससे नितान्त भिन्न होती है। यह भिन्नता केवल उसकी उत्पादक मानसिक—शारीरिक क्रिया में ही नहीं होती वरन् उन मनोवैज्ञानिक पूर्वमान्यताओं में भी होती है जो उससे कलात्मक अनुभव प्राप्त करने के लिए आवश्यक होती हैं। इसके अतिरिक्त वह उस अनुभव के स्वभाव में भी भिन्न होती है जिसे यह उत्पन्न करती है।

इस अंश की व्याख्या को आगे बढ़ाने के पूर्व यह बताना आवश्यक है कि

कान्ट यह मानते हैं कि कला और इसलिए कलाकृतियां दो प्रकार की हैं (१) सुखदायक कलाएँ एवं (२) स्वतंत्र (ललित) (fine) कलाएँ। सुखदायक कलाओं की कृतियों का प्रयोजन अपने प्रेमियों को सुखी बनाना होता है जैसे कि पाककला[1] को हम एक सुखदायी कला कह सकते हैं क्योंकि इसका प्रयोजन उसको उत्पन्न करना है जो स्वादिष्ट है और जिह्वा को सुख देने वाला है। इसके विरुद्ध स्वतन्त्रकला का प्रयोजन किसी ऐसी कृति की रचना है जो केवल इन्द्रिय सुख ही प्रदान नहीं करती। स्वतन्त्रकला की कृति हमारी बोधशक्तियाँ अर्थात् कल्पना और बुद्धिशक्ति के बीच सामंजस्य का बोध कराती है। इसका उत्पादन किसी प्रमेयनिष्ठ प्रयोजन अथवा निश्चितस्वरूप सामान्यरूप प्रत्यय से नियन्त्रित नहीं होता।

गत पंक्तियों में जो कुछ हमने कलाओं के वर्गीकरण के विषय में कहा है उससे यह सिद्ध[2] होता है कि स्वतन्त्रकला के स्वरूप के विषय में कान्ट का विचार उनके कलास्वादनविषयक निर्णयशक्ति के सिद्धान्त पर आधारित है। वह अकेला काम जो हमको यह निर्णय करने के योग्य बना सकता है कि एक विशेष कलाकृति सुखदायक कला अथवा स्वतन्त्रकला की कृति है यह है कि उसको हम निर्णयशक्ति के आलोक में देखें। यदि निर्णयशक्ति यह निर्धारित करती है कि यह 'सुन्दर' है तो यह स्वतन्त्रकला की कृति है। और यदि निर्णयशक्ति यह निर्धारित करती है यह इन्द्रियों अथवा बुद्धि के लिए सुखदायक है तो वह सुखदायक कला की कृति है। सौन्दर्यपूर्णविषयक निर्णय केवल उन्हीं बातों पर निर्भर है जो स्वतन्त्रकला की कृति की रचना करने के लिए आवश्यक हैं। क्योंकि एक कलाकृति भौतिक माध्यम में कलात्मक अनुभव के निरूपण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतएव एक ही अनुभव (१) स्वतन्त्रकलाकृतिविषयक निर्णय एवं (१) इसका भौतिक माध्यम (medium) में प्रतिनिरूपण दोनों की आधार भूमि है।

अतएव यदि हम कलाशास्त्र की समस्या के समाधान की चेष्टा कलाकार के दृष्टिकोण से करें और यह प्रश्न उठावें कि उस कलाकृति की रचना करने के लिए कौन सी मानसिक शक्तियाँ आवश्यक हैं जिसके विषय में हम यह निर्णय करते हैं कि यह 'सौन्दर्यपूर्ण' है? इसका उत्तर यह है कि वे कल्पना और बुद्धिशक्ति जो सब सामान्यरूप प्रत्ययों से स्वतन्त्र रहते हुए परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण होने की क्षमता से युक्त हैं मन की वे दो शक्तियाँ हैं जो कला की

१. कैस० २६९ २. कैस० २७०

सौन्दर्यपूर्ण कृति की रचना करने के लिए आवश्यक हैं। ठीक जिस प्रकार से हम सौन्दर्यपूर्ण से आनन्द उसी समय प्राप्त कर सकते हैं जब कि हमारी कल्पना और बुद्धिशक्तियां एक अनिश्चित सम्बन्ध में बँधी होती हैं, जिस समय उनका नियन्त्रण कोई निश्चितरूप नियम नहीं करता है और इसलिए ये (दोनों मानसिक शक्तियां) परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण होती हैं, उसी प्रकार से कलाकार भी उसी समय सौन्दर्यपूर्ण कृति की रचना कर सकता है, जिस समय उसकी बोधशक्तियां पूर्णतया परस्पर सामञ्जस्यमय होती हैं। उस कलाकार के पास अपनी कृति को उन नियमों के अनुसार रचने की शक्ति होनी चाहिए जिनके विषय में वह यह नहीं जानता कि उनका स्वरूप क्या है।

प्रतिभा

'क्या कलाकार को किसी मानसिक विशेष शक्ति की आवश्यकता है?' इस प्रश्न का उत्तर कान्ट यह देते हैं कि कलाकार के पास जिस मानसिक विशेष शक्ति का होना आवश्यक है वह 'प्रतिभाशक्ति' है। यह उन कृतियों को उत्पन्न करने की शक्ति है जिनके विषय में यह निर्णय किया जाता है कि ये "सौन्दर्यपूर्ण" हैं। अपनी कृतियों की रचना में यह शक्ति किसी निश्चित नियम पर आश्रित नहीं होती है यद्यपि यह किसी नियम की सत्ता को आवश्यक मानती है। क्योंकि अन्यथा उसकी कृति एक कलाकृति न होकर केवल एक आकस्मिक कृति ही रह जायगी। परन्तु यह नियम किसी निश्चितस्वरूप सामान्यरूप प्रत्यय पर आधारित नहीं है और न कलाकार को निश्चित रूप में इसका ज्ञान ही होता है। यह मूलप्रवृत्ति (instinct) का निकटवर्ती है। जिस प्रकार से सौन्दर्यपूर्णविषयक निर्णय ऐसे नियम पर आधारित नहीं है जो किसी निश्चितस्वरूप सामान्यरूप प्रत्यय पर आश्रित हो उसी प्रकार से सौन्दर्यपूर्ण कृति की रचना भी किसी विशेष नियम से अनुशासित नहीं है। उपचेतन में संस्कार रूप में विद्यमान एवं अनिश्चित रूप वह नियम, जिसे कलाकृति के उत्पादन के लिए आवश्यक माना जाता है, प्रतिभाशक्ति की देन है।

यह वह विशिष्ट बुद्धिशक्ति[1] (talent) अथवा प्रकृतिदत्त शक्ति है जो कला को नियम प्रदान करती है। यह कलाकार की जन्मजात उत्पादन शक्ति है। प्रतिभा के माध्यम से प्रकृति स्वयं स्वतन्त्र कलाओं को नियम प्रदान करती

१. बर० १८८

है क्योंकि प्रतिभा (एक विशिष्ट बुद्धिशक्ति, स्वतन्त्रकला की कृतियों को उत्पन्न करने की शक्ति) स्वयं एक प्रकृतिप्रदत्त शक्ति है और इसलिए प्राकृतिक है। सौन्दर्यपूर्ण कलाकृति को प्रतिभा ही उत्पन्न कर सकती है।

प्रतिभाशक्ति एवं मौलिकता

१—मौलिकता प्रतिभाशक्ति का पहला गुण है। प्रतिभा केवल ऐसी कृति की रचना में ही योग्यता मात्र नहीं है जैसी कि सीखे हुए नियम का अनुसरण करने से रची जा सकती है। यह उसको उत्पन्न करने की विशिष्ट शक्ति है जिसके लिए कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं कर सकते।

२—यह केवल अनुकरण करने की ही शक्ति मात्र नहीं है। क्योंकि प्रतिभा-प्रसूत कृतियां, किसी माध्यम में केवल उनकी यथास्वरूप प्रतिकृतियां मात्र नहीं हैं जो पूर्वकाल से प्रकृति में वर्तमान हैं। वे मौलिक रचनाएँ होती हैं और वे ऐसी आदर्शरूप होती हैं जिनको दूसरों से अनुकरणीय नहीं वरन् अनुगमनीय मानना चाहिए।

३—जिस नियम के आधार पर उत्पादकशक्ति सक्रिय होती है वह स्पष्ट चेतना भूमि तक नहीं उतरती। अतएव इस बात को बताने की कोई सम्भावना नहीं है कि किस प्रकार से स्वतन्त्रकला की कृतियां जन्म लेती हैं। वे ज्ञप्तियां इसके पास अपने आप चली आतीं हैं। जिनके विषय में निर्णय यह होता है कि ये सुन्दर हैं।

४—यह वह माध्यम है जिसके द्वारा प्रकृति स्वतन्त्रकला के अपरिभाषेय नियमों को निर्दिष्ट करती है।

क्या कला अनुकरण है ?

इससे हमारे मन में तीसरा प्रश्न उठता है—'क्या कला अनुकरण है ?' इस प्रश्न का उत्तर हम संकेत रूप में पहले ही दे चुके हैं अर्थात् 'कला अनुकरण नहीं है।' अनुकृति के सिद्धान्त को कान्ट ने कलाकार के दृष्टिकोण से खण्डित करने का प्रयास किया है। प्रतिभा एक विशिष्ट शक्ति है जो उसको उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है जिसके विषय में निर्णय यह होता है कि यह सौन्दर्यपूर्ण है। निश्चितस्वरूप सामान्यरूप प्रत्ययों पर आश्रित नियमों से यह (प्रतिभा) स्वतन्त्र है और इसलिये अनुकृति से सिद्धान्ततः विरुद्ध है। क्योंकि अनुकरण केवल निश्चितस्वरूप सामान्यरूप प्रत्ययों पर आश्रित नियमों

के आधार पर ही किया जा सकता है। अतएव कलाकृति अनुकृति नहीं है। यह न तो उसकी अंशतः प्रतिकृति है जो प्रकृति के क्षेत्र में वर्तमान है और न उसकी ही प्रतिकृति है जिसको एक पूर्ववर्ती प्रतिभा रच चुकी है। कला की एक कृति अनुकृति न होकर आदर्श है जिसमें एक प्रतिभावान् व्यक्ति[1] की अन्तरप्रेरणाजनित (inspired) ज्ञप्तियां वर्तमान होती हैं जो उन्हीं प्रकारों की ज्ञप्तियों को एक उस परवर्ती में उत्प्रेरित करती हैं जिसे प्रकृति ने तत्समान मानसिक शक्तियों को प्रदान किया है।

मौलिकता एवं बुद्धिवैभवसम्पन्नता

जो कुछ हमने गत उपप्रकरणों में स्वतन्त्रकला की कृतियों के विषय में कहा है उससे यह ध्वनित होता है कि स्वतन्त्रकलाओं के क्षेत्र में उच्छृङ्खलता का राज्य स्थापित है। कान्ट निर्धारित प्रतिभा के तात्त्विक स्वरूप से ऐसा ध्वनित होता है कि वे यह मानते हैं कि कलाकार नियमों के सभी नियन्त्रणों से स्वतन्त्र है। परन्तु यह सत्य नहीं है। इस प्रकार के मत को मानने वाले लोगों की निन्दा करते हुए वे यह कहते हैं कि :—

'अब क्योंकि विशिष्ट बुद्धि शक्ति (talent) की मौलिकता प्रतिभाशक्ति के स्वभाव के एक आवश्यक अंश का विधायक है इसलिए उथली बुद्धि वाले यह मानते हैं कि नियमों के सभी नियन्त्रणों को अपने पर से उठाकर दूर फेंकने से ही केवल अपने को सर्वोत्तम रूप से पूर्ण प्रतिभा शक्ति से युक्त प्रदर्शित किया जा सकता है।............(वर० १९२)

कान्ट यान्त्रिक कला को स्वतन्त्र कला से भिन्न मानते हैं परन्तु स्वतन्त्र कला के यांत्रिक पक्ष को अस्वीकार भी नहीं करते हैं। वे यह मानते हैं कि कला के दो पक्ष हैं (१) भौतिक एवं (२) रूपसम्बन्धी। वह प्रतिभा जो नियमों के नियन्त्रण से मुक्त है प्रकटनीय तत्त्व अर्थात् ज्ञप्तियों के अतिरिक्त और कुछ प्रदान नहीं कर सकती। परन्तु ज्ञप्तियों को समुचित रूप प्रदान करने के लिए कुछ न कुछ सीखना पड़ता है। कुछ इस प्रकार के नियम हैं जिनकी किन्हीं भी दशाओं में उपेक्षा अथवा खण्डना नहीं की जा सकती है।

कला की आत्मा (Geist)

कलाकृति के सम्बन्ध में विवेचनीय प्रश्न अब केवल यह रह गया है कि 'एक कलाकृति की आत्मा अथवा प्राण क्या है'? कान्ट के समकालीन सभी

१ वर० १९२

शास्त्रकार इस प्रश्न को सामान्य रूप से उठाते थे। 'क्रिटीक आफ जजमेन्ट' के उन्चासवें उपप्रकरण की प्रस्तावना में कान्ट यह लिखते हैं कि :—

किन्हीं ऐसी कृतियों के प्रसंग में, जिनके विषय में हम यह आशा करते हैं कि कम से कम आंशिक रूप में उन्हें सौन्दर्यपूर्ण कलाकृति के रूप में अवश्यक दिखाई देना चाहिए, हम यह कहते हैं कि वे 'आत्मा' अथवा 'प्राण' से रहित हैं यद्यपि उनका आस्वादन करते हुए हम उनमें कुछ भी निन्दनीय नहीं पाते हैं। एक कविता बहुत स्पष्ट एवं निर्दोष हो सकती है परन्तु फिर भी प्राण का उसमें अभाव हो सकता है। ....। एक नारी के विषय में भी हम यह कह सकते हैं कि वह सुन्दर, मृदु-संलापक और विनम्र है परन्तु उसमें आत्मा (Spirit) का अभाव है। ऐसी दशा में आत्मा से हमारा तात्पर्य क्या है ?

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि एक कलाकृति में यद्यपि वाह्यरूप की रचना में परिपालनीय नियमों की अवहेलना से उत्पन्न कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता फिर भी उसमें हमको एक ऐसा अभाव खटक सकता है—जिसके परिणामस्वरूप हम उसके विषय में यह निर्णय नहीं कर सकते कि यह सौन्दर्यपूर्ण है। यह तत्त्व कला की आत्मा, प्राण, अथवा जर्मन भाषा में जीस्ट (Geist) है जिसका अभाव एक समस्त बाह्य दोषों से रहित कलाकृति के विषय में भी हमें यह निर्णय करने से रोकता है कि यह सौन्दर्यपूर्ण है यह तत्त्व उस उपादान सामग्री अथवा कलात्मक ज्ञप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसको प्रतिभा शक्ति ही प्रदान कर सकती है। एक कलात्मक ज्ञप्ति स्वतन्त्र कल्पना का वह 'प्रतिनिरूपण' है जो इतनी अधिक ज्ञप्तियों को जन्म देता है, यद्यपि ये ज्ञप्तियां निश्चित स्वरूप नहीं होतीं, कि उनको किसी सामान्यरूप प्रत्यय में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अतएव कला की आत्मा की विधायक ऐसी स्वतन्त्र कल्पना की सृष्टि को पर्याप्त रूप में प्रकट नहीं कर सकते। क्योंकि भाषा के शब्द अथवा पद निश्चित स्वरूप सामान्य-रूप प्रत्ययों के वाचक होते हैं। कला में यही वह व्यंजक अंश है जो सहृदय की मानसिक शक्तियों को सामंजस्यपूर्ण ऐसी क्रीड़ा में लगा देता है जो स्वयं चालू[1] रहती है और मानसिक शक्तियों को भी अभ्यास का अवसर देकर सबल बनाती है। चाहे जितने अपर्याप्त रूप में हो यह उसको प्रकट करने की चेष्टा करता है जो सामान्य व्यावहारिक अनुभव की सीमा के परे है। यह युक्ति शक्ति के सामान्यरूप प्रत्ययों के निरूपण की लगभग समानता को

१. बर० १९७

'पाने के लिए उद्योग करती है।' इसी को भारतीय काव्य शास्त्र के प्रतिपादकों ने 'ध्वनि' कहा है। यह सहृदय की बोध शक्तियों को उन दशाओं में प्रतिष्ठापित करता है जिनमें अन्तरप्रेरणा के समय कलाकार की मानसिक शक्तियां होती हैं?

—०—

अध्याय ११

हेगेल का परतत्ववादी कलाशास्त्र

(Absolutistic Æsthetics of Hegel)

तुलनात्मक स्वतन्त्र कलाशास्त्र के लिए हेगेल का महत्त्व

हेगेल (सन १७७०–१८३१ ई०) हमारे लिये विशेपरूप से इसलिये महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि स्वतन्त्रकलाशास्त्र की समस्या के अनेक अंशों के विषय में उनके अभिमत विलक्षण रूप से अभिनवगुप्त जैसे भारतीय स्वतन्त्र कला शास्त्रियों के अभिमतों के समान हैं। मतों की समानता को निम्न प्रकार से कह सकते हैं :—

१—हेगेल और अभिनवगुप्त दोनों यह स्वीकार करते हैं कि कला की उत्कृष्ट कृति रसानुभव का साधन मात्र होती है। कला के अनुभव[1] में दोनों त्रिक सम्बन्ध मानते हैं।

२—वे दोनों ही काव्य की आत्मा की बात करते हैं और यह मानते हैं कि कलाकृति का बाह्यरूप उस शुद्धरूप से प्रमातृनिष्ठ तत्त्व के प्रकटीकरण का साधन मात्र (medium) है जो उसका द्योत्य अथवा आत्मा है।

३—हेगेल के मतानुसार भाव, उसके शारीरिक विकार, परिस्थिति अथवा वातावरण एक नाट्यकला कृति के महत्त्वपूर्ण अंश हैं। प्रकृति का क्षेत्र नाटक में प्रदर्शनीय विषय के रूप में उस सीमा तक प्रवेश करता है जिस सीमा तक इसको मनुष्य का वातावरण मानते हैं। और नाटक के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक पात्र एक पूर्ण व्यक्ति हो जिससे कि निम्न लिखित बातें प्रदर्शित की जा सकें :—

(१) प्रारम्भ से अन्त तक शारीरिक कार्य (physical action) की प्रगति (progress)। (२) भावावेग अथवा भावावेश के शारीरिक विकार। (अनुभाव) एवं (३) इन विकारों की विशेप परिस्थिति (विभाव)। यह केवल भारतीय कलाशास्त्र के आचार्यों के उन कथनों की प्रतिध्वनि मात्र ही लगती है जो वे भरतमुनि के शब्दों में रसतत्त्व के विभिन्न अंशों के विषय में कहते हैं—

---

१. क़म्० ईस० भाग १—१४१ (प्रथम संस्करण)

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

४—हेगेल का मत यह है कि कविता सामान्य अथवा युक्ति पूर्ण तत्त्व (rational principle) अर्थात् अपनी स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता में चिदात्मा (spirit) को उसके अमूर्त सामान्य रूप में नहीं वरन् उस मूर्त रूप में जिसमें वह बाह्य प्राकृतिक क्षेत्र में कार्यों एवं भावों में अपने को अभिव्यक्त अथवा प्रकट करती है, दर्शित करती है । यह मत उपनिषदों के बहुधा उद्धृत निम्न लिखित मत से बहुत मिलता-जुलता है—'रसो वै सः' ।

५—हेगेल और अभिनवगुप्त दोनों यह मानते हैं कि अभिनेता अपना तादात्म्य कवि—कल्पित नायक के साथ करता है ।

६—हेगेल यह मानते हैं कि कलाकृति का अनुभव प्रत्यभिज्ञात्मक (recognitive) होता है, क्योंकि इसमें वह आत्मा (mind) जो अपने सामान्य स्वरूप को प्रमातृनिष्ठरूप में जानती है कलाकृति में फिर से अपने को बाह्यरूप के वेश में जानती है । भारतवर्ष में कलाकृति जनित अनुभव को श्रीशंकुक ने प्रत्यभिज्ञात्मक स्वीकार[1] किया था । परन्तु उनके मतानुसार प्रत्यभिज्ञा का संबंध परतत्त्व से न होकर जैसा कि हेगेल मानते हैं उस मूलवस्तु के साथ होता है जिसका कलाकृति अनुकृति स्वरूप है । इस प्रकार से एक नाट्य-प्रदर्शन से रसानुभव को प्रत्यभिज्ञात्मक इसलिए कहते हैं क्योंकि अनुकरणकर्ता अभिनेता में दर्शक मूल व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा करता है । परन्तु इस प्रसंग में हम यह कह सकते हैं कि परतत्त्व की प्रत्यभिज्ञा (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा) कश्मीर के अद्वैत शैवमत का मूल सिद्धान्त है । वस्तुतः इस दार्शनिक मत को 'प्रत्यभिज्ञा' इसलिए कहते हैं । क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्त का प्रतिपादन उत्पलाचार्य ने अपने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका' नामक ग्रन्थ में किया है । यह विचार युक्तियुक्त है कि अभिनवगुप्त प्रतिपादित रस सिद्धान्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अनुयायी है ।

७—हेगेल का यह मत है कि एक कलाकृति अपने से परे को द्योतित करती है । ध्वनि सिद्धान्त के समर्थक भी इसी मत को मानते हैं ।

८—काव्य अथवा कलाकृतियों के कारणों के विषय में हेगेल और मम्मट[2] की सम्पूर्ण सहमति है । दोनों ही यह मानते हैं कि प्रतिभा, नियमों

१. कम्० ईस० भाग १—१५०–१५१ (प्रथम संस्करण)
* २. का० प्र० २—२

का ज्ञान एवं अभ्यास कला की सौन्दर्यपूर्ण कृतियों की रचना करने के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

९—हेगेल और अभिनवगुप्त दोनों के मतानुसार कलात्मक अन्तर्प्रेरणा की आवश्यक दशायें निम्न लिखित हैं—आत्मविस्मृति और उस विशेष प्रतिपाद्य विषय में अर्थात् उस परतत्त्व में जो मानवता की उन शक्तियों में मूर्तमान है जो अपने औचित्य से स्वयं पूर्ण हैं जैसे कि वह प्रेम जिसको कलात्मक कल्पना कलात्मक ढङ्ग से प्रकट करने के लिए ग्रहण करती है, पूर्ण चित्तैकाग्र्य।

१०—हेगेल एवं अभिनवगुप्त इस विषय में एकमत हैं कि कला का सर्वोत्कृष्ट कार्य अपने प्रकारों (modes) अथवा रूपों (forms) के साधनों से 'दिव्य' का प्रकटीकरण है।

११—दोनों शास्त्रकार कलात्मक सम्बन्ध को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक सम्बन्धों से भिन्न मानते हैं।

१२—दोनों शास्त्रकार यह मानते हैं कि कलाजनित अनुभव में प्रमाता और प्रमेय का साधारणीकरण होता है। इस मत का सर्वप्रथम प्रतिपादन कि रसानुभव में प्रमाता तथा प्रमेय का साधारणीकरण हो जाता है भट्ट नायक ने किया था। परन्तु उन्होंने इसका स्पष्टीकरण काव्य-भाषा की दो शक्तियों के अभ्युपगम के आधार पर किया था। वह प्रतिभा अभिनवगुप्त की थी जिसने इसका स्पष्टीकरण मनोवैज्ञानिक रूप[1] में किया था। ऐसा लगता है कि हेगेल भी उस समय यही मानते हैं जब वे यह कहते हैं कि कला का मनन करने वाले प्रमातृ अंश को शुद्ध बुद्धि कह सकते हैं। यह बुद्धि उस बुद्धि के विपरीत है जो वैज्ञानिक मनन करती है। एवं युक्ति मूलक होती है। एवं यह कहते हैं कि एक कलाकृति की इन्द्रियबोध्य सामग्री को शुद्ध भौतिक सामग्री के ढांचे से मुक्त होने का अधिकार है।

१३—हेगेल यह मानते हैं कि कला की एक कृति की वास-भूमि प्रत्यक्ष ज्ञेय जगत एवं शुद्ध बुद्धिज्ञेय आदर्शरूप ज्ञप्तियों के जगत के मध्यपथ में है। एक कलाकृति के स्वरूप के विषय में यह धारणा भारतीय कलाशास्त्र के आचार्यों की भी ज्ञात होती है। क्योंकि वे कलाकृति को 'अलौकिक'[2] मानते हैं।

---

१. कम्० ईस० भाग १—१३९ (प्रथम संस्करण)
२. कम्० ईस० भाग १—१४९ (प्रथम संस्करण)

१४—हेगेल के मतानुसार हमारी सामान्य मानवता के सामान्य भाव ही कला के स्थायी विषय हो सकते हैं क्योंकि वे सामान्यरूप हैं और इसलिए परतत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। यह मत भारतीय कलाशास्त्र में तद्विपयक प्रतिपादित मत के सर्वथा अनुकूल है। भारतीय कलाशास्त्र के प्रतिपादक एक स्वर से यह दृढ़तया प्रतिष्ठापित करते हैं कि कला की एक कृति में 'स्थायी-भाव' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती (भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र की टीका) में विस्तारपूर्वक आठ भावों की सामान्यता की व्याख्या की है।

१५—ऐसा ज्ञात होता है कि हेगेल 'शान्त रस' के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं कि काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य यह है कि पाठक की अन्तर्दृष्टि के सामने चिदात्मा (spirit) के जीवन की शक्तियों को अर्थात् उस सब सामग्री को पाठक के सामने प्रकट करे जो भावावेश अथवा भावावेग की दशा में हृदय में तरंगित होती है अथवा शान्तपूर्ण दशा में बुद्धि के सामने उपस्थित होती है।

हेगेल एवं अभिनवगुप्त में मूलतत्त्व दर्शन के उन सिद्धान्तों की भी समानता है जिन पर कलाशास्त्रीय विभिन्न समस्याओं के समाधान आधारित हैं। दोनों विश्वकोषीय चिन्तक हैं। दोनों ही अपने विस्तीर्ण दर्शनों में प्रतिपादित पदार्थों में विभिन्न महत्त्वपूर्ण दार्शनिक मतों को निश्चित स्थान प्रदान करते हैं। दृष्टान्ततया हेगेल अपने 'लॉजिक' (पृष्ठ १५९–६१) नामक ग्रन्थ में स्पष्टतया यह कहते हैं कि 'दर्शन शास्त्र' के इतिहास में तार्किक ज्ञप्ति की विभिन्न क्रमदशाओं ने क्रमागत मतों का स्वरूप ग्रहण किया है, और प्रत्येक मत परतत्त्व की विशेष परिभाषा पर अवलम्बित है······तर्क शास्त्र का आरम्भ वहां से होता है जहां से दर्शन शास्त्र के इतिहास का यथार्थतः प्रारम्भ होता है। दर्शन शास्त्र का आरम्भ ईलयटिक (Eleatic) दार्शनिक सम्प्रदाय से और विशेषतया उन परमेनीडीस से हुआ था जिन्होंने 'परतत्त्व' को सत् (being) माना था। इस प्रकार से दूसरे पदार्थ अर्थात् 'असत्' अथवा शून्य के विषय में वे यह कहते हैं कि 'वह शून्य जिसको बौद्ध मत के अनुयायी दार्शनिक एक सामान्य तत्त्व (universal principle) कहते हैं। अभिनवगुप्त भी यह मानते हैं कि वेदान्तमत के अनुयायी दार्शनिक जिसको 'परब्रह्म' कहते हैं वह उनसे प्रतिपादित शैवमत के तीसरे पदार्थ सदाशिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार से शून्यवादी बौद्धों से प्रतिपादित

'शून्य-तत्त्व' उनके दार्शनिक मत में निर्धारित 'शून्य-प्रमाता' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अपने अपने मूलतत्त्व दर्शनों में दोनों का प्रतिपाद्य विषय उच्चतम से लेकर नीचतम तक अनुभव के उस सम्पूर्ण क्षेत्र का स्पष्टीकरण है जो कि उनके समकालीन एवं पूर्ववर्ती दार्शनिकों को ज्ञात था। उन दोनों ने सभी की व्याख्या एक ही तत्त्व के आधार पर की है। वे दोनों यह मानते हैं कि अनुभव के उस सम्पूर्ण क्षेत्र की व्याख्या एक ही तत्त्व के आधार पर की जा सकती है जिसमें प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण एवं स्वयं प्रमा भी समाविष्ट हैं अथवा यदि हेगेल की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो ज्ञप्तियाँ (ideas) विषयभूत प्राकृतिक वस्तुयें और व्यक्ति-आत्माएं भी सम्मिलित हैं, हेगेल इस तत्त्व को परतत्त्व (Absolute) कहते हैं एवं अभिनवगुप्त इसको 'अनुत्तर' के नाम से अभिहित करते हैं।

अभिनवगुप्त का मत यह है कि जो कुछ भी है वह सब, जिसके बारे में हम यह विचारते हैं कि किसी न किसी प्रकार की इसकी सत्ता है और वह सब जिसके अनस्तित्व को हम मानते हैं, वह सब जो एक परिच्छिन्न व्यक्ति का बुद्धिगम्य है और उसके परे भी जो विद्यमान है, वह सब जिसके सम्बन्ध में किसी भी रूप में किसी भी भाषा का प्रयोग हम कर सकते हैं और वह भी जिसके विषय में हम किसी भी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते, परतत्त्व की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार से वह सब कुछ जो एक व्यक्ति-प्रमाता के स्वप्न-लोक में प्रकट होता है व्यक्तिगत संस्कारों का प्रकटीभवन है उसी प्रकार से उपर्युक्त सब कुछ परतत्त्व का प्रकटीभवन है। परन्तु हेगेल एक युक्तिवादी थे इसलिए वे यह मानते थे कि सम्पूर्ण विश्व आदि युक्ति तत्त्व (first reason) से उसी प्रकार से प्रवाहमान होता है कि जिस प्रकार से तर्कशास्त्र में युक्ति से निष्कर्ष प्रवाहित होता है।

इसके अतिरिक्त हेगेल वे प्रथम पाश्चात्य चिन्तक हैं जिनकी कृतियों में भारतीय कला[१] का उल्लेख है। वे भारतीय कला के विषय में अपने निश्चित मत को प्रकट करते हैं और भूमण्डल के विभिन्न राष्ट्रों की कलाकृतियों से निर्मित कला के लोक में उसको एक निश्चित पद प्रदान करते हैं।

---

१. फिल० आ० भाग १—२६

हेगेल के कलाविषयक सिद्धान्त का आधारभूत मूल तत्त्व दर्शन

दुःख प्रधान नाटक के प्रसंग में हेगेल जिस 'व्यक्तित्व' की चर्चा करते हैं वह सर्वप्रथम यथार्थभूत आत्मा (actual soul) आत्मा की तीसरी क्रमदशा से उद्भूत होता है। यह (यथार्थ भूत आत्मा) प्राकृतिक आत्मा (आत्मा की वह क्रमदशा जो उसके आदिकाल में होती है—जैसे गर्भगत शिशु की आत्मा) (natural soul) और संवेदनात्मा (feeling soul) का संश्लिष्ट रूप है। परन्तु दुःख-प्रधान नाटक के नायक का पूर्णोन्नत व्यक्तित्व केवल यथार्थभूत आत्मा नहीं है वरन् उसके अन्दर 'चेतना' से लेकर 'स्वतन्त्र बुद्धि' तक प्रमातृनिष्ठ चित् की सभी दशाएं निहित होती हैं। यह व्यक्तित्व केवल प्रकृति के शुद्ध जगत में ही सक्रिय नहीं होता वरन् उस लोक में भी सक्रिय होता है जिसके आवश्यक विधायक तत्त्व वे विभिन्न वैधानिक, आचारिक एवं सामाजिक संस्थाएं हैं जो विषयरूप चित् (objective spirit) की अभिव्यक्तियां हैं। और हेगेल का मत यह है कि कला परतत्त्व[1] को इन्द्रियबोध्य रूप में प्रदर्शित करती हैं। यह (कला) परतत्त्व से प्रकटित उस सर्वोच्च त्रयी का प्रथम तत्त्व है जिसके तीनों तत्त्व १ कला २ धर्म एवं ३ दर्शनशास्त्र हैं। यह वह भाव ((thesis) है, जिसका संधान ((synthesis) धर्म के साथ जो प्रतिभाव (antithesis) है दर्शनशास्त्र में किया जाता है। अतएव कला परतत्त्व स्वरूप आत्मा (absolute mind) के क्षेत्र से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त वह कल्पना जिसका महत्त्व कलाकृति की रचना में बहुत अधिक है उस 'प्रतिनिरूपण' का एक रूप है जो सैद्धान्तिक आत्मा (theoretical mind) से प्रकटित दूसरी त्रयी, अर्थात् (१) ऐन्द्रिय निर्विकल्प प्रत्यक्ष (२) प्रतिनिरूपण एवं (३) विचार, का द्वितीय तत्त्व है। और हेगेल ने नाटकीय कार्य की व्याख्या व्यावहारिक आत्मा के आधार पर की है। एवं उनका भावविषयक सिद्धान्त उससे (व्यावहारिक आत्मा से) प्रकटित दूसरी त्रयी, अर्थात् (१) व्यवहारिक संवेदना (२) आवेग (impulses) एवं वरण (choice) तथा (३) सुख, से सम्बन्धित है। अतएव हम कला की उन समस्याओं की व्याख्या के पूर्व जिनका समाधान करने की चेष्टा हेगेल ने की है उनके परतत्त्ववादी मूलतत्त्वदर्शन का संक्षिप्त विवरण देंगे।

---

१. नाक्स—८२

मूल तत्त्व दर्शन को हेगेल का योगदान

दर्शनशास्त्र की मूल समस्या ब्रह्माण्ड का स्पष्टीकरण है।[1] हेगेल के पूर्व ये स्पष्टीकरण कारणतासिद्धान्त के आधार पर किए गए थे। इस प्रकार से प्लेटो ने यह माना था कि ब्रह्माण्ड का परमकारण ज्ञप्तियों का लोक है। इस प्रकार के दार्शनिक मतों में 'कारणता' का सामान्य अर्थ केवल नियत पौर्वापर्य भर ही था 'वहाँ पर यह है इसलिए वह उत्पन्न होता है'। कारण में कार्य वर्तमान नहीं होता। यह एक स्वतन्त्र तत्त्व पर निर्भर है। यह किसी न किसी प्रकार से उससे उत्पन्न किया जा सकता है जिसको 'कारण' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार से प्लेटो के दर्शनशास्त्र में इन्द्रियबोध्य जगत का कारण ज्ञप्तियों का वह लोक है जो भूततत्त्व पर अपना प्रतिबिम्ब अंकित करता है। एरिस्टाटल के दर्शनशास्त्र में इस जगत का कारण रूप तत्त्व से भूततत्त्व का गढ़न है। इन दोनों दार्शनिक मतों के प्रसंग में समस्या यह है किस प्रकार से दो तत्त्व अर्थात् ज्ञप्ति अथवा रूप एवं भूततत्त्व जो अपने स्वभाव में मूलतः परस्पर विरुद्ध हैं एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं अथवा यह कहें कि किस प्रकार से और क्यों एक तत्त्व दूसरे तत्त्व पर प्रतिबिम्बित होता है अथवा उसको गढ़ता है यह स्पष्ट नहीं होता।

अतएव हेगेल यह मानते हैं कि कारणता का सिद्धान्त कुछ भी स्पष्ट नहीं करता। कारणतावादी व्याख्या शुद्धरूप से मतान्धता अथवा दुराग्रह है। क्योंकि स्वयं प्रथम कारण एक गूढ़ रहस्य है। उन्होंने कारणतावादी व्याख्या का परित्याग किया और द्वंद्वसंधानात्मक (Dialectical) व्याख्या का प्रतिपादन उसके स्थान पर किया। हेगेल का प्रयोजन ब्रह्माण्ड के कारण को खोजना नहीं है वरन् उसके युक्तितत्त्व (reason) का प्रतिपादन करना है। उनके मतानुसार आदि तत्त्व वह कारण नहीं है जिसका यह ब्रह्माण्ड 'कार्य' है वरन् वह 'युक्तितत्त्व' है जिसका यह ब्रह्माण्ड अनुवर्ती (consequent) है। ब्रह्माण्ड को अपनी सत्ता के लिए युक्तितत्त्व के अतिरिक्त अथवा उससे विलग किसी भूततत्त्व के समान तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। यह ब्रह्माण्ड पूर्ण रूप में उस युक्तितत्त्व के अन्तर्गत वैसे ही वर्तमान है जैसे तार्किक प्रतिज्ञा आदि में 'निष्कर्ष' विद्यमान होता है। यह ब्रह्माण्ड युक्ति तत्त्व से उसी प्रकार से प्रवाहित होता है जिस प्रकार से तर्कशास्त्र में युक्ति से 'निष्कर्ष' प्रवाहित होता है।

---

१. स्टा० ५२

यह युक्तितत्त्व जिससे ब्रह्माण्ड अनुवर्ती के रूप में प्रवाहित होता है सामान्य रूप है। यह देश-काल गत सम्बन्धों से मुक्त है। यह जीवात्मा से सम्बन्धित बुद्धि की युक्ति शक्ति नहीं है। यह उससे विलग विद्यमान नहीं है जिसका वह युक्तितत्त्व है। यह केवल पृथक्कृत सारांश (abstraction) मात्र है। केवल विचार लोक में ही अपने अनुवर्ती से यह विलगनीय है। यह एक सामान्यों की प्रक्रिया (process) है। यह केवल गतिशून्य सामान्यों का समूह मात्र नहीं है। यह गतिहीन न होकर चेष्टापूर्ण शक्तिरूप (dynamic) है।

प्रथम युक्तितत्त्व से ब्रह्माण्ड का प्रवाह उस 'आवश्यकता' (necessity) से अनुशासित है, जिसका परिचय हमको तर्कशास्त्र के क्षेत्र में मिलता है। यह युक्तितत्त्व एक स्वयं स्पष्ट एवं स्वयं निर्धारित तत्त्व है। अतएव हम यह प्रश्न नहीं उठा सकते हैं कि 'युक्तितत्त्व का युक्तितत्त्व क्या है ?' जैसा कि हम कारण के विषय में करते हैं। यह वह आदितत्त्व है, जिसको वे तर्कशास्त्रीय भाषा में 'युक्तितत्त्व' कहते हैं और मूलतत्त्व दर्शन शास्त्र की भाषा में 'परतत्त्व' के नाम से अभिहित करते हैं।

हेगेल के मतानुसार परतत्त्व का स्वरूप

वह प्रथम सत्ता परतत्त्व है जिससे संसार की सभी वस्तुएँ उद्भूत होतीं हैं। यह परतत्त्व ज्ञप्तिस्वरूप है अर्थात् यह सामान्यरूप है। और क्योंकि ज्ञप्ति आत्मा का सारतत्त्व है इसलिए परतत्त्व आत्मस्वरूप है।

हेगेल के लिए चरम तथ्य सदैव वह मन (mind) अथवा चिदात्मा है जो अपने विकास के सभी वर्गों को क्रमशः प्रकाशित करते हुए और पूर्व प्रकाशित वर्गों को स्वयं अनुभूत करते हुए अपनी आत्मा का बोध पूर्णतया प्राप्त करती है। यह प्रथम मन (mind) जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है कोई मानसिक (psychic) वस्तु नहीं है अर्थात् यह किसी विशेष व्यक्ति का मन नहीं है। यह यथार्थ है। यह सामान्य मन है। इस यथार्थ मन की तार्किक सत्ता है और इसका अस्तित्व नहीं है अर्थात् देश–काल के सम्बन्धों से यह मुक्त है। यह एक तार्किक पदार्थ अथवा सामान्यरूप प्रत्यय है। इसकी तर्कमूलक सत्ता है और इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है।

यह यथार्थ तत्त्व, सामान्य मन, वह आदितत्त्व अथवा परमसत्ता अर्थात् परतत्त्व है जो सभी वस्तुओं का स्रोत है और जिसके आधार पर ब्रह्माण्ड का

स्पष्टीकरण करना चाहिए। यह प्रथम तत्त्व केवल इसी अर्थ में प्रथम है कि सब वस्तुओं से इसकी तार्किक पूर्वता होती है। कालक्रम के अनुसार यह प्रथम नहीं है।

हेगेल का द्वैतगर्भित अद्वैतवाद

हेगेल प्रतिपादित परतत्त्व शुद्ध अद्वैत रूप नहीं है। अनेकता का इसमें सर्वथा अभाव नहीं है। क्योंकि परतत्त्व के इस प्रकार के स्वरूप के कारण अनेकता का निगमन (deduction) असंभव हो जायगा। यदि परतत्त्व में अनेकता नहीं है तो यह उससे किस प्रकार से उद्भूत हो सकती है और इसलिए किस प्रकार से इससे अनेकता का निगमन हो सकता है। वे स्पिनोज़ा प्रतिपादित शुद्ध अद्वैतवाद (abstract monism) को अमाननीय मानते हैं। क्योंकि किस प्रकार से वह द्रव्य, जिसको स्पिनोज़ा ने इतना अधिक शुद्ध रूप में अद्वैत माना है, जिसमें किसी भी प्रकार की अनेकता नहीं है, गुणों की अनेकता, जैसे विचार और विस्तार को उत्पन्न कर सकता है यदि पहले से वे उसमें विद्यमान नहीं हैं।

अतएव हेगेल यह मानते हैं कि परतत्त्व में अनेकता है। यह अनेक में एक है। अपने अन्दर यह अनेकता को समाविष्ट किए रहता है। इसमें अन्तर्निहित ज्ञप्तियों की क्रमपूर्ण श्रृङ्खला की प्रत्येक विलग ज्ञप्ति में तार्किक रूप प्रत्येक अन्य ज्ञप्ति निहित होती है और सब ज्ञप्तियां मिल कर एक सुव्यवस्थित सम्पूर्णता की रचना करती हैं। इस प्रकार से यह स्वयं पूर्ण, स्वयं स्पष्ट एवं स्वयं नियन्त्रित एकता है और वास्तविक विषयरूप संसार उससे उसी प्रकार से प्रवाहित होता है जिस प्रकार से तार्किक प्रतिज्ञा आदि से निष्कर्ष प्रवाहित होते हैं। इस प्रकार से हेगेल एक द्वैतगर्भित अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं क्योंकि उनका आदि तत्त्व शुद्ध अद्वैत न होकर अनेकता में एकता है।

विरोधियों की एकात्मता

(Identity of opposites)

अद्वैत का अर्थ विरोधियोंकी एकात्मता है। क्योंकि यदि परतत्त्व अद्वैत है और अनेकता उससे प्रवाहित होती है तो यह मानना होगा कि अद्वैत में अनेकता विद्यमान है। अद्वैत को शुद्ध अथवा निर्गुण अद्वैत नहीं मान सकते हैं। वरन् इसको अनेकता में एकता होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि एकता को अनेकता से एकात्म होना चाहिए अर्थात् विरोधियों में एकात्मता

वर्तमान है । यह सिद्धान्त हेगेल प्रतिपादित द्वंद्व-संधानात्मक प्रक्रिया (Dilectical process) का आधार है ।

परतत्त्व की परिभाषाओं के रूप में पदार्थ

हेगेल के मतानुसार पदार्थ सत्ता के तर्कसंगत प्रकार (mode) हैं । वे जगत के तर्कसंगत नियत पूर्वभावी तत्त्व हैं । वे इस प्रकार से तार्किक रूप में जगत् से सम्बन्धित नियम हैं कि उनके बिना जगत का अस्तित्व ही संभव नहीं है । तार्किक रूप में वे ऐसी वस्तुयें नहीं हैं जिनका जगत से पहले होना तर्कसिद्ध हो । वे न तो भौतिक वस्तुयें हैं और न मानसिक वस्तुयें हैं । वे शुद्ध रूप से प्रथक्कृत सारांश (abstraction) होने पर भी यथार्थ हैं अर्थात् उनकी सत्ता स्वतन्त्र है ।

पदार्थ परतत्त्व की परिभाषाएं हैं । हेगेल यह कहते हैं 'स्वयं सत्ता एवं उसके विशेष उपपदार्थ तथा सामान्यरूप से तर्कशास्त्र के भी पदार्थ परतत्त्व की परिभाषा के रूप में माने जा सकते हैं ।' इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थ परतत्त्व की परिभाषा प्रत्यय अथवा विचार हैं । परन्तु परिभाषा और परिभाषेय अर्थात् पदार्थ और परतत्त्व एक ही और अभिन्न हैं । प्रमातृनिष्ठ दृष्टिकोण से देखने पर पदार्थ हमारे मानसिक ढांचे हैं (mental forms) और प्रमेयनिष्ठ दृष्टिकोण से देखने पर वे प्रमेयनिष्ठ सामान्य (objective (universal) हैं एवं इस कारण से परतत्त्व हैं ।

ये पदार्थ सामान्यों की एक योगराशि अथवा विभिन्न जातियों का समूह मात्र नहीं हैं वरन् तार्किकरूप में वे परस्पर एक दूसरे में निहित हैं और एक सुव्यवस्थित सम्पूर्ण के रूप में परस्पर सम्बन्धित हैं । वे एक ऐसे स्वयं स्पष्ट एवं स्वयं निर्धारित पूर्ण रूप के विधायक हैं जो कि सृष्टि का निरपेक्षतः आदि तत्त्व हो सकता है ।

पदार्थों का निगमन
(Deduction)

यदि हम पदार्थों का निगमन एक दूसरे से करें तो हमारे सामने दो प्रश्न तुरन्त आ खड़े होते हैं:—(१) प्रथम पदार्थ क्या है ? (२) किस विधि के अनुसार हम अन्य पदार्थों का निमगन कर सकते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर हेगेल ने निम्न प्रकार से दिया है :—

क्योंकि पदार्थ सृष्टि की तार्किक दशायें (Logical conditions) हैं

इसलिए स्वभावतया प्रथम पदार्थ वह पदार्थ होगा जो युक्ति के अनुसार सर्वप्रथम आता है, वह जो विचारक्रम में सर्वप्रथम है, वह जो तार्किक रूप से प्रथम है अथवा अन्य सब से तार्किक रूप से पूर्ववर्ती है। इस प्रकार का पदार्थ सत्ता पदार्थ है अर्थात् केवल 'होने' (isness) का गुण मात्र है जिसमें कोई भी विशेष निर्धारणा (determination) नहीं होती। अन्य पदार्थों का द्वंद्व—संधानात्मक विधि के अनुसार 'सत्ता' से निगमन होता है और सम्पूर्ण सृष्टि तार्किक रूप में क्रमशः 'सत्ता' पदार्थ से प्रवाहित होती है।

सामान्यरूप प्रत्ययों के सम्बन्ध में मान्य तार्किक सिद्धान्त यह है कि अधिक सामान्य न्यून सामान्य से पूर्ववर्ती होता है, जाति विशेष की पूर्ववर्तिनी होती है, अर्थात् कोई सामान्य प्रत्यय जितना अधिक अमूर्त और सामान्य होता है तर्कशास्त्र में उतना ही अधिक पूर्ववर्ती उसका स्थान होता है। 'सत्ता' पदार्थ सर्वाधिक रूप में अमूर्त है और उसकी उपलब्धि पृथक्करण की गम्भीरतम प्रक्रिया से संभव होती है। अतएव हेगेल के पृथक्करणोपलब्ध सर्वाधिक अमूर्त (निराकार) वह सत्ता है जिसकी पूर्वभाविता उन सभी को अपेक्षित है जिनके विषय में हम कोई भी विचार कर सकते हैं। अतएव सत्ता प्रथम पदार्थ है। यह सर्वोच्च जाति है।

अब यदि हम जाति से उपजाति की ओर बढ़ना चाहते हैं तो हम ऐसा केवल जाति में विशेषकों (differentia) को जोड़ कर ही कर सकते हैं। परन्तु 'उपजाति' बनाने के लिए जाति में जोड़ने के लिए हमको विशेषक कहां से मिलेंगे ? यदि सत्ता से हम तर्कपूर्णविधि के अनुसार आगे बढ़ते हैं तो 'सत्ता' से जिसकी ओर हम बढ़ते हैं उसको सत्ता में निहित होना चाहिए। क्योंकि सभी तार्किक निगमनों का सारतत्त्व यह है कि अनुवर्ती को युक्ति (reason) अथवा पूर्ववर्ती में विद्यमान होना चाहिए—एक वस्तु के अन्दर से हम उस वस्तु को नहीं पा सकते जो उसके अन्दर नहीं है। अतएव जाति से उपजाति की ओर अग्रसर होने में हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विशेषक जाति में वर्तमान है। अतएव हेगेल यह मानते हैं कि यह विचारना गलत है कि विशेषक सामान्य से पूर्णतया बाहर है जैसा कि उनके पूर्ववर्ती दार्शनिक मानते थे। वे यह मानते हैं कि एक सामान्यरूप प्रत्यय के अन्दर उसका विरोधी भी प्रच्छन्नतया निहित हो सकता है और हम विरोधी का उससे निगमन करना सम्भव है एवं इससे उस विशेषक का काम ले सकते हैं जिसको यदि जाति में जोड़ा जाय तो वह उपजाति में

बदल जाती है। इसके अनुसार वे यह मानते हैं कि प्रथम पदार्थ सत्ता में स्वयं इसका विरोधी 'असत्ता' निहित है और दोनों एकात्म हैं। क्योंकि हेगेल के मतानुसार आवश्यक विशेषक सर्वदा नकारात्मक होता है क्योंकि उनका मान्य सिद्धान्त यह है कि नकारात्मक (negation) निर्धारणा (determination) है।

अतएव हेगेल यह मानते हैं कि (१) यदि हम जाति से उपजाति की ओर अर्थात् सत्ता से क्रिया (becoming) की ओर बढ़ते हैं तो उस विशेषक को जो सत्ता को क्रिया में बदल देता है सत्ता में विद्यमान अथवा निहित होना चाहिए (२) यह विशेषक उस (सत्ता) से विरुद्ध, उसके निषेध अर्थात् 'असत्ता' या 'प्रतिसत्ता' के अतिरिक्तऔर कुछ नहीं हो सकता। अतएव विरुद्धों की एकात्मता है। हेगेल के त्रिक मत का आधार विरुद्धों की एकात्मता का सिद्धान्त है।

हेगेल का त्रिक मत

इस प्रकार से हेगेल का मत त्रिकों का मत हो जाता है। क्योंकि उनके अनुसार प्रत्येक त्रिक के तीन अंश क्रमशः भाव, प्रतिभाव एवं संधान रूप होते हैं। इस प्रकार से तर्कशास्त्र में प्रथम पदार्थ 'सत्ता' भाव है दूसरा पदार्थ 'अभाव' प्रतिभाव है और तीसरा पदार्थ 'क्रिया' है जो पूर्ववर्ती दोनों पदार्थों का संधान है। इस तीसरे में सत्ता और असत्ता की परस्पर विरुद्धता नष्ट हो जाती है। प्रथम त्रिक का अन्तिम पद आगामी त्रिक का प्रथम पद (thesis) होता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक हम परम ज्ञप्ति (Absolute idea) को नहीं पहुँच जाते हैं। लघुतर त्रिक विशालतर त्रिकों के अन्तर्भूत होते हैं और ये विशालतर त्रिक अपने से भी अधिक विशाल त्रिक के अन्तर्भूत होते हैं। इस प्रकार से हेगेल का तर्कशास्त्र केवल एक त्रिक अर्थात् १. सत्ता (being) २. सारतत्त्व (essence) एवं ३. ज्ञप्ति का प्रतिपादन करता है। परन्तु पूर्ण मत के विशाल दृष्टिकोण से यह ज्ञप्ति उस त्रिक का प्रथम पद (thesis) बनती है जिसका दूसरा पद (antithesis) प्रकृति है और जिसका संधान प्रथम पद के साथ चिदात्मा में होता है। अतएव हेगेल का सम्पूर्ण मत केवल एक त्रिक का ही प्रतिपादन करता है जिसके १. भाव २. प्रतिभाव एवं ३. संधान क्रमशः १. ज्ञप्ति २. प्रकृति तथा ३. चिदात्मा हैं।

१. परतत्त्वात्मक ज्ञप्ति (Absolute idea)

परतत्त्वात्मक ज्ञप्ति अथवा मूलस्वरूप मन (primal mind) अर्थात् वह मन जैसा कि वह संसार की अभिव्यक्ति के पूर्व होता है—वह मन जो संसार का प्रथम युक्तितत्त्व है, जो केवल पदार्थों का एक सुव्यवस्थित संगठन है और वह मन जो शुद्ध रूप से सारस्वरूप है हेगेल के तर्कशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है।

२. प्रकृति

वह प्रकृति जिसमें देश और काल, अशरीरी (inorganic) भूत, वृक्षादि एवं पशु सम्मिलित हैं एवं जो निर्गुण पर आत्मा की अपने विरोधी के रूप में अभिव्यक्ति अथवा प्रकटीकरण है अर्थात् जो अचेतन, युक्तितत्त्वशून्य, असंस्कृत वाह्य जगत है, हेगेल के प्रकृति के दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रकृति तार्किक ज्ञप्ति का प्रतिभाव है। अतएव यह ज्ञप्ति का विरोधी है। यह अज्ञप्ति स्वरूप है और फिर भी अपने अन्य रूप में यह ज्ञप्ति ही है क्योंकि ज्ञप्ति और प्रकृति का सम्बन्ध भाव एवं प्रतिभाव अर्थात् सत्ता एवं असत्ता का सम्बन्ध है। जिस प्रकार से 'असत्ता' 'सत्ता' से भिन्न है अर्थात् यह असत्ता है जो सत्ता का प्रतिभाव है उसी प्रकार से प्रकृति ज्ञप्ति का प्रतिभाव है अर्थात् यह अज्ञप्ति है। परन्तु जिस प्रकार से असत्ता सत्ता से एकात्मक होती है उसी प्रकार से प्रकृति ज्ञप्ति के साथ एकात्म है। यह विरोध में एकात्मता है अर्थात् अपने अन्यरूप में यह एक ज्ञप्ति है।

प्रकृति के दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय सत्ता, कारण, द्रव्य जैसे पृथक्कृत सारांश ही नहीं हैं वरन् 'यथार्थतः वर्तमान वस्तुएँ' जैसे वृक्ष एवं पशु हैं। तर्कशास्त्र से प्रकृति के दर्शनशास्त्र तक आना एक अर्थ में विचारों से वस्तुओं की ओर आना है। तर्कशास्त्र की ही भांति प्रकृति के दर्शनशास्त्र में द्वन्द्वसंधानात्मक विधि निहित है और जिस प्रकार से 'सत्ता' से 'असत्ता' का निगमन हम करते हैं उसी प्रकार से परतत्त्वात्मक ज्ञप्ति से प्रकृति का निगमन करते हैं।

परन्तु यह मानना गलत होगा कि अपने प्रकृति के दर्शनशास्त्र में हेगेल अमूर्त विचार (abstract thought) से ठोस वस्तुओं के निगमन की चेष्टा करते हैं। जिस समय वे ज्ञप्ति से प्रकृति का निगमन करते हैं उस समय वे

जो करते हैं वह प्रकृति का वैसा निगमन नहीं है जैसा कि लोकप्रसिद्ध भाषा में समझा जाता है वरन् उसका अर्थ यह है कि वे प्रकृति की ज्ञप्ति का निगमन परतत्त्वात्मक ज्ञप्ति से करते हैं। उसी प्रकार से जब वे वृक्षपौधों से पशु का निगमन करते हैं तो वे वृक्षपौधों की ज्ञप्तियों से पशु की ज्ञप्ति के निगमन की चेष्टा करते हैं। हेगेल का प्रकृति का दर्शन और चिदात्मा का दर्शन दोनों का प्रतिपाद्य विषय न होकर केवल सामान्य भर ही है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हेगेल के दार्शनिक मत के प्रतिपाद्य विषय केवल प्रथकृकृत सारांश (abstraction) मात्र ही हैं और इसलिए उनका प्रयोग वास्तविक वस्तुओं के विषय में नहीं हो सकता। क्योंकि हेगेल एक ज्ञप्तिवादी हैं। वे उस वस्तु के अस्तित्व का सर्वथा निषेध करते हैं जो ज्ञप्ति नहीं है। वे प्लेटो प्रतिपादित 'भूततत्त्व' और कान्ट प्रतिपादित 'स्वस्वरूपस्थ वस्तु' का खण्डन समान रूप से करते हैं। अतएव उनके मतानुसार वस्तुएँ ज्ञप्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

परन्तु प्रकृति के दर्शनशास्त्र में प्रतिपादित सामान्य उनसे भिन्न हैं जिनका प्रतिपादन तर्कशास्त्र में करते हैं। शुद्ध तथा इन्द्रियबोध्य सामान्यों के बीच कान्टकृत भेद को हेगेल स्वीकार करते हैं। शुद्ध सामान्यों का प्रतिपादन वे अपने तर्कशास्त्र में तथा इन्द्रियबोध्य सामान्यों का प्रतिपादन प्रकृति के दर्शनशास्त्र में वे करते हैं। शुद्ध सामान्य शब्द के सही माने में सामान्य हैं क्योंकि उनका प्रयोग सब वस्तुओं पर कर सकते हैं। इनको शास्त्रीय भाषा में पदार्थ कहते हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है जिस पर पदार्थों का प्रयोग न कर सकें। प्रत्येक वस्तु को एक न एक दृष्टिकोण से सत्ता, गुण, परिमाण, कारण, कार्य आदि के रूप में देख सकते हैं। अतएव तर्कशास्त्र में उनकी व्याख्या अलग से की गई है। परन्तु परकथित, इन्द्रियबोध्य सामान्य, शब्द के विशिष्ट अर्थ में ही सामान्य हैं। उनका प्रयोग कुछ ही वस्तुओं पर कर सकते हैं अन्य वस्तुओं पर नहीं। इस प्रकार से वृक्ष और पशु सामान्य तो हैं परन्तु इन्द्रियबोध्य सामान्य हैं। इनका प्रयोग सब वस्तुओं पर नहीं कर सकते। सामान्यों की इन्द्रियबोध्यता इस बात में है कि वे केवल सामान्य ही नहीं वरन् विशेष भी हैं। इसलिए जिस समय हेगेल ज्ञप्ति से प्रकृति का निगमन करते हैं उस समय सूक्ष्म कथन के ठीक-ठीक अर्थ के अनुसार ज्ञप्तियों का वस्तुओं में परिवर्तन नहीं होता वरन् एक कोटि के सामान्य की दूसरी कोटि के सामान्य में परिवर्तन होता है।

परन्तु इस प्रसंग में निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं :—

१—यदि आदितत्त्व शुद्ध रूप से युक्तितत्त्व है तो हम उस 'प्रकृति' की व्याख्या कथित सिद्धान्त के आधार पर किस प्रकार से कर सकते हैं जिसको एक युक्तिहीन तत्त्व मानते हैं।

२—यदि हेगेल का दार्शनिक मत सम्पूर्णता का दावा करता है तो आकस्मिक अथवा विशेष का उसमें क्या स्थान है ?

प्रथम समस्या उनके मन में नहीं उठी। परन्तु उनको यह ज्ञात हुआ कि शुद्ध रूप में युक्तिपरक दृष्टिकोण से इसका समाधान संभव नहीं है। क्योंकि प्रकृति को युक्तितत्त्व हीन मानना और साथ ही साथ प्रथम युक्तितत्त्व के आधार पर इसकी व्याख्या करना असाध्य कार्य है। अतएव उनको शुद्ध युक्तिपरता का परित्याग करना पड़ा। द्वंद्वसंधानात्मक साधनविधि को भी छोड़ने की ओर उनका झुकाव हुआ। हेगेल यह कहते हैं कि 'उपर्युक्त की भाँति यह वह 'क्रिया' (becoming) अथवा परिवर्तन नहीं है जिसकी चर्चा हमने उस समय की थी जिस समय हम प्रमातृनिष्ठ ज्ञप्तियाँ (subjective notion) की समष्टि से ज्ञेय वस्तुओं की ओर आगे बढ़े थे.........ज्ञप्ति स्वतन्त्रतया स्वयं प्रकृति के रूप में विद्यमान होती है।......शुद्ध ज्ञप्ति अपने को बाह्य 'ज्ञप्ति' के रूप में नियमित करने का संकल्प करती है।' 'स्वयं अपनी सम्पूर्ण सत्यता में यह 'ज्ञप्ति' प्रतिच्छाया के रूप में अपनी विशेषता के क्षण को प्रकृति के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक आगे बढ़ने देती है।' इस प्रकार के कथनों में युक्ति मूलक सिद्धान्त के स्थान पर प्रत्यक्षतः 'स्वतन्त्रता' के सिद्धान्त को स्थापित किया गया है।

वास्तविकता यह है कि यदि अद्वैतवादी युक्तिवाद अपनी स्थापित प्रतिज्ञाओं पर डटा रहना चाहता है तो अपने युक्तिवादी सिद्धान्त के आधार पर अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र की व्याख्या करना परमावश्यक है। अतएव एकमात्र सम्भव उपाय उसके लिए यह रह जाता है कि युक्तिहीन तत्त्व का निषेध किया जाय क्योंकि युक्तिहीन तत्त्व को स्वीकार करने का अर्थ अद्वैतमत एवं युक्तिवाद दोनों का परित्याग होगा। ऐसा ज्ञात होता है कि हेगेल 'युक्तितत्त्व' से महानतर किसी तत्त्व की खोज में लगे हैं और उनको अकस्मात् स्वतन्त्रता का तत्त्व मिल जाता है। परन्तु वे इस तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन आवश्यक गम्भीरता और दृढ़ता के साथ नहीं कर पाते क्योंकि

यह उस तत्त्व का विरोधी है जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपने सम्पूर्ण तर्कशास्त्र में किया है।

दूसरे प्रश्न को हेर क्रुग ने वास्तविक रूप में उठाया था। हेर क्रुग ने यह मान कर कि हेगेल वर्तमान विशेष वस्तुओं का निगमन ज्ञप्ति से कर रहे हैं हेगेल से यह प्रश्न करते हैं कि क्या वे उस लेखनी का निगमन कर सकते हैं जिससे वे (हेर क्रुग) लिख रहे हैं ? और हेगेल का आकस्मिक अथवा विशेष के विषय में यह मत है कि (जैसा कि उनके उत्तर से स्पष्टतया ज्ञात होता है) प्रकृति के दर्शनशास्त्र को विशेष तथ्यों एवं वस्तुओं का नहीं वरन् सामान्य के निगमन की चेष्टा करना चाहिए और प्रकृतिगत समस्त विशेष युक्तितत्त्व से अनुशासित न होकर अनियमता (caprice) तथा आकस्मिकता से अनुशासित होते हैं। इसका अर्थ यह है कि हेगेल के मतानुसार प्रकृति गत समस्त विशेष युक्तिहीन हैं और इसलिए उनका निगमन नहीं किया जा सकता और यह कि दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय विशेष की व्याख्या न होकर केवल सामान्य का स्पष्टीकरण मात्र ही है।

हेगेल के दार्शनिक मत में यह एक दुर्बलता है। परतत्त्व परतत्त्व नहीं रह जाता यदि कोई भी ऐसी वस्तु है जिसका स्पष्टीकरण परतत्त्व के आधार पर नहीं कर सकते। क्रुग के प्रश्न का हेगेल के उत्तर के अनुसार विशेषों के सम्पूर्ण क्षेत्र का स्पष्टीकरण उनके दार्शनिक मत में प्रतिपादित प्रथम तत्त्व के आधार पर नहीं किया जा सकता है। अतएव यह परतत्त्व वह नहीं रह जाता जैसा कि उसके होने का दावा किया गया था। केवल दो उपाय ही ऐसे हैं जिनसे हेगेल अपनी रक्षा इस युक्ति संकट से कर सकते हैं (१) इस बात को अस्वीकार करना कि किसी भी युक्तिहीन वस्तु का अस्तित्व है और इसलिए यह मानना कि सम्पूर्ण प्रकृति युक्तिमूलक है अथवा (२) आदि तत्त्व के विषय में शुद्ध युक्तिवादी धारणा का परित्याग करना—परतत्त्व अथवा प्रकृति के विषय में अपने प्रतिपादित मत में संशोधन करना अर्थात् या तो वह मानना की परतत्त्व युक्तिपूर्ण और युक्तिहीन दोनों है या प्रकृति शुद्ध रूप से युक्तिपूर्ण है। प्रकृति की व्याख्या करते समय जिस 'स्वतन्त्रता' की ओर हेगेल ने संकेत किया है यदि 'युक्ति तत्त्व' के स्थान पर उसी 'स्वतन्त्रता' को उन्होंने आदि तत्त्व मान लिया होता तो उनका दार्शनिक मत खण्डनीय न रह जाता। यही वह अंश है जिसमें अभिनवगुप्त का आभासवाद (यथार्थवादी ज्ञप्तिवाद) हेगेल के मत से आगे बढ़ जाता है।

हेगेल के प्रकृति-दर्शन का क्षेत्र

हेगेल अपने प्रकृति-दर्शन के प्रतिपादन में भी अपनी सुप्रसिद्ध द्वंद्वसंधानात्मक विधि का अनुगमन करते हैं। जिस प्रकार से अपने तर्कशास्त्र का आरम्भ उन्होंने रिक्ततम ज्ञप्ति 'सत्ता' से किया था उसी प्रकार से प्रकृति के दर्शन का आरम्भ भी उन्होंने रिक्ततम वस्तु अर्थात् देश (space) से किया है। प्रकृति की परवर्ती क्रमदशाएं ज्ञप्ति के आत्मप्रत्यागमन की विधायक हैं। देश[1] मन, ज्ञप्ति, अथवा युक्ततत्त्व से सर्वाधिक रिक्त है। यह युक्तितत्त्व जो देशतत्त्व में इतनी सम्पूर्णता से सोया हुआ है कि उसमें इसके अस्तित्व तक का निषेध करते हैं प्रकृति के द्वंद्वसंधानात्मक विकास की क्रमदशाओं में क्रमशः पुनर्जाग्रत होता है। प्रकृति के क्षेत्र में क्रमशः पुनर्जाग्रत होता हुआ युक्तितत्त्व अपने को अन्धशक्ति के रूप में प्रकट करता है। यह अन्धशक्ति उन कुछ नियमों के अनुसार क्रियाशील होती है जिनका अध्ययन तीन विज्ञानों में करते हैं—(१) यंत्र-विज्ञान (mechanics) (२) भौतिक-विज्ञान (physics) एवं (३) शारीरिक-विज्ञान (organics)। यह वह त्रयी है जिसको प्रकृति प्रकट करती है। यह शक्ति यंत्र-विज्ञान के क्षेत्र में पूर्णतया अंध है। परन्तु शारीरिक विज्ञान के लोक में यह एक संगठनकारी और नियामक-शक्ति बन जाती है उसमें थोड़ा सामंजस्य एवं प्रयोजनशीलता आ जाती है। यह शक्ति 'होने' और 'जीवित रहने' की उन्मुखता के रूप में प्रकट होती है। यह एक एकीकरण की शक्ति बन जाती है। यह एक ऐसी शक्ति बन जाती है जो अंगों की अनेकता को एक सूत्र में बाँधती है और उन सब में प्राण का संचार करती है। उदाहरण के लिए यदि हम वनस्पति के जीवन को देखें तो हमको यह ज्ञात होता है कि बीज में एक ऐसी शक्ति है जो वातावरण से इसके प्रभावित होने का, अपने बाह्य वस्तुओं को आत्मसात् करने का, जो उससे विदेशीय है उसको अपना बनाने का, कुछ नियमों के अनुसार एक निर्धारित रेखा पर विकासमान होने का और वातावरण के प्रभाव से उद्भूत सभी अंगों को एकसूत्रबद्ध करने का हेतु है। परन्तु वह शक्ति जिसका बोध हमको वनस्पति के शरीर में होता है अनेकता में आंशिक रूप से ही एकता स्थापित कर सकती है। अंग दृढ़तापूर्वक संगठित नहीं होते। विभिन्न अंगों के प्रयोजनपूर्ण कार्य दृढ़ रूप से निर्धारित नहीं होते

---

१. स्टा० ३१२

हैं। उनमें एक प्रकार की आत्मनिर्भरता तथा परस्पर एक दूसरे से निरपेक्षता वर्तमान है क्योंकि एक अंग दूसरे अंग का प्रयोजन सिद्ध कर लेता है।

परन्तु जब हम अपनी निरीक्षणकारी ध्यानशक्ति को पशु के शरीर की ओर लगाते हैं तो हमको यह ज्ञात होता है कि यह एकता के तत्त्व की अधिक विकसित क्रमदशा प्रकट करता है। इस में अंगों का पारस्परिक संबन्ध दृढ़ है जिसके कारण विभिन्न अंगों के प्रयोजन भी सुचारु रूप से निर्धारित हैं। पौधों की भाँति इनमें केवल स्पर्शनीय निकटस्थ वस्तुओं से प्रभावों को ग्रहण करने की ही शक्ति मात्र नहीं है वरन् उन सबसे भी प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता है जो उससे दूरी पर हैं, दूसरे शब्दों में कहना हो तो कहेंगे कि इस क्रमदशा पर पशु संवेदना (animal sensibility) की उत्पत्ति हो जाती है।

(३) चिदात्मा (Spirit)

हम हेगेल के दर्शनशास्त्र की रूपरेखा को उनके कलाशास्त्र के प्रतिपादन के लिए अंकित करने का प्रयास कर रहे हैं। कला मानवीय मन (चिदात्मा) की उपज है और इसका प्रयोजन सहृदय को रसास्वादन कराना है इसलिए यह आवश्यक है कि हमको स्पष्टतया यह ज्ञात हो जाय कि हेगेल के मतानुसार 'फ़िलासफ़ी आफ़ स्पिरिट' में प्रतिपादित मानवीय मन का तात्त्विक स्वरूप क्या है।

हेगेल ने मन अथवा चिदात्मा को तीन क्रमदशाओं में प्रदर्शित किया है—(१) प्रमातृनिष्ठ, (२) प्रमेयनिष्ठ एवं (३) परतत्त्वनिष्ठ। इनमें से हमारे दृष्टिकोण के अनुसार प्रथम और अन्तिम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा की व्याख्या करते हुए हेगेल ने अधिकांश रूप में उन विषयों का प्रतिपादन किया है जिनका संबंध आधुनिक मनोविज्ञान से घनिष्ठ रूप में है जैसे मूलवृत्ति (instinct) संवेदना (feeling) इन्द्रियबोध (sensation) कल्पना (imagination) बुद्धि एवं व्यावहारिक इच्छा, चिदात्मा के सामान्य गुण अथवा उसके साररूप लक्षण और उन्होंने परतत्त्वात्मक चिदात्मा की जो व्याख्या की है उसमें कला की समस्या की व्याख्या भी सम्मिलित है।

प्रकृति एवं चिदात्मा अथवा मन

हेगेल ने चिदात्मा के दर्शन (philosophy of spirit) में क्रमभावी उन क्रमदशाओं को खोजने की चेष्टा को बनाए रखा है जिनमें से होकर वह

चिदात्मा जिसने अपने को आत्मविरोधी रूप अर्थात् चित्त-शून्य तथा जीवनशून्य दिक्, काल और भूततत्त्व में, जिनका अध्ययन यंत्र-विज्ञान में करते हैं, प्रकट किया है आत्मस्वरूप में प्रत्यावर्तन करती है, फिर से मन अथवा चिदात्मा अर्थात् स्वात्मपरामर्शपूर्ण अद्वितीय तत्त्व बन जाती है। प्रकृति के दर्शन में (philosophy of nature) अंकित मन की इस प्रत्यावर्तनात्मक यात्रा का चरम बिन्दु पशुसंवेदना था। चिदात्मा के दर्शनशास्त्र में उन क्रमभावी दशाओं का अंकन किया गया है जिनमें होकर मन, जो कि विशुद्ध अर्थ के अनुसार, इच्छा तथा बुद्धि रूप है, उस सामान्य पशु संवेदना से उद्भूत होता है जो पशु जीवन की सर्वोत्कृष्ट विकास की अवस्था है प्राणी-विज्ञान की अन्तिम समस्या है।

इस प्रकार से हेगेल ने अपने चिदात्मा के दर्शन शास्त्र में उस समस्या का समाधान करने की फिर से चेष्टा की है जिसका आंशिक रूप से समाधान उन्होंने प्रकृति के दर्शन–शास्त्र में किया था। उनकी समस्या यह है—वे कौन से विभिन्न क्रम हैं जिनसे होकर वह युक्तितत्त्व जो यंत्र-विज्ञान के क्षेत्र में अन्धशक्ति के रूप में प्रकट होता है और वनस्पतियों तथा पशुओं के अंगमय शरीरों में संगठनकारी शक्ति तथा पशु-संवेदना के रूप में प्रकट होता है, दार्शनिक की बुद्धि में अपने मूल स्वरूप की ओर प्रत्यावर्तित हो जाता है?' 'वे कौन सी विभिन्न क्रमदशाएं हैं जिनको वह युक्तितत्त्व जो पशु शरीर में पशु–संवेदना के रूप में भासित होता है दार्शनिक बुद्धि में आत्म-प्रकटीकरण के चरम बिन्दु को प्राप्त करने के पूर्व मानवीय शरीर में पार करता है?' अतएव वे उन विविध क्रमों को स्पष्ट करना आरम्भ करते हैं जिनसे होकर मन अपने स्वस्वरूप को प्राप्त करता है—यही वह बिन्दु है जहां पर उन्होंने इसको 'प्रकृति के दर्शन शास्त्र' में छोड़ा था। अतएव हेगेल के मतानुसार चिदात्मा (मन) यद्यपि मूल में युक्तितत्त्व है फिर भी यंत्र-विज्ञान के क्षेत्र में युक्तिशून्य तत्त्व के रूप में प्रकट होती है और पशुओं के शरीर में अल्पमात्रा में सामंजस्य और प्रयोजनशीलता को प्राप्त करती है। परन्तु मानवीय शरीर में इसको एक नया गुण प्राप्त होता है और इसलिए उसको जीवात्मा के नाम से पुकारते हैं। जीवात्मा उस चेतना का उपादान (raw material) है जो उच्चतर मानसिक जीवन का आधार है। यह वह सीमाप्रदेश है जिसकी भूमि प्रकृति और मन के बीच आज भी विवाद का विषय है।

जीवात्मा (Soul) के विशेष लक्षण

जीवात्मा (soul) एक अखण्ड तत्व है। यह अखण्ड तत्व केवल अंगयुक्त जीव में ही प्राप्त नहीं होता वरन् अंग हीन (inorganic) संसार में भी प्राप्त होता है। यह अंगयुक्त जीव में अंगहीन संसार से अधिक स्पष्ट तथा अधिक पूर्ण होता है। परन्तु इन दोनों क्षेत्रों में यह अखण्ड तत्व केवल अस्पष्ट ही होता है, यह केवल बहिर्वर्ती व्यक्ति दर्शक, एवं तथ्य ग्राही के लिए ही होता है यह केवल बुद्धि ग्राह्य है। यह एक कल्पित (hy-pothetical) ज्ञप्ति मात्र है। यांत्रिक और अंगयुक्त संसारों में अखण्ड तत्व विद्यमान है परन्तु यह उनका एवं उनके लिए नहीं होता। उनमें अखण्ड तत्व की सत्ता केवल दर्शक मात्र के लिए ही है। परन्तु वह अखण्ड तत्व जिसका साक्षात्कार हम मानवीय बोधशक्ति एवं संवेदना की क्रियाओं में करते हैं अथवा वह अखण्डतत्व जिसकी चर्चा हम जीवात्मा के प्रसंग में करते हैं ऐसा है जो उसका और उसके लिए है। अखण्डतत्व के रूप में जीवात्मा किसी दर्शक के लिए न होकर अपने लिए है। यह केवल अखण्डतत्व ही नहीं है वरन् उसको इस बात का बोध भी है कि वह इस प्रकार का अखण्डतत्व है। वह अखण्डतत्व जो प्रकृति के क्षेत्र में अव्यक्त रूप में वर्तमान है चिदात्मा (spirit) अथवा मनस् के क्षेत्र में व्यक्त रूप होता है।

चेतन अखण्डतत्व के रूप में जीवात्मा बुद्धि तत्व की सम्भावना मात्र है। यह केवल धूमिल सा आत्मबोध एवं एक सामान्य और निर्विकल्प प्रभाव-ग्राहकता (Susceptibility) अथवा वह समवेदना (sympathy) है जो भौतिक वातावरणगत उत्प्रेरकों (stimuli) के प्रति प्रतिक्रिया अस्फुट रूप में करती है।

ऐसा लगता है कि हेगेल यह मानते हैं कि जीवात्मा कोई विलगरूप अभौतिक वस्तु नहीं है, जहां जहां प्रकृति है वहां वहां जीवात्मा उसका सामान्य अभौतिक अंश है। यह प्रकृति का साधारण ज्ञप्ति रूप जीवन है। यह मन के सभी विशिष्टीकरण और व्यक्तीकरण का आधार है। यह वह उपादान सामग्री है जिस पर मन का चरित्र अंकित होता है। यह अभौतिक है क्योंकि इसमें केवल आकर्षक शक्ति का ही अभाव नहीं है वरन् अस्तित्व का कोई भी ऐसा अंश इसमें नहीं है जिस के कारण हम इसको भौतिक वस्तु मान सकें।

जीवात्मा और शरीर की पारस्परिक निर्भरता अथवा सम्बन्ध कोई एक अबोध्य रहस्य नहीं है। क्योंकि वे परस्पर पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है और इसलिए परस्पर अप्रवेश्य नहीं हैं। हेगेल यह मानते हैं कि यह धारणा कि जीवात्मा सीमित और भूततत्त्व से भिन्न है, मिथ्या है, और सीमित जीवात्मा एवं भूततत्त्व का सच्चा तादात्म्य परतत्त्व है।

शरीर से आच्छादित जीवात्मा प्रकृति के साथ समवेदना (sympathy) पूर्ण है। यह प्रकृति से अनुशासित है। यही कारण है कि जलवायु एवं अन्य प्राकृतिक दशाओं के भौतिक भेद से जातीय विलक्षणताओं से युक्त विभिन्न प्रकार के मन अस्तित्व में आते हैं। इस प्रकार से प्राकृतिक वातावरणों के प्रभावों से जीवात्मा का निःसामान्यीकरण तब तक होता है जब तक व्यक्ति प्रमाता उत्पन्न नहीं होने लगते।

प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा की प्रथम क्रमदशा के रूप में जीवात्मा

प्रमातृनिष्ट चिदात्मा तीन क्रमदशाओं को प्रदर्शित करती है (१) जीवात्मा-(२) बोध एवं (३) मन। अतएव जीवात्मा उस त्रयी का भाव (thesis) है, जिसमें प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा अपने को व्यक्त करती है और इसलिए निर्विकल्पता उसका विशेष गुण है। जीवात्मा प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा की प्रथम क्रमदशा है यह उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा अर्थात् मानवीय मन को प्रमातृनिष्ठ दृष्टिकोण से एक व्यक्ति प्रमाता के मन के रूप में देखते हैं। यह वह क्रम दशा है जो बोध और मन दोनों के परे है। यह वह क्रम दशा है जो अपने को तीन क्रम दशाओं में व्यक्त करती है १—प्राकृतिक आत्मा २—संवेदना रूप आत्मा एवं ३—वास्तविक आत्मा। यह इतनी अधिक अविकसित क्रमदशा है कि इस समय तक यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष बोध के तल तक नहीं पहुँच पाई है। इसको मानवीय (आत्मा) के रूप में कठिनता से जान सकते हैं। यह पशुआत्मा के तल से कठिनता से कुछ ही ऊपर है।

ऐसा ज्ञात होता है कि हेगेल मानवीय मन का विश्लेषण उस बिन्दु से आरम्भ करते हैं जहां से माता के गर्भ में स्थित मानवीय शरीर में प्रथम बार जीवन का उन्मेष होता है। हेगेल प्रतिपादित जीवात्मा उस क्रम दशा का निरूपण करती है जो पशुत्व मात्र से कुछ ऊपर उठी हुई है। और उस दशा से कुछ नीचे है जिस पर इन्द्रिय प्रत्यक्ष शक्ति का विकास होता है। जैसा

कि हम कह चुके हैं स्वयं जीवात्मा के तल में तीन तल होते हैं। मन के दर्शन शास्त्र में जीवात्मा का वही स्थान है जो तर्कशास्त्र में 'सत्ता' का और प्रकृति के दर्शन शास्त्र में 'देश' का है।

(१) प्राकृतिक आत्मा

चिदात्मा का प्रथम आरम्भिक विन्दु प्राकृतिक आत्मा है। यह निर्विकल्प है और इसलिए इसका विशेष गुण सब विकल्पों से मुक्त केवल सत्ता मात्र है। 'यह है' केवल इतना ही इसके विषय में कह सकते हैं। इसके विषय में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता। जीवात्मा की दूसरी क्रम दशा या संवेदनारूप आत्मा का दृष्टान्त हेगेल ने माता के गर्भस्थ उस समय के शिशु के रूप में दिया है जिस समय उस शिशु की संवेदनाएँ अपनी न होकर माता की ही होती हैं। यदि हम इस दृष्टान्त को याद रखें तो हम न्यायसंगत रूप में यह कह सकते हैं कि हेगेल के मतानुसार जीवात्मा की प्रथम क्रमदशा के दृष्टांत के रूप में गर्भस्थ शिशु की संवेदना के विकास से पूर्वभावी दशा ही है। अपने विकास की प्रथम क्रमदशा पर जीवात्मा सम्पूर्णतया रिक्त तथा सर्वथा भेदशून्य होती है। इसमें किसी भी प्रकार का भेद विद्यमान नहीं होता। यह एक भेदरहित शून्यता भर ही है। इसमें अपने अन्दर कोई भेद वर्तमान नहीं होता है। किसी भी वस्तु के साथ उसका बोधपूर्ण सम्बन्ध नहीं होता। यह एक भेदशून्य अखण्डता मात्र ही होती है। 'सत्ता' के पदार्थ को छोड़ कर अन्य किसी पदार्थ को इसके विषय में प्रयुक्त नहीं कर सकते। इसे किसी बाह्य वस्तु का कोई बोध नहीं होता। अपने ही लिए यह संपूर्ण अस्तित्वों की समष्टि है। प्राकृतिक आत्मा अपने को जिस त्रयी के रूप में प्रकट करती है वह (त्रयी) निम्नलिखित है :—१—शारीरिक गुण—२—शारीरिक विकृतियां एवं—३—इन्द्रियबोध। ये ही वे तीन क्रमदशाएँ हैं जिनमें प्राकृतिक आत्मा व्यक्त होती है।

(२) संवेदना रूप आत्मा

हेगेल इन्द्रियबोध एवं संवेदना में एक भेद रेखा अंकित करते हैं। निर्विकल्पता प्राकृतिक आत्मा का विशेष लक्षण है। संवेदनशीलता (sensibility) प्राकृतिक आत्मा के विकास की एक क्रमदशा है अतएव संवेदना का विशेष-लक्षण निर्विकल्पता है। ये संवेदनाएँ जीवात्मा के अन्दर होती हैं इसलिए वे जीवात्मा के ही अंश हैं। वे जीवात्मा में पाईभर ही जाती हैं। निर्विकल्पा-

त्मक सत्ता अर्थात् अविभक्त एकरस सामान्यता और ज्ञेय विषय-वस्तु (content) के बीच भेद स्वयं जीवात्मा के अन्दर भेद है। अतएव संवेदना जीवात्मा की निश्चेष्टता (passivity) की प्रधानता को उद्घोषित करती है। परन्तु जिस समय संवेदनाओं का भेद स्वयं आत्मा से करते हैं और यह पता लगता है कि ये उससे संबन्धित रहती हैं और इसलिये उसको प्रभावित करती हैं उस समय वे चेष्टापूर्ण (active) होती हैं। परन्तु क्योंकि वे जीवात्मा के अन्तरस्थ हैं और उसके अंश हैं इसलिए वे स्वयं जीवात्मा होती हैं। अतएव उनको प्रभावित करने की चेष्टा से युक्त मानने का अर्थ स्वयं जीवात्मा को इस चेष्टा से युक्त मानना है। अतएव संवेदना जीवात्मा की चेष्टापूर्णता की प्रधानता को उद्घोषित करती है। संवेदनारूप आत्मा संवेदना का प्रमातृनिष्ठ अंश है। यह (जीवात्मा) ज्ञेय विषयवस्तु पर अपना अधिकार जमाती है और अपनी ज्ञेय विषयवस्तु के रूप में उसका साक्षात्कार करती है। इस समय यह (जीवात्मा) एक व्यक्तिरूप होती है जो ज्ञेय विषयवस्तु से स्वतन्त्र रूप में अपना अनुभव करती है। इस क्रमदशा पर समग्र संवेदनाओं में यह (आत्मा) केवल एक तर्कसंगत अंश मात्र ही नहीं होती वरन् एक स्वतन्त्र वस्तु हो जाती है।

प्रतिफलनक्षम (reflexive) सामान्य के रूप में संवेदनारूप आत्मा

जीवात्मा की अन्तर्वस्तु (content) और उसका रूप (form) अलग अलग अस्तित्व में नहीं रह सकते। जीवात्मा की सामान्यता के शून्य रूप (empty form) को अपने आपको विशेषों में साकार करना चाहिए। ज्ञेय विषयवस्तु पर अपनी सामान्यता की छाप लगाना चाहिए। इसकी सामान्यता को विशेषों में प्रकट होना चाहिए। परन्तु यह सामान्यता जो विशेषों में साकार होती है ज्ञप्ति रूप (ideal) सामान्यता न होकर वास्तविक अर्थात् आत्मप्रकटीकरण करती हुई सामान्यता होती है। यह वह सामान्यता है जिसको हेगेल प्रतिफलनक्षम (reflexive) सामान्यता कहते हैं। यह केवल वह संख्यात्मक सामान्यता ही है जो कालशृंखला में एक इन्द्रियबोध अथवा संवेदना आदि की पुनरावृत्तिरूप है जैसे यह मनुष्य, यह मनुष्य, यह मनुष्य। प्रतिफलनक्षम सामान्य के रूप में आत्मा इस लोक में ज्ञप्तिरूप सामान्यता का केवल वास्तविक रूप ग्रहण करना भर ही है। 'ज्ञप्ति रूप को वास्तविक रूप होना चाहिए' यह द्वन्द्वसंधानात्मक प्रक्रिया की आवश्यक क्रमदशा है। इस प्रसंग में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए १—

प्रतिफलनक्षम सामान्यता के रूप में आत्मा का यह तात्विकस्वरूप बहुत कुछ बौद्धमतावलम्बियों के 'आलयविज्ञान' के तात्विकस्वरूप की भांति है एवं २—इस दशा में कालतत्व प्रथम बार आत्मा के तात्विक स्वरूप में एक आवश्यक तत्व के रूप में दिखाई देता है।

(३) वास्तविक आत्मा

संवेदना रूप आत्मा में समग्र अनुभव के प्रमातृ अंश और प्रमेय अंश भिन्न भिन्न होते हैं। व्यक्ति समग्रता का केवल रूपतत्वात्मक अंश भर ही नहीं होता वरन् उस एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में होता है जो आत्म-अन्तर-प्राप्त (प्रमेय) पर अपना अधिकार जमाती है। परन्तु विकास की इस क्रमदशा पर प्रमेय सम्पूर्णतया प्रकट नहीं होता क्योंकि इस क्रमदशा पर बाह्यता का कोई बोध नहीं होता। अनुभूत वस्तु स्वयं प्रमाता के अन्तरस्थ होती है। यह प्रमाता का एक अंश होती है। दोनों का परस्पर संयोग वास्तविक आत्मा है। आत्मा शरीर को आवृत कर लेती है और शरीर आत्मा को अभिव्यक्त करता है। आत्मा और शरीर की एकता के रूप में वास्तविक आत्मा प्रत्यक्ष-कर्ता व्यक्ति है। व्यक्ति की रचना में आत्मा और शरीर का परस्पर संयोग एक महत्वपूर्ण तथ्य है। शारीरिक अंगों में जो परिवर्तन होते हैं उनका बोध आत्मा को होता रहता है और शरीर भावावेगों को प्रकट करता है।

चेतना (Consciousness)

मनस् की आत्मसाक्षात्कार की ओर यात्रा में वास्तविकआत्मा के उपरान्त दूसरी क्रमदशा चेतना है। प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा अपने को जिस त्रयी में व्यक्त करती है उसका दूसरा पद (प्रतिभाव) चेतना है। वास्तविक आत्मा की अपेक्षा प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा का अधिक विकसित रूप यह चेतना है। जीवात्मा की दशा में सभी अनुभव उस भौतिक शरीर तक सीमित थे जिससे वह आवृत थी, सभी इन्द्रियबोध, बोधसंस्कार, और संवेदनाएँ प्रमातृनिष्ठ थीं, बाहरी प्रमेयनिष्ठ संसार का कोई ज्ञान नहीं था। चेतना की क्रमदशा पर प्रमेय अर्थात् अनात्म का बोध उत्पन्न होता है। इस दशा में ज्ञेय विषयवस्तु का स्पष्ट साक्षात्कार प्रमाता के साक्षात्कार से विपरीत रूप में होता है अथवा उस सविकल्पात्मक बाहरी वस्तु के रूप में साक्षात्कार होता है जो प्रमाता के सम्मुख उपस्थित है। जीवात्मा की क्रमदशा पर जो परिवर्तन अथवा विकार स्वयं प्रमाता के अन्तर में घटित होते हुए ज्ञात होते थे वे चेतना की क्रमदशा

पर निश्चित रूप से ज्ञेय विषयवस्तु से सम्बन्धितरूप में अनुभूत होते हैं और अनुभवकर्ता प्रमाता को विविध ज्ञेय विषयनिष्ठ अनुभवों के बीच में अपनी अपरिवर्तित सत्ता का बोध निरन्तर बना रहता है।

हेगेल यह मानते हैं कि[1] तर्कसंगत विचारणा (formal thinking) अथवा निर्विशेष आत्मा (abstract ego) के अन्तर्गत पदार्थ ही चेतना में वर्तमान होते हैं। यह उनको ज्ञेय विषयवस्तु के लक्षण मानती है। वास्तविक चेतना (consciousness proper) के साधन से यह अपने को (१) इन्द्रियबोधात्मक चेतना (sensuous consciousness) (२) इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं (३) बुद्धि की त्रयी में प्रकट करती है। विकल्प के साधन से निर्विकल्प का उस बौद्धिक दृष्टिकोण में परिवर्तन यह त्रयी प्रकट करती है जो सामान्य को यथार्थ और इन्द्रियबोध्य विभिन्न व्यक्तियों को अयथार्थ मानता है। इस प्रसंग में इन्द्रियबोधात्मक चेतना का अर्थ निर्विकल्प एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष का अर्थ सविकल्प ज्ञात होता है जैसा कि प्रमाणमीमांसा के प्रसंग में उन्होंने प्रतिपादित किया है।

निर्विकल्प

हेगेल के मतानुसार बोध का आरम्भबिन्दु निर्विकल्प है। यदि हम निर्विकल्प के उस तात्त्विक-स्वरूप को भली भांति समझने की चेष्टा करते हैं जिसका प्रतिपादन हेगेल ने अपनी कृति 'फेनोमेनोलोजी आफ़ माइन्ड' के प्रथम अध्याय में किया है तो हमको यह ज्ञात होता है कि मूलरूप से निर्विकल्प के विषय में हेगेल और अभिनवगुप्त का ऐकमत्य है। यह ज्ञान की प्रक्रिया का आरम्भ बिन्दु है। अधिकांश में निषेधसूचक पदों में इस बोध को प्रकट कर सकते हैं। इसका विशेष लक्षण सब प्रकार की उन क्रियाओं का अभाव है जो निश्चितरूपता अथवा विकल्पता के विशेष लक्षण हैं। इसके निषेधात्मक लक्षण को 'निर्विकल्प' शब्द में 'निर्' तथा इम्मीडिएसी में इम् उपसर्ग से प्रकट करते हैं।

निश्चितरूपता, अथवा विकल्पता का विशेष लक्षण बुद्धि की वह क्रिया है (१) जो परस्पर भिन्न अनेक अंशों को संगठित करती है और इस संगठित रूप को एक नाम से पुकारती है (२) जो पहले एकता को अनेकता में विभाजित कर देती है तथा (३) जो स्वभाव में तत्समान अनेक वस्तुओं को

---

१. वैले० १९८

ज्ञेय पर आरोपित करती है और फिर सब आरोपितों का निषेध कर पूर्व-आरोपित सभी वस्तुओं से ज्ञेय वस्तु को भिन्न रूप निर्धारित करती हुई ज्ञेय वस्तु को एक विशेष अर्थ प्रदान करती है।

अतएव निर्विकल्प वह बोध है जिसका विशेष लक्षण बुद्धि की क्रिया के तीन अंशों से रहित होना है। विकल्प से निर्विकल्प के इस निषेधधर्मी भेद का उल्लेख हेगेल उस समय करते हैं जब वे इस (निर्विकल्प) बोध को ऐसा ज्ञान मानते हैं जिसमें उस क्रिया का अभाव है जिसमें सामान्यरूप प्रत्ययों का उपयोग होता है (conceptual activity) जो केवल अवबोध (apprehension) मात्र है और जिसमें विशेषरूपता का ज्ञान नहीं है, जो ऐसा ज्ञान है जिसकी प्राप्ति में हमारी ज्ञानजनिका क्रिया साक्षात्कार क्षण में ही सीमित रहती है अर्थात् जिसमें हम विषयवस्तु को उसी रूप में ग्रहण करते हैं जिस रूप में वह उपलब्ध है और अपने सामने विद्यमान ज्ञेय वस्तु को किसी भी रूप में परिवर्तित नहीं करते (फेनोमेनोलोजी आफ़ माइन्ड पृष्ठ १४९)।

निर्विकल्प के दो भेद

अभिनवगुप्त के मतानुसार निर्विकल्प दो प्रकार का होता है (१) उच्चतर एवं (२) निम्नतर। उच्चतर निर्विकल्प पूर्णतया विषयशून्य होता है। इसमें कोई भी इन्द्रियबोध्य विषय नहीं होता। प्रमेयनिष्ठ संबंध से यह पूर्णतया मुक्त होता है। अपने चरमरूप में यह शुद्ध चेतना है। यह सब प्रकार के अवच्छेदकों (limitations) से मुक्त है। परन्तु निम्नतर निर्विकल्प इन्द्रिय ग्राह्य सामग्री के संबंध में ही प्राप्त होता है। यह सीमित चेतना का अनुभव है। प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया का यह आरम्भ बिन्दु है। उच्चतर निर्विकल्प को वे 'शुद्धाहं प्रत्यवमर्श' और निम्नतर निर्विकल्प को वे 'ऐन्द्रियक निर्विकल्प' कहते हैं।

वर्तमान प्रसंग में हेगेल जिस निर्विकल्प की चर्चा करते हैं वह निम्नतर निर्विकल्प है। इसका कारण ज्ञेय सामग्री है। यह ज्ञेय विषय का उसी रूप में बोध है जिस रूप में वह हमारे सामने उपस्थित है। यह ऐन्द्रिय निश्चय (sense-certainty) है। यह सर्वाधिक सत्य एवं सर्वाधिक प्रामाणिक बोध इसलिये नहीं लगता क्योंकि इसके सब अंग ज्ञात हो चुके हैं तथा एक का दूसरे से भेद भी ज्ञात हो चुका है और साथ ही साथ वे उन सब से भिन्न

ज्ञात हो चुके हैं जो किसी भी रूप में उनके समान हैं, वरन् इसलिए लगता है क्योंकि ज्ञेय वस्तु का कोई भी अंश उसने उस समय तक छोड़ा नहीं है।

इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि 'इन्द्रियबोध' से संबंधित 'निश्चय' शब्द का प्रयोग हेगेल एक विशेष अर्थ में करते हैं। क्योंकि अभिनवगुप्त के मतानुसार 'निश्चय' दो पर आश्रित होता है—एक वह जो निश्चित रूप में भिन्न है और दूसरा वह जिससे उसको भिन्न समझा गया है अर्थात् वह जिसको पहले ज्ञेय वस्तु पर आरोपित करते हैं और फिर यह स्थापित करते हैं कि 'यह वह नहीं है' एवं तदनन्तर 'इस' की जिसके विषय में निश्चयात्मक ज्ञान होता है उससे भिन्नता स्थापित करते हैं जो यह नहीं है।

(द्वयापेक्षी विनिश्चयः)

निर्विकल्प तथा सविकल्प में सम्बन्ध

निर्विकल्प एवं सविकल्प में एक तार्किक संबंध है। उनमें एक आवश्यक पूर्वापरता होती है। यद्यपि ये दो क्षण अथवा अंश अपने को परस्पर एक दूसरे से भिन्न रूप में प्रकट करते हैं फिर भी उनमें से एक के होने पर दूसरा अवश्य होता है, और ये दोनों एक दूसरे से पृथक् रूप में अस्तित्व में नहीं आ सकते हैं। सविकल्प ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है किसी वस्तु को प्रारम्भिक रूप में ग्रहण करना और उससे आगे बढ़ कर दूसरी वस्तु तक पहुँचना जिससे कि इस दूसरी वस्तु का अस्तित्व इस बात पर निर्भर हो जाय कि हम किसी ऐसी दूसरी वस्तु से चल कर इस तक पहुँचते हैं जो इससे विलक्षण रूप से भिन्न रूप (contradistinguished) है।

स्वीय कृति 'लाज़िक' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ बीस पर निर्विकल्प और सविकल्प के परस्पर सम्बन्ध का जो स्वरूप हेगेल ने प्रकट किया है वह निर्विकल्प और सविकल्प के बीच उस भेद के बहुत अधिक समान है जिसकी ओर अभिनवगुप्त ने संकेत किया है। क्योंकि अभिनवगुप्त भी यह मानते हैं कि सभी प्रकार का सविकल्प प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः निर्विकल्प में अपनी जड़ों को जमाए रहता है (सर्वस्य विकल्पस्य साक्षात् पारम्पर्येण वा निर्विकल्पमूलत्वात्। ई० प्र० वि० भाग १–५५)।

उनके मतानुसार सविकल्प दो प्रकार का है (१) सूक्ष्म एवं (२) स्थूल। सूक्ष्म सविकल्प ज्ञानसामग्री के उन अंशों का बोध (apprehension) मात्र है जिनको संगठित करने से विकल्प-बोध्य एक वस्तु की रचना

होती है। दृष्टान्त रूप में शीघ्र पाठ और वेगवान गति में ऐसा ही होता है। क्योंकि यदि उपर्युक्त दोनों प्रसंगों में सूक्ष्म विकल्पता का अस्तित्व न हो तो न तो दौड़ने वाला व्यक्ति गम्य चरम बिन्दु तक पहुँच सकता है और न पाठक अर्थपूर्ण रूप में उसका पाठ कर सकता है जो उसके सामने है। (भा० भाग १–२८४)

निर्विकल्प में ज्ञाता 'मैं' एवं ज्ञेय 'यह'

निर्विकल्प के प्रसंग में 'चेतना' शुद्ध 'अहम्' है। इस क्षण तक ज्ञाता 'मैं' ज्ञेय वस्तु 'यह' से संयुक्त हो कर अपने आप को विकसित नहीं कर पाता। इस ज्ञाता 'मैं' ने इस क्षण तक ज्ञेय 'यह' के विषय में अनेक प्रकार से चेष्टा करने के लिए संकल्प नहीं किया है। यह सभी सम्बन्धों और गुणों से मुक्त है। यह विचार नहीं करता। यह केवल शुद्ध 'यह' है।

ज्ञेय भी शुद्ध 'यह' है। इसमें सभी गुणों और सम्बन्धों का अभाव है। इस क्षण तक ज्ञेय 'यह' ने अपने को निज अंशों की अनेकता में विभक्त नहीं किया है। इसके विषय में सत्तारूप चरम पदार्थ को छोड़ कर किसी अन्य पदार्थ को प्रयुक्त नहीं कर सकते। यह केवल 'सत्ता' मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस क्रम दशा पर ज्ञाता 'अहम्' और ज्ञेय 'यह' दोनों के केवल अंश ही अविभक्त नहीं होते वरन् वे स्वयं भी परस्परतः भिन्न नहीं हैं। ऐसे प्रसंगों में ज्ञाता 'मैं' शुद्ध ज्ञेय 'यह' रूप है और ज्ञेय वस्तु भी केवल शुद्ध ज्ञेय 'यह' रूप है।

सविकल्प

जिस समय हम ज्ञेय विषय का केवल ग्रहण मात्र ही नहीं करते हैं वरन् उसको अधिक बारीखी से देखते हैं तो हमें ज्ञान का वह स्वरूप प्राप्त होता है जो विकासक्रम के अनुसार निर्विकल्प ज्ञान का तुरन्त परवर्ती बोध है और द्वन्द्वसंधानात्मक प्रक्रिया का दूसरा पक्ष (प्रतिभाव) है। यह शुद्ध रूप में निर्विकल्प नहीं है। यह केवल ऐन्द्रिय निश्चय मात्र ही नहीं हैं। यह शुद्ध सत्ता भी नहीं है। यह उससे बहुत कुछ अधिक है। यह सारयुक्त वास्तविक ऐन्द्रिय निश्चय है। इस रूप में यह निर्विकल्प नहीं वरन् सविकल्प है।

पूर्ववर्ती क्रमदशा से इस क्रमदशा की मूल भिन्नता यह है कि इस क्रम-दशा पर शुद्ध सत्ता दो सत्ताओं में विभाजित हो जाती है–एक ज्ञाता 'अहम्'

के रूप में और दूसरी ज्ञेय 'यह' के रूप में। इस विभाजन को जब हम ध्यानपूर्वक देखते हैं तो हमको यह ज्ञात होता है दोनों ही निर्विकल्प रूप नहीं हैं अर्थात् दोनों केवल 'सत्ता मात्र' ही नहीं हैं। दोनों ही सविकल्प रूप हो गए हैं। ज्ञाता 'अहम्' वास्तविक तथ्य (actual fact) के साधन से निश्चित रूप है और वास्तविक तथ्य ज्ञाता 'अहम्' के साधन से निश्चित रूप है।

निर्विकल्प में 'ज्ञाता' 'अहम्' और ज्ञेय 'यह' में कोई भेद नहीं होता है। ज्ञाता 'अहम्' और ज्ञेय 'यह' दोनों ही 'यह' मात्र होते हैं। परन्तु जिस समय भेद उद्भूत होता है उस समय उनमें से एक को सारपूर्ण आवश्यक सत्यरूप (essential reality) और दूसरे को अनावश्यक मानते हैं। ज्ञान की एक दशा के रूप में अहं को अपने में सत्तावान नहीं मानते वरन् उस 'ज्ञेय' के साधन से इसको सत्तावान मानते हैं जिसको यह जानता है। ज्ञेय वस्तु तथ्यपूर्ण सत्य है अर्थात् सारपूर्ण यथार्थ है। ज्ञात अथवा अज्ञात होने से इस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह (ज्ञेय वस्तु) उस समय भी सत्तावान् रहती है जिस समय यह ज्ञात नहीं होती। परन्तु यदि ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व नहीं है तो ज्ञान का अस्तित्व नहीं हो सकता।

बुद्धि

सविकल्प के विधायक अंश निम्नलिखित हैं:—ज्ञेय वस्तु के लिए भाषागत कुछ शब्दों का प्रयोग करना, ऐन्द्रिय बोध के विषय को उस सामान्य के अन्तर्गत स्थापित करना जिसको बुद्धि की स्वतः प्रेरित क्रिया[1] उपस्थित करती है एवं विशेष में सामान्य की प्रत्यभिज्ञा करना। इस प्रकार से सविकल्प की ज्ञेय वस्तु सामान्य और विशेष दोनों होती है, अर्थात एक ही समय पर यह 'व्यक्तिरूप' भी होती है और 'व्यक्तिरूप' नहीं भी होती। अतएव सविकल्प में 'आत्मविरोध' निहित होता है क्योंकि एक ही वस्तु में यह सामान्य और विशेष दोनों का बोध है। इस आत्मविरोध से बचने के लिए बोधशक्ति अर्थात् चेतना उच्चतर दशा अर्थात् बुद्धि तक ऊपर उठती है। बुद्धि विशेष और सामान्य में भेद करती है। यह उनको विलग कर दो भिन्न लोकों में स्थापित करती है—१ सामान्यों का अतीन्द्रिय लोक एवं २ आभासों का बोध्य लोक। यह सामान्यों को यथार्थवस्तु एवं इन्द्रियबोध्य वस्तुओं को केवल आभासमात्र ही मानती है। यह व्यावहारिक जगत को एक ऐसा आवरणपट मानती है जो शुद्ध सामान्यों के सत्य संसार को आवृत करता है।

१ स्टा० ३४३.

आत्म-चेतना (Self-consciousness)

(१) वास्तविक चेतना (consciousness proper) (२) आत्म-चेतना एवं (३) युक्तितत्त्व की त्रयी में आत्म-चेतना दूसरा तत्त्व है। यह वास्तविक-चेतना का प्रतिभाव (antithesis) है। वास्तविक चेतना में ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतन्त्र था अर्थात् आत्मा का विपरीत अनात्मरूप था। परन्तु आत्म-चेतना की क्रमदशा में ज्ञेय अर्थात् सामान्यों का संसार कुछ ऐसा नहीं है जो ज्ञाता से भिन्न हो वरन् उससे एकात्म होता है। इस प्रकार से आत्म-चेतना का अर्थ सामान्यों के लोक के साथ ज्ञाता के तादात्म्य का साक्षात्कार है। यह अपने को निम्नलिखित त्रयी में प्रकट करता है—(१) इच्छा (२) प्रत्यभिज्ञात्मक आत्मचेतना एवं (३) सामान्य आत्मचेतना।

मनस् (Mind)

मनस् उस त्रयी का तीसरा पद है जिसमें आत्मनिष्ठ चिदात्मा अपने को प्रकट करती है। जीवात्मा का विशेष लक्षण निर्विकल्पता था। सभी सत्ता को इसने अन्तर्भूत किया था। कुछ भी इसके बाहर नहीं था और इसमें इस बात की संवेदना तक भी नहीं थी कि कोई वस्तु इससे बाहर है। यह एक ऐसी दशा थी जो भेदरहित सरलता के रूप में थी। और चेतना एक ऐसी दशा थी जिसमें आत्मनिष्ठ चिदात्मा ने अपने एक भाग को अपने से बर्हिभूत रूप में और अपने से विपरीत रूप में प्रकट किया था और इसलिए उसका विशेष गुण सविकल्पता था। परन्तु मनस् सविकल्पता का निर्विकल्पता में निमग्न होना है। आत्मनिष्ठ चिदात्मा के विकास में यह एक वह क्रमदशा है जिसमें ज्ञेय वस्तु एक स्वतन्त्र वस्तु नहीं रह जाती और स्वयं चिदात्मा के रूप में ज्ञात होती है। यह आत्मनिष्ठ चिदात्मा की चरम दशा है क्योंकि इस दशा में चिदात्मा अपने को सम्पूर्ण यथार्थ (reality) के रूप में देखती है, (इस दशा में) ज्ञेय वस्तु प्रमाता बन जाती है और सभी प्रकार की स्वतन्त्र बाह्यता तिरोहित हो जाती है। विषयभूत बाह्य संसार के साथ मनस् का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने ही लोक में अपनी स्वतन्त्र क्रियाओं की यह सुसंगठित समग्रता है। यह अपने लोक को अपने अन्दर अनुभूत करता है और इसकी सब क्रियाएँ अपने इस अन्तरस्थ लोक से सम्बन्धित हैं। यह अपने को निम्नलिखित त्रयी में विभाजित करता है—(१) सैद्धान्तिक मनस् (२) व्यावहारिक मनस् एवं (३) स्वतन्त्र मनस्।

(अ) सैद्धान्तिक मनस्

प्रज्ञा (intelligence) अथवा सैद्धान्तिक मनस् अपने को निश्चित स्वरूप पाता है, यह उसका वह आभासमान अंश है जिससे इसका आरम्भ होता है। जो इसको निश्चित स्वरूपता[1] प्रदान करते हैं उनको यह अपनी वस्तु मानता है। इसका सम्बन्ध रिक्त रूपों से है। इसका लक्ष्य अपने तात्विक-स्वरूप को प्राप्त करना, वास्तविक युक्तितत्व हो जाना और अपने अन्तरस्थ विषय को युक्तिमूलक रूप में साक्षात्कार करना है।

हेगेल यह निश्चयपूर्वक कहते हैं कि यह मत कि प्रज्ञा बाह्य जगत से ज्ञानोत्पादक प्रभावों को पाती और ग्रहण करती है और यह कि बाह्य वस्तुओं की इस पर क्रिया से ज्ञप्तियां उत्पन्न होती हैं दार्शनिक अध्ययन के मानसिक तल से सर्वथा विपरीत है।

सैद्धान्तिक मन उस त्रयी का प्रथम पद (भाव) है जिसमें मन अपने को प्रकट करता है। अतएव जैसा प्रत्येक त्रयी के प्रथम पद में होता है इस पद का भी विशेष लक्षण निर्विकल्पता है। सैद्धान्तिक मन के अन्तरस्थ विषय की बाह्य सत्ता आभासित होती है यद्यपि वस्तुतः यह स्वयं मन के साथ एकात्म होता है। यह ऐसे बाहरी तथ्य के रूप में अस्तित्ववान केवल पाया जाता है जिसकी ओर सैद्धान्तिक मन की क्रिया संचालित होती है। यह कोई ऐसी वस्तु है जो ज्ञेय वस्तु के रूप में उपयुक्त होती है। अतः सैद्धान्तिक मन ज्ञान स्वरूप है। जिस त्रयी में यह अपने को प्रकट करता है वह निम्नलिखित है— १ आन्तर प्रत्यक्ष (intuition) २ प्रतिनिरूपण और ३ विचारणा। इनमें से प्रत्येक पद सैद्धान्तिक मन का वह क्रमपूर्ण उठान द्योतित करता है जो वह अपने साथ अपने विषय के तादात्म्य का साक्षात्कार करते समय करता है।

आन्तर प्रत्यक्ष (Intuition)

आन्तर प्रत्यक्ष का विशेष लक्षण निर्विकल्पता है। सब प्रकार की सविकल्पता से शून्य होना इसका अपना लक्षण है। आन्तर प्रत्यक्ष का ज्ञेय विषय ज्ञाता से बहिर्भूत भासित होता है। यह निर्णय की सर्वाधिक अविकसित क्रमदशा है। इस क्रमदशा पर निर्णय की तत्स्वरूप में प्रत्यभिज्ञा कठिनता से कर सकते हैं। यह इस निश्चय की तात्कालिक संवेदना है कि जिस रूप में आन्तर प्रत्यक्ष कर्त्ता को आभासित होता है उस रूप में एक बाह्य वस्तु का

१. वैल० २०९—१०

अस्तित्व है। इस क्रमदशा पर इस प्रश्न का कोई उत्तर देना सरल नहीं है कि 'ऐसा क्यों है ?' मन की स्वतन्त्र क्रियाओं में यह निम्नतम है। यह शुद्ध-रूप से प्रमातृनिष्ठ है। यह व्यक्ति के मन का केवल प्रमातृनिष्ठ संस्कार है। इसमें सामान्यता का पूर्णाभाव है।

आन्तर प्रत्यक्ष सैद्धान्तिक मन की दो स्वतन्त्र क्रियाओं से उत्पन्न होता है। (१) ध्यान एवं (२) आत्म-अभिव्यञ्जन। (self-externalization)। एक निश्चित और अचल रेखा पर मन को संचालित करने की और उस पर मन को एकाग्र करने की क्रिया के अतिरिक्त ध्यान और कुछ नहीं है। यह मन की एक ऐसी स्वतन्त्र क्रिया है जिसमें अपनी ज्ञान क्रिया की दिशा को निर्धारित करने के लिए किसी बाहरी विचार से मन प्रभावित नहीं होता। परन्तु आन्तर प्रत्यक्ष की क्रमदशा पर मन ज्ञानप्रवण होता है और इसलिए उसका ज्ञेय से सम्बन्ध होता है। परन्तु आन्तर प्रत्यक्ष का ज्ञेय विषय ऐसा नहीं होता जो बहिर्भूत संसार में विद्यमान है। वह विषय जिससे इसका सम्बन्ध होता है यह संवेदना होती है कि कोई धार्मिक, नैतिक अथवा राज-नीतिक तथ्य इस प्रकार का है अर्थात् सत्य या मिथ्या है। अतएव ध्यान की सम्भावना इस बात पर निर्भर है कि प्रमाता अपनी प्रमातृनिष्ठ संवेदना का बहिर्भूतीकरण (externalization) इस प्रकार से करे जिससे कि वह ध्येय वस्तु बन सके। आन्तर प्रत्यक्ष में निहित मन का जो आत्म-बहिर्भूतीकरण (self-externalization) है उसका अर्थ यह है कि एक प्रमातृनिष्ठ संवेदना को विषयीभूत करना और इसलिए उसको देशकाल के सम्बन्धों से युक्त वर्तमान रूप में देखना।

प्रतिनिरूपण (Representation)

सैद्धान्तिक मन का दूसरा पद 'प्रतिनिरूपण' है। आन्तर प्रत्यक्ष से इसका भेद यह है कि 'प्रतिनिरूपण' में आत्म-बहिर्भूतीकरण आवश्यक नहीं होता। इसका सम्बन्ध उस वस्तु के साथ नहीं है जो सूर्यादि संचरण से ज्ञात काल तथा देश में वर्तमान है। इस क्रमदशा पर मन के अन्तर्वर्ती विषय का साक्षात्कार शुद्ध प्रमातृनिष्ठ रूप में अर्थात् अपने यथार्थ रूप में होता है यानी प्रमेयनिष्ठ रूप में नहीं होता जैसा कि आन्तर प्रत्यक्ष के प्रसंग में होता है। इसकी तीन दशाएं निम्नलिखित हैं (१) अनुचिन्तना (२) कल्पना एवं (३) स्मृति।

अनुचिन्तना (Recollection)

अनुचिन्तना की व्याख्या करने में हेगेल का प्रयोजन यह स्पष्ट करना है कि एक वह साधारण प्रतिच्छाया अथवा एक सामान्य चेतना के तल पर किस प्रकार से प्रकट होता है जो किसी सविकल्प बोध को प्राप्त करने के लिए इसलिए आवश्यक है जिससे कि हम ज्ञेय विशेष को एक सामान्य के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकें।

यदि हम साधारण व्यावहारिक ज्ञान (common sense) के दृष्टिकोण से इस अनुचिन्तना को देखें तो हेगेल यह मानते हैं कि सैद्धान्तिक मन आन्तर प्रत्यक्ष के विषय को आन्तरीभूत करता है (inwardises) इसको सूर्यादि संचरणबोध्य काल और देश से मुक्त करता है, इसको अन्य सभी वस्तुओं के सम्बन्ध से स्वतन्त्र करता है एवं इस प्रकार से इसको एक साधारण प्रतिच्छाया के रूप में रचता है और अपने उपचेतन में जमा कर लेता है। इस प्रकार से संग्रहीत[1] साधारणीकृत प्रतिच्छाया सविकल्प ज्ञान की अग्रकल्पना (presupposition) है क्योंकि सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति निर्विकल्प–गृहीत विशेष–वस्तु को एक सामान्य के अन्तर्गत समाविष्ट करने से होती है। इस प्रकार से मन की पुकार पर चेतना के तल पर उस साधारण प्रतिच्छाया का प्रकट होना है जिसको उपचेतन में संग्रहीत किया गया था अनुचिन्तना है।

परन्तु हेगेल के सिद्धान्त के अनुसार यह प्रतिच्छाया कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ज्ञाता से सर्वथा विदेशीय है। यह कोई ऐसी विदेशी वस्तु नहीं है जो 'अहम्' में प्रविष्ट होकर किसी न किसी रूप में उसमें निवास करती है। हेगेल एक ज्ञप्तिवादी हैं। अतएव उनका मत यह है कि उपचेतन में संग्रहीत वैभव से अत्यधिक सम्पन्न सैद्धान्तिक मन में अपने को विशिष्टीकरण[2] (specialization) की शक्ति है।

इस प्रकार से जब हेगेल यह कहते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष की अचिरस्थायी प्रतिच्छाया उपचेतना में लौट जाती है तो उनका अर्थ यह है कि इन्द्रिय–प्रत्यक्ष के समय वह (सामान्य) जो शक्ति रूप में वर्तमान था, वास्तविक रूप में परिणत हो जाता है एवं तदनन्तर शक्ति रूप में फिर से लौट आता है। यह प्रतिच्छाया अन्य विशेष वस्तु के सम्बन्धों से स्वतन्त्र है इसलिए विशेष न होकर सामान्य है। यह उपचेतनांश में एक निर्विशेष प्रतिच्छाया है।

---

१. वैल० २१६   २. वैल० २१५

नवीन बोध जनित प्रतिच्छायायों को इसके अन्दर समाविष्ट (subsume) करते हैं। कोई भी बोध तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक यह समावेशन नहीं होता है। अतएव प्रत्येक बोध प्रत्यभिज्ञात्मक होता है। इसलिये हेगेल के दर्शन शास्त्र में अनुचिन्तना का अर्थ उस सामान्य का आन्तर प्रत्यक्ष करना है जो पहले शक्ति रूप में था और अब वास्तविक रूप में परिणत हो गया है।

कल्पना

कल्पना प्रतिनिरूपण का एक दूसरा रुप है। अनुचिन्तना से इसका भेद इस बात में है कि इसमें उपचेतनागत का चेतना के तल पर आना ज्ञात विषय को एक सामान्य के अन्तर्गत समाविष्ट करने के लिए एक विलगरूप प्रतिच्छाया ही तक सीमित नहीं होता वरन् (इसमें) उपचेतना से उन प्रतिच्छायाओं का प्रवाह निर्बाध रूप में होता है जो प्रत्यक्षतः किसी भी ज्ञेय बहिर् वस्तुओं से सम्बन्धित नहीं हैं। ये प्रतिच्छायाएं साहचर्य सम्बन्ध से परस्पर सम्बन्धित होती हैं। साहचर्यसम्बन्धरूपी कड़ी की रचना या तो किसी इन्द्रियग्राह्य गुण से जैसे समानता और असमानता से या एक बौद्धिक पदार्थ जैसे हेतु (reason) और अनुवर्ती (consequent) से हो सकती है। प्रतिच्छायाओं का तांता युक्तितत्व के नियन्त्रण से मुक्त होता है और इसका कोई बहिर्निष्ठ प्रयोजन नहीं होता।

कल्पना दो प्रकार की है १—नूतन रचनात्मक अथवा उत्पादक एवं २—प्रतिरचनात्मक (reproductive) दूसरे प्रकार की कल्पना को प्रतिरचनात्मक इसलिए कहते हैं क्योंकि चेतनांश पर यह केवल उन्हीं प्रतिच्छायाओं को ला सकती है जो उन सविकल्प ज्ञानों के सामान्य रूप भर हैं जिनका अनुभव कल्पनाकर्ता पूर्व समय में वास्तविक रूप में कर चुका है (इसको प्रतिरचनात्मक कहने का) दूसरा कारण यह है कि यह केवल उन्हीं प्रतिच्छायांओं का पुनरुत्पादन कर सकती है जो पूर्व समय से ही वास्तविक अनुभव से सम्बन्धित हैं। परन्तु नूतन रचनात्मक अथवा उत्पादक कल्पना उपचेतनांश में वर्तमान साधारणीकृत प्रतिच्छायाओं पर पूर्णतया निर्भर नहीं है। यह कल्पना उन नवीन ज्ञप्तियों का स्रोत है जिनको भौतिक उपादान सामग्री में प्रकट कर सकते हैं। नूतन रचनात्मक कल्पना की कृतियां सामंजस्यपूर्ण वे सम्मिश्रण हैं जो मन में स्वतन्त्रता से उद्भूत ज्ञप्तियों के साथ उन ज्ञप्तियों को जोड़

देने से बनते हैं जिनको बाह्यविषयों से प्राप्त किया गया है और जो सामान्यीकृत रूप में उपचेतनांश में संग्रहीत रहती हैं। इस प्रकार से उत्पन्न प्रतिच्छायाएं केवल प्रमातृनिष्ठ आन्तर प्रत्यक्ष ही होती हैं।

वह कल्पना युक्तितत्त्व है जो उन ज्ञप्तियों को जो स्वतः उत्पन्न होती हैं उनसे जोड़ती है जो कि बाह्य विषय के सम्पर्क से उत्पादित हैं। परन्तु यह नाम मात्र में ही युक्तितत्त्व होती है, क्योंकि सम्मिश्रण की सत्यता अथवा मिथ्यात्व से यह उदासीन रहती है। परन्तु सत्य युक्तितत्त्व इस प्रकार से सम्मिश्रित ज्ञप्तियों की सत्यता के विषय में आग्रह करता है। काव्यात्मक अथवा कलात्मक कल्पना के विषय में हेगेल का यही मत है। परन्तु उस नूतन रचनात्मक कल्पना का वर्णन निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं जो प्रतीकों की व्यवस्था (system of signs) को जन्म देती है।

कल्पना की कृति कल्पना की एक स्वतन्त्र रचना के साथ एक आन्तर प्रत्यक्ष का संमिश्रण है। आन्तर प्रत्यक्ष का विषय कुछ ऐसा होता है जो बाहर से उपलब्ध होता है। परन्तु इस समिश्रण में आन्तर प्रत्यक्ष आत्मद्योतक न होकर अन्य वस्तु का द्योतक होता है। यह कल्पना की उस स्वतन्त्र कृति का प्रतीक है जो आन्तर प्रत्यक्ष में भासमान प्रतिछाया की आत्मा के रूप में उसमें प्रविष्ट होता है।

इस प्रकार से कल्पना उस प्रतीकों की व्यवस्था को जन्म देने का कारण बनती है जो पूर्णतया उन्नत होने पर भाषा बन जाती है। अतएव भाषा के विषय में हम यह मान सकते हैं कि बाह्य साधनसामग्री में अपनी ज्ञप्तियों को प्रकट करने के लिए कल्पना ने इसकी रचना की है।

स्मृति

भाषा का शब्द एक ऐसी वस्तु है जो बाह्य लोक में वर्तमान है। जिस समय चेतना इसको ग्रहण करती है उस समय सामान्यीकरण की वही प्रक्रिया उस पर प्रयुक्त होती है जो बाह्यलोक स्थित अन्य वस्तुओं पर प्रयुक्त होती है और यह उपचेतनांश में एक सामान्य रूप प्रतिच्छाया बन जाती है। उस सामान्य के साथ इसका तादात्म्य हो जाता है जिसका वह द्योतक है। इसलिए जिस समय एक शब्द की सामान्यीभूत प्रतिच्छाया उपचेतनांश से चेतनांश पर लाई जाती है उस समय यह उस इन्द्रिय बोध्य प्रतिच्छाया का काम करती है जिसका वह शब्द द्योतक है और जो उसके साथ एकात्म हो

चुका है। शाब्दिक प्रतिच्छाया में प्रतिनिरूपण के अतिरिक्त स्मृति और कुछ नहीं है।

(आ) व्यावहारिक मन

जिस समय मन संसार को अपने से सर्वथा विदेशीय न मान कर कोई ऐसी वस्तु समझता है जिसको गढ़ना और अनुशासित करना है और तदनुसार उसको अपनी क्रिया से गढ़ने के लिए चेष्टा आरम्भ कर देता है उस समय उसको व्यावहारिक मन कहते हैं। यह अपने को निम्नलिखित त्रयी में प्रकट करता है—१—व्यावहारिक संवेदना—२—अन्तः प्रेरणा (impulse) और चुनना एवं—३—सुख।

व्यावहारिक संवेदना

व्यावहारिक मन का यह प्रथम पद भाव है और इसका विशेष लक्षण निर्विकल्पता है। यह अपने ज्ञेय विषय को पूर्व-ज्ञात वस्तु के रूप में पाता है। ज्ञेय वस्तु या तो उसके साथ सामंजस्यपूर्ण होती है या समंजस्य रहित होती है। परन्तु ये दोनों ही व्यावहारिक मन की उपज नहीं हैं। यह दोनों केवल स्वतः प्राप्त भर ही होते हैं। जिस समय ज्ञेय वस्तु मन के अनुकूल होती है तो सुख होता है और जब ज्ञेय वस्तु मन के प्रतिकूल होती है तो दुःख मिलता है।

अनुकूल अथवा प्रतिकूल ज्ञेय वस्तु से प्रभावित मन क्रिया के प्रति एक मूलवृति (instinct) है अथवा किसी ज्ञात पदार्थ के प्रति एक संवेदना मात्र ही है। इस प्रकार की संवेदना किसी सामान्य नियम से अनुशासित नहीं होती अथवा यह किसी एक सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने का संकल्प नहीं है। क्योंकि इसका विशेष लक्षण निर्विकल्पता है, परन्तु एक सामान्य सिद्धान्त से प्रभावित होने का अर्थ सविकल्पता है। इस प्रकार की संवेदना को व्यावहारिक संवेदना कहते हैं।

अन्तः प्रेरणा, भावावेश और चुनना

व्यावहारिक मन अथवा इच्छा का विशेष लक्षण स्वतन्त्रता है। अतएव अनुकूल और प्रतिकूल किसी भी ज्ञेय वस्तु को निश्चेष्ट रूप में ग्रहण करना इच्छा के स्वभाव के ही सर्वथा विपरीत है। इच्छा का स्वभाव यह है कि जिस रूप में वह किसी वस्तु को पाती है उसी रूप में उसको नहीं रहने देती, वह

उसको गढ़ती है और ऐसे रूप में उसको लाने का प्रयास करती है कि वह उसके (इच्छा के) प्रतिकूल न रह जाय । अतएव प्राप्त वस्तुओं के रूपों को बदलने वाली क्रिया की नैसर्गिक प्रवृत्ति (propensity) को वह विकसित करती है । इन्हीं नैसर्गिक प्रवृत्तियों को अन्तःप्रेरणा (impulses) उन्मुखताएँ अथवा अभिरुचि (interest) कहते हैं ।

परन्तु इच्छा एक यथार्थ (concrete) सामान्य है । अन्तः प्रेरणाओं की अनेकता इसकी अन्तर्वस्तु (content) है । अतएव यह अपने को अपनी अन्तः प्रेरणाओं से विलग करती है । इसी कारण इच्छा के जीवन में चुनने की क्रिया उद्भूत होती है । प्राप्त वस्तु पर प्रतिक्रिया करने के लिए यह एक विशेष अन्तः प्रेरणा को चुनती है ।

यदि इच्छा एक विशेष अन्तः प्रेरणा को चुनती है, एक उस विशेष प्रकार के संकल्प[1] (volition) में अपने को बद्ध कर लेती है जिसमें व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व निमज्जित हो जाता है और इसी कारण अपने प्रकारों में से एक प्रकार (mode) के साथ सम्पूर्णतया एकात्म हो जाती है तो इसको भावावेग अथवा भावावेश कहते हैं। भावावेग का अर्थ एक लक्ष्य और उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपनी सम्पूर्ण आत्मा, बुद्धि की सभी अभिरुचियों, विशेष शक्तियों, चरित्र और सुख को लगा देना है । किसी भी महान कल्याण की सिद्धि इसके बिना नहीं हो सकती । अन्तः प्रेरणा और भावावेश क्रिया के जीवनदायी रक्त और मांस हैं । अगर व्यक्ति किसी महान लक्ष्य को सिद्ध करना चाहता है तो इन भावावेशों की आवश्यकता पड़ती है ।

(इ) स्वतन्त्र मन

इच्छा सामान्यरूप है । यह शुद्ध तादात्म्य अथवा सामान्यता है अर्थात् अहं-अहं है । अन्तः प्रेरणाएँ इच्छा की अन्तर्वस्तु हैं । और इच्छा की पूर्ति अपने प्रति वस्तु की अनुकूलता में निहित होती है । अतएव अन्तः प्रेरणा-मूलक अथवा भावावेगमूलक जीवन से तृप्ति प्राप्त करना इसके लिए सम्भव नहीं है । क्योंकि प्रत्येक अन्तः प्रेरणा केवल एक विशेष मात्र होती है और उसका सम्बन्ध ऐसी वस्तु के साथ होता है जो स्वयं एक विशेष है । जब तक इच्छा का विषय एक विशेष है तब तक सच्चा सन्तोष किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है ? क्योंकि सामान्य और विशेष में किसी भी प्रकार का

---

१. ऐ० २३४

सामंजस्य संभव नहीं है। सच्चा सन्तोष तभी मिल सकता है जब वांछित विषय वस्तु सामान्य हो। क्योंकि तभी सामंजस्य का होना सम्भव है। परन्तु इच्छा स्वयं एक सामान्य है। इसलिए जब अपनी विषयवस्तु यह स्वयं होती है तो इसको सम्पूर्ण तुष्टि प्राप्त होती है। वह इच्छा जिसकी विषयवस्तु वह स्वयं है आत्मानुशासित एवं आत्मकेन्द्रित होती है और इसलिए स्वतन्त्र है। ऐसी इच्छा को हेगेल स्वतन्त्र मन कहते हैं।

प्रमेयनिष्ठ चिदात्मा

इच्छा अर्थात् कार्यसंलग्न 'अहं' को किसी विशेष रूप अन्तःप्रेरणा में तुष्टि नहीं प्राप्त होती। एक अन्तःप्रेरणा के तृप्त होने पर सन्तुष्टि का लाभ न करने के कारण यह दूसरी अन्तःप्रेरणा से तुष्टि लाभ करने की चेष्टा करती है परन्तु परिणाम वही होता है। अतएव वह सामान्य की इच्छा करती है। परन्तु इस विषय में एक बात याद रखने योग्य यह है कि इच्छा सामान्यरूपा है। यह कार्य में लगा हुआ 'अहं' है, यह अहं-अहं स्वरूप है। अर्थात् यह अपने से सहज एकता (unity) है और इस प्रकार से सहज (simple) सामान्यता है। परन्तु सहज सामान्यता रूप होने पर भी यह एक व्यक्ति है, क्योंकि यह प्रमातृनिष्ठ है और इसलिए केवल एक विशेष 'अहं' मात्र है। जब यह इच्छा सामान्य को अपना विषय बनाती है तब यह उसकी इच्छा करती है जो उसकी प्रमातृनिष्ठता से परे है अर्थात् यह उसकी इच्छा करती है जो प्रमेयनिष्ठ है। यह इच्छा अपने को भौतिक लोक में चेष्टावान करती है और अपने अनुकूल एक नये संसार को गढ़ती है। इस प्रकार से मानवीय विभिन्न संस्थाएं जैसे आचार विधि, (law) कर्तव्य-मीमांसीय नैतिकता (morality) राज्य (state) आदि अस्तित्व में आते हैं। वे केवल प्रमेयनिष्ठ ही नहीं हैं वरन् चित् स्वरूप भी हैं। क्योंकि भौतिक लोक में वे स्वयं चिदात्मा के व्यक्त रूप हैं। अतएव वह चिदात्मा जो अपने को मानवीय संस्थाओं में व्यक्त करती है प्रमेयनिष्ठ चिदात्मा है।

परतत्त्वात्मक चिदात्मा
(Absolute spirit)

प्रमातृनिष्ठ और प्रमेयनिष्ठ दोनों प्रकार की चिदात्माएं दोषपूर्ण हैं। प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा केवल अन्तर्मुखी, वैयक्तिक, व्यक्तिस्वरूप और इसलिए एकपक्षी (onesided) है। प्रमेयनिष्ठ चिदात्मा भी कम एकपक्षी नहीं

है। क्योंकि यह अवैयक्तिक है और केवल प्रमेयनिष्ठ मात्र है तथा यह चिदात्मा के स्वभावसिद्ध लक्षण अर्थात् चेतना को खो बैठती है। इस प्रकार से प्रमातृ-निष्ठ और प्रमेयनिष्ठ चिदात्माएं दो अत्यन्त परस्पर विरोधी वस्तु हैं जो एक दूसरे को सीमित करते हैं। अतएव दोनों ही सीमित हैं। परन्तु चिदात्मा अपने स्वभाव से ही असीम है। अतएव यह आवश्यक है कि यह सीमित प्रमातृनिष्ठता और सीमित प्रमेयनिष्ठता दोनों का अतिक्रमण करे। इस प्रकार से जिस समय चिदात्मा समानरूप से प्रमातृनिष्ठता की सीमा और प्रमेय-निष्ठता की सीमा का अतिक्रमण करती है, जिस समय प्रमातृनिष्ठता और प्रमेयनिष्ठता के बीच स्वरचित भेद नष्ट हो जाता है, जब ये दोनों यथार्थ अखण्डता में अन्तर्भूत हो जाते हैं तो परतत्त्वात्मक चिदात्मा उत्पन्न होती है। यह एक ही समय में प्रमाता और प्रमेय दोनों होती है।

मानवीय चेतना के एक विशेष प्रकार के रूप में परतत्त्वात्मक चिदात्मा

प्रमातृनिष्ट एवं प्रमेयनिष्ठ दोनों चिदात्माओं की अखण्डता के रूप में परतत्त्वात्मक चिदात्मा शुद्ध रूप से राज्य की भाँति कोई अवैयक्तिक (impersonal) सत्ता नहीं है। क्योंकि इसमें प्रमातृनिष्ठता का अंश है इसलिए उस मानवीय मन में जिसका सम्बन्ध एक ज्ञेय वस्तु से है इसको आवश्यक रूप से मानवीय चेतना का एक प्रकार होना आवश्यक है। परन्तु परतत्त्वा-त्मक चिदात्मा का प्रमातृनिष्ट अंश जिस विषय वस्तु के साथ सम्बन्धित है वह चिदात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती। क्योंकि परतत्त्वात्मक चिदात्मा प्रमाता और प्रमेय के तादात्म्य की एक क्रमदशा मात्र है। परतत्त्वात्मक चिदात्मा में प्रमातृनिष्ठता और प्रमेयनिष्ठता का भेद सम्पूर्णतया नष्ट हो जाता है। यह परतत्त्वात्मक चिदात्मा दोनों की यथार्थ अखण्डता है। अतएव परतत्त्वात्मक चिदात्मा आत्मचिन्तन में लगी हुई चिदात्मा है और इस रूप में असीम है। जिस समय मानवीय मन यह साक्षात्कार करता है कि जो भी वस्तु ज्ञेय स्वरूप में अपने को प्रकट करती है वह स्वात्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिस समय यह इस बात का साक्षात्कार करता है कि यह सम्पूर्ण सत्ता और सम्पूर्ण यथार्थ है और जिस समय यह आत्मचिन्तन में आत्मकेन्द्रित रहता है उस समय यह परतत्त्वात्मक चिदात्मा की क्रमदशा को प्राप्त होता है।

परतत्त्वात्मक चिदात्मा की एक दशा के रूप में कला

मानवीय मन के उन तीन प्रकारों (modes) में परतत्त्व का अवबोध होता है जो परतत्त्वात्मक चिदात्मा की तीन क्रमावस्थाओं के विधायक हैं। वे १—कला २—धर्म और ३—दर्शनशास्त्र हैं। मानवीय मन की परिमितता से मुक्ति की ये प्रगतिशील क्रमदशाएं हैं। कला और धर्म में परिमितता के कुछ चिह्न बने रहते हैं। क्योंकि कला के लोक में परतत्त्व का साक्षात्कार इन्द्रियबोध्य वस्तु के माध्यम से और धर्मलोक में इसका साक्षात्कार संवेदना के माध्यम से होता है। अतएव उस दर्शनशास्त्र में ही जो इन्द्रियबोध और संवेदना दोनों तत्वों से ऊपर है और जिसका सम्बन्ध विचार से है, परतत्त्व का साक्षात्कार सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में हो सकता है।

कला और सौन्दर्य

हेगेल ने कला एवं सौन्दर्य के बीच भेद स्थापित किया है। दार्शनिक चिदात्मा में अपनी वास्तविक असीमता का साक्षात्कार करने के लिए जब परतत्त्वात्मक चिदात्मा यात्रारूढ होती है तो कला उसकी एक मध्यमार्ग विश्रान्ति स्थान मात्र का काम करती है। यह मानवीय मन का एक विशिष्ट प्रकार है जिसमें प्रमाता और प्रमेय के बीच एकात्मता होती है, जिसमें प्रमातृत्व और प्रमेयत्व का भेद नष्ट हो जाता है और जिसमें मन अपनी स्वतंत्रा में आत्मचिन्तना करता है एवं इस प्रकार से असीम होता है तथा परतत्त्वात्मक चिदात्मा की क्रमदशा को प्राप्त करता है। इसका विशेष लक्षण निर्विकल्पता है। यह परतत्त्व का अवबोध बाह्य इन्द्रियबोध्य वस्तुओं के भेष में करती है।

परन्तु सौन्दर्य वह परतत्त्व है जो इन्द्रियबोध्य जगत के अवगुण्ठन के भीतर से चमकता है, जिसका अवबोध एक मूर्ति, एक भवन अथवा गानकला का एक स्वर या कम से कम इन्द्रियबोध्य वस्तु की मानसिक प्रतिच्छाया—जैसा कि कविता में होता है—के समान इन्द्रिय गोचर वास्तविक वस्तुओं में और उनके माध्यम से होता है। वह इन्द्रिय बोध्य सौन्दर्यपूर्ण है जिसके माध्यम से परतत्त्व का अवबोध होता है। सौन्दर्यपूर्ण वस्तु इन्द्रियों और मन दोनों को प्रभावित करती हैं। क्योंकि केवल इन्द्रियबोध्य वस्तु सौन्दर्यपूर्ण नहीं होती। यह केवल उसी समय सौन्दर्यपूर्ण होती है जब इसके माध्यम से मन परतत्त्व का साक्षात्कार करता है। सौन्दर्य ज्ञप्तिस्वरूप है क्योंकि इन्द्रिय-

बोध्य के माध्यम से अवबुद्ध ज्ञप्ति (परतत्त्व) के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं है। परन्तु यह वैसी ज्ञप्ति नहीं है जैसी कि वह स्वस्वरूप में होती है, यह वैसी शुद्ध ज्ञप्ति (विचार) नहीं है जैसी कि शुद्ध ज्ञप्ति (विचार) अर्थात् दर्शनशास्त्र से अवबुद्ध होती है वरन् यह ज्ञप्ति का वह विशेष रूप है जो कि इन्द्रियबोध्य रूप में अवबुद्ध होता है।

हेगेल के मत में कला शास्त्र की समस्या

हेगेल के मूलतत्त्वदर्शन पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार से परतत्त्वात्मक चिदात्मा अपने को (१) कला (२) धर्म एवं (३) दर्शनशास्त्र की त्रयी में व्यक्त करता है और किस प्रकार से कला का विशेष लक्षण निर्विकल्पता है। अपने 'मन के दर्शन-शास्त्र' (Philosophy of Mind) में हेगेल कलातत्त्व की विवेचना एक उपप्रकरण में करते हैं। कला की समस्या का विस्तारपूर्ण विवेचन हमको उनके ग्रन्थ फ़िलोसफी आफ़ फाइन आर्ट (Philosophy of fine art) में प्राप्त होता है।

कला की निर्विकल्पता[1] कला में सीमितता को उत्पन्न करती है। यह एक मूर्तविषयक मनन (concrete contemplation) और इन्द्रियबोध्य रूप में सशरीरीकृत परतत्त्वात्मक चिदात्मा की मानसिक प्रतिच्छाया है। यह अपने को निम्नलिखित वस्तुओं में खण्डित करती है अथवा प्रकट करती है—१—कलाओं और उनकी कृतियों में साक्षात्कृत सौन्दर्य का लोक—२—कलाकृतियों का उत्पादन कर्ता—३—कलाकृतियों का मनन करने वाला। इस प्रकार से कला शास्त्रीय समस्या के समाधान के प्रसंग में हेगेल निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डालते हैं :—(१) कलाकृतिजनित अनुभव का यथार्थ स्वरूप (२) कलाकृतियों की रचना करने के लिए आवश्यक मानसिक दशाएँ। (३) कलाकृति के माध्यम से सौन्दर्यतत्त्व के अवबोध के लिए आवश्यक मानसिक सज्जा एवं (४) कलाकृतियों के आवश्यक विधायक तत्त्व और उनके परस्पर सम्बन्धों के रूप।

उपर्युक्त इन निश्चित रूप दृष्टिकोणों की व्याख्या करने के पूर्व जिनके अनुसार हेगेल ने कला की समस्या का समाधान किया है हम कतिपय ऐसे प्रासंगिक विषयों का स्पष्टीकरण करेंगे जिनको उनके कलाशास्त्रीय सिद्धान्त

१. बैल०—२९३

को हृदयंगम करने के लिए समझना अत्यन्त आवश्यक है जैसे कि (१) हेगेल के मत में स्वतन्त्र कला शास्त्र (Æsthetic) शब्द का अर्थ (२) प्राकृतिक सौन्दर्य और कला का आपेक्षिक पद (comparative position) (३) हेगेल के दार्शनिक मत में कला का स्थान (४) आभास के रूप में कला का रूपात्मक स्वरूप (formal character) (५) आभास के लोक में कला के रूप का स्थान एवं (६) कला का चरम साध्य ।

हेगेल के दार्शनिक मत में 'एस्थेटिक' शब्द का अर्थ

हेगेल यह कहते हैं कि वामगार्टन ने 'एस्थेटिक' शब्द को यूनानी भाषा से लिया था और उसको 'संवेदनाओं अथवा भावावेग का विज्ञान' के अर्थ में प्रयुक्त किया था । क्योंकि वुल्फपंथी दार्शनिक युग में जर्मनी में कलाकृतियों का अध्ययन सुख, प्रशंसा, भय, करुणा आदि उन संवेदनाओं के प्रसंग में ही करते थे जिनको वे कृतियाँ दर्शकों में उत्पन्न करती थीं । परन्तु अपने व्यावहारिक जीवन में हम 'एक सौन्दर्यपूर्ण रंग, एक सौन्दर्यपूर्ण स्वर्ग, एक सौन्दर्यपूर्ण सुमन, एक सौन्दर्यपूर्ण पशु और यहां तक एक सौन्दर्यपूर्ण मानव-प्राणी भी कहने में अभ्यस्त हो चुके हैं ।' अतएव इस विज्ञान की विषयवस्तु को सौन्दर्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में विस्तृत माना जाता है ।

परन्तु हेगेल ने इस शब्द 'एस्थेटिक' का प्रयोग विशेष सीमित अर्थ में किया है । उनका अर्थ है 'कलाओं', विशेषतया स्वतन्त्र कलाओं का विज्ञान अथवा अधिक समुचित शब्द में कहना हो तो 'दर्शन शास्त्र' । इसी लिये वे अपने उस ग्रन्थ का नामकरण फिलासफी आफ फाइन आर्ट (Philosophy of fine art) करते हैं जिसमें उन्होंने स्वतन्त्रकलाशास्त्र की विभिन्न समस्याओं का समाधान किया है ।

प्राकृतिक सौन्दर्य एवं कला

कान्ट के मतानुसार प्रकृति एवं स्वतन्त्र कला दोनों की कृतियों के विषय में हम यह निर्णय कर सकते हैं कि वे सौन्दर्यपूर्ण हैं । वे यह मानते थे कि प्रकृति के विषय में हम यह निर्णय कर सकते हैं कि वह सौन्दर्यपूर्ण है यदि वह कला के समान[1] देख पड़े और इस प्रकार से कला को भी हम सौन्दर्य-पूर्ण निर्णीत कर सकते हैं यदि वह प्रकृति की भांति दिखाई देती है । परन्तु हेगेल सौन्दर्यपूर्ण की अपनी व्याख्या में से प्रकृति को बहिष्कृत कर देते

---

१. बर० १८७

हैं। वे अपने को उस सौन्दर्यपूर्ण की व्याख्या तक सीमित रखते हैं जो मन की उपज है और जो इसी कारण प्रकृति की सृष्टि से श्रेष्ठतर है। हेगेल का यह मत कि कलाकृति का सौन्दर्य प्रकृति की कृति से श्रेष्ठतर है उनके त्रिक् सिद्धान्त पर आधारित है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हेगेल का सम्पूर्ण दार्शनिक मत मूल रूप में ज्ञप्ति, प्रकृति एवं चिदात्मा की त्रयी की व्याख्या करता है। और यह भी याद रखना आवश्यक है कि इस त्रयी का प्रथम पद (ज्ञप्ति) का विशेष लक्षण निर्विकल्पता, दूसरे पद (प्रकृति) का विशेष लक्षण सविकल्पता एवं तीसरे पद (चिदात्मा) का विशेषलक्षण सविकल्पता का निर्विकल्पता में निमज्जित होना है। इसके साथ-साथ हमको इतना और याद रखना चाहिए कि त्रयी का प्रत्येक परवर्ती पद पूर्ववर्ती पद की अपेक्षा प्रकटीकरण की उच्चतर क्रमदशा का द्योतक है। अतएव प्रकृति और उसके आभास चिदात्मा और उसकी सृष्टियों की अपेक्षा अधिक हीन पद पर हैं। इसलिए हेगेल यह मानते हैं कि चिदात्मक सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य की अपेक्षा उन्नततर होता है। और क्योंकि उनका प्रतिपाद्य विषय चरम सौन्दर्य है इसलिए वे अपने निरीक्षण एवं व्याख्या के क्षेत्र से प्राकृतिक सौन्दर्य को बहिष्कृत कर देते हैं।

परन्तु सामान्य लोग यह विचारते हैं कि कला की कृतियाँ प्राकृतिक कृतियों की अपेक्षा इसलिए हीन हैं क्योंकि कलाकृति के पास अपनी कोई संवेदनाएं नहीं हैं। यह (कला कृति) सम्पूर्ण रूप से जीवनपूर्ण नहीं होती। बाह्य वस्तु के रूप में देखने पर यह मृत वस्तु सी दिखाई देती है। और सामान्यतः हम मृत की अपेक्षा सजीव को अधिक उच्च मानते हैं।

हेगेल यह स्वीकार करते हैं कि कलाकृति इस अंश में निर्जीव है कि वह गतिमान नहीं हो सकती और अपने बाहरी तल पर ही वह सजीव आभासित होती है। बाहरी तल के नीचे लकड़ी, चित्रपट या प्रस्तर अथवा काव्य के संबंध में वाणी अथवा वर्णों के माध्यम में प्रकट की गई ज्ञप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु हेगेल यह मानते हैं कि वह बाहरी सत्ता नहीं है जो एक कला कृति को स्वतन्त्रकलाकृति बनाती है। कलाकृति का बाहरी इन्द्रिय बोध्य अंश सबसे कम महत्वपूर्ण है। एक कलाकृति तभी सच्ची कलाकृति है जब कि यह मानवीय चिदात्मा में उद्भूत होती है और निरन्तर उसी चिदात्मा से संबंधित रहती है। एवं वह प्रत्येक वस्तु जो चिदात्मा का एक अंश है उस वस्तु से अधिक उत्तम है जो केवल प्रकृति से ही उत्पन्न है।

कला (कृति) जो करती है वह यह है—कि मनुष्य के उस महत्वपूर्ण हित (vital interest) को, अर्थात् उन आध्यात्मिक महत्ताओं को, एक विशिष्ट रूप में चित्रित करती है जो एक अकेली घटना, एक व्यक्ति का चरित्र अथवा एक कार्य की अपनी चरमोत्कर्ष दशा में इतनी अधिक शुद्धता और स्पष्टता से होता है कि वैसी शुद्धता और स्पष्टता प्रकृति की शुद्ध सृष्टि के क्षेत्र में सम्भव नहीं है। अतएव प्रकृति की कृतियों की अपेक्षा कलाकृतियाँ अधिक उत्तम हैं।

एक दूसरे प्रकार से भी कलाकृतियों की अपेक्षा प्रकृति की उत्पत्तियाँ को अधिक श्रेष्ठ स्थापित करते हैं। यह कहते हैं कि प्रकृतिजात वस्तुएं ईश्वर की रची हुई हैं और कला की कृतियाँ मनुष्य मात्र की रची हुई है। हेगेल[1] ने इस मत का खण्डन निम्नलिखित रूप में किया है :—उपर्युक्त मिथ्या मत का आधार यह मिथ्या-विश्वास है कि मनुष्य में और मनुष्य के साधन से ईश्वर क्रिया नहीं करता है तथा उसका क्रिया—क्षेत्र केवल प्रकृति के क्षेत्र तक ही सीमित है। इसके प्रतिकूल यथार्थ यह है कि (हेगेल और शैवमत दोनों के अनुसार) कला कृति में दिव्य शक्ति अपने ऐसे स्वरूप में क्रिया करती है जो उसके वास्तविक स्वभाव से अधिकतर सन्निकट है बनिस्बत उस स्वरूप के जो उन वस्तुओं में क्रियाशील होता है जो प्राकृतिक प्रक्रिया से उत्पन्न होती हैं अथवा स्वरूप लाभ करती है। क्योंकि मनुष्य में केवल दिव्यशक्ति भर ही नहीं है वरन् वह एक ऐसे रूप में क्रिया करती है जिसमें ईश्वर का अंश उस रूप से अधिक है जो प्रकृति के क्षेत्र में क्रियाशील है। ईश्वर चिदात्मा है और केवल मनुष्य ही में वह अपने को ऐसे चिदात्मक रूप में प्रकट करता है जो उस क्रिया का पूर्ण ज्ञाता है जिसमें वह अपनी ज्ञप्तिरूपिणी सत्ता (ideal presence) को प्रकट करता है। कला ज्ञप्तिरूपा (ideal) है और ईश्वर ज्ञप्तिरूप को वास्तविक वस्तु की अपेक्षा अधिक साक्षात् रूप से प्रकट करता है। क्योंकि उस परिच्छिन्न मन के माध्यम से कलाकृति प्रकट की जाती है जो आत्मचेतना से पूर्ण है और इसलिए प्रकृतिगत चेतनाशून्य इन्द्रियबोध्य माध्यम की अपेक्षा अधिक मात्रा में दिव्यता युक्त है।

हेगेल की दार्शनिक व्यवस्था में कला का स्थान

हेगेल मानवीय अनुभव में तीन भूमियों को मानते हैं १–इन्द्रियबोध २–इन्द्रियबोधोत्तर तथा ३–युक्तिमूलक (rational) इन्द्रियबोध भूमि संबंधी

1. फिला० आ० भाग १—३९–४०

अनुभव का कारण प्रकृति की बहिर्भूत वस्तुओं से इन्द्रिय-संसर्ग है। यह वह भूमि है जिस पर हम अपने दैनिक व्यवहार के जीवन में रहते हैं। इन्द्रिय-बोधोत्तर भूमि पर अनुभव इन्द्रिय-संसर्ग से स्वतन्त्र होता है। इसका कारण इन्द्रियबोध नहीं है वरन् मननशील चेतना का इन्द्रियबोध के तल से ऊपर उठना है। इस भूमि पर मननशील चेतना इन्द्रियबोध्य यथार्थ और स्वगत अवच्छेदकों से स्वतन्त्र होती है। इन्द्रियबोधोत्तर भूमि पर इन्द्रियबोध्य यथार्थ और स्वगत अवच्छेदकों से अपनी स्वतन्त्रता के कारण मन स्वशक्ति[1] से (शब्दशः स्वधन से) स्वतन्त्रकला की कृतियों को उत्पन्न करता है। यह कलात्मक आन्तर प्रत्यक्ष की भूमि है। इस भूमि पर अनुभव का विषय प्रकृति के क्षेत्र से न आकर मन की आन्तरिक सृजन शक्ति से आता है। यह भूमि इन्द्रियबोध और युक्तिमूलक भूमि की मध्यवर्ती है। यह इन दोनों (इन्द्रियबोध और युक्तिमूलक भूमियों) के बीच सेतु का काम करती है। इस प्रकार से हेगेल की दार्शनिक व्यवस्था में कला का स्थान इन्द्रियबोध्य यथार्थ से उच्चतर परन्तु युक्तितत्त्व के क्षेत्र से हीनतर है।

कला का रूपांश (formal character) आभास मात्र है

कला के दो पक्ष हैं १ अन्तर्वस्तु २ रूप। कला का रूपात्मक पक्ष उसका आभास है। परन्तु हेगेल के मतानुसार इस प्रकार की स्वीकृति में कला की निन्दा निहित नहीं है। क्योंकि आभास का अस्तित्व भी आवश्यक है, इसकी अपनी एक प्रतिष्ठा है, इसका अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह परमार्थ सत्य के लिए परमावश्यक है क्योंकि सत्य सत्य नहीं है, यथार्थ यथार्थ नहीं है यदि वह आभासित नहीं होता। अतएव कला केवल इसी लिए निन्दनीय नहीं है क्योंकि इसका एक रूपात्मक अंश है। कला के लिए रूपात्मक अंश इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसके माध्यम से कला उसको साकार करती है जो मूलतः यथार्थ और सत्य है। आभास के माध्यम से कला अपनी कृतियों को विशिष्ट[2] अस्तित्व प्रदान करती है।

आभास के लोक में कला के रूप का स्थान

हेगेल यह मानते हैं कि कला का रूप आभास मात्र है। परन्तु वे

---

१. फिला० आ० भाग १—९

२. फिला० आ० भाग १–१०

आभासों में परस्पर भेद स्थापित करते हैं। वे कला के रूपांश अथवा आभासांश की तुलना उन बाह्य प्रमेय जगत एवं इन्द्रियबोध के आन्तरिक जीवन अर्थात् भावों के संसार के साथ करते हैं जो दोनों ही आभासमात्र हैं। वे यह मानते हैं कि कलालोक के रूप बाह्य संसार अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्य संसार और भावों के संसार के रूपों की अपेक्षा यथार्थ अथवा सत्य को कम प्रच्छन्न करते हैं। कला के रूपों में सत्य प्रधान रहता है। सामान्य इन्द्रियग्राह्य संसार के रूपों की अपेक्षा कलालोक के रूप सत्य को अधिक प्रखर रूप में प्रकट करते हैं। क्योंकि हमारे वे अनुभव जिनका संबंध इन्द्रियबोध्य संसार के रूपों के साथ है इतना अधिक प्रमातृनिष्ठ और प्रमेयनिष्ठ तथ्यों से मर्यादित हैं कि उनमें जो सत्य अथवा तथ्य निहित है वह असाक्षात्कृत ही रह जाता है। परन्तु वह अनुभव जो कला के रूपांश से उत्प्रेरित किया जाता है निरुपाधिक होता है। कला के अनुभव में यथार्थ किसी भी उपाधि से मलिन नहीं किया जाता अतएव वह स्पष्टतया भात होता है।

साक्षात् इन्द्रियबोध्य आभास की तुलना में कला के रूपों का यह महत्त्व है कि वे स्वयं अपनी शक्ति से अपने से परे की ओर संकेत करते हैं अर्थात् हमको उस आध्यात्मिक की ओर ले जाते हैं जिसका विचारप्रवण मन को वे साक्षात्कार कराना चाहते हैं। साक्षात् इन्द्रियबोध्य आभास अपने से परे की ओर संकेत नहीं करता। इसके विपरीत यह अपने को ही सत्य और यथार्थ सिद्ध करने की चेष्टा करता है यद्यपि साक्षात् इन्द्रियबोध्य आभास सत्य को मलिन करता है और उसके (प्रकटी करण में) बाधक है।

कला का रूप एवं दार्शनिक ज्ञप्ति

कला के रूप की दार्शनिक ज्ञप्ति और धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों से विषमता तुलना के आधार पर प्रदर्शित की गई है क्योंकि ज्ञप्ति के लोक में एक अन्तर्वस्तु जिस प्रकार[1] (mode) में अभिव्यक्त होती है वह सर्वाधिक सत्य यथार्थ (truest reality) है। अतएव हेगेल यह मानते हैं कि कला अपने दोनों पक्षों अर्थात् अन्तर्वस्तु (content) और रूप में यद्यपि साक्षात इन्द्रियबोध्य आभास से उच्चतर है फिर भी हमारे आध्यात्मिक जीवन के सत्य हितों का बोध कराने वाला न तो सर्वोच्च और न सर्वाधिक श्रेष्ठ प्रकार है। कला का रूप अपनी अभिव्यंजना शक्ति को अन्य सब अन्तर्वस्तुओं को छोड़कर

१. फिल० आ० भाग० १–११

केवल एक निश्चित अन्तर्वस्तु तक ही सीमित कर लेता है। इस प्रकार की विशिष्ट अन्तर्वस्तु में ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि यह स्वतन्त्रता पूर्वक इन्द्रिय बोध्य साकार रूप में अपने को अभिव्यक्त कर सके और उसी से अपने अनुभव को उत्पन्न करा सके। परन्तु इससे भी अधिक पूर्णता से उस सत्य को ग्रहण कर सकते हैं जिसको कला इन्द्रियबोध्य माध्यम में प्रकट करने में असमर्थ है। इस प्रकार से यूनान के देवताओं के तात्विक-स्वरूप ऐसे हैं जिनको कलात्मक कृतियों में प्रकट कर सकते हैं 'परन्तु इसाई धर्म के अनुसार सत्य के तात्विक स्वरूप को' कलात्मक कृतियों में प्रकट नहीं कर सकते।

कलात्मक कृति का लक्ष्य

कलाकृति की रचना करने में कलाकार के लक्ष्य की समस्या को हल करने की चेष्टा हेगेल ने अपनी स्वाभाविक ऐतिहासिक प्रणाली से किया है। उन्होंने उन विभिन्न लक्ष्यों का उल्लेख किया है जिनको उनके पूर्व सिद्धान्तकारों ने कलात्मक कृतियों की रचना के पथप्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया था और अपने मत को प्रकट करने के पूर्व उनका खण्डन किया है। उन्होंने निम्नलिखित सिद्धान्तों का उल्लेख और खण्डन किया है— (१) प्रकृति का अनुकरण (२) प्रत्येक प्रकार के भावावेग का प्रकटीकरण (३) इच्छाओं की बर्बरता का शमन (४) भावावेशों का शोधन अथवा परिष्करण (५) दर्शक का चारित्रिक उत्थान।

१. अनुकरण का सिद्धान्त

जो शास्त्रकार कलात्मक कृति का लक्ष्य 'प्रकृति का अनुकरण' मानते हैं वे यह कहते हैं—

१—कलाकार का लक्ष्य प्राकृतिक वस्तुओं का इस प्रकार से अनुकरण करना है कि उसकी कृति वास्तविक तथ्यों (actual facts) के अत्यन्त सदृश हो।

२—जहाँ तक उसके पास विद्यमान साधनों से हो सकता है वहाँ तक वह (कलाकार) जिस प्रकार से वे प्राकृतिक वस्तुयें प्रकृति के क्षेत्र में वर्तमान हैं ठीक उन्हीं प्रकारों में उनकी सूक्ष्मतया नकल भर करता है।

३—इस प्रकार की कलाकृति यदि प्रकृति को यथावत् प्रकट करने में सफल हो जाती है तो अपने दर्शकों या पाठकों को पूर्ण तृप्ति प्रदान कर सकती है।

इस सिद्धान्त का खण्डन

१. उपर्युक्त अनुकृति के सिद्धान्त को मानने का अर्थ कला के स्वतन्त्र महत्त्व को अस्वीकार करना है। इसके अनुसार कला का लक्ष्य उसकी नकल करना मात्र ही है जो पहले से ही बाहरी संसार में वर्तमान है।

२. बाह्य यथार्थ के साथ कलाकृति की अत्यन्त समरूपता असंभव है क्योंकि कला के पास प्रतिनिरूपण के साधन अल्प हैं। अधिक से अधिक यह इन साधनों से केवल एक ही इन्द्रिय बोध्य अंश की रचना कर सकती है और इस प्रकार से एक ऐसी भ्रान्ति का सृजन कर सकती है जो केवल एक ही इन्द्रिय से ज्ञेय है। लोकगत वस्तुएँ अपने विविध इन्द्रियबोध्य अंशों जैसे स्पर्श, रसन, गन्ध आदि में विविध इन्द्रियों की ज्ञेय वस्तु होती हैं। परन्तु कलाकृतियाँ केवल एक इन्द्रियबोध्य अंश की ही अनुकृतियां मात्र हैं अर्थात् वह अंश जो आँखों या कानों से ज्ञेय है। अतएव इन्द्रियबोध्य पक्ष में वे प्राकृतिक वस्तुओं से बहुत अधिक हीन हैं।

३. अनुकृति के सिद्धान्त के अनुसार रची गई कला[1] की एक कृति प्राणहीन अथवा आत्माशून्य होगी क्योंकि केवल उसी वस्तु की अनुकृति सम्भव है जो इन्द्रियबोध्य है अर्थात् विषय रूप में ज्ञेय है। आत्म-जीवन का हम प्रमेयनिष्ठ बोध नहीं कर सकते अतएव किसी भी प्रकार की इसकी अनुकृति संभव नहीं है।

४. अनुकृति अधिक से अधिक एक ऐसी भ्रान्ति की रचना कर सकती है जो कुछ समय के लिए यथार्थ वस्तु की भांति संवेदनाओं के प्रवाह को उत्पन्न कर सकती है। परन्तु जैसे ही भ्रान्ति नष्ट हो जाती है वैसे ही लोग ऐसे कलाप्रदर्शन अथवा कलाकृति से ऊब जाते हैं और थक जाते हैं।

५. यदि अनुकृति को कला का साध्य मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि सौन्दर्यपूर्ण की अन्तर्वस्तु महत्त्व शून्य है। ऐसा मानने से सौन्दर्य और कुरूपता का भेद नष्ट हो जाएगा। इसके कारण कला के वे सब मान (standards) नष्ट हो जाएँगे जिनसे सौन्दर्य और कुरूपता का भेद स्पष्ट होता है।

६. अगर हम अनुकृति के सिद्धान्त का अर्थ प्राकृतिक वस्तु की सर्वांगीण प्रतिकृति का उत्पादन लें तो सब कलाओं के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का

---

१. फिल० आ० भाग १–५८

प्रयोग नहीं कर सकते। चित्रकला और मूर्तिकला के प्रसंग में तो इसको प्रयुक्त कर सकते हैं परन्तु वास्तु एवं काव्य कला के सम्बन्ध में इसको प्रयुक्त नहीं कर सकते। क्योंकि ये (वास्तु और काव्य की) कलाकृतियां उस किसी वस्तु की प्रतिकृति मात्र नहीं होतीं जो उसी रूप में प्रकृति के क्षेत्र में वर्तमान हो।

२. प्रत्येक प्रकार के भाव का प्रदर्शन कलाकार का सच्चा साध्य नहीं है

हेगेल इस मत को नहीं मानते कि कलाकृतियों की विषयवस्तु वह सब सामग्री है जिसका बाह्येन्द्रिय अथवा मन के द्वारा साक्षात्कार मानवीय चिदात्मा कर सकती है और वे यह भी नहीं मानते कि सोते हुए भावों, भावावेगों एवं प्रत्येक प्रकार की उन्मुखताओं को जाग्रत करना अथवा सजीव करना और हृदय को उनसे पूर्णतया भर देना, मनुष्य जाति को उस सबका अनुभव करने पर बाध्य करना जिसको मानवीय आत्मा अपने अन्तरतम तथा रहस्यमय प्रकोष्ठों में लिए हुए है, हमारे लिए कुभाग्य, दरिद्रता, दुष्टता और अपराध की व्याख्या करना, सभी प्रकार की बीभत्सता एवं भयंकरता तथा प्रत्येक प्रकार के सुख और दुःख का मानवीय हृदय को पूर्णतया साक्षात्कार कराना एवं अन्त में 'इन्द्रियों के लिए अत्यन्त मुग्धकारी दृश्यों और भावों की छलपूर्ण मृगमरीचिका में आनन्दित होने के लिए' कल्पना को कल्पनालोक में चेष्टा पूर्ण करना भी कलाकृति का लक्ष्य है। इस मत के अनुसार कलाकृति उस उत्प्रेरक सामग्री को प्रदर्शित करती है जिसके कारण, व्यावहारिक जगत के तल पर नहीं वरन् उससे (व्यावहारिक जगत से) समरूप अतएव भ्रान्तिजनक उस कृति के माध्यम से जिसे कला रचती है और व्यावहारिक जगत के स्थान पर रखती है, इस प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है। और व्यावहारिक जगत से समरूप कलाकृति के साधन से इस प्रकार के अनुभव की सम्भावना इस तथ्य पर निर्भर है कि भावात्मक जीवन और इच्छा से सम्बन्धित होने के लिए सभी यथार्थ को काल्पनिक रूप में मानस चक्षुओं के सामने उपस्थित होना परमावश्यक है। क्योंकि कल्पनाजनित अनुभव के सम्बन्ध में यह बात नगण्य होती है कि यह अनुभव साक्षात् इन्द्रियग्राह्य बाह्य वस्तु पर अथवा उन प्रतीकों, प्रतिच्छायाओं और ज्ञप्तियों पर ध्यान को केन्द्रित करने के कारण उत्पन्न हुआ है जो इस प्रकार की यथार्थता की अन्तर्वस्तु को प्रकट करती है।

प्रत्येक प्रकार के भावावेग को जगाना, उस भ्रान्तिजनक प्रतिनिरूपण के माध्यम से जीवात्मा में उन समस्त अनुभवों को उत्पन्न करना जो जीवन में सम्भव हैं, हेगेल कलाकृति का लक्ष्य नहीं मानते हैं। इसी के समान वे इस मत को भी अमान्य सिद्ध करते हैं कि कलाकृति का उद्देश्य सन्मार्ग पर चलने के लिए मन को दृढ़ बनाने के लिए और उसको कुमार्ग से हटाने के लिए मन पर इष्ट और अनिष्ट को अंकित करना है। क्योंकि इस प्रकार का प्रस्तावित कर्तव्य शुद्ध रूप से इस सिद्धान्त पर आश्रित है कि कलाकृति में रूप प्रधान है। इस मत के अनुसार कलाकृति का सम्पूर्ण देय सभी सम्भावित ज्ञप्तिमूलक एवं रूप-रचना की पथप्रदर्शक अन्तर्वस्तुओं (formative contents) के बजाय एक रिक्त रूप मात्र है। परन्तु प्रत्येक भावावेग को जाग्रत करने के लिए प्रत्येक प्रकार की सामग्री को हमारी इन्द्रियों के सम्मुख लाने वाला रूप-पक्ष कलाकृति के पास नहीं होता। इसके कारण का उल्लेख निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

उपर्युक्त मत के अनुसार कलाकृति का लक्ष्य जिन त्रिविध भावावेगों एवं ज्ञप्तियों को जगाना है वे भावावेग और ज्ञप्तियां एक दूसरे को खण्डित करते हैं। एक दूसरे के विरोधी हैं, और एक दूसरे को नष्ट कर देते हैं। यदि अपनी कलाकृति की रचना करने में कलाकार का उद्देश्य दर्शक में केवल परस्पर विरोधी भावावेशों को जगाना मात्र ही हो तो भावावेगों और भावावेशों के बीच दरार बढ़ती जाएगी तथा भावावेगप्रवण जीवन में सामंजस्य से अधिक विषमता उत्पन्न हो जायेगी।

३. इच्छाओं एवं भावावेशों की बर्बरता का शमन

कुछ शास्त्रकारों का यह मत है कि कलाकृति का उच्चतर एवं अधिक सामान्य उद्देश्य केवल इच्छाओं की बर्बरता का शमन है। इच्छाओं की बर्बरता अथवा ग्राम्यता उन इन्द्रियसुखपरक प्रवृत्तियों की घोर स्वार्थपरता से उत्पन्न होती है जो अपनी कामवासना (लम्पटता अथवा लौकिक वस्तुओं की उत्कट इच्छा) की तृप्ति के लिए प्रबल वेग से चेष्टा करती हैं। इन्द्रियविषयनिष्ठ इच्छाएँ अत्यधिक कठोर होती हैं क्योंकि वे सम्पूर्णतया मनुष्य को अपना दास बना लेतीं हैं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य इन ऐन्द्रियविषयसंबंधित इच्छाओं के वशीभूत होकर इस अवच्छेदक (determining condition) से अपने सामान्य स्वरूप को विलग करने की तथा इस प्रकार के अपने स्वरूप

के स्पष्टस्मरण रखने की अपनी शक्ति को खो देता है। अतएव इच्छाओं की बर्बरता के उत्पादक भावावेशों की बर्बरता की उत्पत्ति इच्छा की सीमित विषयवस्तु के साथ उस 'अहं' के तादात्म्य के कारण होती है जो स्वस्वरूप में सामान्य है। परिणाम यह होता है कि इस एकमात्र भावावेश से सम्बन्धित वस्तु से भिन्न वस्तु के प्रति अपनी क्रियाशक्ति को लगाने का सामर्थ्य नष्ट हो जाता है।

भावावेश की इस प्रकार की बर्बरता को कलाकृति निम्न प्रकार से शमन कर देती है :—

अपने प्रदर्शन से एक कलाकृति दर्शक के मन एवं उसकी कल्पना को यह बोध कराती है कि ऐसी दशाओं में वह सत्यतः क्या अनुभव करता है और कौन से कार्य करता है। यह (कलाकृति) मानस चक्षुओं के आगे भावावेशों के चित्रों को उपस्थित करती है और इस प्रकार से मनुष्य की बुद्धि को यह अवगत कराती है कि इस प्रकार के प्रदर्शित रूपों से भिन्न स्वस्वरूप में वह क्या है। भावावेशों, उन्मुखताओं एवं आन्तर प्रेरणाओं के कलात्मक प्रदर्शन के साधन से मनुष्य उनका मनन करता है। इस प्रकार के मनन में वह उनको अपने से बाहर देखता है और क्योंकि वे (भावावेश आदि) उसके सामने आत्म अंश के रूप में नहीं वरन् प्रमेयनिष्ठ रूप में आते हैं इसलिए उनको घृणित मान कर उनसे स्वतन्त्र होने का आरम्भ वह कर देता है।

अतः भावावेशों की दारुण बर्बरता के शमन[1] की समुचित व्याख्या इस प्रकार से कर सकते हैं कि मनुष्य मनन की सहायता से एक भावावेश अथवा भावावेग के साक्षात् बन्धनों से मुक्त होता है, उसको यह बोध होता है कि वह भावावेश या भावावेग उससे वाह्य है और इस प्रकार से वह अपने को उस (भावावेश या भावावेग) से ज्ञप्तिमूलक सम्बन्ध स्थापित करता है।

४. भावावेशों का शुद्धीकरण

एक गत अध्याय में हमने अरिस्टाटल के शुद्धीकरण (katharsis) के सिद्धान्त का निरूपण किया है। ठीक उसी सिद्धान्त का उल्लेख हेगेल ने किया है और उसका खण्डन किया है। कलाकृति के लक्ष्य के रूप में भावावेशों के शुद्धीकरण के सिद्धान्त में वही दोष है जो इच्छा और भावावेशों की बर्बरता के शमन के सिद्धान्त में है अर्थात् यह कला के सारभूत अंश पर

---

१. फिला० आ० भाग १—६८

आश्रित सिद्धान्त को नहीं वरन् रूपांश पर आधारित सिद्धान्त को उपस्थित करता है। इस मत के अनुसार भी कलाकृति का अपना कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं होता और वह स्वात्मभिन्न लक्ष्य की साधिका मात्र रह जाती है। इस मत के अनुसार कलाकृति का अस्तित्व अपने लिए न होकर किसी बाहरी लक्ष्य को साधने के लिए होता है।

५. उपदेश

आदर्शभूत कर्तव्य को बताना उपदेश है। यह कलाओं के रसिकों में नैतिक पूर्णता (moral perfection) को उत्पन्न करने के लक्ष्य को सिद्ध करता है।

इस मत का खण्डन

अगर हम कलाकृति का लक्ष्य उपदेश मान लें तो प्रश्न यह उठता है कि यह उपदेश कलाकृति में प्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए या अप्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए अर्थात् इसको अव्यक्त रूप में होना चाहिए या व्यक्त रूप में होना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर केवल यही हो सकता है कि कलाकृति में उपदेश को व्यक्त रूप में होना चाहिए। क्योंकि यदि कलाकृति के इस उद्देश्य को प्रासंगिक न होकर सर्वसामान्य होना है तो इसको अपने स्वभाव के कारण और अपने स्वरूप में सत्य होना चाहिए। एवं उपदेश कलाकृति का लक्ष्य अथवा उद्देश्य तभी माना जा सकता है यदि कलाकृति उपदेशरूप अन्तर्वस्तु (विषयवस्तु) को असली और व्यक्तरूप में मानस चक्षुओं के सामने उपस्थित करती हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने पद के महत्त्व के अनुरूप अपने क्षेत्र में इस प्रकार की विषयवस्तु को ग्रहण करना कलाकृति का कर्तव्य है। अर्थात् कलाकृति का पद जितना अधिक महान् है उतना ही अधिक उपदेशात्मक विषय का अंश इसमें होना चाहिये। इसके अनुसार कलाकृति के महत्त्व अथवा तुच्छता का निर्णय इस असली एवं सारपूर्ण व्यक्तरूप विषय के आधार पर करना पड़ेगा। संक्षेपतः, यदि उपदेश को कलाकृति का सर्वसाधारण उद्देश्य मान लें तो कलाकृति का साररूप विषय नीतिवचन (सूक्तियाँ) अथवा सर्वसाधारण उपदेश वाक्य ही होंगे। परन्तु हमको यह ज्ञात है कि स्वतन्त्र कलाओं में से केवल एक स्वतन्त्र कला की कृति अर्थात् काव्य अथवा नाटक ही में इस प्रकार का विषय व्यक्त रूप में हो सकता है। अतएव इस सिद्धान्त के आधार पर चित्रकला और मूर्तिकला एवं अन्य स्वतंत्र कलाएं स्वतन्त्र कलाएं न रह जावेंगीं।

इसके अतिरिक्त यदि कलाकृति का सामान्य उद्देश्य उपदेश है और इसलिए उस कलाकृति का साररूप विषय अव्यक्त रूप में नहीं वरन् व्यक्त रूप में उक्त सूक्तियाँ अथवा सर्वसाधारण उपदेश वाक्य हैं तो वह इन्द्रियबोध्य अथवा मूर्तरूप (plastic) मिश्रित समुदाय (configuration) जो एक कलात्मक सृष्टि को कलाकृति का रूप प्रदान करता है केवल एक प्रभावहीन सहायक सामग्री भर ही रह जाएगा। ऐसी दशा में उसका इन्द्रियबोध्यांश केवल तृण, छिलका, अथवा वह वाह्य रूप मात्र होगा जो ऊपरी खोल के अतिरिक्त और कुछ स्पष्टतः नहीं माना गया है। कलाकृति को इस प्रकार से समझना उसको पूर्णतया मिथ्या रूप में समझना है। क्योंकि एक कलाकृति केवल सामान्य का मूर्तीकरण (concretisation) मात्र होती है और तदनुसार उसको कल्पनाशील सहृदय की दृष्टि के सामने अपने सारभूत विषय को सामान्यरूप में नहीं वरन् सामान्य को ऐसे मूर्तीकृत एवं व्यक्तीकृत रूप में उपस्थित करना कि वह एक विशिष्ट इन्द्रिय का विषय हो, कलाकृति के लिए अधिक उचित है।

इस प्रकार से यदि हम कलाकृति का सामान्य लक्ष्य उपदेश मान लें और इस (उपदेश) को कलाकृति का साररूप विषय स्वीकार कर लें तो कलाकृति की अखण्डता पूर्णतया नष्ट हो जाएगी। इन्द्रियग्राह्य विशिष्ट विषय एवं मन से बोध्य ज्ञप्तिरूप विषय परस्पर एक दूसरे से वहिर्भूत हो जाएंगे।

कलाकृति के लक्ष्य के रूप में 'उपदेश' को स्वीकार करने का अर्थ कलाकृति के अन्य पक्षों जैसे आनन्द, मनोरंजन एवं विनोद का परित्याग करना होगा। क्योंकि इसका अर्थ आनन्द के पक्ष को अनावश्यक मानना है। इस कथन का माने यह निकलता है कि कलाकृति का प्रयोजन आत्मनिष्ठ नहीं है वरन् यह आत्मबहिर्भूत का साधन मात्र है।

सदाचार का तात्त्विक स्वरूप एवं यह सिद्धान्त कि सदाचार का उन्नयन कलाकृति का लक्ष्य है

'कलाकृति का लक्ष्य सदाचार का उन्नयन है' इस सिद्धान्त को पूर्णतया समझने के लिए हमको यह जानना चाहिये कि उस सदाचार का वह कौन सा विशिष्ट रूप है जिसको कलाशास्त्रीय यह मत हमको स्वीकार करने की मन्त्रणा देता है। यदि हम सदाचरण के विषय में आधुनिक सभ्य समाज से स्वीकृत

मत को देखें तो हमको यह पता लगता है कि यह मत उस मत से मेल नहीं खाता जिसके अनुसार सदाचार सामान्यतः पुण्य कर्म करना, अपने को आदरणीय बनाना, सरलस्वभाव होना आदि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि सदाचरणविषयक आधुनिक वैज्ञानिक मत के अनुसार केवल आदरणीय और ईमानदार होना ही मनुष्य को सदाचारी बनाने के लिए पर्य्याप्त नहीं हैं। इसका कारण यह है कि सदाचार का अर्थ कर्तव्यानुकूल सामग्री का चिन्तन एवं निश्चित ज्ञान तथा इस निश्चित बोध से उत्पन्न कर्म है। और कर्तव्य इच्छाशक्ति का वह नियम (law of will) है जिसको मनुष्य अपने लिये स्वतन्त्रता पूर्वक स्वयं निर्धारित करता है। एक व्यक्ति वहीं तक सदाचारी है जहां तक वह कर्तव्य को कर्तव्य के लिये करता है और इस विश्वास को लेकर कार्य में लगता है कि जो वह कर रहा है वह कल्याणकारी है। यह नियम उस इच्छा का अमूर्त सामान्य (abstract universal) है जो प्रकृति का सर्वथा प्रतिभाव (antithesis) है। यह उसका प्रतिभाव है जिसका वर्णन हम सामूहिक रूप में उस भावमूलक जीवन एवं हृदय कह कर करते हैं जिसमें इन्द्रियों की प्रेरणाएं स्वार्थमूलक अभिरुचि एवं भावावेश समाविष्ट हैं। नियम एवं भावमूलक जीवन में एक विरोध है। इस विरोध में एक पक्ष दूसरे पक्ष का निषेधक माना जाता है। ये दोनों पक्ष व्यक्ति में वर्तमान हैं। क्योंकि वे दोनों परस्पर विरोधी हैं इसलिये व्यक्ति को एक को चुनना और दूसरे का परित्याग करना पड़ता है। इस प्रकार का चुनना एवं इसके अनुसार किया गया कर्म इस कारण सदाचार है क्योंकि कर्ता स्वतन्त्रतया यह विश्वास करता है कि यह उसका कर्तव्य है, और क्योंकि ऐसे कर्म में भावावेगमूलक जीवन पर विजय प्राप्त होता है तथा भद्र संवेदनाओं का अनुभव होता है एवं उच्चतर अन्तःप्रेरणायें क्रियाशील होती हैं।

इस प्रकार से कर्तव्यमीमांसा शास्त्र का वह सिद्धान्त जिसके आधार पर कला का सदाचारिक लक्ष्य टिका हुआ है आध्यात्मिक सामान्यरूप इच्छा शक्ति और विशेषरूप इन्द्रियबोध्य प्राकृतिक विषय के परस्पर निश्चित विरोध से शुरू होता है। इस मत के अनुसार सदाचरण का अर्थ इन परस्परविरोधी पक्षों को पूर्ण मध्यदशा में होना नहीं है वरन् उसका अर्थ वह परस्पर विरोध है जिसमें यह आवश्यक है कि कर्तव्य के प्रति विरोध में अन्तःप्रेरणाएं कर्तव्य को आत्म समर्पण करें। मनुष्य के मन में यह विरोध आध्यात्मिक और ऐन्द्रिय अथवा आत्मा और देह के परस्पर विरोध में प्रकट होता है।

अतएव समस्या यह है कि क्या इस प्रकार का मौलिक विरोध साररूप एवं पूर्णतया प्रकटित सत्य तथा अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य हो सकता है? दर्शन शास्त्र का इस प्रश्न का स्वाभाविक उत्तर 'नहीं' है। यह नहीं मानना चाहिए कि अपनी एकांगी अमूर्तता (onesided abstractness) में एक पक्ष (भाव) अथवा दूसरा पक्ष (प्रतिभाव) सत्य है। अपने अन्दर उनके पास स्वनाशकारी तत्त्व (principle of their dissolution) वर्तमान है। उन दोनों पक्षों का मध्य दशा में होने अथवा उनके पारस्परिक सामंजस्य में होने में ही केवल सत्य स्थित होता है। अतएव जिस रूप में गत पंक्तियों में हमने सदाचार के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक मत का उल्लेख किया है उसके आधार पर प्रतिपादित कलाकृति के चरम लक्ष्य को चरित्र का उन्नयन मानना हेगेल के लिए अमान्य है। इसके साथ-साथ कलाकृति के सभी बाह्य लक्ष्यों का निषेध करने की निम्न लिखित सामान्य युक्ति को भी जोड़ा जा सकता है :—इस प्रकार के बाह्य लक्ष्य को मानने का अर्थ यह मानना होगा कि कलाकृति का अस्तित्व किसी अन्य वस्तु के लिए है अर्थात् उसका लक्ष्य स्वयं उससे बाहर स्थित है। और इस रूप में एक ऐसे लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए वह (कलाकृति) एक हितकारी साधन मात्र है जो कला क्षेत्र के बाहर यथार्थ एवं स्वतन्त्र महत्त्व रखता है।

हेगेल के मतानुसार कलाकृति का कर्तव्य कार्य चिदात्मा और देह अथवा आत्मा और प्रकृति इन दो परस्पर विरोधी तत्त्वों में विरोध शान्ति को प्रदर्शित करना अथवा इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुओं के सुसंगठित समुदाय में सत्य का प्रकटीकरण, एवं अन्ततः यह सिद्ध करना है कि कलाकृति का चरम लक्ष्य स्वयं उसके अन्तर में है। वे यह मानते हैं कि कलाकृति को अनैतिकता अथवा उसके उत्कर्ष को अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। परन्तु अनैतिकता को कलाकृति का लक्ष्य बनाना एक बात है और नैतिकता को प्रकटरूप से कलाकृति का लक्ष्य न बनाना दूसरी बात है। किसी भी कलाकृति से उत्कृष्ट नैतिक उपदेश लिया जा सकता है। परन्तु कलाकृति से उपदेश ग्रहण करना कलाकृति का विशेष अर्थ लगाने पर और इसलिए उस व्यक्ति पर निर्भर है जो नैतिक उपदेश को ग्रहण करता है।

'कलाकृति का लक्ष्य पाठक अथवा दर्शक का चारित्रिक उत्थान है' इस सिद्धान्त को हेगेल इसलिए नहीं मानते क्योंकि इसका अर्थ केवल यह नहीं है कि एक कलाकृति का यदि हम नैतिक दृष्टिकोण से अर्थ लगावें तो हमें उससे नैतिक उपदेश प्राप्त हो सकता है वरन् इसका अर्थ यह है कि कलाकृति

में उपदेश इस प्रकार से होना चाहिए कि यह स्पष्ट हो जाय कि कलाकृति का मुख्य लक्ष्य नैतिक उपदेश देना है, और उन सब विषयों, चरित्रों, कार्यों एवं, घटनाओं को जो नैतिक नहीं हैं कलाकृतियों में स्थान नहीं देना चाहिए।

कला का चरम लक्ष्य

इस बात में कोई शंका नहीं है कि कलाकृति का उपयोग मनोरंजन मात्र के लिए कर सकते हैं। इसका उपयोग हम आनन्द और विनोद के लिए कर सकते हैं। इसका उपयोग अपने निवास स्थान को अलंकृत करने में भी कर सकते हैं। इस रूप में कलाकृति स्वच्छन्द और स्वतन्त्र[1] नहीं है, वह एक बाह्य लक्ष्य का साधक मात्र है। परन्तु कला, अधिक उचित रूप में कहें तो ललित कला अपने स्वरूप के अनुसार कला कहलाने के लिये तब तक योग्य नहीं है जब तक इस प्रकार की साधकता से स्वतन्त्र न हो अर्थात् वह स्वच्छन्द न हो। कलाकृति का चरम लक्ष्य यह है कि वह पाठक के बोध-क्षेत्र में अपने विविध प्रकारों और रूपों के माध्यम से 'दिव्य' को लाए अर्थात् मनुष्य जाति के सर्वोत्कृष्ट कल्याणों को, विशालतम सत्यों एवं अत्यन्त मूल्यवान आन्तर प्रत्यक्षों (intuitions) और ज्ञप्तियों को प्रकट करे। कला का सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य वही है जो धर्म अथवा दर्शन शास्त्र[2] का है। धर्म अथवा दर्शन शास्त्र से कला का भेद यह है कि कला दिव्य को अर्थात् अत्युत्कृष्ट विषयवस्तु को इन्द्रियबोध्य रूप में प्रकट करती है। धर्म अथवा दर्शनशास्त्र की अपेक्षा हमारे ऐन्द्रिय एवं भावावेगमूलक जीवन से यह अधिक सन्निकट है।

इस प्रकार से कला से सम्बन्धित विषयों का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से वर्णन करने के उपरान्त हम उन विभिन्न तात्त्विक समस्याओं का उल्लेख करेंगे जो इस कारण से उत्पन्न होती हैं क्योंकि कलारूप चिदात्मा (Art-Spirit) कलाओं, कलाकृतियों, कलाकार एवं सहृदय के रूपों में अपने को प्रकट करती है।

ऐन्द्रिय अवबोध के लिए कलाकृति

कलाकृति की रचना ऐन्द्रिय अवबोध के लिये होती है और इसलिए इसको आवश्यक रूप से इन्द्रियबोध्य माध्यम में प्रकट करना चाहिए। ठीक वैषयिक

---

१. फिला० आ० भाग १–८

२. फिला० आ० भाग १–९

संसार की ही भांति यह कलाकृति ऐन्द्रिय अवबोध का विषय है। परन्तु यह सम्पूर्णतया ऐन्द्रिय अवबोध का ही विषय नहीं होती। यह मूल रूप से मन का विषय होती है। इसका प्रयोजन मन को प्रभावित करना और किसी न किसी रूप में उसको सन्तुष्ट करना होता है। यह (कलाकृति) प्राकृतिक वस्तु से भिन्न होती है अर्थात् प्राकृतिक वस्तु में उपलब्ध जीवन तत्त्व इसमें नहीं होता। एक कलाकृति के इन्द्रियबोध्य अंश को विशिष्ट अस्तित्व का अधिकार इसलिए होता है क्योंकि वह मानवीय मन के लिए होता है एवं उस भौतिक वस्तु के समान नहीं होता जो स्वतन्त्रतापूर्वक अपने लिये होती है।

प्रमेयनिष्ठ अन्य सम्बन्धों से कलात्मक सम्बन्ध का भेद

इन्द्रियबोध्य सामग्री को मनुष्य जिन सम्बन्धों से जानता है वे निम्न-लिखित हैं :—

(अ) ऐन्द्रिय सम्बन्ध

यह सामान्य अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जिस समय मन इतना अधिक क्लान्त होता है कि इन्द्रियों को प्रभावित करने वाली वस्तु में रुचि जनित चेष्टा करने की उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है उस समय हम चारों ओर देखते हैं और जो कुछ भी हमारी आँखों के आगे पड़ता है या कानों में जो स्वर आता है उसको देखते या सुनते हैं। ऐसे समय में हमारे बोध में जो कुछ आता है उस पर अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करते। इस प्रकार की दशा में ऐन्द्रिय सम्बन्ध होता है।

(आ) ऐच्छिक सम्बन्ध

परन्तु मन का स्वभाव ऐसा है कि जब तक उपर्युक्त प्रसंग की भांति यह अत्यन्त परिश्रान्त न हो जाय तब तक बाह्य वस्तुओं के अवबोध मात्र से ही यह सन्तुष्ट नहीं होता। यह उनको अपनी आन्तरिक प्रकृति की विषयवस्तु बना लेता है। इच्छा के रूप में वह अपना सम्बन्ध उस वस्तु के साथ स्थापित करता है। इस ऐच्छिक सम्बन्ध में, जो वैषयिक संसार के प्रति विषयतृष्णा जनित सम्बन्ध है, अपने शारीरिक रूप में मनुष्य सामान्य एवं विशेष वस्तुओं के प्रति विरोध-सम्बन्ध में स्थित होता है वह उन (सामान्य और विशेष वस्तुओं) की ओर खुले मन एवं विचार शक्ति की सामान्य ज्ञप्तियों को लेकर उन्मुख नहीं होता। वह अपनी वैयक्तिक अन्तःप्रेरणाओं एवं स्वार्थों से

अवच्छिन्न अपनी पृथक् स्थिति को बनाए रखता है, अपने को पृथक् वस्तुओं के साथ सम्बन्धित करता है और अपनी तुष्टि के लिए उनका उपयोग करता है, अधिक ठीक रूप में कहें तो यह कहेंगे कि अपनी तुष्टि के लिए वह उनका बलिदान करता है।

इस ऐच्छिक सम्बन्ध में बाह्य वस्तुओं का केवल ऊपरी दिखावा मात्र ही वांछित नहीं होता। इसको यथार्थ वस्तुओं की भौतिक साकार रूप में आवश्यकता पड़ती है। इस सम्बन्ध में केवल चित्रों का कोई उपयोग नहीं है।

इस ऐच्छिक सम्बन्ध में व्यक्ति भी स्वतन्त्र नहीं होता क्योंकि (१) अपने क्षणिक स्वार्थ के नियंत्रण में वह स्वयं होता है तथा उसके विशेष कार्य उसकी इच्छा की सामान्यता और तात्विक युक्ति निष्ठता (Rationality) से उद्भूत नहीं होते एवं (२) वह बाह्य संसार के प्रति सम्बन्ध में स्वतन्त्र नहीं होता क्योंकि उसकी इच्छा वस्तुओं से नियंत्रित है एवं उनके साथ सम्बन्धित है।

(इ) सैद्धान्तिक सम्बन्ध (theoretical relation)

चैतन्य प्रमाता के साथ बाह्य विषयों के सम्बन्ध का एक अन्य रूप भी है जो शुद्ध रूप से सैद्धान्तिक है। सम्बन्धित विषय का उसकी विशेषरूपता में नहीं वरन् सामान्यरूपता में ज्ञान तक पहुँचने की वह चेष्टा करता है जिससे कि वह उनके ज्ञप्तिरूप स्वभाव एवं सामान्य तत्त्व (principle) का पता लगा सके और उनको उनकी प्रत्ययमूलक (notional) ज्ञप्ति के अनुसार समझ सके। वह विशेष वस्तुओं को उनके विशिष्ट रूप में छोड़ देता है और उनकी प्रमेयनिष्ठ विलक्षणता की उपेक्षा करता है।

इच्छा की भांति बुद्धि एक व्यक्ति विशेष का गुण नहीं है। अपने तात्त्विक रूप में सामान्यरूप होते हुए यह व्यक्ति की विशिष्टता से संलग्न होती है। विषय के साथ सैद्धान्तिक सम्बन्ध (सामान्य सम्बन्ध) में बुद्धि सामान्य रूप युक्ति की शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस सम्बन्ध में युक्ति की शक्ति रूप बुद्धि अपने को प्रकृति के क्षेत्र में खोज निकालने की चेष्टा करती है और इस उपाय से प्राकृतिक वस्तुओं की आन्तरिक एवं तात्त्विक सत्ता का पता लगाने का प्रयास करती है। बुद्धि सामान्य, नियम, विधि, विचार एवं ज्ञेय वस्तु के प्रत्यय (notion) की ओर उन्मुख होती है एवं इसलिए विषय वस्तु की साक्षात् इन्द्रिय बोध्य विलक्षणता की उपेक्षा कर देती है

तथा एक इन्द्रियबोध्य विशेष वस्तु को बुद्धिग्राह्य सामान्य विषयवस्तु के रूप में परिवर्तित कर बुद्धि के लोक में उसे स्थान देती है।

(ई) कलात्मक सम्बन्ध

अभी तक जिन सम्बन्धों के स्वरूप की व्याख्या हमने की है उनसे भिन्न रूप में कला की एक कृति चैतन्य प्रमाता के साथ सम्बन्धित होती है। इस भेद को निम्नलिखित रूप से कह सकते हैं :—

कलात्मक सम्बन्ध को इच्छा के सम्बन्ध से विपरीत सिद्ध किया गया है। क्योंकि कलात्मक सम्बन्ध में प्रमाता ज्ञेय वस्तु को उसके पूर्णतया स्वतंत्र रूप में एक विषय वस्तु के रूप में बना रहने देता है। वह उसको निष्काम दृष्टि से देखता है। इस सम्बन्ध में बोध्य विषय प्रमाता का प्रतिबिम्बक होता है अर्थात् प्रमाता अपने को उसमें देखता है। यह सम्पूर्ण रूप से मनुष्य की मनन शक्ति के लिए ही होता है। इसी कारण यद्यपि एक कलाकृति का इन्द्रियबोध्य अस्तित्व है फिर भी इसको न इन्द्रियबोध्य नियतस्वरूप अस्तित्व की और न प्राणशक्तियुक्त जीवन की ही आवश्यकता होती है। वस्तुतः यह आवश्यक सा है कि यह प्रकृति की भूमि पर न रहे क्योंकि इस (कलाकृति) का लक्ष्य इच्छा मात्र की ओर उन्मुख होने के सभी मार्गों के कपाटों को बन्द कर उच्चतर चिदात्मा की आवश्यकता को सन्तुष्ट करना है।

सैद्धान्तिक सम्बन्ध से भी इस (कलात्मक) सम्बन्ध का भेद स्थापित किया गया है। क्योंकि कलाकृतिविषयक ध्यान अपने को उस प्रकार तक ही सीमित रखता है जिसमें एक कला मानस चक्षु से साक्षात्कृत सर्वांगपूर्ण एकाकी विषयवस्तु को चित्रित करती है। साक्षात्कृत विषय के स्वरूप के परे यह नहीं जाता। यह विषयवस्तु का चिन्तन उस युक्तिमूलक एवं सामान्य प्रत्यय के आधार पर नहीं करता जो विषय वस्तु में निहित है और न वैज्ञानिक चिन्तन की भांति सामान्य प्रत्ययाश्रित (conceptive) विचार प्रणाली को ही अपनाता है।

इस प्रकार से वैज्ञानिक चिन्तन का प्रयोजन ज्ञेय विषय को सामान्य रूप विचार और प्रत्यय के रूपों में परिवर्तित करना है परन्तु कलात्मक चिन्तन का प्रयोजन अपने ज्ञेय विषय की एकाकिनी सत्ता का साक्षात्कार करना है। हेगेल के मतानुसार कलाचिन्तन में सन्निहित प्रमातृनिष्ठ अंश को

'शुद्ध बुद्धि' कह सकते हैं इसके विपरीत वैज्ञानिक चिन्तन में सन्निहित प्रमातृनिष्ठ अंश युक्तिमूलक[1] बुद्धि है।

कलाकृति का इन्द्रिय बोध्यांश

गत पृष्ठों में जो विवाद हमने किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि एक कलाकृति में इन्द्रिय बोध्यांश वर्तमान होता है फिर भी न तो यह वह नियताकार भौतिक वस्तु होती है जो इच्छा का विषय बन सके और न यह वह सामान्य विचार ही है जिसको खोजने की चेष्टा बुद्धि सैद्धान्तिक संबंध में करती है।

एक कलाकृति में इन्द्रियबोध्य सामग्री का लक्ष्य उस इन्द्रियबोध्य अस्तित्व को प्रदान करना है जो यद्यपि अपने इन्द्रियबोध्यत्व को बनाये रखती है फिर भी शुद्ध भौतिक द्रव्य के ढांचे से मुक्त होने की अधिकारिणी होती है। अतएव प्रत्यक्षग्राह्य प्राकृतिक वस्तु से तुलना करने पर एक कलाकृति में इन्द्रियबोध्यांश केवल आभास अथवा केवल दृश्य (show) ही रह जाता है। इस प्रकार से कला की एक कृति[2] का स्थान एक ओर प्रत्यक्षणीय बाह्य विषयों के लोक और दूसरी ओर शुद्ध विचार की ज्ञप्तियों के लोक की मध्य भूमि है।

जिस समय अभिनवगुप्त रसानुभूतिजनक विषयसामाग्री को अलौकिक कहते हैं उस समय उनका यही अर्थ होता है।

कलाकृति की आत्मा

एक कलाकृति के दो पक्ष होते हैं :—

(अ) विषय-वस्तु, अन्तर्वस्तु अथवा अभिव्यंजनीय तत्त्व।

(आ) उसको प्रकट करने का प्रकार।

कलाकार के दृष्टिकोण से एक कलाकृति अपनी कला के माध्यम में एक प्रमातृ अंश को अभिव्यक्त करती है, और सहृदय अथवा कलासमीक्षक के दृष्टिकोण से यह कलाकृति अभिव्यंजनीय प्रमातृ अंश की प्रत्यभिज्ञा का साधन है। अतएव सहृदय पहले उपस्थापित वस्तु को ध्यानपूर्वक देखता है और तत्पश्चात् उसकी विषयवस्तु, अन्तर्वस्तु अथवा उसके व्यंग्यार्थ को निर्धारित

---

१. फिला० आ० भाग १-५०

२. फिला० आ० भाग १-५२

करने के लिए वह अग्रसर होता है। प्रत्यक्षांश का यथार्थ महत्त्व उसके लिए कुछ भी नहीं होता। यह (प्रत्यक्षांश) उस आन्तरिक ज्ञप्ति अथवा उस अभिव्यंग्य को साक्षात्कार करने अथवा उसको प्रत्यभिज्ञात करने का साधन मात्र है जो उस (प्रत्यक्षांश) से आच्छादित है, जिसकी ओर यह (प्रत्यक्षांश) संकेत करता है और जो इसको सजीव बनाता है।

एक कलाकृति का सतही भाग उस लिखित अथवा मौखिक 'प्रतीक' के स्वभाव का है जिसका केवल एक ही लक्ष्य है कि वह उस अर्थ की ओर संकेत करे किसको प्रकट करने के लिए उसका प्रयोग किया गया है। सहृदय के लिए इसका वही महत्त्व है जो महत्त्व एक अध्यात्मवादी के लिये माध्यम स्वरूप प्रतीक का है। इस प्रकार से एक कलात्मक प्रदर्शन में नयनों से द्योतित भाव, मुख का वर्ण, त्वचा की अम्लानता, श्वासविधि आदि उस शुद्ध प्रमातृनिष्ठ तत्त्व को अभिव्यक्त करने के साधन हैं जो उसका तत्त्वार्थ अथवा आत्मा है। और मनन मनन नहीं है जब तक कि इसमें प्रदर्शन की इस आत्मा की प्रत्यभिज्ञा निहित नहीं होती।

चिन्तनशील चेतना की आवश्यक उपज के रूप में कलाकृति

कला के तात्त्विक रूप की उत्पत्ति इस तथ्य से होती है कि मनुष्य एक चिन्तनशील चेतना है और अपने चैतन्य जीवन के माध्यम में वह अपने सामने इसको बोध्य रूप में प्रकट करता है कि वह क्या है और वे सभी वस्तुएं क्या हैं जिनका अस्तित्व है? प्राकृतिक वस्तु और मनुष्य में मुख्य भेद इतना है कि प्राकृतिक वस्तुएँ अपने को एवं अन्य वस्तुओं को नहीं जानतीं हैं जब कि मनुष्य उनको जानता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह (मनुष्य) स्वयं कोई प्राकृतिक वस्तु नहीं है। वरन् इसका अर्थ यह है कि उसका प्राकृतिक अंश उसका एक तथा सबसे कम महत्त्वपूर्ण अंश है। इस चेतना पूर्ण अंश में अर्थात् मन के रूप में वह अपने को दो स्वरूपों में विभक्त करता है—वह स्वयं अपना पर्यवेक्षण करता है और कल्पना तथा विचार की दृष्टि के सामने अपने को उपस्थित करता है।

आत्म पुनरुत्पादन (self-reproduction) के साधन से मनुष्य अपने को दो रूपों[1] में जानता है—(१) सैद्धान्तिक रूप में एवं (२) व्यावहारिक रूप में।

---

१. फिला० आ० भाग १—४१

(१) अपने सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवन को अर्थात् मनुष्य के हृदय में जो कुछ भी गतिमान है, तरंगित है और संघर्ष करता है उसको अपने बोधक्षेत्र में लाने से वह अपने को सैद्धान्तिक रूप में जानता है क्योंकि उसमें निम्नलिखित अन्तः प्रेरणाएं वर्तमान हैं—(अ) अपने को विचार अथवा प्रत्यक्ष का विषय बनाना (आ) अपने को उस स्वरूप का मानना जिसको विचार शक्ति तात्त्विक निर्धारित करती है एवं (इ) उस सामाग्री में जिसे वह उपचेतना के तल से चेतना के तल पर लाता है एवं उस सामग्री में भी जो बाहर से प्राप्त होती है स्वात्म प्रत्यभिज्ञा करना।

(२) व्यावहारिक क्रिया के साधन से दूसरे रूप में स्वात्म प्रत्यभिज्ञा संभव है। क्योंकि मनुष्य में यह अन्तःप्रेरणा भी होती है कि वह उन सब वस्तुओं पर अपना स्वत्व स्थापित करे (assert) जो उसके सामने साक्षात् उपस्थित हैं अर्थात् उन वस्तुओं पर जो उससे बाह्य होती हैं। यह स्वत्व स्थापन वह बाहरी वस्तु को इस प्रकार से परिवर्तित करने से करता है कि उस पर वह अपने आन्तरिक जीवन की मुद्रा को अंकित कर देता है और इस प्रकार से अपने विलक्षण स्वभाव को उसमें प्रत्यभिज्ञात करता है। यह सब कुछ वह बाह्य वस्तु को अत्यधिक विदेशीय तत्त्व से मुक्त करने के लिए करता है जिससे कि संगठित समुदाय में यह आनन्द पूर्ण अनुभव कर सके कि यह मेरी ही बाह्य सत्ता है।

आत्म-पुनरुत्पादन की प्रवृत्ति खेल कूद में बालकों के अन्दर भी दिखाई देती है। यही प्रवृत्ति विवध प्रकारों से शरीर को परिवर्तित कर, जैसे कि केश कटवाना, अलंकारों को पहनने के लिए कानों को छिदाना आदि, शरीर को अलंकृत करने के विविध उपायों के अस्तित्व का कारण है। इस प्रवृत्ति का चरम कार्य मानवीय कला है।

विविध प्रकारों में कला के वर्गीकरण का आधार

हेगेल ने कला का वर्गीकरण तीन दृष्टिकोणों से किया है। हम यह कह चुके हैं कि कला भौतिक माध्यम में परतत्त्व को प्रकट करती है। अतएव प्रत्येक कलाकृति के दो पक्ष होते हैं—(१) एकता एवं (२) भेदों की अनेकता। एकता का अर्थ है आध्यात्मिक अर्थ, आन्तर अभिव्यंग्यार्थ, कलाकृति की आत्मा। भेदों की अनेकता[1] का अर्थ है कलाकृति का इन्द्रियबोध्य भौतिक पक्ष जिसको रूप अथवा भौतिक शरीर कहते हैं।

---

१. स्टा० ४४३

कलाकृति की आत्मा अथवा उसकी आध्यात्मिक विषयसामग्री सब स्थानों पर तरतत्त्व अर्थात् ज्ञप्तिरूप अथवा सामान्य-रूप होती है। जो पूर्णरूप से विशेष, प्रासंगिक अथवा अस्थिर स्वभाव है उसको कलाकृति में कोई स्थान नहीं मिलेगा। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि कलाकृति में जहां पर मानवीय जीवन को प्रकट करना है वहाँ पर मानव जीवन के तात्त्विक, सामान्य एवं युक्तिमूलक हित (rational interest) ही कलाकृति की विषय सामग्री बन सकते हैं। परन्तु ये सामान्य एवं युक्तिमूलक हित कलाकृति में अमूर्त सामान्यों के रूप में दर्शित नहीं होते। क्योंकि कलाकृतिजनक व्यापार का सम्बन्ध अमूर्तों के साथ नहीं होता वरन् उसका सम्बन्ध साकार और व्यक्ति के साथ होता है। हमारी सामान्य मानवता के सामान्य भाव ही कला के स्थायी अभिव्यंग्य विषय हो सकते हैं। क्योंकि सामान्य होने के कारण ही वे परतत्त्व के व्यक्त रूप हैं क्योंकि परतत्त्व युक्ति, ज्ञप्ति एवं सामान्यरूप है। इस प्रकार से हमको यह ज्ञात होता है कि एक कलाकृति के तीन अंश हैं (१) अभिव्यंग्य विषय (२) रूप अथवा भौतिक सामग्री एवं (३) इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध। कलाकृति के इन अंशों से हेगेल को वे तीन दृष्टिकोण प्राप्त हुए जिनके आधार पर उन्होंने कला का वर्गीकरण किया है।

विषयसामग्री के दृष्टिकोण से कला का वर्गीकरण

अभिव्यंग्य विषय के दृष्टिकोण से कला के वर्गीकरण को ठीक रूप में समझने के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हेगेल के मतानुसार अपने परतत्त्वात्मक तात्त्विक स्वरूप का साक्षात्कार करने के पूर्व मन[1] को कुछ क्रमदशाओं को पार करना पड़ता है। क्योंकि वर्तमान प्रसंग में उनका कला का वर्गीकरण उन क्रमदशाओं पर आश्रित है जिनको मन अपनी दृष्टि के सामने उद्घाटित करता है। इस आधार पर हेगेल ने कला का वर्गीकरण तीन वर्गों में किया है १ प्रमातृनिष्ठ २ प्रमेयनिष्ठ एवं ३ परतत्त्वनिष्ठ। ये वर्ग मन की उन तीन क्रमदशाओं के अनुकूल हैं जिनको मन अपने संधानात्मक (dialectical) विकास में प्राप्त करता है।

(अ) प्रमातृनिष्ठ कला उन सब सुन्दर रूपों को उत्पन्न करती है जो उपयोगी[2] अथवा औद्योगिक उत्पादनों में दृष्टिगत होते हैं। इस प्रसंग में

---

१. फिला० आ० भाग १—१८ २. मिक०—५०

विषय पूर्णतया सीमित, गौण और नियत (finite) होता है। यह केवल उन साधारण वस्तुओं की बाहरी रूपरेखा और सुन्दर रूपों में प्रकट होता है जो मानवीय आवश्यकता की पूर्ति का साधन हैं। कला की ऐसी कृतियों के साथ एक व्यक्ति के मन का व्यावहारिक और उपयोगसिद्ध सम्बन्ध है। मन के साथ ऐसी कृतियों का इस उपयोगाश्रित सम्बन्ध होने के कारण ही औद्योगिक कलाकृतियों को स्वतन्त्र कला की कृतियों से भिन्न मानते हैं और इस भिन्नता के कारण हेगेल ने कला के इस भेद को अपने निरीक्षण क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया है।

(आ) प्रमेयनिष्ठ कला का प्रमातृनिष्ठ कला से यह भेद है कि प्रमेयनिष्ठ कला जिस ज्ञप्ति का निरूपण एक इन्द्रियबोध्य सामग्री के माध्यम में करती है वह अनन्त है और उसके इन्द्रियबोध्य प्रदर्शन का मन के साथ कोई उपयोगितामूलक सम्बन्ध न होकर केवल तात्त्विक रूप से कलात्मक एवं मननात्मक सम्बन्ध मात्र होता है। इस कला का प्रतिनिधित्व संगीत कला करती है। क्योंकि संगीत कला में एक अनन्त स्वरूपिणी ज्ञप्ति ध्वनि अथवा स्वर के माध्यम से सदेह बनाई जाती है और इसके साथ मन का सम्बन्ध उपयोगितानिष्ठ न होकर तात्त्विक रूप से कलात्मक और मननात्मक होता है। स्वर के माध्यम से अनन्त ज्ञप्ति का निरूपण करने में कलाकार का मन इस प्रकार से काम करता है जिससे ज्ञप्तिरूप तत्त्व अभिव्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्षकर्ता का मन एक दूसरे प्रकार की कलात्मक क्रिया करता है जिससे ज्ञप्तिरूप तत्त्व फिर से अभिव्यक्त हो जाता है।

(इ) परतत्त्वात्मक कला सर्वाधिक उत्कृष्ट कला है। इसका प्रतिनिधित्व 'काव्य' करता है। परतत्त्वात्मक कलाकृति के कलात्मक मनन में मन सीमित से परे असीम की ओर उठता है। काव्य के भाषारूप माध्यम में प्रकटित 'सुन्दर' की ज्ञप्तिरूप सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु को कलात्मक मनन से मन में केवल ग्रहण ही नहीं किया जाता वरन् अपने अन्दर से मन इसको पुनरुत्पन्न भी करता है। इस प्रकार से सौन्दर्यपूर्ण की ज्ञप्ति के साथ मन का तादात्म्य हो जाता है और कलात्मक मनन से प्राप्य मन की सर्वोच्च दशा की उपलब्धि भी हो जाती है। इस क्रमदशा पर व्यावहारिक रूपरेखा (practical design) की कलात्मक मनन के साथ पूर्ण एकता होती है। यह सर्वोत्तम तुष्टि प्रदान करता है। क्योंकि इसमें एक ऐसी पूर्ण क्रिया निहित होती है जो अपने लक्ष्य को प्राप्त करती है और अपने साथ कलात्मक मनन में चिदात्मा की विश्रान्ति लाती है।

अपनी उपादान सामग्री के दृष्टिकोण से कला का वर्गीकरण

कलाकृति की उपादान सामग्री के दृष्टिकोण से कला का विभाजन पांच वर्गों में करते हैं १—वास्तुकला २—मूर्तिकला ३—चित्रकला ४—संगीतकला ५—काव्यकला।

१—वास्तुकला

वास्तुकला एक बाह्य कला है। इसका लक्ष्य बाह्य अङ्गहीन (inorganic) प्रकृति को ऐसे रूप में गढ़ना है कि कलात्मक बाह्य लोक के रूप में मन के साथ यह सम्बन्धित हो सके। इसकी उपादान सामग्री यांत्रिक (mechanical) निश्चेष्ट अंगहीन भूतपिण्ड (mass) है इसका रूप अंगहीन प्रकृति का रूप है परन्तु यह सममिति रूप (symmetry) बौद्धिक[1] सम्बन्ध के अनुसार सुव्यवस्थित होता है। इसको बाह्य कला इसलिए कहते हैं क्योंकि इसकी कृतियां चिदात्मक ज्ञप्ति (spiritual idea) के साथ बाह्य सम्बन्ध से सम्बन्धित होती हैं। वे इस ज्ञप्ति का शरीर नहीं बनतीं। बाह्य प्रकृति की दैवयोगजनित कुरूपता को मिटाकर दिव्यशक्ति के निवासार्थ एक स्थान बनाने के लिए यह (वास्तुकला) बाह्य प्रकृति से संघर्ष करती है। आन्तरिक ईश्वरीय प्रेरणा (inner aspiration) की प्राप्ति एवं दिव्य शक्ति पर ध्यान को एकाग्र करने के लिए यह देवालयों की रचना करती है और इस प्रकार से उपासना में आत्मा पर चित्त को एकाग्र करने की उन्मुखता को प्रकट करती है। यह अङ्गरहित भूतपदार्थ को संगठित करती है, सममिति के नियम के अनुसार उसे व्यवस्थित करती है और चिदात्मा के साथ इसको सम्बन्धित करती है। दिव्यशक्ति के साथ वास्तुकला की कृति का बाह्य सम्बन्ध होता है ठीक इसी कारण से यह (वास्तुकला) प्रतीकात्मक होती है।

२—मूर्तिकला

वास्तुकला से मूर्तिकला का भेद यह है कि मूर्तिकला की कृतियों में उस आन्तरिक चिदात्मा को शरीर प्रदान किया जाता है जिसकी ओर वास्तुकलाकृति केवल-संकेत भर ही करती है। यद्यपि वह उपादान जिसमें यह चिदात्मक ज्ञप्ति का इन्द्रियबोध्य रूप में निरूपण करती है वही निश्चेष्ट भूतपिण्ड है जो वास्तु कला का होता है फिर भी यह (मूर्तिकला) अन्तर्वस्तु और रूप का सामंजस्य

---

१. मिक०—३६

इस प्रकार से करती है कि एक दूसरे से अधिक दोनों में से कोई भी अंश प्रधान नहीं होता। अतएव यह शास्त्रीय (classical) कोटि की कला है। इस कला के पास इन्द्रियबोध्य रूप में प्रत्येक चिदात्मक ज्ञप्ति को प्रकट करने की शक्ति है। यह अपने उपादान से कलाकृति की रचना केवल उसके यांत्रिक गुण के अनुसार नहीं करती, न उसकी रचना अंगहीन भूत द्रव्य के अनुसार करती है और न तो उसकी रचना रंग से सर्वथा उदासीन होकर ही करती है वरन् उसको मानवीय शरीर की सर्वोत्कृष्ट आकृति में परिवर्तित कर देती है। यह चिदात्मा को भावावेग में विक्षिप्त रूप में नहीं वरन् स्थिर और शान्त रूप में प्रकट करती है। यह कला आन्तरिक चिदात्म के केवल एक क्षण को ही प्रकट कर सकती है।

३—चित्रकला

मूर्तिकला के पश्चात् चित्रकला की गणना होती है। यह स्वच्छन्द (romantic) कोटि की कलाओं में प्रथम कला है। यह अपने रूप एवं अन्तर्वस्तु की उपादान सामग्री के रूप में चक्षुर्ग्राह्य (visible) का उपयोग करती है। चक्षुर्ग्राह्य रंगों की विभिन्नता का सहारा लेकर यह दृश्य विशिष्ट व्यक्ति का चित्रण करती है। यह कला प्रकाश[1] (light) का उपयोग उसके सरल रूप में करती है और प्रकाश विरोधी अन्धकार में उसका विशिष्टीकरण करती है (specialises)। वास्तुकला से चित्रकला का यह भेद है कि निश्चेष्ट भूत द्रव्य की वाह्य यांत्रिक विलक्षणता (mechanical distinction) इसके लिए अनावश्यक है। मूर्तिकला के साथ इसका यह भेद है कि दिक् में इन्द्रिय-बोध्य विस्तार (extension) के सभी आकार परिमाणों (dimensions) की भी चित्रकला को आवश्यकता नहीं है। यह इन्द्रियबोध्य भूततत्त्व के ठोस विस्तार से भी मुक्त है। यह केवल सतह के आकार परिमाण से ही सीमित होती है। इस चित्रकला की विषयवस्तु के अंशों का विशिष्टीकरण अत्यधिक विस्तार से कर सकते हैं। मनुष्य के अन्तःकरण में जो कुछ भी तरंगित होता है, चाहे वह संवेदना हो प्रतिनिरूपण अथवा प्रयोजन हो, और वह सब कुछ जिसको कार्य रूप में परिणत करने की शक्ति मनुष्य में है चित्रकला की विषयवस्तु बन सकता है। अन्तःकरण की सर्वोच्च ज्ञप्ति से लेकर प्रकृति की सर्वाधिक विशिष्ट वस्तु तक सभी विशिष्ट वस्तुओं को चित्रकला में प्रदर्शित

---

१. मिक०—४१

कर सकते हैं। प्राकृतिक दृश्य को चित्रकला के लोक में तभी स्थान मिल सकता है जब वह ऐसे किसी चिदात्मक तत्त्व अथवा हित की ओर संकेत करता है ((alludes) जो इसे (प्राकृतिक दृश्य को) मानवीय संवेदना और विचार से सम्बन्धित कर सकता है।

४——संगीतकला

संगीतकला स्वच्छन्द कोटि की कलाओं में दूसरी कला है। यह चित्रकला से उच्चतर कला है क्योंकि इन्द्रियबोध्य विषयवस्तु के आदर्शीकरण (idealisation) में यह चित्रकला से अधिक विकसित कला है। यद्यपि चित्रकला एवं संगीतकला दोनों ही यह मान कर कि विस्तारपूर्ण बाह्य वस्तुएँ बाह्य आकृति में एक दूसरे से भिन्न हैं और विभिन्न स्थानों में स्थित हैं अपनी कृतियों के उत्पादन में प्रवृत्त होती हैं फिर भी जिस समय चित्रकला अपनी रचनाओं में विस्तारपूर्ण वस्तुओं की आकृति को बनाए रखती है उस समय संगीतकला इसका आदर्शीकरण 'विन्दु' की व्यक्तिनिष्ठ एकता (Individual unity of point) में करती है। यह कला भौतिक विस्तार का निरूपण नहीं करती। यह भौतिक शरीर के आन्तरिक अंगों के कम्पनों और संचालनों का निरूपण स्वरों में करती है और इस प्रकार से संवेदनाओं एवं भावावेगों के सम्पूर्ण समूह को व्यक्त करती है। यह चित्रकला[1] की विस्तारपूर्ण इन्द्रियबोध्यता और काव्य की उच्चतर आध्यात्मिकता के बीच का परिवर्तन विन्दु (point of transition) है।

५—काव्य

काव्य स्वच्छन्द कलाओं (romantic arts) में से सर्वोपरि कला है। काव्य के विषय में हेगेल का मत हमारे लिए प्रधान रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसकी तुलना हम अभिनवगुप्त के काव्यसिद्धान्त से सामान्यतः और नाट्यसिद्धान्त के साथ विशेषतः करना चाहते हैं। अतएव अन्य दृष्टिकोण से हेगेलकृत कला के वर्गीकरण का उल्लेख करने के पश्चात् इसका वर्णन हम विस्तारपूर्वक करेंगे।

---

१. मिक०—४३

अन्तर्वस्तु और रूप के परस्पर संबन्ध के दृष्टिकोण के आधार पर कला का वर्गीकरण

एक उत्कृष्ट कलाकृति में कला के दो पक्ष, अर्थात् अन्तर्वस्तु एवं उसका बाह्य शरीर, पूर्णरूप से एक दूसरे के अनुरूप एवं एक दूसरे से संयुक्त होते हैं। इसलिए उस कलाकृति का शरीर उसकी अन्तर्वस्तु को पूर्णतया एवं सर्वांगीण रूप में प्रकट करता है और अन्तर्वस्तु भी अपने पर्याप्त प्रकटीकरण के लिए प्राप्त शरीर के अतिरिक्त अन्य शरीर को प्राप्त नहीं कर सकती है। परन्तु यह सम्पूर्ण अनुरूपता और संयोग सदैव प्राप्य नहीं हैं। तथा अन्तर्वस्तु एवं बाह्य शरीर में जो विभिन्न परस्पर सम्बन्ध संभव हैं उनके आधार पर कलाकृतियों का मौलिक वर्गीकरण किया जा सकता है। इस प्रकार से हेगेल के मतानुसार कलायें तीन[1] वर्गों में विभक्त हैं—१. प्रतीकात्मक (symbolic) २. शास्त्रीय (classical) एवं ३. स्वच्छन्द (romantic)।

प्रतीकात्मक कलाकृति

कलाकृति की रचना का आरम्भ प्रतीकात्मक कलाकृति से होता है। जिस ज्ञप्ति को प्रकट करने की चेष्टा यह कलाकृति करती है वह दुष्परिभाषित और अस्पष्ट होती है। अस्पष्टस्वरूप होने के कारण इसमें वह व्यक्तित्व नहीं होता जो इन्द्रियबोध्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक है। अन्तर्वस्तुरूप ज्ञप्ति के अन्दर इस समय तक कोई ऐसा तत्व उपलब्ध नहीं है जिसके अनुसार इसे एक निश्चित रूप दिया जा सके। और इसलिए इन्द्रियबोध्य रूप में इसको प्रकट करना उस तत्व को पाने के लिए एक चेष्टा मात्र अथवा प्रयास ही है।

प्रतीकात्मक वर्ग की कला में अनिश्चितरूप ज्ञप्ति को उस प्रकृति के शुद्ध भौतिक द्रव्य में प्रकट किया जाता है जो ज्ञप्ति से बाहर है। इस प्रकार से भौतिक वस्तुयें जिस प्रकार की हैं उसी प्रकार की रह जातीं हैं एवं मौलिक (substantive) ज्ञप्ति को उनके अर्थ के रूप में उन पर आरोपित करते हैं जिससे कि उस समय से उसका कार्य उस ज्ञप्ति को प्रकट करना हो जाता है। और उनका दावा यह है कि उनको इस अर्थ से पूर्ण माना जाय मानों कि स्वयं ज्ञप्ति उनमें वर्तमान है।

---

१. फिला० आ० भाग १—१०३–६

इस प्रकार से प्रतीकात्मक वर्ग की कला में ज्ञप्ति और इन्द्रियबोध्य मिश्रित सामग्री में पर्य्याप्त एकीभाव (coalescence) संभव नहीं है। इसको प्रतीकात्मक कला इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें इन्द्रियबोध्य मिश्रित सामग्री एक ज्ञप्ति का केवल प्रतीक मात्र होती है जैसे कि जब हम सिंह को शक्ति का प्रतीक मानते हैं। संक्षेपतः प्रतीकात्मक कला में रूप ज्ञप्ति से भिन्न स्वभाव का होता है। अस्पष्ट ज्ञप्ति प्राकृतिक वस्तुओं के माध्यम में अपने को प्रकट करने का उद्योग करती है परन्तु अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए उनको असमर्थ पाती है और इसी लिए उनकी अतिरंजना करती है (exaggerates)। अतएव ज्ञप्तितत्त्व और रूपतत्त्व की परस्पर अनुरूपता न होने के कारण उनमें परस्पर निषेधात्मक सम्बन्ध होता है।

प्रतीकात्मक कला के दोष

प्रतीकात्मक मिश्रित सामग्री अपूर्ण होती है—१. क्योंकि जिस ज्ञप्ति का यह निरूपण करती है उसमें निश्चित रूपता (determinateness) का अभाव होता है। एवं २. क्योंकि ज्ञप्ति का रूप से एकीभाव दोषपूर्ण होता है। प्रतीकात्मक कला में प्रकटित ज्ञप्ति मन के आत्म-विकास में अथवा कलात्मक मनोगत चित्र (art-impression) को बाह्येन्द्रियज्ञेय विषय के रूप में उपस्थित करने (objectification) में प्रथम क्रमदशा का द्योतक है।

शास्त्रीय कला

शास्त्रीय कला (classical art) में प्रदर्शित ज्ञप्ति दूसरी क्रमदशा की द्योतिका है। इस क्रमदशा में ज्ञप्ति निश्चितरूपता को प्राप्त करती है। परन्तु यह निश्चितरूपता उन मूलादर्शों (archetypes) के माध्यस्थ्य (mediation) से सीमित होती है जिनका उपयोग मनोगत चित्र को बाह्य विषय के रूप में उपस्थित करने के लिए मन करता है। और ये मूलादर्श इस प्रकार के होते हैं कि इनको इन्द्रियबोध्य रूपों में पूर्णतया प्रदर्शित कर सकते हैं। इस प्रकार से प्रतीकात्मक कलाकृति में जो दो दोष थे उनका अभाव शास्त्रीय कलाकृति में हो जाता है। यह एक ऐसे आकार में ज्ञप्ति का पर्याप्त शरीरीकरण है जो अपने तात्त्विक स्वरूप में स्वयं ज्ञप्ति के लिए सर्वथा समुचित है। अतएव ज्ञप्ति और रूप में परस्पर अनुकूलता होती है। इसलिए शास्त्रीय कला वह प्रथम कला है जो हमारे सामने मानस चक्षुओं द्वारा साक्षात्कृत पूर्ण आदर्श एवं कलाकृति में उसके चित्रण को उपस्थित करती है।

शास्त्रीय कलाकृति में ज्ञप्ति एवं रूप की पारस्परिक अनुरूपता (concordance) शुद्ध रूप से रूपाश्रित (formal) भर ही नहीं है। क्योंकि वैसा होने पर प्रकृति की वह प्रत्येक प्रतिकृति जिसकी रचना कलाकार का लक्ष्य है अन्तर्वस्तु और रूप की परस्पर अनुरूपता के कारण तुरन्त शास्त्रीय हो जायगी। शास्त्रीय कलाकृति में अन्तर्वस्तु का विशेष लक्षण ज्ञप्ति की निश्चितरूपता, निश्चितरूप आध्यात्मिकता अर्थात् चेतनापूर्ण जीवन का आन्तरिक सत्य है। और वह इन्द्रियग्राह्य संमिश्रित समुदाय, जिससे वह ज्ञप्ति, जो एक निश्चितस्वरूप आध्यात्मिक तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उस समय युक्त होती है जिस समय उसे एक भौतिक दृश्य वस्तु के रूप में उपस्थित होना होता है, मनुष्याकृति है। मनुष्यत्वारोपण (personification) एवं मानवीकरण (anthropomorphism) का बहुधा दुष्प्रयोग किया गया है। परन्तु जहां तक कलाकृति का प्रयोजन आध्यात्मिक को इन्द्रियबोध्य वेश में प्रकट करना है वहां तक कला को मानवीकरण को अपनाना ही चाहिए। क्योंकि चिदात्मा (spirit) को शारीरिक रूप में दर्शित करने से ही पर्याप्त रूप में प्रत्यक्षणीय बनाया जा सकता है, इसका कारण यह है कि केवल प्रत्यक्षणीय प्रतिभास ही बुद्धि तत्त्व (intelligence) को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं।

शास्त्रीय (classical) कलाकृति में मानवीय शरीर की आकृति का उपयोग शुद्धरूप से इन्द्रियबोध्य सत्ता के रूप में नहीं करते वरन् उस नैसर्गिक आकृति के रूप में करते हैं जो मन के लिए समुचित है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि इसको सब प्रकार की दोषपूर्ण, विकारग्रस्त (abnormal) रोगग्रस्त उन विकृतियों से मुक्त किया जाय जो उसके साथ उसके शुद्ध शारीरिक अंश से चिपके रहते हैं। अतएव बाह्य आकृति का परिष्कार करना आवश्यक हो जाता है जिससे कि इसमें अन्तर्वस्तु को पूर्णतया प्रदर्शित किया जा सके। इसके साथ-साथ ज्ञप्ति और रूप का एकीभाव (coalescence) पूर्ण हो इसलिए प्रकटनीय चिदात्मरूप अन्तर्वस्तु को ऐसा होना चाहिए कि वह अपने को मनुष्य की नैसर्गिक आकृति में पूर्णतया प्रकट कर सके। ऐसी दशा में चिदात्मा परतत्त्वात्मक अथवा नित्य न होकर मनुष्य की चिदात्मा अथवा उसका मन होता है।

स्वच्छन्द (Romantic) कोटि की कला

स्वच्छन्द कोटि की कला ज्ञप्ति और उसकी सत्यता (रूप) की पूर्ण

एकात्मता को ज्ञप्ति के प्रकटीकरण में असमर्थ मानती है। शास्त्रीय कोटि की कला ने ज्ञप्ति को अभिव्यक्त करने वाले रूप के चित्रण में सर्वाधिक उत्कर्ष प्राप्त किया। इस कोटि की कला में जो दोष हमको प्राप्त होता है उसका कारण सम्पूर्ण कलाक्षेत्र की ससीमता है। यह ससीमता इस बात में है कि सामान्यतः कला अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में उस चिदात्मा को ग्रहण करती है जो इन्द्रियबोध्य साकार रूप के वेश में है। शास्त्रीय कोटि की कलाकृति दोनों (आध्यात्मिक और इन्द्रियबोध्य) को पर्याप्त मात्रा में एक दूसरे के अनुरूप चित्रित कर आध्यात्मिक एवं इन्द्रियबोध्य सत्ता के पूर्ण एकीभाव (coalescence) को प्रदर्शित करती है।

परन्तु शास्त्रीय कोटि की कला में अभिव्यक्त ज्ञप्ति एवं उसके इन्द्रियग्राह्य रूप के एकीकरण में मन का निरूपण उसके तात्विक प्रत्ययात्मक (notional) स्वरूप के अनुकूल नहीं होता। क्योंकि मन अनन्त प्रमातृनिष्ठ ज्ञप्ति स्वरूप है। यह पूर्णतया अन्तर्मुख है, शुद्ध ज्ञप्ति स्वरूप है। इस रूप में यह मन जब तक शरीर की किसी प्रकार की आकृति में इस प्रकार से निवास करता है और उसमें ऐसा घुलमिल जाता है कि मानों वह एक ऐसी वस्तु है जो उसके सर्वथा अनुकूल है तब तक अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में स्वतन्त्रता पूर्वक प्रफुल्लित होने में अक्षम रहता है।

इस दशा से बचने के लिए स्वच्छन्द कोटि की कला ज्ञप्ति तथा उसके इन्द्रिय ग्राह्य रूप के बीच स्थापित पूर्ण एकता पर आक्रमण करती है और उसको नष्ट कर देती है। ऐसा वह एक ऐसी अन्तर्वस्तु को ग्रहण कर करती है जो शास्त्रीय क्रमदशा और उसके प्रकटीकरण की विधियों का अतिक्रमण करती है। यह अन्तर्वस्तु उसके अनुरूप होती है जिसको ईसाई धर्म चिदात्मा के रूप में ईश्वर के विषय में सत्य मानता है। यूनानी देवविषयक उस विश्वास से यह विपरीत है जो यूनानी कलाओं की आवश्यक और समुचित अन्तर्वस्तु है। यूनानी कला में निश्चित स्वरूप आदर्शभूत अन्तर्वस्तु पूर्णतया व्यक्त रूप में नहीं वरन् अव्यक्त रूप में साक्षात्कृत मानवीय और दिव्य प्रकृति की एकता है। पूर्णतया व्यक्तरूप न होकर केवल अव्यक्त रूप में होने के कारण अर्थात् केवल अस्पष्ट होने और पूर्णतया स्पष्ट न होने के कारण यह एकता अस्फुट रूप में एवं साक्षात् इन्द्रियग्राह्य आकार (under the immediate and sensuous mode) में निर्दोष रूप में प्रदर्शित होती है।

यूनान का देवता[1] कृत्रिम एवं मनोरंजक रूप से शुद्ध आन्तरिक प्रत्यक्ष एवं इन्द्रियबोध्य विषयक कल्पना (sensuous imagination) की विषय वस्तु है। अतएव उसकी आकृति मानुष शरीर रूप है। उसकी शक्ति का क्षेत्र व्यक्ति है और उसका अस्तित्व व्यक्ति में सीमित है। व्यक्ति रूप प्राणी अर्थात् व्यक्ति रूप चेतन-प्रमाता के प्रतिकूल 'वह एक सारभूततत्त्व और शक्ति है जिसके साथ जीवात्मा का अन्तरंग जीवन या आन्तरिक प्रमातृनिष्ठ दशा केवल अव्यक्त रूप से एकात्म होती है परन्तु जिसमें यह एकता आन्तरिक प्रमातृनिष्ठ बोध के रूप में वर्तमान नहीं होती'।

इससे अधिक विकसित क्रमदशा उस अव्यक्त एकता का बोध है जिसको उसके अव्यक्तरूप में शास्त्रीय कला अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में स्वीकार कर लेती है और शारीरिक आकृति में जिसको पूर्णतया प्रदर्शित करने में सक्षम होती है। अव्यक्त शक्ति मात्र का आत्म-चेतना सहित ज्ञान (self-conscious knowledge) तक यह उत्थान एक महान भेद उत्पन्न करता है। यह भेद उस भेद से मात्रा में कम नहीं है जो मनुष्य और पशु में वर्तमान है। मनुष्य पशु है परन्तु अपनी पाशविक क्रियाओं में वह पशु की भांति अव्यक्त क्षेत्र (potential sphere) तक ही सीमित नहीं है। वह पाशविक क्रियाओं का ज्ञाता और बोद्धा भी है।

तब यदि मानवता एवं दिव्यता की एकता को अव्यक्त दशा से स्वात्म-चेतनायुक्त एकता (self-conscious unity) की क्रमदशा तक उठाया जाता है तो यह निष्कर्ष निकलता है कि इस सत्य अन्तर्वस्तु के प्रदर्शन के लिए वास्तविक माध्यम चिदात्म रूप की इन्द्रियबोध्य एवं अस्पष्ट सत्ता नहीं है वरन् स्वयं आत्मा का आत्मबोधपूर्ण आन्तरिक जीवन है।

वह ईसाई धर्म है क्योंकि यह (मनुष्य) मन के सामने विशेष व्यक्ति संबंधित चिद्रूप ईश्वर को नहीं वरन् उस चिदात्मा स्वरूप ईश्वर को उपस्थित करता है जो चिद्रूप और सत्य परतत्त्व है जो इन्द्रियबोध्यविषयक कल्पना का परित्याग कर युक्ति तत्त्व के आन्तरिक जीवन में प्रवेश करता है और शरीर की आकृति को नहीं वरन् परकथित (युक्ति तत्त्व के जीवन) को अपनी अन्तर्वस्तु का माध्यम बनाता है एवं इसी में उसकी निश्चित बाह्य सत्ता स्थापित करता है। इस प्रकार से मानवीय और दिव्य स्वभाव की एकता

---

१. फिला० आ० भाग १—१०७

एक चिदात्मक एकता है और उसका साक्षात्कार केवल आध्यात्मिक ज्ञान से चिदात्मा के अन्दर ही किया जा सकता है। आध्यात्मिक ज्ञान के साधन से प्राप्त यह नूतन अन्तर्वस्तु इन्द्रियबोध्य निरूपण के साथ इस प्रकार से आबद्ध नहीं है कि परकथित (इन्द्रियबोध्य निरूपण) से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इस साक्षात् इन्द्रियबोध्य अस्तित्व से यह मुक्त किया जाता है।

संक्षेपतः यह कह सकते हैं कि स्वच्छन्द क्रमदशा में कला का उद्देश्य उस आध्यात्मिक क्रिया का स्वतन्त्र और निश्चित रूप में निरूपण है जो चित्स्वरूपिणी बुद्धि के आन्तरिक संसार में आध्यात्मिक क्रिया के रूप में अवगत होती है। इस प्रकार के उद्देश्य के अनुसार कला केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए क्रियानिष्ठ नहीं हो सकती है। कला को स्वतन्त्रता पूर्वक उस आन्तरिक जीवन में प्रवेश करना चाहिए जो उसके उद्देश्य से इस प्रकार से एकीभूत हो जाता है जैसे कि वह स्वयं उस उद्देश्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अर्थात् प्रत्यक्षकर्ता एवं एक बाह्य विषयवस्तु का भेद नष्ट हो जाता है। प्रदर्शित अन्तर्वस्तु आत्मा के जीवन का एक अंश होता है। अन्य शब्दों में कहें तो यह कहेंगे कि यह कला अपने को आत्मा की घनिष्ठता (intimacy) को, हृदय को अर्थात् उस भावावेगात्मक जीवन[1] को सौंपती है जो स्वयं चिदात्मा (spirit) का माध्यम है।

वास्तु प्रतीकात्मक कला है। मूर्तिकला शास्त्रीय (classical) कला है एवं चित्रकला, संगीतकला एवं काव्यकला स्वच्छन्द कलाएं हैं। अपने निम्नतमरूप में परतत्त्व को प्रकट करने के लक्ष्य की पूर्ति कला नहीं कर सकती। इसका क्रमिक उन्नयन होता है। इस उन्नयन के पथ पर यह चिदात्मा के विभिन्न रूपों को पार करती है। नाटक में इस उन्नयन का अन्त हो जाता है। काव्य सर्वोत्कृष्ट कला है और नाटक सर्वोत्कृष्ट काव्य है। परन्तु इसी ही कारण से साथ ही साथ काव्यकला सब कलाओं का विलयीकरण (dissolution) भी है एवं चिदात्मा के उच्चतर स्वरूप अर्थात् 'धर्म' रूप में अभिव्यक्त होने के लिए एक मध्यवर्ती दशा है।

काव्यकला

स्वच्छन्दवर्गीय कलाओं में काव्यकला तीसरी और सर्वाधिक आध्यात्मिक

---

१. फिला० आ० भाग १—१०९

कला है। इसका विशेष लक्षण इस तथ्य में है कि यह अपनी आध्यात्मिक विषय वस्तु का निरूपण ऐसे इन्द्रियबोध्य रूप में कर सकती है जो मन की कल्पना शक्ति को स्वतन्त्र क्रीड़ा के लिए जाग्रत करती है। यह कला जिस उपादान सामग्री का उपयोग करती है वह बोलचाल की ध्वनियां हैं। परन्तु जिस प्रकार से संगीत कला में ये ध्वनियां अनिश्चित स्वरूप संवेदना के सूक्ष्म भेदों और उत्थान क्रम को प्रकट करती हैं उस प्रकार से न कर काव्य में ध्वनियां निश्चित रूप मानसिक ज्ञप्तियों को प्रकट करती हैं। यह काव्यकला मानवीय वागिन्द्रिय से उच्चरित ध्वनि को प्रतीक मात्र ही बना देती है।

गान और काव्य के माध्यम के रूप में ध्वनि

वह उच्चरित ध्वनि जो काव्य[1] में एक आध्यात्मिक विषयवस्तु का निरूपण करती है ज्ञप्ति का चिह्नमात्र है और अपने में महत्त्वहीन है। काव्यानुभव का वह (उच्चरित ध्वनि) कोई परमावश्यक अंश नहीं है। यह उसके प्रमेयनिष्ठ अंश की रचना नहीं करता। क्योंकि यह विचार, भावावेग, भावावेश अथवा तत्समान आत्मा की कोई दशा है जिसका बोध मननकर्ता सहृदय को होता है और जिसको वह एक उस विषयवस्तु के रूप में अपने सामने उपस्थित पाता है जो वास्तविक प्रमेयनिष्ठ अंश का विधायक है। काव्यानुभव में कल्पना ध्वनि से प्रभावित न होकर उससे प्रभावित होती है जिसका यह ध्वनि प्रतीक है अर्थात् विचार, संवेदना अथवा एक कोटि का भद्र भावावेग। और एक उपस्थापित अन्तर्वस्तु के विशेष लक्षणों के विस्तारण (elaboration) करने की एवं उन सबको अंगअंगी रूप में सम्पूर्णतया सम्बन्धित करने की प्रक्रिया को किसी भी यथार्थ ध्वनि की आवश्यकता नहीं पड़ती है। परन्तु गान कला में ध्वनि किसी ज्ञप्ति, संवेदना या भावावेग का प्रतीक मात्र ही नहीं होती वरन् एक स्वतन्त्र माध्यम के रूप में होती है। इसी कारण स्वरों के वे प्रकार कलापूर्ण ढंग से विकसित होते हैं जो गान कला का मूल लक्ष्य और उद्देश्य हो जाते हैं।

ध्वनि को स्वतन्त्र इन्द्रियग्राह्य माध्यम के रूप में न ग्रहण करने के कारण बाह्य विषय के रूप[2] में काव्य जो कुछ भी खो देता है उसकी अपने लिए

---

१. फिला० आ० भाग ३—३५२

२. फिला० आ० भाग ३—३५४

प्राप्ति वह कलात्मक मानसचक्षुओं से साक्षात्कृत उस ज्ञप्ति रूप विषय को प्राप्त करने में सक्षम होने के कारण कर लेता है जिसको काव्यगत भाषा सहृदय के मननात्मक मन के सामने उपस्थित करती है। क्योंकि कल्पना का यह काम है कि वह ज्ञप्तियों, संवेदनाओं, भावों अथवा भावावेगों को घटनाओं, क्रियाओं, मनोवृत्तियों (mood) और भावावेशों के प्रदर्शनों से सुसज्जित करे एवं एक ऐसी वस्तुकी रचना करे जो प्रतिभास (phenomenon) के रूप में बाह्यांश में उतना ही पूर्ण हो जितना कि वह अपनी अन्तर्वस्तु के ज्ञप्तिमूलक महत्त्व में पूर्ण है और इसी लिए कलात्मक मानस चक्षुओं से साक्षात्कृत विषय (vision) की विधायक होती है।

इसके अतिरिक्त गानकला काव्यकला की भांति अपने बाह्य भौतिक माध्यम[1] को अपनी अन्तर्वस्तु से पृथक् नहीं करती। क्योंकि काव्य में ज्ञप्ति का विस्तारण वाणी की ध्वनि से अधिक स्वतन्त्रता से होता है। यह (ज्ञप्ति) ध्वनि से पृथक् कर ली जाती है तथा कल्पना विरचित मानसिक ज्ञप्तियों की विलक्षण श्रेणी में प्रकट होती है। परन्तु गानकला में यद्यपि आन्तरिक जीवन अन्तर्वस्तु के रूप में स्वर (tone) में रहता है फिर भी यह (स्वर) अपनी अन्तर्वस्तु से काव्यकला के समान बिलकुल पृथक्कृत नहीं होता एवं इसलिए चेतना में प्रवेश करता है, तथा अपने अन्तर्वस्तुरूप संवेदना अथवा भावावेग के साथ गानकला के अनुभव का बाह्य विषयांश होता है।

काव्य तथा गानकला[2] दोनों में ही ध्वनि उनका उपादान रूप माध्यम होती है। इन दोनों प्रसंगों में सम्पूर्ण बाह्यविषय सामग्री के स्थान पर उस ध्वनिरूप प्रमातृनिष्ठ माध्यम का प्रयोग करते हैं जिसमें कोई भी दृश्यमानता नहीं होती एवं जो एक ज्ञप्ति रूप (आदर्श) अन्तर्वस्तु को चक्षुरिन्द्रिय की सहायता के बिना ही चिन्तनात्मक मन से समझने के योग्य बनाता है। परन्तु ध्वनि का समानरूप से उपयोग करने पर भी काव्य तथा गानकला में भेद यह है कि गानकला के लिए सांगीतिक मिश्रित स्वर-समुदाय स्वयं आवश्यक साध्य है। क्योंकि यद्यपि गीत के मार्ग और गति तथा उसके सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध चिन्तनानिष्ठ मन की चेतना के सामने ज्ञप्तिरूप विषय को उपस्थित करते हैं फिर भी इस प्रकार से उपस्थित किया

१. फिला० आ० भाग ३—३६२
२. फिला० आ० भाग ४—७

गया ज्ञप्तिरूप विषय शुद्ध रूप से ज्ञप्ति रूप नहीं होता वरन् सांगीतिक स्वर के साथ उसकी अभिव्यक्ति के रूप में घनिष्ठता से सम्बन्धित होता है। वास्तविकता यह है कि सांगीतिक स्वरों से घनिष्टतया सम्बन्धित ज्ञप्तियों का मिश्रित समुदाय ही गान को उसका तात्त्विक वैशिष्ट्य (character) प्रदान करता है। अपने स्वोपस्थापित विषय एवं स्वजनित अनुभव दोनों में ज्ञप्ति का स्वर के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण ही गानकला चेतनापूर्ण जीवन की ज्ञप्तिरूप सम्पूर्ण समृद्धि को प्रदर्शित नहीं कर सकती है। अतएव यह (गानकला) ऐसी आध्यात्मिक अन्तर्वस्तु को प्रदर्शित कर सकती है जो काव्य की प्रदर्शनीय आध्यात्मिक अन्तर्वस्तु से अधिक अनिश्चित रूप है। एवं ऐसे भावावेग को प्रदर्शित करती है जिसकी अभिव्यक्ति सुस्पष्ट नहीं है।

कवि के कल्पनात्मक चित्र को गानकला पूर्णतया प्रदर्शित नहीं कर सकती है। क्योंकि इस प्रकार के चित्र की अन्तर्वस्तु (content) वह ज्ञप्ति है जो इतने अधिक सूक्ष्म रूप में परिभाषित होती है कि इसे स्वरों में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। तथा इसका रूप बाह्य आभास का इन्द्रियग्राह्य रूप नहीं होता वरन् बाह्य आभास का वह रूप होता है जो प्रत्यक्षकर्त्री युक्ति शक्ति की आन्तर इन्द्रिय (inner sense of perceptive reason) पर अंकित होता है। अतएव इस प्रकार की ज्ञप्तियों और रूपों को सांगीतिक स्वर से भिन्न माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। अतएव ऐसी ज्ञप्तियों और रूपों को उन शब्दों से प्रकट करते हैं जो ज्ञाप्य विचारों के शुद्धरूप बाह्य प्रतीक हैं और ध्वनियों के रूप में काव्यात्मक कल्पना का अथवा काव्यानुभव का कोई अंश नहीं बनते। काव्य और गानकला के बीच यही मूल भेद है।

काव्यानुभव का प्रमेयनिष्ठ अंश

हम गत उपप्रकरण में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि काव्यानुभव का विशेष लक्षण बाह्यबोधेन्द्रियों की समस्त विषय वस्तुओं का अभाव है और यहाँ तक कि शब्द-ध्वनि तक का अनुभव इसमें नहीं आने पाता। अतएव स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि 'वह क्या है जिससे काव्यानुभव का प्रमेयांश रचित होता है।' इस प्रश्न का उत्तर हेगेल यह देते हैं—'यह स्वयं मन से साक्षात्कृत ज्ञप्ति एवं कल्पना से संगठित अन्तर्वस्तु है'।[१] काव्य के रूप (forms) इन्द्रियग्राह्य नहीं वरन् आध्यात्मिक होते हैं। ज्ञप्ति, काल्पनिक चित्र (ima-

१. फिला० आ० भाग ४—९

gery) भावावेग एवं इसी प्रकार के अन्य आध्यात्मिक रूप वे विशिष्ट प्रकार (modes) हैं जिनमें काव्य की प्रत्येक अन्तर्वस्तु प्रदर्शित की जाती है। अतएव काव्यानुभव का प्रमेयांश बाह्य सत्य से निर्मित नहीं होता वरन् उससे निर्मित होता है जो ज्ञप्तिरूप है अर्थात् किसी ऐसे तत्त्व से निर्मित है जो स्वयं चेतनापूर्ण जीवन में एकांतिक (exclusive) अस्तित्व प्राप्त करता है, यह ऐसा तत्त्व है जो मन से चिंतित अथवा कल्पित है। काव्यानुभव में स्वयं मन अपना बोध्य विषय बनता है।

काव्यकृति में प्रकृति का स्थान

प्रकृति[1] का बाह्य संसार काव्यकृति की अन्तर्वस्तु नहीं है। सूर्य, चन्द्र, तुङ्ग पर्वत और आह्लादकारी प्राकृतिक दृश्य कविता की अन्तर्वस्तु नहीं हैं। काव्य की उचित अन्तर्वस्तु मानवजाति के आध्यात्मिक हित हैं। अतएव प्रकृति का लोक काव्य के क्षेत्र में तभी प्रवेश करता है जब इसको मनुष्य का वातावरण मान लेते हैं, जब इसका सम्बन्ध चेतनापूर्ण जीवन की ज्ञप्तिरूपता (ideality) के साथ होता है और जब मन इसे उपादानरूप में स्वीकार करता है और इस पर स्वयं अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। अतएव काव्य का एक मुख्य कर्तव्य यह है कि पाठक अथवा श्रोता की मानसिक दृष्टि के सामने चिदात्मा के जीवन की शक्तियों को उपस्थित करे अर्थात् उस सबको प्रदर्शित करे जो मनोवेग अथवा भावावेश की दशा में हृदय में तरंगित होता है अथवा शान्त दशा में अन्तःकरण में भासित होता है। संक्षेप में यदि कहना हो तो कहेंगे कि मानवीय ज्ञप्ति का वह क्षेत्र जिसमें सब कुछ अन्तर्भूत है, कर्म, वीरता द्योतक कार्य, भाग्य, लौकिक समस्याएँ और अलौकिक दिव्य शक्ति सभी को प्रकट करना काव्य का कर्तव्य है।

काव्यकृति में एकता

गत अनुच्छेद में हमने यह कहा कि मानवजाति के हित काव्य की समुचित विषयवस्तु हैं। अतएव काव्य का लक्ष्य चिदात्मा को उसके सामान्य रूप में, वातावरण से स्वतन्त्र तथा अप्रभावित रूप में प्रदर्शित करना है। प्राकृतिक संसार से उसका सम्बन्ध उसी हद तक है जहां तक उसको मनुष्य का वातावरण माना जाता है और वह एक ऐसी सामग्री माना जाता है

१. फिला० आ० भाग ४-२०

जो चिदात्मा की स्वतन्त्रता को अभिव्यक्त करने के लिए उत्प्रेरक होती है। काव्य में व्यक्तियों, कार्यों, भावावेगों एवं ज्ञप्तियों को केवल उनके लिए ही और उनके एकाकी रूप में प्रदर्शित नहीं किया जाता है वरन् चिदात्मा की स्वतन्त्रता और अपरवशता के व्यंजक रूप में और उसी से संचालित रूप में प्रदर्शित किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि काव्य में सामान्य तत्त्व अथवा युक्ति तत्त्व अर्थात् स्वतन्त्र तथा अपरवश चिदात्मा को उसके निश्चिताकाररहित सामान्य रूप में प्रदर्शित नहीं किया जाता वरन् उसे उस निश्चिताकार विशिष्टरूप में प्रदर्शित किया जाता है जिसे वह अपनी स्वतन्त्रता को प्राकृतिक वातावरण से उत्प्रेरित कार्यों और भावावेगों में प्रकटित अथवा अभिव्यक्त करने के कारण प्राप्त करती है। इस प्रकार से काव्यकृति एक ऐसा पूर्ण शरीर है जिसका प्रत्येक अवयव आध्यात्मिक तत्त्व से ठीक उसी प्रकार से सम्बन्धित है जिस प्रकार से शरीर के सभी अवयव आत्मा अथवा जीवन तत्त्व से सम्बन्धित हैं। अतएव आध्यात्मिक अन्तर्वस्तु, अपने अनियताकार सामान्य रूप में नहीं वरन् प्राकृतिक वातावरण के मध्य अपने को कार्यों और भावावेगों में अभिव्यक्त करने के कारण प्राप्त नियताकार विशिष्ट रूप में, काव्य कृति में एकता अथवा अखण्डता जनक तत्त्व होता है।

अतएव वह सामान्य[1] जो काव्य की समुचित अन्तर्वस्तु है एवं वे व्यक्ति जिनके चरित्र, जिनसे सम्बन्धित घटनाएँ तथा जिनके कार्य इसको अभिव्यक्त करते हैं दोनों को विलग नहीं होना चाहिए। सामान्य तत्त्व से रचित अखण्डता की डोरी में व्यक्ति के चरित्रों, घटनाओं तथा कार्यों को पिरोहा होना चाहिए जिससे उनकी एक सुसंगठित पूर्ण माला बन जाय। उदाहरण के लिये इलीयड (Iliad) में यूनानियों और ट्रोजनों का युद्ध तथा यूनानियों की विजय अटूट रूप से एशिल्लेस (Achilles) के क्रोध के साथ जुड़े हुए हैं। इस प्रकार से एलीयड में वह कोप जो स्वयं चिदात्मा की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है एकताजनक तत्त्व है।

काव्य का रूपांश

काव्य के दो अंश हैं—अन्तर्वस्तु एवं रूप। चेतनापूर्ण जीवन का ज्ञप्तिरूप तत्त्व उसकी अन्तर्वस्तु[2] है। परन्तु इस प्रकार की अन्तर्वस्तु के कलात्मक प्रदर्शन में मूर्तिकला एवं चित्रकला की भाँति प्रत्यक्षग्राह्य प्रमेयनिष्ठ रूपों तक ही काव्य अपने को सीमित नहीं कर लेता और न उस आदर्श भावावेग के

१. फिला० आ० भाग ४–३०   २. फिला० आ० भाग ४–९९

उस रूप तक ही अपने को सीमित कर लेता है जिस में इसकी क्षणिक सत्ता जीवात्मा के जीवन में होती है। तथा न चिन्तनाशील मन (reflective thought) के रूपों तक ही अपने को सीमित करता है। काव्य के लिए यह आवश्यक है कि बाह्येन्द्रियग्राह्य विषय और अन्तःकरणग्राह्य संवेदना और विचार के बीच यह मध्यस्थ स्थान को ग्रहण करे। यह विचार से ऋण के रूप में उस ज्ञप्तिरूप सामान्यांश को लेता है जो इन्द्रियों से साक्षात्कृत विशेषताओं को एकता के सूत्र में बाँधता है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों के लोक से भी विशेषों को यह ऋण के रूप में स्वीकार करता है। यह अपने ज्ञप्तिरूप अथवा आवश्यक अन्तर्वस्तु को मानवीय कार्यों,[1] घटनाओं तथा चेतनापूर्ण जीवन की इसी प्रकार की अभिव्यक्तिओं के वेश में प्रकट करता है। भाषा में यह (काव्य) अपनी ज्ञप्तिरूप अन्तर्वस्तु को बाह्य रूप प्रदान करता है। चेतनापूर्ण जीवन से गृहीत अन्तर्वस्तु को एक आदर्श प्रतिच्छाया के रूप में प्रदर्शित करता है परन्तु यह अन्तर्वस्तु मानवों अथवा देवताओं के कार्यों से परिच्छिन्न होती है। यह जिस कार्य का कलात्मक निरूपण करता है वह उन स्वतःसिद्ध आचारिक शक्तियों (ethical forces) से उद्भूत होता है जो मानवीय एवं दैविक कार्यों की मूल उद्गम हैं। यह कार्य प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है और इस प्रकार से घटनाओं की एक पूर्ण श्रेणी उत्पन्न होती है। इस रूप में यह कार्य काव्य में निरूपित होता है।

काव्य के भेद

हेगेल ने काव्य के तीन स्पष्ट भेद किए हैं ? १. महाकाव्य, २. गीतकाव्य एवं ३. नाट्यकाव्य। हमारे अपने दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि हम सामान्यतः नाट्यकाव्य के विषय में और विशेषतः दुःखान्त नाटक के विषय में उनके सिद्धान्त का वर्णन अधिक विशद रूप में करें। इसका कारण यह है कि अभिनवगुप्त का वह रस सिद्धान्त जिसके साथ हम हेगेल के सिद्धान्त की तुलना करना चाहते हैं प्रधानतया नाट्यकला पर ही आधारित है। अतएव संक्षिप्त रूप से महाकाव्य तथा गीतकाव्य के विषय में हेगेल के मत का उल्लेख करने के पश्चात् उनके दुःखान्त नाटक (tragedy) विषयक सिद्धान्त का निरूपण हम करेंगे जिससे कि हम सुगठित रूप में उनके मत को प्रकट कर सकें।

---

१. फिला० आ० भाग ४–१००

महाकाव्य

महाकाव्य ऐसी घटनाओं का वर्णन करता है जो कार्य-कारण सम्बन्ध से सुसंबन्धित एक सुगठित पूर्ण वस्तु की रचना करती हैं। क्योंकि इसका लक्ष्य काव्य रूप में एवं वास्तविक तथ्यों के रूप में या तो आवश्यक अंशों से युक्त पूर्ण कार्य का निरूपण है या उन व्यक्तियों का निरूपण है जिनसे इस प्रकार का कार्य विविध बहिर्निष्ठ घटनाओं के रूप में उत्पन्न होता है। यह (महाकाव्य) बाह्य तथ्य को बहिर्निष्ठ रूप में प्रदर्शित करता है। यह कवि अथवा काव्यपाठक के हृदयगत भाव अथवा निजी कल्पना[१] की अभिव्यक्ति नहीं है। इसमें जो कुछ भी वर्णित किया जाता है वह वास्तविक जीवन का एक भाग मालूम पड़ता है और इसे ऐसा ही मालूम पड़ना चाहिए।

गीतकाव्य

रचयिता के आन्तरिक विचारों को अभिव्यक्त करने वाला गीतात्मक काव्य (Lyric poetry) की विषयवस्तु ज्ञप्ति रूप जगत है अर्थात् जीवात्मा का मननात्मक अथवा भावावेगपूर्ण जीवन है। यह (गीतकाव्य) आत्मा के इस जीवन को उस रूप में प्रकट नहीं करता जिस रूप में यह अपने को कार्य रूप में प्रकट करता है वरन् उस रूप में प्रकट करता है जैसा रूप आत्मप्रकटन (self-expression) में होता है। वस्तुतः आत्म-प्रकटन गीतकाव्य का चरम लक्ष्य है। यह बाह्य तथ्यों अथवा घटनाओं का वर्णन नहीं करता वरन् भावावेग तथा व्यक्ति की आन्तर दृष्टि से साक्षात्कृत जीवन का वर्णन करता है। गीतकाव्य के पठन में जैसा कि महाकाव्य के पठन में होता है पाठक विषयवस्तु से सर्वथा अलग नहीं होता। इसके विपरीत वह ज्ञप्तियों एवं मतों को इस प्रकार से पढ़ता है जैसे कि वे स्वयं उसके भावावेगात्मक जीवन की अभिव्यक्तियाँ हों।

नाट्यकला सर्वोत्कृष्ट कला

सामान्यतः कलाकृतियों में उस वर्ग की कलाकृति परमोत्कृष्ट है जो मनुष्य की वाणी[२] को अपने माध्यम के रूप में ग्रहण करती है। क्योंकि कलात्मक कृति के लिए कोई भी ऐसा दूसरा माध्यम नहीं है जो आध्यात्मिक जीवन को व्यक्त करने में इतना पूर्णतया पर्याप्त हो। अतएव काव्य सर्वोत्कृष्ट कोटि की

---

१. फिला० आ० भाग ४–१०३ २. फिला० आ० भाग ४–२४८

कला है। तथा नाट्यकाव्य काव्यकला का सर्वोत्कृष्टरूप है। क्योंकि (१) रूप और विषयवस्तु दोनों का विशदीकरण इसमें इस प्रकार से किया जाता है कि उनसे एक सर्वांशपूर्ण वस्तु उत्पन्न हो जाती है। (२) इसमें महाकाव्य की प्रमेयनिष्ठता एवं गीतकाव्य की प्रमातृनिष्ठता परस्पर संयुक्त होती हैं और इस प्रकार से यह 'भाव' तथा 'प्रतिभाव' का संन्धान (synthesis) है। यह दर्शक की कल्पनादृष्टि के सामने स्वतन्त्र कार्य को एक तात्त्विक तथा निश्चित तथ्य के रूप में प्रदर्शित करता है। एवं जिस कार्य का प्रदर्शन नाटक करता है वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में लगे हुए पात्र के निजी जीवन मात्र से ही उद्भूत नहीं होता वरन् वह कार्य ऐसा होता है जो व्यावहारिक जीवन में आदर्शस्वरूप लक्ष्यों, व्यक्तियों और समाघातों की प्रतिक्रियाओं के कारण विशिष्ट रूप ग्रहण करता है। इसमें बाह्य परिस्थिति एवं वातावरण के बाह्य अंशों का स्वस्वरूप में वर्णन नहीं होता और न इसमें कार्य और घटना का वर्णन उस प्रकार से करते हैं जिस प्रकार से महाकाव्य में उनका वर्णन होता है। अतएव नाट्यकलाकृति जीवन की सजीवता को प्राप्त कर सके इसलिए यह आवश्यक है कि इसमें दृश्यों को पूर्णतया चित्रपटों में प्रदर्शित किया जाय।

नाट्यकाव्य के सामान्य सिद्धान्त

नाटक मानवीय कार्यों[1] और सम्बन्धों को उनके वास्तविक प्रत्यक्षणीय रूप में कल्पना दृष्टि के सामने उपस्थित करता है। नाट्य-प्रदर्शित कार्य मानवीय परस्पर विरोधी मनोवेगों एवं चरित्रों से उद्भूत होते हैं और इसलिए इनमें समाघात वर्तमान होता है। क्योंकि क्रिया प्रतिक्रिया को उत्पन्न करती है। नाटक विशिष्ट परिस्थितियों में सजीव व्यक्तियों के निश्चित विशिष्ट पुरुषार्थों को प्रदर्शित करता है।

नाट्यकला का उत्थान कब होता है

राष्ट्रीय जीवन की सांस्कृतिक परिस्थिति से प्रधानतया नाटक की उत्पत्ति होती है। इसके पूर्व महाकाव्य और गीतकाव्य दोनों का होना परमावश्यक है क्योंकि इसमें दोनों के लक्षण वर्तमान होते हैं। नाट्यकला के उद्गम के लिए स्वतन्त्र आत्मचेतना एवं मानवीय पुरुषार्थों, उन्नत दशाओं और नियत

---

१. फिला० आ० भाग ४–२४९

भविष्यों का सुस्पष्ट सामान्य प्रत्यय अथवा ज्ञप्ति का होना नितान्त आवश्यक है। अतएव इस कला की उत्पति तभी होती है जब कि राष्ट्र का उत्थान उस सांस्कृतिक तल तक हो जाता है जो राष्ट्रीयविकास के मध्यकाल तथा उसके परवर्ती काल में सम्भव है।

महाकाव्य एवं गीतकाव्य के संधान के रूप में नाटक

महाकाव्य में राष्ट्र के अत्यन्त प्राचीनकालीन इतिहास की घटनाओं और उत्कृष्ट वीरकार्यों का वर्णन होता है। यह ऐसे कार्य का वर्णन करता है जो निश्चित घटनाओं एवं बाह्य जीवन के वीरकार्यों के रूप में राष्ट्रीय चेतना के सर्वांगीण स्वरूप को प्रतिबिंबित करता है। इसमें निजी संकल्प, वैयक्तिक लक्ष्य एवं महत्त्वपूर्ण बाह्य परिस्थिति के बीच एक सन्तुलन रहता है।

परन्तु गीतकाव्य विशिष्ट व्यक्ति को उसकी प्रमातृनिष्ठ जीवन की स्वतन्त्रता में प्रदर्शित करता है। इसका प्रकटनीय विषय एक विशेष परिस्थिति में विशिष्ट व्यक्ति की संवेदना अथवा भावावेग है।

नाटक में महाकाव्य और गीतकाव्य दोनों के दृष्टिकोणों का संयोग रहता है। यह महाकाव्य के दृष्टिकोण को उस अंश में अपनाता है जिस अंश में हमारी कल्पनादृष्टि के सामने कार्य और घटना को यह (नाटक) उपस्थित करता है। परन्तु वह (महाकाव्य के) इस दृष्टिकोण को गीत के दृष्टिकोण से वहां तक संमिलित करता है जहां तक कि कार्यों और घटनाओं को राष्ट्र की चेतना को प्रतिबिम्बित करते हुए नहीं वरन् व्यक्ति की चेतना को प्रतिबिम्बित करते हुए प्रदर्शित करता है। अतएव नाटक में घटनाएँ और कार्य बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न न होते हुए व्यक्ति के संकल्प एवं चरित्र से उद्भूत होते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु नाटक में व्यक्ति को अपनी एकाकी स्वतन्त्रता में जमा हुआ नहीं रहने दिया जाता। वह उपस्थित परिस्थिति[1] के विलक्षण स्वरूप के सहारे से अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है। प्राप्त विशिष्ट दशाओं में ही उसके चरित्र और लक्ष्य उसकी इच्छाशक्ति का अन्तर्वस्तु (content) बनते हैं। नाटक में कार्य को विकास की और उन अन्य शक्तियों से संघर्ष की प्रकिया में प्रदर्शित करते हैं जो घटनापथ को ऐसी दिशा में मोड़ देती है जो नायक से इच्छित तथा उद्दिष्ट दिशा के विपरीत होती है। नाटक में प्रमातृनिष्ठ अंश अर्थात् विशेष पुरुष एवं नारी का आध्यात्मिक जीवन आवश्यक है।

---

१. फिला० आ० भाग ४-२५१

अतएव विशेष व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन को आकर्षक होने पर भी नाटक भावावेगात्मक जीवन की शुद्ध गीतकाव्य में वर्णनीय दशाओं से सन्तुष्ट नहीं रह सकता और न तो यह महाकाव्य की रीति के अनुसार राष्ट्रीय विक्रमों के प्रकटीकरण तक ही सीमित रह सकता है। नाटक एक निश्चित लक्ष्यनिष्ठ चरित्र को प्रदर्शित करता है। यह निश्चित लक्ष्य उस परिस्थिति में उस व्यक्ति की इच्छा रूप आत्मा की एकता (volitional self-identity) की व्यावहारिक अन्तर्वस्तु (practical content) के प्रभावपूर्ण अंश का विधायक है जिसमें विरोध और संघर्ष के कारण वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल अथवा असफल होता है। अतएव नाटक में आत्मा के जीवन का प्रदर्शन प्रभावपूर्ण कार्य का रूप ले लेता है। यह शुद्ध ज्ञप्ति के क्षेत्र को पार करता है और अपने को बाह्य संसार की विषयवस्तु बनाता है। वह कार्य जिसके रूप में नाटक में आत्मा के जीवन को प्रकट करते हैं कोई एक बाह्य तथ्य मात्र ही नहीं होता, इसके विपरीत यह नाटक के प्रधान पात्र की इच्छा-शक्ति से निष्पादित होता है, और इसको इसी रूप का मानते भी हैं। कार्य से जो कुछ उत्पन्न होता है उसको अभिनेता व्यक्ति अपने से उत्पन्न मानता है तथा उसके निजी चरित्र और उसकी परिस्थितियों को प्रभावित करता है। स्वस्वरूप प्राप्ति में प्रवृत्त (self-realizing) व्यक्ति की आत्मा का जीवन[1] सम्पूर्ण जटिल बाह्य परिस्थिति से निरन्तर संबंधित रहता है।

इस प्रकार से शब्द के वास्तविक अर्थ के अनुसार 'नाटकीय कार्य' का अर्थ उस आदर्श रूप इच्छा और लक्ष्य का निष्पादन है जिसकी सिद्धि से व्यक्तिरूप कर्त्ता अपना पूर्ण तादात्म्य कर लेता है और इसके परिणाम स्वरूप इससे जो कुछ उत्पन्न होता है उसको प्रमेयनिष्ठ जगत का विधायक अंश मानता है। नाटकीय पात्र अपने कर्मों के फल को स्वयं भोगता है।

महाकाव्य से नाटक अधिक संक्षिप्त (abstract) होता है

नाटक की प्रदर्शनीय विषयवस्तु नायक का निजी लक्ष्य है। यह बाह्य संसार से उतना ही चुनता है जितना कि ऐसे लक्ष्य के साथ आवश्यक रूप से ग्रथित है। अतएव महाकाव्य की अपेक्षा स्वभावतः यह अधिक संक्षिप्त होता है। नाटकीय कार्य का आरम्भ प्रधान पात्र के स्वेच्छाकृत निर्णय से होता है। इस कार्य को महाकाव्य-वर्णित कार्य की भांति विविधांशों में सम्पूर्ण संसार

---

१. फिला० आ० भाग ४–२५२

पृष्ठभूमि के रूप में अपेक्षित नहीं होता। इसका प्रयोजन उस परिस्थिति का प्रदर्शन है जिसमें व्यक्तिरूप पात्र अपने लक्ष्य का निर्णय करता है और उसकी पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त नाटक में उस कोटि के व्यक्ति अर्थात् नायक का चित्रण राष्ट्रीय गुणों की सम्पूर्ण जटिलता के आधार पर नहीं करते वरन् उसका चित्रण केवल उन्हीं गुणों के आधार पर करते हैं जो प्रत्यक्षतः कार्य से संबंधित हैं। उस नायक का एक विशिष्ट लक्ष्य होता है जिसको सामान्यरूप आध्यात्मिक जीवन अन्तरात्मा में उत्प्रेरित करता है। और इस लक्ष्य को नाटक उस से अधिक उच्चपद पर प्रतिष्ठित करता है जितना शुद्ध रूप से व्यक्ति-जीवन में सम्भव है। अतएव नाटक में नायक के चरित्र के उन विशेष लक्षणों का वर्णन करना अतिव्यर्थ है जिनका साक्षात् संबंध कार्य के साथ नहीं है। अतएव कार्यनिष्ठ व्यक्ति के सम्बन्ध में भी नाटक महाकाव्य से अधिक संक्षिप्त होता है।

नाटक की विषयवस्तु के रूप में दिव्य (Divine)

नाटकीय कार्य को राष्ट्रीय अस्तित्व की पृष्ठभूमि पर दर्शित न कर एक आधारभूत प्रयोजन तथा एक व्यक्तिरूप पात्र से उसकी सिद्धि से घनिष्टतया संबन्धित प्रदर्शित करते हैं। एवं वह लक्ष्य जिसको कार्य के माध्यम से सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं इसलिए नाटकीय होता है क्योंकि इसमें ऐसे गुण होते हैं जो विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट व्यक्ति से इसकी सिद्धि को सम्भव बनाते हैं तथा यह इसलिए भी नाटकीय होता है क्योंकि अन्य व्यक्तियों में अपने नितान्त विरोधी लक्ष्यों एवं भावावेशों को उत्प्रेरित करता है। इस प्रकार का लक्ष्य कार्य-उत्प्रेरक तथा भावावेग–उत्प्रेरक होता है, इसलिए कार्यनिष्ठ कर्ता में आध्यात्मिक, नैतिक और दिव्य शक्ति[1] का रूप ले लेता है, जैसे मातृ–भूमि, माता-पिता, पत्नी, संबंधियों आदि के प्रति प्रेम। परन्तु यदि इस लक्ष्य को जो मानवीय संवेदना एवं कार्य का आवश्यक अंश है नाटकीय रूप में हमको प्रभावित करना है तो इसे सुस्पष्ट लक्ष्य के रूप में अपना विशिष्टीकरण करना चाहिए जिससे कि प्रत्येक प्रसंग में कार्य को अन्य व्यक्तियों के विरोध का सामना करना पड़े और परिवर्तनशील दशाओं से अनुशासित भी हो। अतएव नाटक की शुद्ध विषयवस्तु अर्थात् नाटक में आवश्यक प्रवर्तक शक्ति उन आध्यात्मिक शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती जो

१. फिला० आ० भाग ४–२५४

दिव्य और सत्य हैं। परन्तु नाटक में 'दिव्य' को उसकी शान्त अवस्था में नहीं वरन् मानवीय–व्यक्ति के अंश रूप में अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त करने में प्रवृत्त प्रगतिशील विशिष्ट सत्ता के रूप में प्रदर्शित करते हैं।

नाटक में आवश्यकता का सिद्धान्त

नाटक में जिस मानवीय कार्य को प्रदर्शित करते हैं उसका सर्वाधिक आवश्यक अंश "दिव्य" होता है। अतएव इसके कार्यपथ अर्थात् मूल प्रस्थान (original departure) तथा संघर्ष का निर्णायक तत्त्व उन विशेष व्यक्तियों में निवास नहीं कर सकता जो परस्पर विरोध की दशा में स्थित हैं। यह निर्णायक तत्त्व उस 'दिव्य' की सत्ता है जिसे तत्त्वतः पूर्ण मानते हैं। अतएव नाटक को हमारे सामने उस आवश्यकता के तत्त्व (principle of necessity) की जीवन शक्ति (vital energy) का चित्रण करना चाहिए जो मूल रूप से आत्मनिर्भर है तथा प्रत्येक द्वंद्व और संघर्ष का अवसान करने में सक्षम है। इस नाटक को उस आदर्श तथा सामान्य तत्त्व को प्रदर्शित करना चाहिए जो मानवीय पुरुषार्थों, द्वंद्वों एवं [1]भाग्यों के मूल में वर्तमान है। नाटक को उन सभी विरोधों तथा परिणामों को प्रदर्शित करना चाहिए जिनको ज्ञप्तिरूप सामान्य (ideal universal substance) के मूल से उत्पन्न होता हुआ एक विशेष कार्य अपने में निहित रखता है और प्रदर्शित करता है। नाटक को कार्य को निजी भावावेशों से उत्पन्न होते हुए तथा विशेष व्यक्तियों के विशेष लक्षणों से उत्पन्न होते हुए नहीं प्रदर्शित करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नाटक को न्यायसंमत अधिकार तथा उन भावावेशों के अनुचित दुष्प्रयोगों को प्रदर्शित करना पड़ता है जो मानव के हृदय में उत्पन्न होते हैं और कार्य को उत्प्रेरित करते हैं। परन्तु इनको 'दिव्य' एवं सत्य की स्वस्वरूप प्राप्ति को प्रदर्शित करने के लिए ही प्रदर्शित करना चाहिए। नाटक को आध्यात्मिक शक्तियों का प्रदर्शन उनके अजटिल तात्त्विक रूप के अनुसार करना चाहिए। इसको इन शक्तियों के एकपक्षीय अंश के विघटन (resolution) को प्रदर्शित करना चाहिए।

नाटकीय अखण्डता

नाट्यकृति की संधानात्मक (synthetic) अखण्डता महाकाव्य की तत्स्वरूप अखण्डता से अधिक दृढ़ होती है। क्योंकि महाकाव्य की अखण्डता

१. फिला० आ० भाग ४–२५५

राष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण घटना पर आधारित होती है पर नाटकीय अखण्डता उस पर आधारित होती है जिसका केवल व्यक्तिगत महत्त्व है। नाट्यकाव्य में व्यक्ति-पात्र एक दूसरे के साथ अपना पारस्परिक संबंध अपने चरित्र के विरोधी लक्षणों की सहायता से इस प्रकार से स्थापित करते हैं कि यही निजी सम्बन्ध उनके नाटकीय स्वरूपप्राप्ति (dramatic realization) की आधार भूमि बन जाता है। यह नाटकीय अखण्डता प्रमेयनिष्ठ एवं प्रमातृनिष्ठ दोनों होती है। यह उस सीमा तक प्रमेयनिष्ठ है जिस सीमा तक यह उस लक्ष्य के व्यावहारिक अंशों से संबंधित है जिसकी प्राप्ति नायक करना चाहता है। यह उस सीमा तक प्रमातृनिष्ठ है जिस सीमा तक वह तात्त्विक द्रव्यात्मक (substantive) विषयवस्तु अर्थात् लक्ष्य नाटकीय कृति में एक विशेष व्यक्ति के भावावेश के रूप में प्रकट होता है जिससे कि कार्य के परिणामों का संबंध उसकी स्वेच्छाकृत क्रिया के साथ स्थापित किया जाता है।

एरिस्टाटल प्रतिपादित अखण्डताओं की हेगेलकृत व्याख्या

हेगेल ने नाट्यकृति की रचना के उन नियमों को स्वीकार किया है जिन को स्थान काल और कार्य की अखण्डताओं[1] के रूप में युग प्रतिष्ठित रचनाविधि में संक्षिप्त किया गया है। परन्तु साथ ही साथ वे यह कहते हैं कि एरिस्टाटल केवल यह कहते हैं कि दुःखप्रधान (tragic) कार्य की अवधि को एक दिन से अधिक न होना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि एरिस्टाटल ने स्थान की अखण्डता का उल्लेख नहीं किया है। जिस अध्याय में हमने एरिस्टाटल की नाट्य रचना विधि का उल्लेख किया है उसमें हम यह कह आए हैं कि यूनानी नाटकों में स्थान की अखण्डता उसकी विलक्षण रचना प्रणाली के कारण आवश्यक थी। 'कोरस' नाटक का एक महत्त्वपूर्ण अंश होता था। यह कोरस दो दृश्यों के बीच अवकाशकाल में रंगमंच पर वर्तमान रहता था। अतएव आरम्भिक दृश्य (prologue) से लेकर अन्तिम दृश्य (Exode) तक सम्पूर्ण दुःखप्रधान नाटक नैसर्गिक रूप से एक अखण्डित दृश्य होता था। उसमें कोई भी ऐसा व्यवधान नहीं होता था जिससे स्थान का परिवर्तन संभव हो सके। परन्तु हेगेल यह कहते हैं कि दुःखप्रधान नाटक के प्राचीन नाटककार स्थान की अखण्डता के सिद्धान्त का पालन अक्षरशः इस अर्थ में नहीं करते थे कि नाटकों में दृश्य परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एशिलस

---

१. फिला० आ० भाग ४–२५७

कृत यूमेनीडीस और सोफोक्लीज कृत 'अजाक्स' में दृश्य–परिवर्तन हैं। अतएव हेगेल इस नियम की फ्रांस देशीय इस व्याख्या को असान्य मानते हैं कि स्थान की अखण्डता का अर्थ दृश्य की अपरिवर्तनशीलता है।

कुछ भी हो हेगेल यह मानते हैं कि वे आधुनिक नाट्यकृतियां जिनमें संघात (collision) का क्षेत्र अधिक विशाल है, अर्थात् जिनमें नाटकीय पात्रों और उस कार्य की अधिक विविधरूपता है, जिसके आदर्शरूप को प्रदर्शित करने में प्राचीन नाटकों की अपेक्षा अधिक विशाल वाह्य वातावरण की आवश्यकता पड़ती है, अपने को दृश्य की एकता के नियम से अनुशासित नहीं कर सकतीं और परिणामस्वरूप उन्होंने अपने को इस नियम से मुक्त कर लिया है। परन्तु हेगेल यह स्वीकार करते हैं कि यह नियम उस सीमा तक अच्छा है जहां तक इसका अर्थ यह है कि विना यथेष्ट कारण के निरन्तर दृश्य–परिवर्तन अवांछनीय है।

स्थान की अखण्डता के सम्बन्ध में हेगेल का अभिमत

नाटक में प्रदर्शित कार्य महाकाव्यगत कार्य से अधिक समाहृत (concentrated) होता है अतएव इस समाहृत कार्य को अपना प्रदर्शन देशसंबंधी दशाओं और परिवर्तनों में करना चाहिए। अतएव क्योंकि कार्य और उसकी परिस्थितियों के संबंध में महाकाव्य का प्रतिपक्षी नाटक होता है इसलिए उस में दृश्य के परिवर्तनों को संयमित रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त महाकाव्य की भांति नाटक विशेष रूप से कल्पनात्मक बोध (imaginative sense) के लिए नहीं होता। यह दोनों रसानुभावक इन्द्रियों अर्थात् आंख और कान के लिए होता है। इस प्रकार से जिस समय महाकाव्य में दृश्यों के बहुधा परिवर्तन का आदेश है क्योंकि शुद्ध कल्पना के लोक में हम तुरन्त एक दृश्य से दूसरे दृश्य तक पहुँच जाते हैं उस समय नाटक के प्रसंग में दृश्य का केवल उतना ही परिवर्तन वांछनीय है जितना कि जीवन के साधारण अनुभव से खण्डित नहीं होता। हेगेल के मत को यदि संक्षिप्त रूप में कहें तो कहेंगे कि देश की अखण्डता को बनाए रखने के लिए सीधा सा उपाय दोनों अतिबिन्दुओं को त्याग कर उनके बीच का मध्य बिन्दु है।

काल की अखण्डता

देश की अखण्डता के विषय में जिस प्रकार की उन्मुखता हेगेल की है उसी प्रकार की उनकी उन्मुखता काल की अखण्डता के विषय में भी है। क्योंकि

वे यह मानते हैं कि कल्पना के शुद्ध लोक में हम विना किसी कठिनाई के काल की विशाल अवधियों को मिला सकते हैं परन्तु प्रत्यक्ष दृष्टि (direct vision) में हम तुरन्त ही कुछ वर्षों की अवधियों को पार नहीं कर सकते। अतएव वह संघर्षपूर्ण कार्य जिसे नाटक आरम्भ से लेकर अन्त तक प्रदर्शित करता है, यदि सरल स्वरूप हो तो काल को एक नियंत्रित अवधि में केन्द्रित करना अधिक उपयुक्त है। परन्तु यदि कार्य ऐसा है कि उसको अतिविविधतापूर्ण पात्रों की आवश्यकता है, और जिसके विकास के लिए अनेक परिस्थितियां आवश्यक हैं जो काल में एक दूसरे से अधिक दूरी पर हैं तो शुद्धरूप से परम्परासिद्ध नियमानुसारी कालावधि की अखण्डता अवांछनीय है। वे इस मत को अमाननीय मानते हैं कि उन दर्शकों का जो अपनी इन्द्रियों से कुछ घण्टों की अवधि में नाटक को देख रहे हैं यह बोध न खण्डित करने के लिए कि वे यथार्थमूलक प्रदर्शन का प्रत्यक्ष कर रहे हैं कार्य को समय की थोड़ी अवधि में सीमित प्रदर्शित करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के मत का अनुसरण अत्यंत स्पष्टतया असंभाव्य घटनाओं को नाट्यकृति में समाविष्ट करने के लिये नाट्यकार को बाध्य करता है।

कार्य की अखण्डता

हेगेल यह मानते हैं कि कार्य की अखण्डता का नियम अनुल्लंघनीय है। इस अखण्डता के स्वरूप के विषय में उनके मत को निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं :—

विना किसी अपवाद के प्रत्येक कार्य का एक लक्ष्य होता है जिसको वह सिद्ध करना चाहता है। कार्य के माध्यम से ही मनुष्य वास्तविक व्यावहारिक संसार में कार्यनिष्ठरूप में प्रवेश करता है। अतएव कार्य की अखण्डता की खोज हमको उस लक्ष्य की सिद्धि में करना चाहिए जो तत्वतः निश्चितरूप है और जिसको वास्तविक जीवन की विशेष परिस्थितियों तथा संबंधों में प्राप्त करते हैं। परन्तु नाटकीय लक्ष्य ऐसा होता है जिसकी सिद्धि सरलता से नहीं होती अर्थात् वह कार्यनिष्ठ कर्ता जो उसको सिद्ध करने की चेष्टा करता है अनिवार्यरूप से उन अन्य पात्रों की ओर से बाधाओं को प्राप्त करता है जिनके लक्ष्य उससे विपरीत होते हैं एवं जिनको सिद्ध करने की चेष्टा वे अपने सम्पूर्ण साधनों और शक्तियों से करते हैं। अतएव नाटकीय कार्य में आवश्यक रूप से संघर्ष वर्तमान होता है। इसलिए नाटकीय कार्य की अखण्डता आरम्भ अर्थात् उद्देश्य की निर्धारणा से लेकर द्वंद्व की समाप्ति तक अथवा संघर्षों और

विरोधों का सामना कर सिद्धि प्राप्त करने तक सम्पूर्ण कार्य में वर्तमान होती है।

नाटक एवं सामान्य जन

नाट्यकाव्य का सर्वाधिक विशेष लक्षण यह है कि इसमें जिन अभिमतों, पात्रों और कार्यों को प्रदर्शित करते हैं उनको जीवन की सम्पूर्ण वास्तविकता में सामान्य जनों के सामने उपस्थित होना पड़ता है। इसी कारण से ऐसा होता है कि नाटकीय रूपमात्र की अपेक्षा नाटक में विषय के कुछ अंशों का महत्त्व अधिक होता है क्योंकि उनको उन सामान्य जनों से प्रत्यक्षतः संबंधित किया जाता है जिनके सामने उनका प्रदर्शन करते हैं। नाटक को देखनेवाली एक विशिष्ट जनता होती है जिसको सन्तुष्ट करना उसका विशेष कर्तव्य है एवं जिसको नाटक की निन्दा तथा स्तुति करने का अधिकार है। जिस समय नाटक का प्रदर्शन करते हैं उस समय इसका प्रयोजन इस विशेष जनसमूह का समवेदनापूर्ण मनोरंजन करना होता है। अतएव यह ऐसी विषयवस्तु का प्रदर्शन करता है जो सामान्य जनता को उनके शिक्षाभेद, रुचिभेद एवं प्रियव्यापार (hobby) भेद से निरपेक्ष होकर आकर्षित करता है। सामान्य जनता की नितांत उपेक्षा करते हुए जो नाटक लिखा जाता है वह नाटक ही नहीं होता क्योंकि यह उस विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं करता जिसके लिए नाट्यकृतियों का अस्तित्व है।

नाटक की लोकप्रिय होने की दशाएं

१. उन लक्ष्यों में, जिनसे संबन्धित संघर्षों एवं चरम परिणामों[1] को नाटक प्रदर्शित करता है, या तो सामान्य मानवीय हित (interest) वर्तमान होना चाहिए या उनके मूल में ऐसा मर्मस्पर्शी भाव (pathos) होना चाहिए जो उस जनता के लिए सत्य (valid) एवं मौलिक (substantive) है जिसके सामने उसको प्रदर्शित करते हैं। नाटक में उन सामान्य लक्ष्यों अथवा उन सामान्य भावावेगों को प्रकट करते हैं जिनसे विशेष लक्ष्यों की उत्पत्ति होती है। परन्तु सभी कला विशेषीकृत सामान्य रूप होती है (universal concretised)। अतएव नाटक भी सामान्य को सामान्य के रूप में प्रकट न कर उसको विशेषीकृत रूप में प्रकट करता है। और सामान्य के विशेषीकरण में ही व्यक्ति नाटकीय प्रदर्शन में प्रवेश करता है। परन्तु व्यक्तीकरण मूलरूप से राष्ट्र के इति-

---

१. फिला० आ० भाग ४–२७२

हास के विशेष युग से संबंधित राष्ट्रीय विशेषताओं के आधार पर कर सकते हैं। इस प्रकार से नाटक एक ऐसी विषयवस्तु को प्रदर्शित करता है जिसके दो अंश होते हैं–(१) सामान्य और (२) राष्ट्रीय। एक नाटक में जितना अधिक सामान्य अंश प्रधान रहता है उतना ही अधिक वह लोकप्रिय होता है। इसके विपरीत नाटक में जितना अधिक राष्ट्रीय अंश प्रधान होता है उतना ही संकीर्ण उसकी लोकप्रियता का क्षेत्र होता है। शेक्सपियर के नाटकों में इसी सामान्य मानवीय हित के प्रधान होने के कारण ही उनकी उन सब क्षेत्रों में लोकप्रियता है जहां अंग्रेजी भाषा को भलीभांति समझा जाता है।

२. नाटक की लोकप्रियता का दूसरा कारण सामान्य का व्यक्तीकरण है। गत पृष्ठों में हम यह कह आए हैं कि कला सामान्य का विशेषीकरण है। अतएव नाटक में सामान्य को व्यक्ति के वेश में प्रकट करते हैं। यह व्यक्तीकरण परिस्थितियों, दशाओं, चरित्र की सामान्य विशेषताओं एवं इन्हीं के समान स्थानीय वातावरणों, रूढ़ियों, परम्पराओं तथा उन तथ्यों के आधार पर होता है जिनकी सहायता से कार्य का दृश्य-प्रदर्शन किया जाता है।

३. नाटक के पात्रों की सजीवता तीसरी दशा है। परिस्थितियों आदि के आधार पर जो व्यक्तीकरण किया जाता है उससे यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। नाटक के पात्रों को विशेष हितों का मानवीकरण (personification) मात्र ही नहीं होना चाहिए। क्योंकि विशिष्ट लक्ष्यों एवं भावावेशों के अविशिष्ट (abstract) मानवीकरण नाटकीय प्रभाव से सर्वथा शून्य होते हैं। एक ऊपरी व्यक्तीकरण इसलिए अपर्याप्त होता है क्योंकि यह विषयवस्तु और रूपतत्त्व को परस्परतः पृथक् रखता है। नाटकीय व्यक्ति को सर्वथा सजीव तथा अपने में एकरूप (self-identical) होना चाहिए। उस व्यक्ति के अभिमत एवं चरित्र को इस प्रकार से चित्रित करना चाहिए कि वे उसके लक्ष्य तथा कार्य से समरूप हों। इसको एक ऐसा व्यापक व्यक्ति होना चाहिए जो सबको एक केन्द्रीय एकता में एक सूत्र से सुसंबद्ध करता हो। इसकी वाणी और कार्य ऐसे होने चाहिए कि दर्शक को यह अनुभव होता रहे कि एक ही प्राणवन्त उद्गम से उनकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार के सजीव चरित्र-चित्रण के लिए शेक्सपियर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

४. नाटक की लोकप्रियता का चौथा कारण चरम लक्ष्यों की परस्पर टकराहट है। विशिष्ट परिस्थितियों में निजी अनुभव के प्रकटीकरण तथा प्रदर्शन का अपने में कोई पर्याप्त नाटकीय प्रभाव नहीं होता। चरम लक्ष्यों की टकरा-

हट के साथ साथ उससे उद्भूत आगे ले जाने वाली एवं विरोधी चालें नाटकीय प्रदर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं।

नाटककार के व्यक्तित्व के साथ उसकी कृति का संबन्ध

महाकाव्य में कवि विषयनिष्ठ रूप में राष्ट्रीय इतिहास की घटनाओं का निरूपण करता है। वह किसी भी प्रकार से निरूपण को अपने व्यक्तित्व से रंजित नहीं होने देता। इसके विपरीत गीतकाव्य में वह अपने भावात्मक जीवन को तथा संसार के विषय में अपने निजी दृष्टिकोण को प्रकट करता है। नाटक में कार्य का प्रदर्शन इन्द्रियबोध्यरूप में करते हैं और उसके पात्र अपने व्यक्तित्व और नाम के आधार पर महाकाव्य की अपेक्षा अधिक मात्रा में बोलते और कार्य करते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नाटक महाकाव्य की अपेक्षा अधिक विषयनिष्ठ रूप में तथ्यों को प्रकट करता है। क्योंकि जैसा कि हम कह चुके हैं कि नाटक की उत्पत्ति राष्ट्रीय इतिहास के उस युग में होती है जिसमें जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण तथा कलात्मक संस्कृति के संबंध में व्यक्तिगत स्वात्मबोध पर्याप्त रूप से उन्नत दशा को प्राप्त कर लेता है। अतएव नाटक के कवि को उसको प्रदर्शित नहीं करना होता जो केवल सामान्य जन बोधों (popular consciousness) से उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है। नाटककार को राष्ट्रीय चेतना को निरूपित करने का साधनमात्र ही नहीं होना चाहिए। इसके स्थान पर उसकी कृति ऐसी होनी चाहिए जो स्पष्ट रूप से स्वात्मबोधपूर्ण (self-aware) रचनाशक्ति को प्रतिबिंबित करती हो और कवि के व्यक्तित्व को स्पष्टतया परिचित कराती हो। वस्तुतः उसकी कृति में कवि की व्यक्ति का प्रतिबिम्ब ही ऐसा है जो उसको व्यावहारिक जीवन की घटनाओं और कार्यों से विभिन्न बनाता है। नाटक के कवि को अपनी कृतियों में आकस्मिक मनोवेगों एवं अभिमतों, विलक्षण उन्मुखताओं अथवा एकपक्षीय दृष्टिकोणों को प्रकट करना नहीं चाहिए। इसके विपरीत नाटकीय कार्य की गति और उसके चरम परिणाम में उसको उसका समर्थन करना चाहिए जो मूलतः युक्तिसंगत और सत्य है।

नाटक का बाह्य रचना विधान (external technique)

सब कलाओं में केवल काव्यकला ही व्यावहारिक जगत के इन्द्रियबोध्य माध्यम की सम्पूर्णतया उपेक्षा करती है। परन्तु महाकाव्य अथवा गीतकाव्य से नाटक का भेद यह है कि नाट्यकाव्य का प्रयोजन कार्य को उसके प्रत्यक्ष-

णीय अस्तित्व की सम्पूर्ण वास्तविकता में प्रदर्शित करना होता है। अतएव इसको काव्यरचना के सामान्य साधन अर्थात् भाषा तक ही सीमिति नहीं रख सकते हैं। क्योंकि नाटक को पूर्ण मनुष्य को प्रदर्शित करने के लिए निम्न-लिखित बातों की आवश्यकता पड़ती है।

(१) शारीरिक अस्तित्व में अपने अन्त तक कार्य की प्रगति।

(२) भावावेगों तथा भावावेशों को प्रकट करने वाले वे शारीरिक विकार[1] जो दर्शकों को प्रभावित करें और उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न करें।

(३) यह भी उसको एक विशेष परिस्थिति में करना पड़ता है। इस नाट्यकला को अन्य कलाओं की सहायता पर्य्याप्त मात्रा में लेना अनिवार्य सा है। नाट्यकला की उत्कृष्ट कृति वह है जिसमें दृश्यपट, संगीत तथा नृत्य का भी समावेश हो।

अभिनय-कला

नाट्य-प्रदर्शन में जिन कलाओं की आवश्यकता पड़ती है उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय कला है। अपने कलात्मक प्रदर्शन के लिए यह जिस उपादान सामग्री का प्रयोग करती है वह अपने अनेक रूपों में स्वयं मनुष्य ही है। उसका वह एक रूप जिसके साथ उसका प्रधानतया संबंध है मानवीय भाषा और उसकी काव्यात्मक पदावली है। मानवीय भाषा को नाटक ऐसा कलात्मक रूप प्रदान करता है कि भाषा में चित्रित जीवात्मा के उत्कृष्ट प्रच्छन्न रूपों (shades) एवं विभिन्न अवस्थाओं में तथा उसके विरोधों एवं विशेषताओं में आत्मा के जीवन का प्रतिबोध श्रोता को हो जाता है। आत्मा के जीवन को प्रकट करने के दूसरे साधन के रूप में मनुष्य का दूसरा अंश शरीर का संचालन (अनुभाव) और उसकी भंगिमाएं (pose) तथा मुखविकार हैं। इस प्रकार से भावुकता-पूर्ण और ओजस्वी भाषण (declamation) मुख विकार, शारीरिक संचालन एवं शारीरिक मुद्राओं की सहायता से अभिनयकला काव्यकृति को दृष्टिगोचर बनाती है।

बाह्य माध्यम के साथ अन्य कलाओं से भिन्न जो नाटककार[2] का संबंध है वह अत्यन्त विलक्षण है। चित्रकला और मूर्तिरचनाकला में स्वयं कलाकार ही वह व्यक्ति है जो रंगों और स्फटिक प्रस्तरों में अपने भावों को साकार बनाता है। परन्तु नाटककार उस माध्यम पर प्रत्यक्षतः काम नहीं करता जिसमें उसके

१. फिला० आ० भाग ४–२७८   २. फिला० आ० भाग ४–२८७

भाव साकार होते हैं। क्योंकि नाटककार के भावों को अभिनेता साकार बनाता है और अभिनेता का काम ही यही है कि जिस पात्र का वह अभिनय करता है उसके साथ वह सम्पूर्णतया एकीभूत (coalesce) तथा एकात्म हो जाय। अपनी सब कार्यशक्तियों की सहायता से उसको प्राप्त भूमिका में बिना किसी ऐसे अंश को मिलाए हुए प्रवेश करना पड़ता है जो उसकी विशेषता है। नाटककार प्रदर्शन के जिन साधनों को एवं मौलिक भावों को देता है उनके साथ अभिनेता को पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर अभिनय करना पड़ता है। पाश्चात्य देशों में निकट वर्तमान[1] समय में इस कला ने अपने परम उत्थान को प्राप्त किया है।

नाट्य-काव्य के भेद

नाट्यकाव्य का स्पष्टतया भिन्न प्रकारों में वर्गीकरण जिस भेद के आधार पर किया गया है उसका संबंध केवल लक्ष्यगत भेद से ही नहीं वरन् पात्रों, संघर्ष तथा कार्य के सम्पूर्ण परिणाम के भेद से भी है। इस प्रकार के भेद में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश वे हैं जो दुःख प्रधान नाटक तथा सुखप्रधान नाटक के अपने विशेष लक्षण हैं। परन्तु क्योंकि नाटक का मुख्य प्रयोजन लक्ष्यों एवं पात्रों की टकराहट और उनके आवश्यक अवसानों को प्रदर्शित करना है अतएव विभिन्न प्रकारों में उसके वर्गीकरण का आधार वह संबन्ध है जिसमें नायक अपने लक्ष्य और उसकी अन्तर्वस्तु के साथ स्थित होता है। अपने लक्ष्य के साथ नायक के संबन्ध का जो भेद है उसकी विभिन्नता नाटकीय संघर्ष के रूप एवं उसके फल का निर्णायक हेतु (decisive factor) है। इस प्रकार से नाट्यकाव्य का वर्गीकरण हेगेल तीन वर्गों में करते हैं १—दुःखप्रधान २—सुखप्रधान एवं ३—सामाजिक नाटक।

दुःखप्रधान नाटक के आवश्यक लक्षण

१. दुःखप्रधान नाटक का प्रथम आवश्यक लक्षण यह है कि इसमें प्रदर्शनीय कार्य की उत्पत्ति एक विशिष्ट लक्ष्य से होती है और इसकी उत्प्रेरिका उन शक्तियों[2] में से एक शक्ति होती है जो अपना औचित्य स्वयं अपने साथ ले चलती हैं तथा जिनका मौलिक साक्षात्कार मानवजाति की स्वेच्छा जनित चेष्टाओं में होता है। इस प्रकार की शक्तियां पति-पत्नी तथा माता-पिता-संतान

१. फिला० आ० भाग ४—२८४

२. फिला० आ० भाग ४—२९५

प्रेम आदि हैं। और दुःखप्रधान नाटक का नायक जितना अधिक इन शक्तियों में से एक शक्ति से अभिभूत होता है उतना ही अधिक वह दुःख जनक होता है। अतएव यह शक्ति नायक के विलक्षण स्वाभाविक लक्षण की रचना करती है। वस्तुतः यह नायक आवश्यक रूप से वैसा ही होता है जैसा कि यह शक्ति उसको बनने के लिए बाध्य करती है तथा योग्य बनाती है। इस प्रकार से महत्त्वपूर्ण कर्मठ व्यक्ति होने पर भी वह इस स्वाभाविक शक्ति की मानवीकृत मूर्ति भर ही होता है। इस शक्ति के साथ वह अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार के तादात्म्य के परिणामस्वरूप ही वह एक मूर्ति कला की कृति के समान उपस्थित होता है और इसलिए उस शक्ति को अभिव्यक्त करता है जिसमें अपने व्यक्तित्व को वह सम्पूर्णतया निमज्जित कर देता है। इस प्रकार से दुःखप्रधान नाटक की विषयवस्तु 'दिव्य' हो सकती है।

इस प्रसंग में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। (१) यह बात केवल प्राचीन युगीन दुःखप्रधान नाटकों के विषय में ही लागू होती है। (२) इस प्रसंग में 'दिव्य' शब्द का अर्थ वह 'दिव्य' नहीं है जो शुद्ध धार्मिक चेतना में अभासित होता है। इसके विपरीत इस 'दिव्य' का अर्थ 'दिव्य' का वह रूप है जिसमें अपने मौलिक स्वभाव का परित्याग न करते हुए वह संसार में अर्थात् व्यक्ति के कार्य में प्रवेश करता है। अन्य शब्दों में अगर कहना हो तो यह कहेंगे कि इस प्रसंग में 'दिव्य' का अर्थ आध्यात्मिक इच्छा शक्ति अर्थात् नैतिक शक्ति (ethical power) है। क्योंकि जो नैतिक है वह जिस रूप में व्यावहारिक जगत में अभिव्यक्त होता है वह 'दिव्य' है और यही वास्तविक मानवीय कार्य की उत्प्रेरक अन्तर्वस्तु है।

२. दुःखप्रधान नाटक का दूसरा स्वाभाविक लक्षण यह है कि जिस कार्य को यह प्रदर्शित करता है वह आवश्यक रूप से संघर्षपूर्ण होता है। नायक का वह कार्य जो विशिष्ट मौलिक लक्ष्य से उत्पन्न होता है और जिसमें नायक के चरित्र का साक्षात्कार होता है अनिवार्य रूप से दूसरे पात्र में अपने से विरोधी भाव और कार्य को उत्प्रेरित करता है और इसलिए अनिवार्य संघर्ष को उत्पन्न करता है। प्राचीन काल में लिखित दुःखप्रधान नाटकों में निरूपित यह संघर्ष इस कारण होता है कि संघर्षपर दो दलों को यदि अपने में देखा जाय तो दोनों दल पूर्णतया न्याय संगत होते हैं परन्तु प्रत्येक दल अपने लक्ष्य की सिद्धि इस प्रकार से करता है जिससे दूसरे दल का निषेध और खण्डन होता है। अतएव अपने नैतिक उद्देश्य के संबंध में दोनों ही दोषपूर्ण होते हैं।

३. दुःखप्रधान नाटक का तीसरा स्वाभाविक लक्षण यह है कि इसमें कथित संघर्ष का अवसान प्रकट करते हैं। संघर्ष के अन्त में ही शाश्वत न्याय (eternal justice) इस प्रकार से क्रियाशील होता है कि यह मौलिक नैतिक शक्ति की सत्ता और अखण्डता की फिर से स्थापना शान्तिभङ्गकारी व्यक्ति के पतन को घटितकर करता है। क्योंकि नाटक के व्यक्ति-पात्रों के पास यद्यपि ऐसे लक्ष्य होते हैं जो अपने में न्याय संगत हैं परन्तु दुःखप्रधान नाटक की मांग के अनुसार वे उनकी सिद्धि इस प्रकार से करते हैं जिसमें एक दूसरे का खंडन एवं हानिकारक एकपक्षीयता निहित होती है। वह मौलिक सत्य जिसका कार्य स्वस्वरूप को अभिव्यक्त करना है संघर्षपूर्ण न होकर सामंजस्यपूर्ण है चाहे जितना अधिक यथार्थ लोक एवं मानवीय कार्य के सामान्य प्रत्यय (conception) में संघर्ष निहित हो। कला सत्य को प्रकट करती है। अतएव ललितकलाकृतिरूप दुःखप्रधान नाटक संघर्ष मात्र को ही प्रदर्शित नहीं कर सकता। अतएव दुःखप्रधान नाटक का लक्ष्य सामंजस्य को प्रदर्शित करना है। परिणाम स्वरूप दुःखप्रधान कृति में जिस वस्तु का निषेध (उच्छेदन) करते हैं वह ऐसी एकपक्षीय विशिष्टता है जो इस सामंजस्य के साथ नहीं रह सकती। दुःखप्रधान कार्य के गतिपथ में यह एकपक्षीय विशेषता या तो नष्ट कर दी जाती है या इसको सत्र करने के लिए बाध्य किया जाता है।

४. दुःखप्रधान नाटक का चौथा स्वाभाविक लक्षण यह है कि यह भय और करुणा के भावों को उत्तेजित तथा संशोधित करता है। यह दुःखप्रधान नाटक का शुद्धीकरण अथवा साधारणीकरण का सिद्धान्त है जिसका मूलरूप से प्रतिपादन एरिस्टाटल ने किया था एवं जिसकी व्याख्या हम एक गत अध्याय में कर चुके हैं। परन्तु हेगेल ने इस सिद्धान्त की व्याख्या सामान्यतः अपने दार्शनिक मत के अनुसार और विशेषतः कर्तव्य मीमांसा दर्शन (philosophy of Right) के आधार पर की है। उन्होंने उत्तेजना एवं शुद्धीकरण की व्याख्या अलग-अलग की है।

हेगेल यह मानते हैं कि वे भावावेग जिनको दुःखप्रधान नाटक उत्तेजित तथा शुद्ध करता है किसी व्यक्ति के निजी अनुभव के अनुकूल अथवा प्रतिकूल संवेदनाएं नहीं होते क्योंकि एक कलाकृति प्रधानरूप से एक व्यक्ति और उसके अनुभवों का प्रदर्शन नहीं करती वरन् उसको प्रकट करती है जो चिदात्मा (spirit) की सत्यता तथा युक्तितत्व के अनुरूप है। अतएव दुःखप्रधान नाटक से संबंधित भावावेगों की उत्तेजना और उनके शुद्धीकरण का स्पष्टीकरण

दुःखप्रधान नाटक की विषयवस्तु के आधार पर करना चाहिए। हेगेल यह मानते हैं कि अपने प्रमेयनिष्ठ संबंध में दुःखप्रधान नाटक के भावावेग सामान्य भावावेगों से भिन्न हैं। अतएव अब हम इन भावावेगों के तात्विक स्वरूपों का निरूपण करेंगे।

दुःखप्रधान नाटक के प्रसंग में भय और करुणा

भय दो प्रकार से सम्भव है–(१) यह उस समय उत्पन्न हो सकता है जब हमारे सामने कोई भयानक परन्तु सीमित वस्तु आती है (२) यह भय उस समय भी उत्पन्न हो सकता है जिस समय उस नैतिकशक्ति का साक्षात्कार करते हैं जो सामाजिक प्रतिभासों (phenomena) के मूल में है अर्थात् वह शक्ति जो अपने को सामाजिक संस्थाओं के रूप में प्रकट करती है जैसे कि परिवार, नागरिकजीवन और राज्य। उस मानव जाति को जो केवल पशुजाति से अपनी तर्कशक्ति के कारण से ही प्रधान रूप में भिन्न है उस भयानक वाह्यशक्ति और उसके प्रकट रूप से भयभीत नहीं होना चाहिए जो पशुओं में भय को उत्पन्न करते हैं और जो शारीरिक रक्षा की उनकी मूलवृत्ति से संबंधित हैं वरन् उस नैतिक शक्ति से भयभीत होना चाहिए जो अपनी स्वतन्त्र तर्कशक्ति में आत्म-परिभाषित (self-defined) है। यह स्वतन्त्र तर्कशक्ति शाश्वत तथा अनुल्लंघनीय है एवं मनुष्य उस समय अपने विरुद्ध इसका आह्वान करता है जिस समय वह उस पर आघात करता है या उसका विरोधी हो जाता है। दुःख प्रधान नाटक दूसरे प्रकार के भय को उत्तेजित करता है और उसका संबंध नैतिक शक्ति की प्रबलता के साथ है।

जिस प्रकार से प्रमेयनिष्ठ संबन्ध में भिन्नता के अनुसार भय दो प्रकार का होता है उसी प्रकार से करुणा अथवा समवेदना भी दो प्रकार की होती है (१) यह सामान्य परभावानुभवानुकूलता (sensibility) है अर्थात् वह समवेदना है जो दूसरों की पीड़ाओं और दुर्भाग्यों पर उत्पन्न होती है और जिसका अनुभव हमको सीमित और निषेध (negative) रूप में होता है। इस रूप में यह एक पीड़ामय संवेदना है (२) शुद्ध समवेदना इस प्रकार पीड़ामय संवेदना नहीं है। यह समवेदनापूर्ण व्यक्ति की श्वास को स्तम्भित नहीं करती। यह दुर्भाग्य की निन्दा करना (deprecation) नहीं है। इसके विपरीत यह उस नैतिक शक्ति के अधिकार के अनुकूल संवेदना है जो अपने को उस पर प्रयुक्त करती है जो उसका विरोध करता है और इसलिए उसको अपना विरोधी बनाता है। यह समवेदना उसके अनुकूल नहीं है जो पीड़ा की दशा में निषेधात्मक अथवा

अभावात्मक है वरन् उसके अनुकूल है जो भावात्मक तथा मौलिक है और इस कारण से आवश्यक रूप से उस दशा में निहित है। दुःखप्रधान नाटक जिस करुणा को उत्तेजित करता है वह दूसरे प्रकार की करुणा है क्योंकि इसका संबंध नैतिक शक्ति के अधिकार के साथ है।

इस प्रकार हेगेल के मतानुसार दुःखप्रधान नाटक से संबंधित करुणा उस पीड़ा अथवा दुर्भाग्य से उत्पन्न शोक की संवेदना नहीं है जो एक व्यक्ति को पराभूत कर रही है। वरन् उस नैतिक शक्ति के अधिकार के अनुकूल यह संवेदना है जो उस समय अपने को प्रकट करती है जब उसकी उपेक्षा करते हुए अतएव उसके विरोध में कोई काम किया जाता है। यह नैतिक शक्ति के अनुकूल संवेदना उस समय उत्पन्न होती है जब हम खण्डित नैतिकता[1] violated morality) के अधिकार के विषय में चिन्तना करते हैं। अतएव ऐसा लगता है कि हेगेल दुःखप्रधान नाटक के पीड़ित नायक को केवल एक माध्यम मात्र मानते हैं जिसकी सहायता से दर्शक नैतिक शक्ति का चिन्तन करता है।

परन्तु इस प्रकार की समवेदना उन चरित्रहीन एवं दुष्ट व्यक्तियों को देखकर नहीं उत्पन्न होती जो अपने दुष्कर्मों का फल भोग रहे हैं। क्योंकि भद्र जनों के चित्तों को वे आकर्षित नहीं करते। अतएव दुःखप्रधान नाटक के उस नायक को जिसकी पीड़ा और दुर्भाग्य नैतिक शक्ति के चिन्तन की ओर ले जाते हैं और तदनन्तर उसके अधिकार के अनुकूल संवेदना को उत्पन्न करते हैं, दृढ़प्रतिज्ञ, शक्तिशाली एवं सच्चरित्र होना चाहिये। वह नायक जिसकी पीड़ा और दुर्भाग्य का स्वभाव अपने किये गये कर्मों के फल जैसा है हमारे चित्त को अपनी ओर आकर्षित करता है परन्तु निन्दनीय इसलिए हो जाता है क्योंकि जिनके साथ वह अपना पूर्ण तादात्म्य करता है वे कार्य नैतिक शक्ति का निषेध करते हैं और उसके विरोधी होते हैं। क्योंकि दुःखप्रधान नाटक से उत्पन्न समवेदना कोई सामान्य प्रचलित शब्दार्थ के अनुसार समवेदना नहीं है। समवेदना शब्द का लोकप्रचलित अर्थ वह सहानुभूति है जो दुर्भाग्यग्रसित व्यक्ति के साथ होती है। यह दुर्भाग्य दैविक एवं केवल उन बाह्य-परिस्थितियों के कारण ही होता है जिनके अस्तित्व में व्यक्ति का कुछ भी योगदान नहीं है अतएव जिनका उत्तरदायित्व उस पर बिल्कुल नहीं है जैसे कि दैववश सम्पत्तिनाश अथवा मृत्यु आदि।

---

१. फ़िला० आ० भाग ४—३००

दुःखप्रधान नाटक केवल भय और करुणा के मूल भावों को ही उत्पन्न नहीं करता वरन् विरोधोपशम (reconciliation) के मूल भाव का भी जनक होता है। यह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि यह उस शाश्वत न्याय के मानसिक साक्षात्कार (vision) को प्रदर्शित करता है जो अपनी शक्ति का प्रयोग उन उद्देश्यों एवं भावावेशों के विरुद्ध करता है जो संघर्ष की ओर ले जाने वाले व्यक्तिगत एवं निजी प्रयोजनों से प्रेरित होते हैं। क्योंकि यह शाश्वत न्याय (eternal justice) उन नैतिक शक्तियों के विरोध और उनके साथ संघर्ष को नहीं सह सकता जो तात्त्विक रूप से सामंजस्य' पूर्ण हैं और यह शाश्वत न्याय जिन (शक्तियों) का शरीर है।

अभी तक हमने यह स्पष्ट किया है कि हेगेल के मतानुसार दुःखप्रधान नाटक जनित भय और करुणा का प्रमेयनिष्ठ संबंध होता है। परन्तु भय उत्पादक भयंकर बाह्य वस्तु वह नहीं है जिसको रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित करते हैं और जो व्यावहारिक जीवन की तत्समान वस्तु का प्रतिनिरूपण है, इसके विपरीत वह परतत्त्वात्मक, शाश्वत एवं अनुल्लंघनीय स्वयं नैतिक शक्ति है। उसी प्रकार से करुणा अथवा समवेदना अर्थात् परभावानुकूल संवेदना का विषय कोई आकस्मिक घटना जनित दुःख नहीं है जैसे कि व्यक्ति को पराभूत कर देने वाले सम्पत्ति का नाश, रुग्णता एवं मृत्यु होते हैं, वरन् वह विषय है जो भावरूप (affirmative) एवं मौलिक है तथा इसी कारण से आवश्यक रूप से उस दुःख में निहित है जिसको एक महान एवं भद्र व्यक्ति अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का एक विशेष लक्ष्य अथवा भावावेश के साथ तादात्म्य करने के साधन से मानों अपने ऊपर आने के लिए आमंत्रित करता है।

परन्तु हेगेलकृत यह सारी व्याख्या दुःखप्रधान नाटक की परिभाषा के पूर्वभाग से ही सम्बन्धित है। यह दुःखप्रधान नाटकगत भय और करुणा और व्यावहारिक लोकगत भय एवं करुणा के मूलभावों के बीच वर्तमान भेद को स्पष्ट करती है। यह शुद्धीकरण (Katharsis) के विषय में हेगेल के अभिमत को स्पष्ट नहीं करती है। क्योंकि शुद्धीकरण का अर्थ 'शोधन' है। चिकित्सा शास्त्रीय उपमिति के अनुसार इसका अर्थ अतिमात्रा, अनिच्छित, अवांछित तथा हानिकारक का निराकरण है। उस धार्मिक शुद्धीकरण की उपमिति के अनुसार भी जिसकी व्याख्या हमने एरिस्टाटलविषयक अध्याय में की है इसका अर्थ भावावेशों तथा भावों में वर्तमान अतिमात्रा को नष्ट करना है। अतएव अभी इस बात की व्याख्या अवशिष्ट ही रह जाती है कि

वह कौन सा तत्त्वांश है जिसको भय, करुणा अथवा समवेदना से हटाया जाता है अर्थात् वह क्या है जिसके निराकरण से उनको शुद्ध करते हैं ?

हेगेल के शुद्धीकरण के सिद्धान्त के विषय में उनके अभिमत को पूर्णतया समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमको 'व्यक्तित्व' के विषय में हेगेल के अभिमत का ज्ञान हो एवं हमको यह ज्ञात हो कि वह कौन सा लोक है जिसमें यह (व्यक्तित्व) क्रियाशील होता है। इसके साथ साथ हमको इसका भी बोध होना आवश्यक है कि अपराध और दण्ड के विषय में उनका मत क्या है ?

व्यक्तित्व

हेगेल का दार्शनिक मत त्रिकों पर आधारित है। (१) ज्ञप्ति (२) प्रकृति एवं (३) चिदात्मा मूल त्रिक की रचना करते हैं। इस त्रिक का अन्तिम पद (चिदात्मा) अपने को (१) प्रमातृनिष्ठ (२) प्रमेयनिष्ठ एवं (३) परतत्त्वरूप चिदात्मा की त्रयी में प्रकट करता है। और प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा अपने को (१) जीवात्मा (२) चेतना अथवा बोध एवं (३) बुद्धि (mind) की त्रयी में प्रकट करती है। जीवात्मा भी अपने को (१) प्राकृतिक आत्मा (२) संवेदनात्मक एवं (३) यथार्थभूत आत्मा की त्रयी में अपने को प्रकट करती है। हेगेल के दार्शनिक मत में व्यक्तित्व का उद्भव द्वन्द्व संधानात्मक प्रक्रिया (dialectical process) में 'यथार्थ भूत आत्मा' की क्रमदशा पर होता है। जिस समय देह और आत्मा अर्थात् चित्–तत्त्व परस्पर एकात्म होते हैं, जब आत्मा देह को ढँक लेती है और देह आत्मा को व्यक्त करती है जब आत्मा को शारीरिक अंगों में उत्पन्न परिवर्तनों का बोध होता है और देह संवेदनाओं तथा भावों को प्रकट करती है, जब देह और आत्मा में अखण्डता होती है तब यथार्थभूत आत्मा (Actual soul) उद्भूत होती है। यह विषयग्राही व्यक्ति चेतन व्यक्ति है। व्यक्ति की रचना में देह और आत्मा का घनिष्ठतम संबंध प्रमुख तथ्य है। व्यक्तित्व वह वैयक्तिकता (indivi-duality) है जिसमें अखण्ड चित्तत्त्व उस पूर्णवृद्धिप्राप्त मानवीय शरीर के साथ एकात्म होता है जिसके पास विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियां और वे जातीय स्वाभाविक लक्षण हैं जिनका कारण वातावरण का प्रभाव है।

परन्तु व्यक्तित्व यथार्थभूत आत्मा (Actual soul) भर ही नहीं है। इसका अनुभवक्षेत्र केवल उस शरीर तक ही सीमित नहीं है जिससे चित्तत्त्व आवृत है। इसके इन्द्रिय बोध, विचार एवं संवेदनाएं प्रमातृनिष्ठभर ही नहीं

होती हैं। इसके विपरीत इस (व्यक्तित्व) में प्रमातृनिष्ठ चिदात्मा की एक अधिक उन्नत क्रम दशा विद्यमान होती है। यह (व्यक्तित्व) केवल यथार्थभूत आत्मा ही नहीं है वरन् बोध (consciousness) भी है। ऐसा होने के कारण इसको विषयवस्तु अर्थात् अनात्म का ज्ञान भी होता है। यह वस्तु का साक्षात्कार आत्मविरुद्ध रूप में अर्थात् अपना सामना करने वाली विशिष्ट बाह्य वस्तु के रूप में करता है। बोध के रूप में विविध प्रमेयनिष्ठ अनुभवों के बीच अपरिवर्तित आत्मरूप का भी यह ज्ञान करता रहता है। यह निर्विकल्प तथा सविकल्प दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों को करता है। पदार्थ (categories) इसके अन्तर्भूत होते हैं और उनको वह विषयवस्तु के लक्षण मानता है। इसमें बुद्धि भी होती है और इसलिए यह विशेष और सामान्य के भेद को स्थापित करता है।

मन के रूप में व्यक्तित्व सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों है। सैद्धान्तिक मन के रूप में यह निर्विकल्प ज्ञान, प्रतिनिरूपण, अनुचिन्तन, कल्पन और स्मरण करता है। व्यावहारिक रूप में यह वह इच्छाशक्ति है जिसका स्वाभाविक लक्षण स्वतन्त्रता है। इस रूप में प्रकृति के बाह्य संसार को अपने से विदेशीय (alien) न मान कर एक ऐसी वस्तु मानता है जिसको वह गढ़ सकता है और जिसको वह निश्चित स्वरूप प्रदान कर सकता है। इच्छाशक्ति के स्वभाव से यह विरुद्ध है कि वह अपने वातावरण की ओर केवल चेष्टाशून्य बनी रहे। इच्छाशक्ति का यह स्वभाव है कि वस्तुओं को उनके वर्तमान रूपों में न पड़ा रहने दे। वरन् उनको इस प्रकार से गढ़ना उसका स्वभाव है कि वे उसके (इच्छाशक्ति) अनुकूल हो जाएं। इस में कार्य करने की प्रवृत्ति है। इसमें आन्तर प्रेरणायें (impulses) उन्मुखताएं एवं रुचियां होती हैं। ये आन्तर प्रेरणाएं इच्छारूप व्यक्तित्व की अन्तर्वस्तु हैं। यह अपने को आन्तर प्रेरणाओं से पृथक् करता है। यह प्राप्त परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करने के लिए एक विशेष आन्तर प्रेरणा को चुनता है। उस आन्तर प्रेरणा को भावावेग कहते हैं जिसके साथ व्यक्तित्व सम्पूर्णतया अपना तादात्म्य करता है।

व्यक्तित्व के दो अंश होते हैं (१) सामान्य रूप (२) व्यक्तिरूप। यह मूलतः चिदात्मा है और इस रूप में यह सामान्य है। परन्तु यह चिदात्मा पूर्णतया विकसित भौतिक शरीर में आवृत है और उस शरीर के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य है। अतएव यह वहां तक एक व्यक्ति है जहां तक और जब तक यह तादात्म्य स्थिर है। यह ज्ञान और इच्छा दोनों है। परन्तु ज्ञान

शक्ति और इच्छा शक्ति दो भिन्न शक्तियां नहीं हैं। एक ही चित्तत्व को उस समय ज्ञान शक्ति कहते हैं जिस समय वाह्य प्रमेयनिष्ठ संसार के साथ उसका सैद्धान्तिक संबंध होता है परन्तु उस समय उसको इच्छाशक्ति कहते हैं जिस समय यह संबंध व्यावहारिक होता है।

हेगेल का मत यह है कि व्यक्तित्व[1] उस समय तक उत्पन्न नहीं होता जिस समय तक प्रमाता न केवल वातावरण से प्रभावित वाह्य जीवन एवं चंचल चित्तवृत्ति, आन्तर प्रेरणा, एवं एषणापूर्ण अन्तरतर जीवन में अपना सीमित रूप में ही आत्मबोध नहीं करता वरन् सम्पूर्णतया सामान्यरूप (abstract) उस अहं (Ego) के रूप में भी आत्मबोध नहीं करता है जिसमें सभी सीमाओं का निषेध होता है। व्यक्तित्व मूलरूप से शुद्धरूप आत्मबोधपूर्ण एकाकी स्वतन्त्र सत्ता है। इसको अपनी स्वतन्त्रता का बोध होता रहता है। प्रत्येक वस्तु से यह अपने को पृथक् कर सकता है। परन्तु यह सब होते हुए भी जब तक सामान्यरूप आत्मा शरीर से आवृत तथा उससे पूर्णतया तादात्म्यापन्न है तब तक यह पूर्णतया सीमित है। अतएव यह (व्यक्तित्व) असीम[2] एवं ससीम की एकात्मता है।

'व्यक्तित्व' विधायक मूल तत्वों में से एक मूल तत्त्व 'इच्छाशक्ति' है। और जिस प्रकार से भार ही पाञ्चभौतिक वस्तु का आधारभूत अंश है उसी प्रकार से स्वतन्त्रता[3] इच्छाशक्ति का आधारभूत गुण है। बिना स्वतन्त्रता के 'इच्छाशक्ति' एक निरर्थक शब्द मात्र है। परन्तु यह स्वतन्त्रता 'इच्छा' अथवा 'व्यक्तित्व' के रूप में ही यथार्थ बनती है।

व्यक्तित्व का कार्य क्षेत्र

व्यक्तित्व का कार्यक्षेत्र अर्थात् वह क्षेत्र जिसमें अपने वातावरण को गढ़ने के लिए व्यक्तित्व अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करता है केवल प्राकृतिक वस्तुओं का क्षेत्र मात्र नहीं है। यह (व्यक्तित्व का कार्यक्षेत्र) शुद्ध रूप से भौतिक संसार नहीं है वरन् वह संसार है जो आंशिक रूप से भौतिक एवं आंशिक रूप से आध्यात्मिक है। इसके आवश्यक विधायक तत्त्व विभिन्न संस्थाएं हैं जैसे न्याय, समाज, नैतिकता एवं राज्य–सत्ता तथा रीतिरिवाज, व्यवहार विधियां, अधिकार और कर्तव्य। हेगेल के मतानुसार ये संस्थाएं

---

१. फिला० रा०–४४ २. फिला० रा० ४५

३. फिला० रा० ११

वहां तक आध्यात्मिक हैं जहां तक वे प्रकृति से उत्पन्न नहीं हैं वरन् स्वतन्त्र सामान्यरूप इच्छाशक्ति अर्थात् प्रमेयनिष्ठ चिदात्मा के प्रकट रूप हैं।

व्यक्तित्व तथा अधिकार

अधिकार (right) का आधार व्यक्तित्व है। अधिकार इच्छाशक्ति का अभिव्यक्तरूप, प्रकटरूप अथवा व्यावहारिकरूप है। यह शक्ति का प्रयुक्त करने का अधिकार है। परन्तु शक्ति के प्रयोग करने का अधिकार केवल वहीं तक ठीक है, अधिकार वहीं तक अधिकार है जहां तक यह अपने ही मूल स्रोत अथवा सिद्धान्त का खण्डन नहीं करता अर्थात् यदि यह उस सामान्य अधिकार का विरोध नहीं करता जो स्वतन्त्रता का प्रथम प्रकट रूप है अर्थात् वह मूल अधिकार जिसका आदेश यह है 'एक मनुष्य की भांति रहो तथा अन्य लोगों का मनुष्य के रूप में आदर करो।' अधिकार (right) उसी समय तक अधिकार है जब तक इसका प्रयोग अर्थात् कार्य में इसका प्रकटन व्यक्ति के निजी, विशेष और स्वार्थपूर्ण हितों से नहीं वरन् सामान्य हितों से उत्प्रेरित होता है। अधिकार उसी क्षण तक अधिकार है जब तक व्यक्ति के कार्य मूल अधिकार (original right) के आदेश के विरुद्ध नहीं है।

व्यक्तित्व एवं अन्याय

व्यक्तित्व मूल रूप से सामान्य रूप[1] है। यह जीवात्मा का अपने मौलिक सामान्य रूप में स्वात्म परामर्श है। यह 'अहं–अहं' है। परन्तु इसके साथ-साथ यह आन्तर प्रेरणाओं निजी हितों और विशिष्ट एषणाओं से युक्त प्राणी (being) है। 'व्यक्तित्व सामान्य और विशेष की एकात्मता है' इस तथ्य के कारण ही अन्याय की सम्भावना होती है। उस कार्य में इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का प्रदर्शन अन्याय है जो निजी लक्ष्य पूर्ति के उद्देश्य से उत्प्रेरित है और जो स्वरूपतः अन्य व्यक्तिओं के लक्ष्यों की नितांत उपेक्षा करता है तथा इसलिए उनका अनादर करता है। अन्याय अधिकार का अर्थात् उस अधिकार का खण्डन अथवा निषेध है जिसका आदेश यह है 'मनुष्य की भांति हो तथा अन्य लोगों का मनुष्य के रूप में आदर करो।' अन्याय केवल निस्सार, अभाव रूप एवं असत्य है क्योंकि अधिकार (right)

---

१. स्टे० ३८८

उस अन्याय का विध्वंस कर जो उसका विरोधी है स्वयं अपनी स्थापना करता है।

हेगेल के मतानुसार अन्याय (गलती) तीन प्रकार के हैं। (१) वह अन्याय जो बिना किसी पूर्वयोजना के किया गया है (२) छल-कपट (३) हिंसा अथवा अपराध। यदि एक व्यक्ति अपने कार्य में अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए सामान्य अधिकार को मानता है, अन्य व्यक्तियों का अनादर नहीं करना चाहता है, उनके हित के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करना चाहता है पर फिर भी उसके कार्य में सामान्य अधिकार का विरोध एवं निषेध तथा दूसरों के हितों पर आघात निहित होते हैं तो वह अन्याय करता है। परन्तु इस प्रकार का किया गया अन्याय पूर्वयोजनाशून्य (unpremeditated) अन्याय है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को आघात देना चाहता है और जान-बूझ कर सामान्य अधिकार का विरोध करता है और फिर भी इस विधि से आचरण करता है कि उस व्यक्ति के मन में जिसको वह वस्तुतः चोट पहुँचाना चाहता है यह विश्वास उत्पन्न हो जाय कि उसके प्रति जो किया जा रहा है वही उचित वस्तु है तो वह छलपूर्ण एवं कपटपूर्ण अन्याय का आचरण करता है।

हिंसा अथवा अपराध

सम्पत्ति व्यक्तिगत 'इच्छा–शक्ति' का साकार रूप है। यह व्यक्ति की 'इच्छाशक्ति'[1] का प्रतिबिम्ब है। यह (सम्पत्ति) व्यक्ति की प्रमेयीभूत 'इच्छाशक्ति' है। अतएव जहां तक व्यक्ति की सम्पत्ति उसकी इच्छाशक्ति का देह रूप है वहां तक सम्पत्ति के प्रति किया गया अन्याय अर्थात् जिसको व्यक्ति 'अपना' कहता है उस पर किया गया आघात स्वयं इच्छाशक्ति पर किया गया आघात है। अपराध ठीक शाब्दिक अर्थ के अनुसार अन्याय है। यह सर्वोपरि कोटि का अन्याय है। यह केवल सामान्य अधिकार का ही निषेध नहीं है वरन् व्यक्तिगत अधिकार का भी निषेध है। यह अधिकार के दोनों पक्षों अर्थात् प्रमातृनिष्ठ तथा प्रमेयनिष्ठ अंशों को खण्डित करता है। जिस समय एक व्यक्ति अपनी काम्य वस्तु की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता हुआ इस प्रकार से कार्य करता है जिससे कि दूसरों के हित आहत होते हैं और वह इस कार्य को जानबूझ कर ही नहीं करता वरन् अपने मनोगत

---

१. फिला० रा० ९०

हितसाधन को उस व्यक्ति तथा उन व्यक्तिओं से छिपाने की भी चेष्टा नहीं करता जिनको वह अपने आचरण से आहत करता है तो वह अपराध करता है। वह केवल सामान्य अधिकार पर ही नहीं वरन् व्यक्तिगत अधिकार पर भी आघात करता है।

दण्ड

स्वतन्त्रता इच्छाशक्ति का गुण है। इच्छाशक्ति स्वतन्त्र है। यह किसी भी प्रकार से वाध्य नहीं होती। एक व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी कार्य को करने के लिए वाध्य कर सकते हैं उसकी शारीरिक एवं अन्य शक्तियों को दमित अथवा नियन्त्रित कर सकते हैं उसकी उस सम्पत्ति को जो उसकी इच्छाशक्ति का देहरूप है छीना जा सकता है परन्तु उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति को, उसकी प्रमातृनिष्ठ इच्छाशक्ति अर्थात् उस इच्छाशक्ति को जिसका उसका शरीर, उसका गुण एवं वह सब कुछ जिसको वह अपना कहता है वाहरी प्रकटरूप मात्र है न तो दमित किया जा सकता है और न नियन्त्रित ही किया जा सकता है। इच्छाशक्ति मूलतः सामान्य रूप है और इसलिए शाश्वत है अतएव कोई भी इसको नष्ट नहीं कर सकता। इस पर आघात एवं इसको वाध्य वहीं तक किया जा सकता है जहां तक यह अपने को अपने वाहरी प्रकटरूप अथवा शरीर से निवृत्त नहीं करती अथवा वहां तक किया जा सकता है जहां तक यह अपना पूर्ण तादात्म्य उस शरीर के साथ किये रहती है और जिसको वह अपना कहती है, जिससे घनिष्टरूप से चिपकी रहती है।

वलात्कार, हिंसा अथवा अपराध अधिकार रहित हैं। क्योंकि यद्यपि इच्छाशक्ति को उसके अव्यक्त रूप में यह आहत नहीं कर सकता फिर भी यह इसके व्यक्त रूप को, इसके वास्तविक रूप को, इसके वाहरी प्रकटन को, इसके विषयीभूत रूप को अथवा उसको जिसको एक व्यक्ति 'अपना' कहता है आहत करता है। और यद्यपि हिंसा, इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का प्रकट रूप है तथापि जहां तक इच्छाशक्ति के प्रत्यक्ष प्रकटरूप अथवा उसके व्यक्त रूप को खण्डित करने अथवा अतिक्रमण करने या निराकरण करने के लिए हिंसा की जाती है वहां तक वह स्वयं इच्छाशक्ति का निषेध बन जाती है और इसलिए वह अधिकारशून्य होती है। हिंसा स्वयं अपने को अपने तात्विक रूप में नष्ट करती है। इसका सिद्धान्त (principle)यह है कि

---

१. फिला० रा० ९१

इसको (हिंसा को) हिंसा से नष्ट होना चाहिए। यह केवल उचित ही नहीं है वरन् आवश्यक भी है कि दूसरा हिंसक कार्य पूर्व हिंसात्मक कार्य को नष्ट कर दे और उसका अतिक्रमण करे।

अपराध[1] वह प्रथम हिंसा है जिसका आचरण एक स्वतन्त्र व्यक्ति करता है। यह व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के ठोस शरीर को आहत करता है। औचित्य के रूप में औचित्य का यह खण्डन करता है। यह (अपराध) निषेधमूलक है। यह केवल व्यक्तिगत इच्छाशक्ति की विशेष वस्तु का ही निषेध नहीं करता वरन् सामान्य एवं असीम इच्छाशक्ति का भी निषेध करता है। क्योंकि जिस समय कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'यह मेरा है' उस समय 'मेरा' के पूरक (complement) में सामान्य निहित होता है। इस प्रकार 'हत्या करना' सबसे महान् अपराध है क्योंकि यह इच्छाशक्ति के सम्पूर्ण ठोस अंश का निषेध ही नहीं करता वरन् उसको सर्वथा नष्ट कर देता है।

औचित्य अथवा अधिकार के रूप में औचित्य अथवा अधिकार पर जो आघात[2] अथवा अपकर्म किया जाता है वह भावधर्मी (positive) बहिर्निष्ठ तथ्य है परन्तु यह एक निषेधधर्मी सत्ता (negative being) है, यह शून्यता मात्र है। इसका यह स्वभाव इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि औचित्य अथवा अधिकार (right) इस निषेध का निषेध करता है, अथवा अधिकार अपना साक्षात्कार उस अनौचित्य के निषेध से करता है जो औचित्य का निषेध है। औचित्य अनौचित्य को खण्डित कर अपनी स्थापना करता है।

अपराध औचित्य को तिरस्कृत करता है। यह औचित्य के स्थान को हड़प लेता है। यह वस्तुओं के उन स्वरूपों को बदल देता है जिनका निज-स्वरूप में स्थिर रहना अपना अधिकार है। परन्तु क्योंकि यह (अपराध) स्वयं इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का प्रकट रूप है इसलिए जब यह उस पर आघात करता है जो स्वयं इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का प्रकट रूप है तो यह स्वयं (इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता) का विरोध करता है और इसलिए निषेधधर्मी होता है। परन्तु औचित्य (right) परतत्त्वात्मक होने के कारण तिरस्कृति का सहन नहीं करता अर्थात् विरोध को सहन नहीं करता। औचित्य का यह स्वभाव है कि वह अपने निषेध का निषेध करे। अतएव

---

१. फिला० रा० ९३ २. फिला० रा० ९४,

वह दण्ड जो अनौचित्य अथवा अपराध का आवश्यक अनुगामी है निषेध का निषेध है। वास्तविक औचित्य आघात को नष्ट करता है तथा उसके स्थान को ग्रहण करता है और इस प्रकार से यथार्थता के लोक में अपने को आवश्यक अंश के रूप में प्रदर्शित करता है। भावधर्मी (positive) रूप में अपराध केवल अपराधी की विशेष इच्छाशक्ति रूप होता है। इस विशेष रूप में इस इच्छाशक्ति को आहत करना अपराध का अतिक्रमण करना है और औचित्य को फिर से प्रतिष्ठित करना है।

अपराध का आचरण करने वाला व्यक्ति जो दण्ड पाता है वह नैसर्गिक रूप से न्यायसंगत है क्योंकि यह (दण्ड) स्वयं उसकी मूल इच्छाशक्ति को प्रकट करता है। दण्ड स्वयं अपराधी का औचित्य है और स्वयं उसके कार्य में निहित है। क्योंकि अपने अपराधपूर्ण कार्य में वह इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता को उसकी सामान्यता में दृढ़तापूर्वक मानता (assert) है और उसको नियम के रूप में स्थित करता है। वह अपने अपराध में इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता को मानता है अतएव वह दण्ड जो इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का स्वयं एक उच्चतर प्रकटीकरण है स्वयं उस अपराधी का अधिकार है।

इस प्रसंग में हेगेल ने एक प्रश्न उठाया है जो तुलनात्मक कलाशास्त्र के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और जो शुद्धीकरण (katharsis) के उनके सिद्धान्त के तात्त्विक स्वरूप को सुस्पष्ट करता है। वह प्रश्न यह है "अपराध में ऐसी कौन-सी[1] वस्तु है जिसकी सत्ता को मिटाना आवश्यक है?" यदि दण्ड निषेध का निषेध है, यदि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के प्रकटीकरण के रूप में दण्ड केवल उसी को नष्ट करता है जो दोषपूर्ण (evil) है तो यह निर्धारण करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि दोषपूर्ण का अस्तित्व कहाँ पर है? और हेगेल इस प्रश्न का उत्तर देते हैं[2] "सामान्य रूप से दोषपूर्ण का उद्गमस्थान स्वतन्त्रता की इस आवश्यकता में है कि वह प्राकृतिक दशा से ऊपर उठे और स्वस्वरूप प्राप्त करे।" दोषपूर्ण का उद्गम नैसर्गिक इच्छाशक्ति के अर्थात् व्यक्तिगत इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता अर्थात् सामान्य रूप इच्छाशक्ति से विरोध में है। इस विरोध में नैसर्गिक इच्छाशक्ति आत्मरूप में स्वयं अपने नैसर्गिक स्वभाव से विरुद्ध तथा विषम होती है। अतएव इच्छाशक्ति की विशिष्टता ही दोषपूर्णता है और इसलिए इस रूप में इसका दण्डरूप औचित्य से निषेध करना और इसको नष्ट करना आवश्यक है।

---

१ फिला० रा० ९६, २. फिला० रा० १३४

दोषपूर्ण के दो स्वरूप हैं (१) दोषपूर्ण का अस्तित्व अवश्यंभावी है। एवं (२) दोषपूर्ण के अस्तित्व का नष्ट होना अवश्यंभावी है।

हेगेल के मतानुसार शुद्धीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या

अब हम शुद्धीकरण (katharsis) की हेगेलकृत व्याख्या को समझ सकते हैं। भय वह भाव है जिसका विषय के साथ सम्बन्ध होता है। सामान्य भय का सम्बन्ध किसी ऐसी भयानक बाह्य वस्तु के साथ होता है जो सीमित है। परन्तु दुःखान्त नाटक जनित भय का सम्बन्ध किसी सीमित वस्तु के साथ नहीं होता। इसका विषय अर्थात् भय उत्पादक वस्तु उस परतत्त्वात्मक औचित्य की शक्ति है जिसको दुःखान्त नाटक प्रकट करता है।

इस परतत्त्वात्मक औचित्य को एक दुःखान्त नाटक में 'नैसर्गिक दशा से ऊपर उठते हुए एवं स्वस्वरूप प्राप्त करते हुए' प्रदर्शित करते हैं। इसे निषेध के निषेध से अर्थात् उस दोष या अपराध के निषेध से प्रदर्शित करते हैं जो स्वयं अपना निषेध इसलिए है क्योंकि यह औचित्य का औचित्य के रूप में निषेध है। दोष का यह निषेध दोषगत उस व्यक्तिनिष्ठ अंश का निषेध है जो औचित्य का विरोध करता है। अतएव दोष के दण्ड को प्रदर्शित करने में दुखान्त नाटक अपनी प्रदर्शनीय वस्तु को व्यक्तितत्त्व से मुक्त करता है और इसलिए औचित्य की परतत्त्वात्मक शक्ति अर्थात् लोकोत्तर न्याय (divine justice) को प्रकट करता है। तथा दुःखान्त नाटक जनित भय उसी सीमा तक शुद्धीकृत होता है जहाँ तक इस की विषयवस्तु अर्थात् परतत्त्वात्मक औचित्य की शक्ति का शुद्धीकरण उस व्यक्तिनिष्ठ अंश से किया जाता है जो उस (परतत्त्वात्मक औचित्य) का विरोधी है और जो दोष का उद्गमस्थल है। समवेदना के विषय में भी यही बात प्रयुक्त होती है क्योंकि यह नैतिक शक्ति की मांग (claim) के अनुकूल संवेदना है। अतएव हेगेल के मतानुसार शुद्धीकरण का अर्थ 'अव्यक्तीकरण' (deindividualisation) अथवा 'साधारणीकरण' है।

जिस समय हमने कलाशास्त्रीय समस्या के प्रति हेगेल के दृष्टिकोण का उल्लेख इस अध्याय के पूर्व भाग में किया था उस समय हमने यह लिखा था कि उन्होंने इस समस्या का समाधान तीन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है—(१) कलाएँ और उनकी कृतियाँ (२) कलाकृति का उत्पादक अर्थात् कलाकार एवं (३) कलाकृतियों का आस्वादन करने वाला व्यक्ति अर्थात्

सहृदय। अभी तक हमने कलाशास्त्रीय समस्या की व्याख्या मुख्यरूप से प्रथम दृष्टिकोण से की है और यह स्पष्ट किया है कि एक कलाकृति के मूल विधायक तत्त्व कौन से हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है ? अब हम कलाशास्त्रीय समस्या का समाधान दूसरे दृष्टिकोण अर्थात् कलाकार के दृष्टि-कोण से यह स्पष्ट करने के लिए करेंगे कि एक कलाकृति की रचना के लिए कौन सी प्रमातृनिष्ठ दशाएँ आवश्यक हैं।

कलाकार

कलाकृति की उत्पत्ति मानवीय चिदात्मा में होती है। कलाकृति की रचना आध्यात्मिक क्रिया से होती है। यह बाह्य प्रकृति की नैसर्गिक उपज मात्र नहीं है। यह अपने उचित रूप को कलाकार की सृजनात्मक आन्तर-प्रेरणा (impulse) से ग्रहण करती है। इस सृजनात्मक क्रिया के तीन स्पष्ट स्वरूप हैं (१) कल्पना (२) प्रतिभा और (३) आन्तरप्रेरणा।

सृजनात्मक आन्तरप्रेरणावान् होने के अतिरिक्त कलाकार को बहुदर्शी एवं बहुश्रुत होना चाहिए तथा उसके पास बहुत बड़ा विचारों का संचय होना चाहिए। उसको सत्य का सूक्ष्म ज्ञाता होना चाहिए और उसके प्रति उसकी अचल निष्ठा होना चाहिए। उसको पूर्ण रूप से मनुष्य की आत्मा का ज्ञाता होना चाहिए अर्थात् उसको उन भावावेशों का ज्ञाता होना चाहिए जो मानवीय हृदय में उठते हैं और उस सबका ज्ञानी होना चाहिए जिसके लिए वह (हृदय) उत्कण्ठित होता है और संघर्ष करता है। उसको उन विभिन्न प्रकारों को जानना चाहिए जिनमें मानवीय आत्मा अपने को बाह्य संसार में प्रकट करती है।

कल्पना-शक्ति

जिस समय हमने सैद्धान्तिक मन (theoretical mind) के हेगेल-प्रतिपादित तात्त्विक स्वरूप की व्याख्या की थी उस समय हमने काव्यविषयक कल्पनाशक्ति के उन विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया था जिनके कारण वह सामान्य प्रतिच्छाया विधायक (immage-making) शक्ति से भिन्न होती है। अतएव यहाँ पर हम उसके विषय में कुछ ही बातों का और उल्लेख करेंगे। काव्यविषयक कल्पना स्वातन्त्र्यशून्य प्रतिच्छायाजनक कल्पना (passive visionary fancy) से पूर्णतया भिन्न है। यह सृजनक्षम है। इसके पास निपुण आँखों तथा कानों के माध्यम से सत्य के स्वरूप और उन

रूपों को जिनमें यह अपने को प्रकट करती है ग्रहण करने की विलक्षण शक्ति होती है। इस प्रकार जितना भी यह ग्रहण करती है उसको संचित रखने के लिए उसके पास विलक्षण रूप से चिरस्थायी स्मृति होती है। यह उस सबको प्राप्त करने की चेष्टा करती है जो मनुष्य जाति की रुचि के अनुकूल है। यह कलाकृति की रचना के लिये उपादान सामग्री को प्रदान करती है।

कलाकार की सृजनात्मक क्रिया का एक स्वरूप काव्यविषयक कल्पना है। पुनःपुनर्मनन इसका एक आवश्यक अंश है। केवल पुनःपुनर्मनन के ही साधन से कलाकार अपने अन्तरस्थ सामग्री वैभव का ग्रहण कर सकता है। क्योंकि कलाविषयक कल्पना का यह कर्तव्य है कि यथार्थ लोकलभ्य परिच्छिन्न विषय एवं परिमित प्रमातारूप वस्त्रों से अवगुण्ठित रूप में परतत्त्व का बोध कराए। अतः उस बाह्य लोकलभ्य विषय के रूप के साथ बोधगम्य उपादान सामग्री को मिश्रित करने में उसको, अपनी कलाकृति को बलिष्ठ बनाने के लिए, पुनःपुनर्मनन का आश्रय लेना आवश्यक है। हेगेल का मत यह है कि केवल मूर्खों का ही यह अभिमत है कि वास्तविक कलाकार यह थोड़ा-सा भी नहीं जानता कि उसके हाथ और इन्द्रियों का क्या कर्तव्य है।[1]

(२) निपुणता और प्रतिभा

उस सृजनात्मक क्रिया को प्रतिभा कहते हैं जिसकी सहायता से कलाकार मूलतः युक्तिमूलक (rational) विषयवस्तु को एक ऐसा यथार्थ शरीर सौंपता है जो प्रकृति की कृति की अपेक्षा अधिक उस कलाकार की ही कृति है। यह (प्रतिभा) तत्त्वतः मानवीय आत्मा का गुण है। परन्तु निपुणता (talent) प्रतिभा से कुछ भिन्न है, यद्यपि एक वास्तविक कलाकार के पास ये दोनों शक्तियाँ परस्पर संयुक्त रूप में उपलब्ध होती हैं। यह केवल कार्य को करने की निपुणता है अर्थात् प्रातिभ चक्षुओं से साक्षात्कृत वस्तु को भौतिक माध्यम में प्रकट करने की क्षमता है। अतएव निपुणता स्वयं किसी वास्तविक कलाकृति की रचना नहीं कर सकती। एक वास्तविक कलाकृति की रचना करने के लिए प्रतिभाशक्ति का बलिष्ठ ज्योतिर्विन्दु आवश्यक है।

कलाकृति और प्रतिभाशक्ति

एक कलापूर्ण कृति की रचना करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

---

१. फिला० आ० भाग १—३८३.

१—कलात्मक कृति के विधायक नियमों की पूरी जानकारी और विषय-वस्तु की आवश्यकता के अनुसार उनका प्रयोग करने का अभ्यास।

२—कलाकृति को रचने की उस कलात्मक शक्ति पर अधिकार जिसको प्रतिभाशक्ति कहते हैं।

परन्तु साहित्य के कुछ मीमांसकों का यह अभिमत है कि कलाकृति की रचना करने के लिए निपुणता शक्ति ही पर्याप्त है और कुछ यह मानते हैं कि प्रतिभाशक्ति अकेले ही कलाकृति की रचना कर सकती है। इस प्रकार से जिस समय कुछ कलासमीक्षक यह मानते हैं कि कलाकृति की रचना करने के लिए नियमों का ज्ञान और उनका अभ्यास ही पर्याप्त है तो उस समय कुछ ऐसे भी कलासमीक्षक हैं जिनका यह मत है कि इस प्रकार के नियमों का ज्ञान आवश्यक ही नहीं है, वरन् हानिकारक भी है, प्रतिभाशक्ति अपने में पर्याप्त है।

हेगेल का मत यह है कि बहुमूल्य कलाकृति की रचना करने के लिए दोनों का संयोग आवश्यक है। दोनों में से अकेले कोई भी पर्याप्त नहीं है। ठीक इसी मत को मम्मट भी मानते हैं।[1]

कलाकार के लिए अध्ययन का महत्व

जितने अधिक ऊँचे कलाकार के पद को प्राप्त करने की इच्छा एक कलाकार में है उतना ही अधिक मन और आत्मा की गहराइयों को उसे चित्रित करना चाहिए। इन गहराइयों को क्षणिक दृष्टिपात से जाना नहीं जा सकता है। इनका गम्भीर ज्ञान विशेष रूप से आत्माओं के संसार एवं प्रमेयनिष्ठ संसार की ओर अपनी बुद्धि-शक्ति को संचालित करने से प्राप्त करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में भी अध्ययन एक अकेला ऐसा साधन है जिससे कलाकार ऐसी विषयवस्तुओं का बोध कर सकता है और अपने मनोगत भावों को प्रदर्शित करने के लिए आधारस्वरूप ढांचे तथा अन्य उपादान सामग्री को पा सकता है।

काव्य का उद्देश्य उस मानवता (humanity) को जो विषयवस्तु (subject–matter) तथा मननशक्ति से परिपूर्ण है तथा उसके उन गहनतर हितों (profounder interests) और शक्तियों को चित्रित करना है जो उसे संचालित करती हैं (move)। अतएव इससे पूर्व कि स्वयं प्रतिभाशक्ति अपने परिपक्व फल को तथा सारपूर्ण विषयवस्तु को कलाकृति के रूप

* १. का० प्र० २–३

में प्रकट करे स्वयं बुद्धि तथा हृदय को जीवन, अनुभव एवं विचार से अति- मात्रा एवं गहन रूप से अनुशासित होना चाहिए।

(३) आन्तरप्रेरणा (Inspiration)

कल्पनाशक्ति और रचना-सम्बन्धी निपुणता के बीच घनिष्ठ सहयोग आन्तरप्रेरणा है। एक विशिष्ट विषयवस्तु में सम्पूर्णतया निमग्न होने की यह शक्ति है, अर्थात् यह विषयवस्तु का सम्पूर्ण मानसिक प्रत्यक्ष (vision) करने की केवल शक्ति ही नहीं है वरन् बाह्य उपादान सामग्री में समुचित रूप से उसको प्रकट करने की भी शक्ति है। इसमें आत्म-विस्मरण अवश्यमेव होता है अर्थात् इसमें व्यक्तिगत स्वभाव-विलक्षणताओं (idiosyncrasies) एवं उन सब वस्तुओं से व्यक्ति ऊपर उठता है जो दैववश उससे सम्बन्धित हैं। संक्षिप्त रूप में कहें तो कहेंगे कि विषयवस्तु में सम्पूर्णतया निमग्न होना ही आन्तर-प्रेरणा है। प्रकृति के सौन्दर्यपूर्ण दृश्य, मदिरा अथवा सबल इच्छाशक्ति के कारण आन्तरप्रेरणा उत्पन्न नहीं होती। इसके विपरीत इसका वह विशिष्ट विषयवस्तु कारण होती है जिसको कल्पना-शक्ति कलात्मक स्वरूप देने के लिए ग्रहण करती है।

कलात्मक सन्तुष्टि

एक कलाकृति मुख्यतया इन्द्रियों के लिए नहीं होती। इच्छा की विषय-वस्तु होना उसका प्रयोजन नहीं है। इन्द्रियों को सन्तुष्ट करना उसका ध्येय नहीं है। उसकी रचना मुख्यतया मन को प्रभावित करने के लिए की जाती है। अतएव बिना उस प्रकार की अभिलाषा के जो इच्छा की इन्द्रियगोचर विषयवस्तु के प्रति सामान्य लोगों की होती है सहृदय व्यक्ति अपने को कला-कृति से सम्बन्धित करता है। वह अपना सम्बन्ध उस कलाकृति के साथ इस प्रकार से जोड़ता है कि मानो वह एक ऐसी वस्तु है जो उसकी स्वात्मा को प्रतिबिम्बित करती है। अर्थात् जो दर्पण के समान आत्मा के जीवन के किसी क्षण का प्रतिबिम्ब देती है। इस प्रकार से कला की एक कृति बुद्धि[1] की मननात्मक शक्ति के लिए ही केवल है और इस कलाकृति के साथ कलात्मक सम्बन्ध से जो सन्तुष्टि उत्पन्न होती है वह शुद्ध रूप से आध्यात्मिक सन्तुष्टि है। इस सन्तुष्टि का कारण कलाकृतिगत आत्मप्रतिबिम्ब पर मनन द्वारा प्राप्त आत्मप्रत्यभिज्ञा है।

---

१. फिला० आ० भाग १—४९

सामान्यता को उस प्रत्यक्षणीय रूप में प्रकट करती है जिसमें इस (मन) की स्वतन्त्रता व्यक्त होती है। कलाकृति सामान्य का विशेषीकरण है। परन्तु कलाकृतिजनित अनुभव में विशेषीकृत का साधारणीकरण होता है। क्योंकि जिस समय मन एक कलाकृति का मनन करता है उस समय यह उस बाह्य आवरण को सम्पूर्णतया वेध देता है जिसको यह कला के रूप में आत्मविच्छन्नीकरण की दशा में धारण करता है तथा उस आत्मा, यथार्थ अर्थ, वास्तविक अर्थात् स्वयं मन को अनुभूत करता है जिसको यह आवरण प्रच्छन्न करता है। जिस प्रकार से प्रत्यभिज्ञा का अर्थ उस किसी वस्तु का पुनः बोध करना है जिसको पूर्व समय में वर्तमान दशाओं और रूप से भिन्न दशाओं तथा रूप में बोध किया था उसी प्रकार से कलाकृतिजनित अनुभव एक प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभव है क्योंकि इसमें वह मन जो अपने को प्रमातृरूप में जानता है उसका पुनः बोध कलाकृतियों में बाह्य रूप से अवगुण्ठितता की दशा में करता है।

अध्याय १२

शोपेनहावर का स्वातन्त्र्यवादाश्रित स्वतन्त्र कलाशास्त्र

शोपेनहावर का महत्त्व

शोपेनहावर (सन् १७८८–१८६० ई०) तुलनात्मक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि उनके मतानुसार कलाकृतिजनित अनुभव एक लोकोत्तर अनुभव है। यह एक उस ज्ञप्ति का अवबोध है जो इन्द्रियजन्य ज्ञान के रूपों से परे है अर्थात् काण्ट की दर्शनशास्त्रीय पदावली में इन्द्रियशक्ति (sensibility) एवं बुद्धिशक्ति (understanding) से अग्राह्य तथा देश, काल एवं कार्यकारणता से परे है अथवा शोपेनहावर के स्वातन्त्र्यवादी दर्शनशास्त्र की पदावली में पर्य्याप्त युक्ति-तत्त्व के नियम (principle of sufficient reason) के चार रूपों से परे है। यह अनुभव उस समय प्राप्त होता है जिस समय विशिष्ट प्रमाता विशिष्ट नहीं रह जाता, अथवा जिस समय वह शुद्ध इच्छाशून्य प्रमाता भर रह जाता है। कलाकृतिजनित अनुभव का यह तात्त्विक स्वरूप (conception) भारत के कलाशास्त्र के उन प्रतिपादकों के तत्सम्बन्धी स्वरूप के समान है जो कलाकृतिजनित अनुभव के प्रमात्रंश एवं विषयांश (सहृदय और कलाकृति) के साधारणीभाव की बात करते हैं। यह अनुभव अभिलाषाशून्य होता है और इसमें बोध इच्छाशक्ति की अनुचरता से मुक्त होता है।

शोपेनहावर के मतानुसार कला की विषयवस्तु वह है जो सभी बाह्य एवं इन्द्रियग्राह्य सम्बन्धों से परे है। कला शुद्ध मनन शक्ति से ग्राह्य शाश्वत ज्ञप्तियों की प्रतिकृति उत्पन्न करती है। वस्तुओं को देखने का यह ऐसा प्रकार है जो पर्याप्त युक्तितत्त्व के नियम (principle of sufficient reason) से सर्वथा मुक्त है। कला कलाकार के क्षितिज को वैयक्तिक सत्ता की सीमा से बहुत परे तक विस्तृत करती है और इस प्रकार से कलाकार को वह शक्ति देती है जिसकी सहायता से जो अल्पांश उसके अवबोध में आता है उससे वह पूर्ण चित्र को अङ्कित करता है। केवल प्रतिभा ही ज्ञप्ति (idea) का अवबोध कर सकती है तथा कल्पना प्रतिभा का आवश्यक तत्त्व है। प्रतिभा

का यह तात्त्विक स्वरूप बहुत कुछ भारतीय कलाशास्त्र-में प्रतिपादित प्रतिभा[1] के तात्त्विक स्वरूप के समरूप है।

गत पंक्तियों में कथित शोपेनहावर के कलाशास्त्रीय सिद्धांत के संक्षिप्त एवं तुलनात्मक विवरण से यह स्पष्ट होता है कि इसको सम्यक् रूप से समझने के लिए उनके स्वातन्त्र्यवादी दर्शनशास्त्र के मूल सिद्धान्तों को समझना आवश्यक है। अतएव संक्षेप रूप से हम उनका वर्णन करेंगे।

शोपेनहावर का दर्शन-शास्त्र

शोपेनहावर का स्वातन्त्र्यवाद घनिष्ठ रूप से कश्मीर के अद्वैतवादी शैव-मत की स्वातन्त्र्यवादी प्रवृत्ति के साथ समरूप है। दोनों दार्शनिक मत यह मानते हैं कि इन्द्रियानुभव के तल पर जो कुछ भी ज्ञात होता है वह केवल एक प्रतिभास मात्र अथवा ज्ञप्ति ही है। दोनों दार्शनिक मतों का यह अभिमत है कि ज्ञप्तिस्वरूप होने के अतिरिक्त अपने आन्तरिक स्वभाव में यह विश्व इच्छा-शक्ति स्वरूप है। और दोनों मतों का यह कथन है कि दार्शनिक प्रज्ञा अथवा तत्त्वज्ञान इस सत्य के मननशील और असंग आत्मा में यह अनुभव करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि 'यह विश्व मेरी ज्ञप्ति है'। परन्तु इन दोनों दार्शनिक मतों में आधारभूत भेद भी है। क्योंकि जिस समय शोपेनहावर यह मानते हैं कि जड़-स्वरूप इच्छाशक्ति वस्तुओं का परमतत्त्व है, कश्मीर के शैवमतावलम्बी यह मानते हैं कि इच्छाशक्ति निरवच्छिन्न चित्तत्त्व का एक अंश मात्र है। यह (शैव) मत इच्छाशक्ति के अनुभव के अनुकूल है जैसा कि स्वयं शोपेनहावर भी स्वीकारकरते हैं[2]।

इस प्रकार से शोपेनहावर के मतानुसार परिच्छिन्न व्यक्ति को ज्ञात संसार केवल ज्ञप्ति रूप है और इसका आन्तरिक तत्त्व इच्छाशक्ति है। इस मत का प्रतिपादन उन्होंने अपने दो ग्रन्थों में किया है। (१) दि वर्ल्ड ऐज़ आइ-डिया (The world as idea) (२) दि वर्ल्ड ऐज़ विल (The world as will)

(१) ज्ञप्तिरूप में विश्व

कान्ट के दार्शनिक मत से प्रभावित होने के कारण शोपेनहावर इस निष्कर्ष

१. स्व० कला० शा० भाग १-१८८

२. सोलहवीं आल-इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स
कार्य-विवरण (प्रोसीडिङ्स्) भाग २ ३३०—३६

तक पहुंचे थे कि व्यक्ति प्रमाता को जिस संसार का बोध होता है वह ज्ञप्ति-रूप अथवा आभास रूप है।

वे कान्ट के इस मत को ठीक मानते हैं कि जिन नियमों के अनुसार आभास (phenomena) परस्पर संयुक्त होते हैं, अर्थात् काल, दिक्, कार्य-कारणता आदि, वे केवल प्रमातृनिष्ठ हैं। वे काण्ट के इस अभिमत को भी ठीक मानते हैं कि वे ज्ञान के केवल रूप मात्र हैं तथा उनके (रूपों के) पथप्रद-र्शन में चाहे जितनी दूर तक परीक्षा की जाय संसार के यथार्थ स्वभाव के बोध के प्रति कोई भी प्रगति नहीं हो सकेगी।

वे एक आभासवादी (phenomenalist) नहीं हैं। वे एक ज्ञप्तिवादी (Idealist) दार्शनिक हैं और अधिकांश में वस्तुनिष्ठ ज्ञप्तिवादियों (objective Idealist) से उनका मत मिलता-जुलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि सम्बन्ध को वे परम पदार्थ[1] मानते हैं। इसके अन्तर्गत वे दो आश्रित पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं (१) उस प्रमाता और प्रमेय का भेद जो सभी प्रकारों की ज्ञप्ति का सामान्य रूप है एवं (२) पर्याप्त युक्ति-तत्त्व का नियम (principle of sufficient reason) जिसके विविध रूप हैं (अ) कारणता (आ) ज्ञान का आधार (Ground of knowledge) (इ) अस्तित्व (being) विषयक पर्याप्त युक्ति-तत्त्व का नियम एवं (ई) प्रयोजन (motivation)। पर्याप्त युक्ति-तत्त्व का नियम सामान्यतः आवश्यक सम्बन्ध को प्रकट करता है तथा केवल विशेष कोटि की ज्ञप्तियों के विषय में ही प्रामाणिक होता है। अतएव उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि इससे अधिक और अकाट्य सत्य नहीं है कि ज्ञान के लिये जो कुछ भी वर्तमान है वह सब प्रमाता के साथ विषयवस्तु के रूप में ही सम्बन्धित है अर्थात् वह एक प्रत्यक्ष-कर्ता का प्रत्यक्ष है यानी ज्ञप्ति है। काण्ट के दार्शनिक मत के अनुसार प्रति-भास में आवश्यक रूप से दिक् तथा कालनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं। परन्तु शोपेन-हावर के मतानुसार ज्ञप्ति वह है जो प्रमाता के साथ सम्बन्धित है। यह सम्भव है कि दिक् तथा काल की सीमाओं से रहित होने पर भी एक वस्तु ज्ञप्तिरूप बनी रहे। इसको स्वस्वरूपस्थ वस्तु (Thing-in-itself) नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार से वे यह मानते हैं कि दिक् एवं काल के सम्बन्धों से मुक्त होने पर भी कलात्मक अनुभव का विषय एक ज्ञप्ति है क्योंकि यह प्रमाता से सम्बन्धित है यद्यपि वह स्वयं भी सभी परिच्छेदों से स्वतन्त्र है। ज्ञप्ति के

---

१. व० वि० आ० भाग १-७

इस तात्त्विक स्वरूप (conception) को शोपेनहावर ने बर्कले के दर्शनशास्त्र से लिया था। क्योंकि बर्कले के दार्शनिक मत की आधारशिला यह सिद्धान्त था कि 'बिना ज्ञाता के ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व असम्भव है।'

इस प्रकार शोपेनहावर ने 'ज्ञप्ति' शब्द का प्रयोग केवल उसी के लिए नहीं किया है जिसकी रचना पर्य्याप्त युक्तितत्त्व के चार रूपों के अनुसार हुई है वरन् प्लेटो-प्रतिपादित ज्ञप्ति के लिए भी किया है। परन्तु वे प्लेटो के इस मत से सहमत नहीं हैं कि ज्ञप्तियों का लोक नक्षत्रों के लोक से परे है। शोपेनहावर ने प्लेटो-प्रतिपादित 'ज्ञप्ति' के तात्त्विक स्वरूप में एरिस्टाटल ने जो संशोधन किया है उसको ठीक माना है।[1] एरिस्टाटल यह मानते हैं कि ज्ञप्तियाँ रूपतत्त्व (form) हैं, वस्तुओं की संचालक शक्तियाँ हैं, ये वे शक्तियाँ हैं जो वस्तुओं को उनके स्वरूप प्रदान करती हैं। परन्तु शोपेनहावर यह मानते हैं कि वस्तुओं के अन्तर्गत इच्छाशक्ति के विषयीभवन की विभिन्न मात्रा रूप (grades) ये ज्ञप्तियाँ हैं।

पर्याप्त युक्तितत्त्व के नियम के रूपों के अनुसार रची गई ज्ञप्ति तथा पर्याप्त युक्तितत्त्व के नियम से परे अर्थात् लोकातीत (transcendent) ज्ञप्ति का परस्पर भेद स्वातन्त्र्यवादी कलाशास्त्र के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि पूर्वकथित ज्ञप्ति इन्द्रियानुभव का विषय है जब कि परकथित ज्ञप्ति इन्द्रियानुभवातीत (transcendental) ज्ञान का विषय है। यह कलाकृति जनित अनुभव के प्रमेयनिष्ठ अंश का विधायक है।

प्रमाता

प्रमाता का तात्त्विक स्वरूप दूसरा विषय है जिसके प्रतिपादन में शोपेनहावर कान्ट के प्रत्यक्षज्ञानवाद (phenomenalism) से प्रभावित थे। क्योंकि इन्द्रियानुभवातीतवादी अपने दर्शनशास्त्र की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार कान्ट प्रमाता को इन्द्रियानुभवातीत भी मानते थे और इन्द्रियानुभवसिद्ध भी मानते थे। इन्द्रियानुभवातीत इन्द्रियानुभवसिद्ध का आवश्यक पूर्व भावी (condition) है। शोपेनहावर ने कान्टकृत इन्द्रियानुभवातीत प्रमाता एवं इन्द्रियानुभवसिद्ध प्रमाता के भेद को माना है परन्तु उनके मूल स्वभाव के विषय में कान्ट से उनका मतभेद है।

(१) इन्द्रियानुभवातीत स्ववृत्तिबोध (apperception) के विषय में

---

१. व० वि० आ० भाग १-१८६.

कान्ट के मत का संशोधन शोपेनहावर ने किया है। उनका मत यह है कि कान्ट की यह प्रतिज्ञा कि "'मैं विचारता हूँ' हमारी सभी ज्ञप्तियों के साथ-साथ रहना चाहिए।" अपूर्ण है। क्योंकि इसमें 'मैं' की व्याख्या नहीं[1] है। इसके अतिरिक्त काण्ट के मतानुसार वह आत्मचेतना, जिसके विषय में वे यह कहते हैं कि यह विषय के बोध के लिए आवश्यक पूर्वभावी (condition) है, स्वयं चेतना मात्र है। एक चेतना दूसरी चेतना के लिए आवश्यक पूर्वभावी किस प्रकार से कही जा सकती है ? विषयभूत संसार के बोध को जो अखंडता तथा सम्बन्ध अर्पित करता है क्योंकि वह सभी सांसारिक ज्ञप्तियों में आदि से अन्त तक वर्तमान होता है जो इसका मूल द्रव्य (substratum) अथवा इसका स्थायी अवलम्ब है, वह इसका आवश्यक पूर्वभावी नहीं हो सकता है अतएव यह ज्ञप्ति नहीं हो सकता। यह बोध का मूल भाग (prius) है जैसे वृक्ष का मूल होता है और जिस प्रकार से वृक्ष का फल होता है उसी प्रकार से बोध उसका फल है। अतएव शोपेन हावर यह मानते हैं कि इच्छाशक्ति ही इन्द्रियानुभवकर्त्ता ज्ञाता के लिए आवश्यकपूर्वभाविनी है। क्योंकि केवल इच्छाशक्ति ही अपरिवर्तनशील है एवं सम्पूर्णतया एकरूप है। जिस प्रकार से एक दर्पण में कभी एक और कभी दूसरी वस्तु को क्रमशः प्रतिबिम्बित होने के कारण प्रतिबिम्ब विषयक अखण्डता नहीं रह सकती उसी प्रकार से बिना इच्छाशक्ति के बुद्धि के पास बोध की अखण्डता नहीं हो सकती। बोध (चेतना) में केवल इच्छाशक्ति ही स्थायी एवं अपरिवर्तनशील तत्त्व है। इच्छाशक्ति पर बुद्धि का अधिकार नहीं है वरन् यह बुद्धि का मूल, स्रोत अथवा नियन्त्रकमात्र है।

(२) शोपेनहावर के मतानुसार ज्ञाता अर्थात् इन्द्रियानुभवकर्ता प्रमाता हमारी सभी ज्ञप्तियों के उस वृत्तरूप क्षेत्र (sphere) के विस्तारशून्य[2] केन्द्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसके अर्धव्यास (radii) केन्द्राभिमुखी हैं अथवा यह कहें कि वह केन्द्र है जिसमें मस्तिक की क्रिया की किरणें परस्पर मिलती हैं।

इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

शोपेनहावर यह मानते हैं कि सम्पूर्ण प्रतिभास (phenomenon) के मूल-भाग में जो वर्तमान है, अथवा वह जो अपने में सत्तावान एवं मौलिक है इच्छाशक्ति मात्र ही है। प्रतिभास रूप लोक की विधायक ज्ञप्तियों के विविध

१. व० वि० आ० भाग २-५१. २. व० वि० आ भाग २-५१

मात्राक्रमों (grades) में यह इच्छाशक्ति अपने को विषयीभूत करती है। इच्छाशक्ति का चरम विकसित विषयीभूत रूप उत्कृष्ट रूप से पूर्ण किया गया मस्तिष्क है। बुद्धि एक शरीर के अङ्ग की अर्थात् मस्तिष्क की कार्य-शक्ति है। इस प्रकार से यह प्राणवन्त शरीर से और इसीलिए इच्छाशक्ति से उत्पन्न होती है। अतएव बुद्धि का कारण इच्छाशक्ति है।

बहिर्भूत संसार के प्रत्यक्ष के लिए ही नहीं वरन् आत्मबोध के लिए भी मस्तिष्क अथवा उसकी कार्यशक्तियाँ आवश्यक पूर्वभावी हैं। अपने स्वरूप में इच्छाशक्ति आत्म-बोधशून्य है। ज्ञप्तियों के उस अप्रधान लोक की केवल सहायता से जो इसको अपने में प्रतिबिम्बित करता है इसको आत्म-बोध होता है। इस प्रकार से जिस समय इच्छाशक्ति एक मस्तिष्क को उत्पन्न करती है उस समय इसे अपनी आत्मा का बोध ज्ञाता अर्थात् उस मस्तिष्क की क्रिया के केन्द्र (focus) के सहयोग से होता है जो वस्तुओं को अस्तित्वशाली रूप में और अहं को इच्छा करने वाले के रूप में ज्ञात करता है। क्योंकि यह केन्द्र अथवा ज्ञाता स्वात्म के बोध को अपने उस आधार से एकात्म रूप में देखता है जिससे इसकी उत्पत्ति हुई है अर्थात् जो इच्छा करता है।

यह ज्ञाता एवं चिद्रूप अहं अथवा मस्तिष्क की सम्पूर्ण क्रिया का केन्द्र वस्तुतः एक अखण्डनीय विन्दु के सदृश है। इसका जन्म इच्छा-शक्ति से होता है। जिससे इसकी उत्पत्ति होती है उसको हम केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही जान सकते हैं जैसे कि हम प्रतिबिम्ब के द्वारा इसका ज्ञान प्राप्त कर रहे हों। इस केन्द्र के ध्वंस हो जाने का अर्थ उसका नष्ट हो जाना नहीं है जिससे इसकी उत्पत्ति[1] हुई है। यह उस इच्छाशक्ति से सम्बन्धित है जो इसके प्रातिभासिक प्रत्यक्षणीय रूप का आधार है। इच्छाशक्ति से इसका सम्बन्ध उसी प्रकार से है जिस प्रकार से पुटाकार (concave) दर्पण के केन्द्र में वर्तमान एक चित्र स्वयं दर्पण से सम्बन्धित होता है और उसका औपाधिक अस्तित्व भी नहीं होता वरन् केवल आभासी अस्तित्वमात्र ही होता है।

पर्य्याप्त युक्ति-तत्त्व के नियम के अनुसार चार वर्ग की ज्ञप्तियाँ

पर्य्याप्त युक्तितत्त्व के नियम के अनुसार शोपेनहावर ने चार वर्गों की ज्ञप्तियों को स्वीकार किया है। वे यह मानते हैं कि हमारी सभी ज्ञप्तियाँ प्रमाता की विषयवस्तुएँ हैं और प्रमाता की सभी ज्ञेय वस्तुएँ ज्ञप्तियाँ हैं।

---

१. व० वि० आ० भाग ३-१२-३

हमारी सब ज्ञप्तियाँ परस्पर एक व्यवस्थित रूप में सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध का स्वरूप अनुभव प्रागभावी ((a priori) होता है। इस सम्बन्ध के कारण कोई भी ऐसी वस्तु हमारे बोध का विषय नहीं हो सकती जो स्वयं एकाकी है और अन्य वस्तुओं से सर्वथा स्वतन्त्र है। यही वह सम्बन्ध है जिसको पर्य्याप्त युक्तितत्व का नियम सामान्यतः प्रकट करता है।

(१) प्रमाता के लिए प्रथम वर्गीय विषयवस्तुएँ[1] वे हैं जो उस प्रत्यक्ष की पूर्ण स्वरूप ज्ञप्तियाँ हैं जो हमारे अनुभव के एक अंश की विधायक हैं और हमारे शरीर के किसी इन्द्रियबोध से सम्बन्धित होने के योग्य हैं। वे केवल देश-काल के रूपों के अन्तर्गत ही प्रत्यक्ष होती हैं। इस वर्ग के विषयों में पर्य्याप्त युक्तितत्व का नियम कारणता के नियम के रूप में प्रत्यक्ष होता है। यही वह नियम है जिसकी सहायता से प्रत्यक्ष में आने वाली सभी वस्तुएँ अपनी दशाओं के परिवर्त्तनों के साधन से परस्पर एकतावद्ध होती हैं।

(२) दूसरे वर्ग की ज्ञेय वस्तुएँ वे सामान्य रूप (abstract) ज्ञप्तियाँ हैं जो मनुष्य के विशेष लक्षण स्वरूप युक्तितत्व से उत्पन्न हुई हैं। वे प्रत्यक्षणीय स्वजनक ज्ञप्तियों से भिन्न हैं। ये (ज्ञेय-वस्तुएँ) प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकतीं। वे बोध क्षेत्र के बाहर ही बनी रहतीं और विचार की क्रिया असम्भव हो जाती यदि इनको उन यथेच्छ प्रतीकों से इन्द्रिय बोध के लिए नियत न किया जाता जिनको शब्द कहते हैं और जो केवल इसीलिए सामान्य-रूप तात्विक स्वरूप के सदैव द्योतक होते हैं। परन्तु विचार का अर्थ चेतना में केवल सामान्यरूप ज्ञप्तियों का वर्तमान होना भर ही नहीं है वरन् उसका अर्थ तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार दो या अधिक ज्ञप्तियों का संयोजन तथा वियोजन है। एक निगमन (judgement) में ही तात्विक स्वरूपों (conce-pts) का सम्बन्ध स्पष्टरूप से प्रकट होता है। निगमन के सम्बन्ध में पर्य्याप्त युक्तितत्व का नियम एक नये रूप में अर्थात् ज्ञान की भूमि (ground of knowledge) के रूप में प्रमाणभूत (valid) होता है। और केवल इसी कारण से कि इसके पास भूमि है 'सत्य' विधेयपद इस पर प्रयुक्त होता है।

(३) प्रमाता के लिए तीसरे वर्ग की ज्ञेय वस्तु की रचना प्रत्यक्ष के रूपात्मक तत्वों (formal elements) आन्तरिक एवं बहिर् इन्द्रियोंके बोधों के रूपों अर्थात् देश-काल से होती है। इस वर्ग की ज्ञप्तियाँ जिसमें देश-काल शुद्ध निर्विकल्प प्रत्यक्ष बोध (intuition) के रूप में भासित होते हैं उस

---

१. व० वि० आ० भाग ३-४८०

वर्ग से भिन्न हैं जिसमें भूततत्त्व अर्थात् प्रत्यक्ष की ज्ञप्तियों के विद्यमान होने के कारण वे प्रत्यक्षणीय विषय वस्तुओं के रूप में दिखाई देती हैं। इनका ज्ञान शुद्ध निर्विकल्प बोध के साधन से होता है। तथा उस नियम को जिसके अनुसार देश और काल के अंश एक दूसरे को निश्चित-स्वरूप करते हैं 'पर्याप्त युक्तितत्त्व का सत्ता विषयक नियम' (Law of sufficient reason of being) कहते हैं।

(४) चौथे वर्ग की ज्ञेय वस्तु एक ही होती है जो आन्तरिक इन्द्रिय अथवा आन्तरबोध की विषयवस्तु है और वह इच्छाग्रस्त प्रमाता है। इस स्थल पर पर्याप्त युक्तितत्त्व का नियम 'प्रयोजन' (motivation) के रूप में प्रकट होता है।

(२) इच्छा-शक्ति के रूप में विश्व

इस निष्कर्ष तक पहुँचने के बाद कि 'संसार एक ज्ञप्ति मात्र है अर्थात् एक ऐसी विषयवस्तु है जिसका सम्बन्ध प्रमाता के साथ जुड़ा हुआ है' यह समस्या उठती है कि 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की ज्ञप्तियों का क्या महत्त्व है?' क्या इस प्रतिभासरूप संसार में कोई ऐसा यथार्थ तत्त्व है जो इसके बाह्य रूपों में व्याप्त है अथवा यह सम्पूर्णतया अर्थशून्य है? 'इच्छाशक्ति के रूप में विश्व' (world as will) के तात्त्विक स्वरूप के विषय में शोपेनहावर कान्ट से प्रभावित हुए थे। क्योंकि यद्यपि कान्ट ने इच्छाशक्ति को प्रत्यक्षतः स्वस्वरूपस्थ वस्तु (Thing-in-itself) स्वीकार नहीं किया था फिर भी इस स्वीकृति की ओर वे सर्वप्रथम अग्रसर हुए थे। उनकी इस अग्रगामिता के महत्त्व को हम सुस्पष्ट रूप में समझ सकते हैं यदि हम स्वतन्त्रता के उस सिद्धान्त पर ध्यान दें जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थ 'क्रिटिक आफ प्रैक्टिकल रीज़न' में किया है।

'क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रीज़न' में नैतिक आचरण के नियम के अस्तित्व को समस्या के रूप में नहीं वरन् एक तथ्य के रूप में कान्ट ने प्रतिपादित किया है। कान्ट का यह मत है कि यह एक तथ्य है कि नैतिक आचरण की विधि (moral law) का अस्तित्व है। इस तथ्य के अस्तित्व का निषेध नहीं कर सकते। कर्त्तव्यमीमांसीय आचरण की विधि हमको प्रदान की जाती है। प्रत्येक कर्त्तव्यमीमांसीय कार्य एवं प्रत्येक कर्त्तव्यमीमांसीय निर्णय (Judgement) का आधार कर्त्तव्यमीमांसीय विधि की पूर्वकल्पना है। अतएव 'क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रीज़न' ग्रन्थ में इस समस्या का समाधान नहीं किया

गया है कि 'क्या कर्त्तव्यमीमांसीय आचरण विधि का अस्तित्व है ?' वरन् इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की गई है कि 'किस प्रकार से कर्त्तव्यमीमांसीय आचरण विधि मानवीय कार्य को प्रभावित करती है ?' और इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्त्तव्यमीमांसीय आचरण विधि का स्वरूप ही ऐसा है कि वह उन प्राणियों की इच्छाशक्ति का नियमन करे जो इस नियम को अपना बन्धन मानते हैं। अतएव इससे यह सिद्ध होता है कि वह इच्छाशक्ति स्वतंत्र है जो इस नियम को मान्य ठहराती है। इस स्थल पर हमको यह ज्ञात होता है कि कान्ट यह मानते थे कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति प्रतिभास (phenomenon) के नियमों से स्वतन्त्र है एवं उसके अनुरूप उसकी (इच्छाशक्ति की) व्याख्या नहीं की जा सकती। अतएव वे यह मानते थे कि इस (इच्छाशक्ति) में उसके विशेष लक्षण वर्त्तमान हैं जिसको वे 'स्वस्वरूपस्थ वस्तु' कहकर अभिहित करते थे। फिर भी 'स्वस्वरूपस्थ वस्तु' का इच्छाशक्ति के साथ तादात्म्य उन्होंने नहीं किया था। यही काम शोपेनहावर को करना था।

शोपेनहावर के मतानुसार इस प्रश्न का कि 'ज्ञप्तियों का महत्त्व, उनका आन्तरिक स्वभाव, क्या है ?' उत्तर प्रमाता को प्राप्त है और वह यह है कि 'इच्छाशक्ति ही उनका आन्तरिक स्वभाव या महत्त्व है।' उसके (प्रमाता के) कार्यों एवं गतियों के स्वाभाविक अर्थ को उसके सामने इच्छाशक्ति प्रकट करती है। अतएव उस स्वतन्त्र कार्य के आन्तरिक स्वभाव की उपमिति के आधार पर जिसका बोध हमको अव्यवहित ((immediately) रूप में होता है इच्छाशक्ति को प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक जीवन स्वीकार करना आवश्यक है। वे यह मानते हैं कि यह विचारना अनुचित है कि सभी वस्तुओं के आन्तरिक स्वभाव को चाहे 'इच्छाशक्ति' नाम से प्रकट करें या 'शक्ति' आदि जैसे शब्दों से प्रकट करें, कोई भेद नहीं पड़ता। क्योंकि ऐसा विचार युक्तिसङ्गत होता अगर 'स्वस्वरूपस्थ वस्तु' कोई ऐसी वस्तु होती जिसका अस्तित्व केवल अनुमान प्रमाण से ज्ञेय होता। परन्तु 'इच्छाशक्ति' शब्द केवल 'अज्ञात मात्रा' (unknown quantity) का द्योतक नहीं है जिसका बोध हमको केवल अनुमान प्रमाण से ही होता हो, वरन् वह ऐसी वस्तु है जिसको हम पूर्णतया एवं तुरन्त समझ लेते हैं और इसको हम इतनी घनिष्ठता से जानते हैं कि हम अन्य वस्तुओं की अपेक्षा 'इच्छाशक्ति' के स्वरूप को अधिक सहज तथा स्पष्ट-रूप से समझ लेते हैं।

इच्छाशक्ति का तात्त्विक स्वरूप 'शक्ति' के तात्त्विक स्वरूप के अधीनस्थ

नहीं है। दशा इसके विपरीत है। क्योंकि शक्ति के तात्त्विक स्वरूप की आधार-भूमि विषयभूत जगत का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष है और इससे ही शक्ति के तात्त्विक स्वरूप की रचना होती है। यह उस क्षेत्र के आधार पर की हुई एक सामान्य-रूप कल्पना है जिसमें कारणता का नियम सर्व्वोच्च शासनकर्त्ता के रूप में प्रतिष्ठित है। यह प्रत्यक्ष की ज्ञप्तियों के आधार पर कल्पित एक सामान्य रूप है। इसका अर्थ उस विन्दु पर कारणों की कारणता का स्वरूप है जिस पर कारणता के स्वभाव को युक्तिपूर्वक (etiologically) स्पष्ट नहीं कर सकते हैं। यह सभी युक्तिपूर्ण व्याख्याओं का आवश्यक पूर्वाधार है।

परन्तु इच्छाशक्ति के तात्त्विक स्वरूप की उद्‌गम भूमि प्रत्यक्ष की ज्ञप्तियाँ अर्थात् प्रतिभास नहीं हैं। इसके विपरीत इसका उद्‌गम अन्तर से होता है। इसका उद्‌गम उस प्रत्येक मनुष्य की सर्वाधिक तात्कालिक चेतना से होता है जिसमें हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को अव्यवहित रूप में जानता है, जिसमें सब प्रकार के ज्ञान के रूपों से यहाँ तक कि ज्ञाता और ज्ञेय विषय के परस्पर विरोध से भी स्वतन्त्रता है।

अतएव यदि हम इच्छा-शक्ति के तात्त्विक स्वरूप की गणना शक्ति के तात्त्विक स्वरूप के अन्तर्गत करते हैं तो हम सुस्पष्ट रूप से ज्ञात वस्तु की गणना अस्पष्ट रूप से ज्ञात वस्तु के अन्तर्गत करते हैं। अतएव हमको इनका स्थानपरिवर्तन करना होगा और शक्ति की स्थापना उस इच्छाशक्ति के अधीनस्थ करनी होगी जिसका बोध हमको अव्यवहित सुस्पष्ट रूप में होता है। यदि ऐसा नहीं करते तो उस एकमात्र अव्यवहित बोध का हम परित्याग कर देते हैं जो हमको संसार के आन्तरिक स्वरूप के विषय में प्राप्त है। क्योंकि हम इस (इच्छा-शक्ति के तात्त्विक स्वरूप) को एक ऐसे तात्त्विक स्वरूप में तिरोहित हो जाने देते हैं जिसकी सामान्य रूप कल्पना प्रतिभास के आधार पर की गई है और जिसको लेकर प्रातिभासिक लोक से परे कभी नहीं जा सकते हैं।

प्रत्येक वस्तु की आन्तरिक सत्ता के रूप में इच्छा-शक्ति

'ज्ञप्ति होने के अतिरिक्त यह संसार अपने आन्तरिक स्वभाव में इच्छा-शक्ति है' शोपेनहावर का यह मत स्वतन्त्र कार्य के निम्नलिखित विश्लेषण पर आधारित है। उस प्रमाता को जो शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर ही व्यक्ति बनता है शरीर का ज्ञान दो विभिन्न प्रकारों में होता है :—

(१) बुद्धि सहकृत ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञप्ति के रूप में, विषय-वस्तुओं में एक विषयवस्तु के रूप में एवं प्रमेयनिष्ठ नियमों से अनुशासित रूप में ।

(२) इसका बोध नितान्त भिन्न रूप में उस वस्तु के रूप में भी होता है जिसका बोध प्रत्येक व्यक्ति को अव्यवहित रूप में होता है और 'इच्छा-शक्ति' शब्द से द्योतित होता है ।

क्योंकि इच्छा-शक्ति की प्रत्येक क्रिया उसी क्षण में और बिना किसी अपवाद के शरीर का संचालन भी होता है । इच्छा-शक्ति की क्रिया तथा शरीर की गतियाँ वस्तुरूप में ज्ञात वे दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं जिनको कारणता का बन्धन संयुक्त करता है वरन् उनका बोध दो भिन्न प्रकारों से होता है (१) तात्कालिक निर्विकल्प प्रत्यक्ष में एवं (२) बुद्धि सहकृत सविकल्प प्रत्यक्ष में । इस प्रकार से शरीर की क्रिया इच्छा-शक्ति की विषयीभूत क्रिया अर्थात् प्रत्यक्ष-ग्राह्य क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

इस विषय में शोपेनहावर तथा कश्मीर के स्वातन्त्र्यवादी मत में समानता है । क्योंकि कश्मीर शैवमत के अनुसार पदार्थों में अपने को विषयीभूत करने वाली इच्छा-शक्ति[1] के अतिरिक्त क्रिया और कुछ नहीं है (चिकीर्षा वहिष्पर्यन्ततान् प्राप्ता क्रिया इत्यभिधीयते) ।

यह सिद्ध करने के लिए कि केवल हमारे कार्य ही नहीं वरन् हमारा स्वयं पूरा शरीर ही इच्छा-शक्ति का विषयीभवन (objectification) है शोपेनहावर ने विशद रूप से युक्तियाँ उपस्थित कीं । अतएव उनका सुझाव यह है कि उस दुहरे ज्ञान का, जो प्रकृति तथा स्वयं अपने शरीर की क्रिया के विषय में व्यक्ति को होता है और जो दो भिन्न प्रकारों में प्राप्त होता है, उपयोग प्रकृति के प्रत्येक प्रतिभास के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली कुंजी के रूप में करना चाहिए । उनका यह सुझाव भी है कि यदि केवल ज्ञप्तियाँ होने के अतिरिक्त वस्तुओं के आन्तरिक स्वरूप का निर्णय हम स्वयं अपने शरीरों की उपमिति के आधार पर करें तो हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ठीक जिस प्रकार से एक अंश में वे ज्ञप्तियाँ हैं जो हमारे शरीरों की भाँति है उसी प्रकार से दूसरे अंश में उनको अपने आन्तरिक स्वभाव में वही होना चाहिए जिसको हम इच्छा-शक्ति कहते हैं । क्योंकि इच्छा-शक्ति एवं ज्ञप्ति के अतिरिक्त हमको कुछ भी ज्ञात नहीं है । अतएव यदि हम उस भौतिक संसार को जो हमको केवल ज्ञप्तिरूप में ही ज्ञात होता है महानतम ज्ञात

---

१. भा० भाग २—२०७

यथार्थता (reality) प्रदान करना चाहते हैं तो हमको उसे वह यथार्थता प्रदान करना चाहिए जो हममें से प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वयं उसके शरीर की है। क्योंकि हमको कहीं पर भी अन्य प्रकार की वह यथार्थता प्राप्त नहीं हो सकती जिसको हम भौतिक जगत को प्रदान कर सकते हैं।

अतएव यदि हम यह मान लें कि भौतिक जगत स्वयं हमारी ज्ञप्ति से अधिक कोई वस्तु है तो हमें यह कहना चाहिए कि स्वयं अपने में अर्थात् अपने अन्तरतम स्वभाव में यह वह है जिसका हम अपने में इच्छा-शक्ति के रूप में अव्यवहित प्रत्यक्ष करते हैं।

जिस समय शरीर क्रिया करता है उस समय एक मानव में जो घटित होता है उसकी उपमिति के आधार पर शोपेनहावर ने उन दुर्ज्ञेय शक्तियों को स्वीकार किया है जो अपने को सभी प्राकृतिक वस्तुओं के रूपों में प्रकट करती हैं। परन्तु वे मानव-गत इच्छा-शक्ति के विभिन्न प्रकार मात्र हैं और केवल मात्राभेद के कारण इच्छा-शक्ति से भिन्न रूप हैं।

शोपेनहावर यह मानते हैं कि वह ज्ञप्तियों की चतुर्थ कोटि जिसमें प्रमाता और प्रमेय का पारस्परिक विरोधाश्रित (anti-thesis) कोई भेद नहीं होता, जिसके अन्तर्गत केवल एक ही वस्तु अर्थात् आन्तरिक इन्द्रियबोध की अव्यवहित विषयवस्तु अर्थात् इच्छा-शक्ति है जिसका अनुभव प्रमाता से अभिन्न रूप में होता है उस प्रथम कोटि के आन्तरिक स्वभाव के ज्ञान के लिए कुञ्जी है जिसके अन्तर्गत प्रत्यक्षप्रमाणगृहीत वे पूर्ण ज्ञप्तियाँ हैं जो हमारे अनुभव का एक अंश हैं, जो हमारे शरीरों के कुछ इन्द्रियबोधों से सम्बन्धनीय हैं और जिनका प्रत्यक्ष देश काल के रूपों के अन्तर्गत हो सकता है।

मनुष्य-सम्बद्ध इस आन्तरिक सत्ता (inner being) को चरित्र कहते हैं। परन्तु एक प्रस्तर से सम्बद्ध इसी आन्तरिक सत्ता को गुण कहते हैं। परन्तु दोनों ही प्रसङ्गों में आन्तरिक सत्ता एक ही है। जिस समय इसका बोध अव्यवहित रूप में होता है उस समय इसको इच्छा-शक्ति कहते हैं। परन्तु जिस समय यह एक पूर्वपरिकल्पना स्वरूप (pre-supposition) मात्र होती है इसको प्राकृतिक शक्तियाँ कहते हैं।

मनुष्य के प्रसङ्ग में यह आन्तरिक सत्ता सर्वाधिक बलवान होती है। क्योंकि मनुष्य में सङ्कल्पपूर्ण प्रमाता (subject in volition) केवल आन्तरिक बोध की ज्ञेय वस्तु बन जाता है। प्रस्तर में इच्छाशक्ति का विषयीभवन सर्वाधिक दुर्बल होता है क्योंकि इच्छा-शक्ति का कोई भान नहीं होता, क्योंकि

(इस दशा में) इच्छाशक्ति विवेकशून्य (blind) होती है। इस प्रकार से शोपेनहावर के दार्शनिक मत में इच्छा-शक्ति का अर्थ वह वस्तु है जो संसार की प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक स्वभाव है तथा प्रत्येक प्रतिभास (phenomenon) का सार है।

शोपेनहावर यह मानते हैं कि स्वस्वरूपस्थ वस्तु प्रत्यक्षतः पूर्णरूप से अज्ञात नहीं है। केवल अनुमानमात्र से ज्ञेय नहीं है। वरन् यह तात्कालिकानुभव से ज्ञेय है और यह इच्छा-स्वरूप है। स्वस्वरूपस्थ वस्तु के रूप में इच्छा-शक्ति पर्याप्त युक्तितत्त्व के नियम के सभी रूपों के क्षेत्र से बाहर है और इसलिये यह स्वतः पराश्रित नहीं है यद्यपि इसके सभी प्रकटरूप पूर्णयया पर्याप्त युक्तितत्त्व के नियम के अधीनस्थ हैं।

यह सब प्रकार की अनेकताओं से मुक्त है यद्यपि देश तथा काल में इसके प्रकट रूप अनेक हैं। यह उस अर्थ में एक नहीं है जिस अर्थ में कोई वस्तु एक होती है क्योंकि किसी वस्तु की एकता का बोध सम्भावित अनेकता के विरोध में हो सकता है। तथा यह उस अर्थ में भी एक नहीं है जिस अर्थ में एक तात्त्विक स्वरूप (concept) एक होता है क्योंकि तात्त्विक स्वरूप की एकता की उत्पत्ति अनेकता के सामान्यीकरण (abstraction) से होती है। यह उसके समान एक है जो देश-काल से बाहर है एवं अनेकता की सम्भावना है।

इच्छा-शक्ति के विषयीभवन (objectification) के मात्रा-क्रम (grades)

इच्छा-शक्ति के विषयीभवन के अनेक 'मात्रा-क्रम' हैं जिनमें इच्छा-शक्ति का स्वभाव ज्ञप्तियों के रूप में प्रकट होता है अर्थात् वह वस्तुओं के रूप में अपने को प्रकट करता है। वे ज्ञप्तियां प्लेटो-प्रतिपादित ज्ञप्तियों के समान हैं। वे निश्चितरूप उपजातियां (species), अथवा मूल अपरिवर्तनशील रूप (form) अथवा सभी प्राकृतिक वस्तुओं के गुण हैं। वे सामान्य रूप (general forms) भी हैं जो विधि (law) के अनुसार अपने को प्रकट करते हैं। अपने सम्पूर्ण रूप में वे अपने को असंख्य व्यक्तियों तथा विशेषों में प्रकट करते हैं। इन विशेषों और व्यक्तियों के साथ ज्ञप्तियां उसी प्रकार से सम्बन्धित हैं जिस प्रकार से मूलरूप (archetypes) अपने प्रतिरूपों (copies) से सम्बन्धित हैं। यद्यपि वे व्यक्तियां जिनमें ज्ञप्तियां अपने को प्रकट करती हैं असंख्य होती हैं और अबाधरूप से निरन्तर उत्पन्न और

नष्ट होती रहती हैं तथापि ज्ञप्तियां अपरिवर्तित और एक रूप रहती हैं। उन पर पर्याप्त युक्ति-तत्त्व का नियम प्रयुक्त नहीं होता, उनके लिए उसका कोई अर्थ नहीं है। परन्तु व्यक्ति-प्रमाता का सभी ज्ञान पर्याप्त युक्ति-तत्त्व के नियमों से नियमित होता है अतएव ज्ञप्तियाँ व्यक्ति-प्रमाता के क्षेत्र से बाहर हैं। ज्ञप्तियाँ ज्ञान का विषय तभी होती हैं जब प्रमाता व्यक्तित्व से परे हो जाता है।

ज्ञान-शक्ति तथा इच्छा-शक्ति

चाहे युक्तिनिष्ठ हो अथवा चाहे इन्द्रिय-बोधनिष्ठ हो ज्ञान-शक्ति स्वयं इच्छा-शक्ति से उत्पन्न होती है। इच्छा-शक्ति के विषयीभवन के उच्चतर मात्रा-क्रमों की आन्तरिक सत्ता से यह ज्ञान-शक्ति सम्बन्धित है। यह व्यक्ति तथा उपजाति को अवलम्ब देने का साधनमात्र है। मूलरूप से इसका काम इच्छा-शक्ति की सेवा करना एवं इच्छा-शक्ति के उद्देश्यों की सिद्धि करना भर ही है। यह लगभग सम्पूर्णरूप से इच्छा-शक्ति की सेवा में ही निरन्तर लगी रहती है। इस रूप में ही सभी पशुओं तथा सभी व्यक्तियों में यह वर्तमान रहती है।

परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिनमें ज्ञान-शक्ति अपने को इच्छा-शक्ति की सेवा से मुक्त कर लेती है—अर्थात् उसके जुए को उतार फेंकती है। यह ज्ञान-शक्ति इच्छा-शक्ति के सभी उद्देश्यों से अपने को स्वतन्त्र कर सकती है। यह शुद्धरूप में अपने ही लिए अपनी सत्ता रख सकती है। संसार के निर्मल दर्पण के रूप में विद्यमान हो सकती है। इस प्रकार की ज्ञान-शक्ति कला का स्रोत है। क्योंकि कला वस्तु के उस अवबोध (apprehension) के प्रति-निरूपण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो इच्छा-शक्ति तथा उसके उद्देश्यों के सम्बन्धों से स्वतन्त्र है। इसके अतिरिक्त यदि वह ज्ञान-शक्ति जो अपने उद्देश्य की सिद्धि में इच्छा-शक्ति की सेवा से स्वतन्त्र है, इच्छा-शक्ति पर प्रतिक्रिया करती है, तो यह उस आत्म-समर्पण अर्थात् उस आत्म-त्याग को उत्पन्न करती है जो चरम लक्ष्य है एवं सभी पावनता और पुण्य का अन्तरतम स्वभाव-स्वरूप है तथा संसार से मोक्ष है।

कलाकृतिजनित अनुभव का इन्द्रियानुभवातीत स्वभाव

शोपेनहावर के मतानुसार कला-कृतिजनित अनुभव उस 'ज्ञप्ति' का अनुभव है जो इच्छा-शक्ति का अव्यवहित प्रकट रूप है और जो सब सम्बन्धों से

स्वतन्त्र है। इसकी प्राप्ति उस समय होती है जिस समय ज्ञान-शक्ति इच्छा-शक्ति की सेवा से स्वतन्त्र होती है एवं प्रमाता भी व्यक्तित्व-विधायक सब तत्वों से स्वतन्त्र होता है। अतएव यह एक इन्द्रियानुभवातीत (Transcendental) अनुभव है। क्योंकि शोपेनहावर का मत यह है कि काल, देश और कारणता मानवीय बुद्धि के रूप हैं जिनके कारण प्रत्येक प्रकार की वह ज्ञप्ति जिसका ही वास्तव में अस्तित्व है अपने को तत्समान वस्तुओं की उस अनेकता में प्रकट करती है जिसका निरन्तर क्रमशः उद्भव और तिरोभाव होता रहता है। वस्तुओं का वह अवबोध लौकिक बोध है जिसकी प्राप्ति बुद्धि के रूपों के अनुसार एवं उनकी (बुद्धि के रूपों की) सहायता से होता है। परन्तु वस्तुओं का वह अवबोध जो इन रूपों का अतिक्रमण करता है इन्द्रियानुभवातीत अथवा अलौकिक बोध है। शोपेनहावर यह मानते हैं कि यही इन्द्रियानुभवातीत ज्ञान कला की सौन्दर्यपूर्ण कृति के मननकारी सहृदय को निर्विकल्प आन्तरबोध के रूप में होता है।

लौकिक (Immanent) बोध से इन्द्रियानुभवातीत बोध तक पहुँचना सहसा होता है। ज्ञान-शक्ति सदैव इच्छा-शक्ति की सेवा में लगी रहती है। परन्तु एक सहृदय में यह इच्छा-शक्ति की सेवा से स्वतन्त्र हो जाती है। ऐसा उस समय होता है जिस समय व्यक्ति प्रमाता व्यक्तिरूप नहीं रह जाता, जिस समय वह शुद्धरूप से इच्छा-शून्य ज्ञान का प्रमाता बन जाता है, जिस समय वह पर्याप्त युक्तितत्व के नियम के अनुसार सम्बन्धों को निर्धारित करना बन्द कर देता है। परन्तु अन्य वस्तुओं के सम्बन्धों से मुक्त वस्तु के अचल मनन में विश्रान्तिपूर्ण होता है अर्थात् जब वह वस्तु से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

इस प्रकार से यदि कोई व्यक्ति वस्तुओं को देखने के सामान्य-दृष्टिकोण का परित्याग कर देता है अर्थात् पर्याप्त युक्ति-तत्व के नियम के अनुसार वस्तुओं के सम्बन्धों को चित्रित करना छोड़ देता है, यदि वह ज्ञेय वस्तु का सम्बन्ध अपनी इच्छा-शक्ति के साथ स्थापित नहीं करता, यदि वह वस्तुओं के विषय में यह नहीं विचारता कि कब, कहाँ, क्यों और किधर उनका अस्तित्व है तथा केवल सम्पूर्ण रूप से 'वे क्या हैं' इसी पर अपने ध्यान को केन्द्रित करता है, यदि वह अपनी बुद्धि को सामान्य विचार से ग्रसित नहीं होने देता वरन् इसके विपरीत यदि वह कला-प्रदर्शित वस्तु में अपने को पूर्णतया निमग्न कर देता है और अपनी सम्पूर्ण चेतना को तद्विषयक गम्भीर चिन्तना से परिपूर्ण कर देता है, यदि वह अपनी व्यक्ति तक को भूल जाता है एवं विषय-

वस्तु के लिए शुद्ध दर्पण के समान इस प्रकार से हो जाता है कि प्रत्यक्ष-कर्त्ता तथा प्रत्यक्षणीय वस्तु एक हो जाते हैं, यदि विषय-वस्तु उन सब वस्तुओं के साथ सभी प्रकार के सम्बन्धों से मुक्त है जो स्वयं इससे भिन्न हैं, जो उससे बाहर स्थित हैं, तथा यदि प्रमाता इच्छाशक्ति के साथ प्रत्येक सम्बन्ध से मुक्त है तो उस समय इस प्रकार से जिसका बोध होता है वह स्वयं विशेषवस्तु नहीं होती वरन् यह ज्ञप्ति होती है, यह अविनाशी 'रूप' होती है, यह इस मात्रा-क्रम पर इच्छा-शक्ति का अव्यवहित (immediate) विषयीभवन है और इसलिए इस प्रकार के प्रत्यक्ष में जो निमज्जित होता है वह एक व्यक्ति नहीं रह जाता वरन् वह ज्ञान का शुद्ध रूप से इच्छा-शून्य, काल-शून्य एवं दिक्शून्य प्रमाता होता है। अतएव कलाकृतिजनित अनुभव सम्बन्धशून्य वस्तु का इच्छा-शून्य अवबोधमात्र है अर्थात् प्लेटो-प्रतिपादित ज्ञप्ति का उस आत्म-विस्मृत एवं इच्छाविहीन प्रमाता से किया गया अनुभव है जो अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण कर चुका है।

कला-कृतिजनित अनुभव में सब सम्बन्धों से विमुक्त प्रमाता विषय-वस्तु में प्रवेश करता है तथा विषय-वस्तु के साथ एकात्म हो जाता है क्योंकि सम्पूर्ण चेतना विषय-वस्तु के सुस्पष्ट चित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। इसमें प्रमाता और प्रमेय का भेद वर्त्तमान नहीं होता। वे पूर्णतया एक दूसरे में व्याप्त होते हैं। इस प्रकार से ज्ञान और ज्ञाता में भी कोई भेद वर्तमान नहीं रह जाता।

कला-कृति के लक्ष्य के रूप में ज्ञप्ति

कला की विषयवस्तु वह है जो सभी सम्बन्धों से बाहर और स्वतन्त्र है। यह (कला) उसका निरूपण करती है जो संसार के लिए वस्तुतः आवश्यक है, अपरिवर्तनशील है, जो प्रतिभास का वास्तविक आन्तरतत्त्व है, और अतएव सभी कालों में एकरूप से सत्य ज्ञात होता है। कलाओं के वर्गीकरण का कोई सम्बन्ध आन्तरिक विषयवस्तु (content) के साथ न होकर उस उपादान सामग्री के साथ है जिसमें आन्तरिक विषय-वस्तु का निरूपण होता है। पर्य्याप्त युक्ति-तत्त्व के नियम से स्वतन्त्र होकर वस्तु को देखने का यह एक प्रकार है। वह विज्ञान से भिन्न है जो पर्य्याप्त युक्ति-तत्त्व के नियम के अनुसार वस्तुओं को देखने का एक प्रकार है। वस्तुओं को वैज्ञानिक ढंग से देखना युक्ति-मूलक है और व्यावहारिक जीवन के लिए वह उपयोगी है। वस्तुओं को कलात्मक ढङ्ग से देखना प्रतिभा का काम है और कला के लिए उपयोगी है।

प्रतिभा

प्रतिभा का विशेष लक्षण प्रधान रूप से वह शक्ति है जो ऐसा मनन करती है जिसका अवसान पूर्णतया मननीय वस्तु में ही हो जाता है। यह प्रमाता तथा प्रमेय का साधारणीकरण कर देती है और प्रमाता को प्रमेय वस्तु में निमज्जित कर देती है। केवल प्रतिभा के ही पास ज्ञप्तियों को समझने की शक्ति होती है। इस प्रकार के मनन के लिए यह आवश्यक है कि प्रमाता अपने को एवं अपने सब सम्बन्धों को पूर्णतया विस्मृत कर दे। प्रतिभा मस्तिष्क की विषयनिष्ठ उन्मुखता है। यह उन्मुखता उस आत्मनिष्ठ उन्मुखता से विपरीत है जो अपने ही प्रति अर्थात् अपनी इच्छा-शक्ति की ओर संचालित की जाती है। यह शुद्ध प्रत्यक्ष की दशा में बने रहने की, प्रत्यक्ष में अपने को खो देने की, एवं उस ज्ञानशक्ति को इस शुद्ध प्रत्यक्ष की सेवा में लगा देने की शक्ति है जिसका अस्तित्व मूलरूप से इच्छाशक्ति की सेवा के लिए है। यह अपने निजी हितों, इच्छाओं, एवं लक्ष्यों को पूर्णतया सुदूर छोड़ आने की क्षमता है तथा कुछ क्षण के लिए अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया त्यागने की शक्ति है जिससे कि वह शुद्ध प्रमाता के रूप में रह सके। व्यक्तित्व का यह अतिक्रमण यथेष्ट समय तक बना रहता है परन्तु इसके साथ पर्याप्त चेतना भी बनी रहती है जिससे कि प्रतिभाशाली व्यक्ति इस प्रकार से अवबुद्ध की हुई विषय-वस्तु को कलात्मक माध्यम में निरूपित करने में सक्षम होता है।

सामान्य व्यक्तियों में निरपेक्षभाव से वस्तुओं को देखने की शक्ति नहीं होती। वे अपने ध्यान को किसी वस्तु पर उसी सीमा तक लगा सकते हैं जहाँ तक उनकी इच्छा-शक्ति के साथ उसका सम्बन्ध है। वे विषय-वस्तु पर अपने ध्यान को बहुत समय तक नहीं लगा सकते। वे शीघ्रतापूर्वक एक ऐसे तात्विक स्वरुप की खोज करते हैं जिसके अन्तर्गत उसको रखा जा सके, और इससे अधिक वे उस वस्तु की ओर आकर्षित नहीं होते। इसके विपरीत प्रतिभाशाली व्यक्ति जिसकी ज्ञानशक्ति कुछ अवसरों पर इच्छा-शक्ति की सेवा से मुक्त हो जाती है ज्ञप्ति को अवबुद्ध करने की चेष्टा करता है तथा अन्य वस्तुओं के साथ एवं अपनी इच्छाशक्ति के साथ उसके सम्बन्ध को खोजने का प्रयास नहीं करता। प्रतिभाशक्ति का कार्य एक आन्तर प्रेरणा है। यह (आन्तर प्रेरणा) एक उस अधिमानवीय (superhuman) कर्ता का कार्य है जो स्वयं व्यक्ति से भिन्न है।

इस प्रकार से प्रतिभाशक्ति का अर्थ वह बोधशक्ति है जो पर्य्याप्त युक्ति-

तत्त्व के नियम से स्वतन्त्र होकर बोध को प्राप्त करती है। यह सापेक्ष अस्तित्वशाली व्यक्तिनिष्ठ वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त नहीं करती। वरन् यह ऐसी वस्तुओं की ज्ञप्तियों को जानने की शक्ति एवं ज्ञप्ति के साथ आत्मसम्बन्ध को स्थापित करने की क्षमता है, और इस प्रकार से ज्ञान का शुद्ध प्रमाता बनने की शक्ति है। यह प्रतिभा प्रकृति-प्रदत्त शक्ति है। यह जन्मजात होती है। परन्तु ज्ञप्ति का निरूपण करने के लिए रचना विधि में कुशल होना आवश्यक है।

कल्पना और प्रतिभा

कल्पनाशक्ति प्रतिभा का एक आवश्यक अंश है परन्तु कल्पनाशक्ति और प्रतिभा-शक्ति एकरूप नहीं है। क्योंकि प्रतिभावान कलाकार से साक्षात्करणीय विषय-वस्तुएं शाश्वत ज्ञप्तियाँ हैं एवं ज्ञप्तियों का बोध आवश्यकरूप से प्रत्यक्ष की सहायता से होता है। इसलिए प्रतिभावान कलाकार का ज्ञान उन वस्तुओं की ज्ञप्तियों तक ही सीमित होता जो उसके सामने प्रत्यक्षरूप से वर्तमान हैं और प्रतिभावान कलाकार का यह ज्ञान उन अवसरों की श्रृंखला पर निर्भर होता जो उस वस्तु को उसके पास लाए थे, यदि उसकी कल्पनाशक्ति उसके निजी व्यक्तिगत अस्तित्व की सीमा के परे तक उसके ज्ञान को विस्तृत नहीं करती और इस प्रकार से उस अल्पांश से पूर्णता की रचना करने की शक्ति नहीं प्रदान करती जो उसके वास्तविक बोध के अन्तर्गत आता है। कल्पनाशक्ति प्रतिभाशक्ति युक्त कलाकार की चेतना के सामने लगभग सम्पूर्ण जीवन को ज्ञेयरूप में उपस्थित कर देती है।

लौकिक वस्तुएँ सदैव उन ज्ञप्तियों की अत्यन्त अपूर्ण प्रतिलिपियाँ हैं जो उनमें प्रकट होती हैं। अतएव प्रतिभाशाली व्यक्ति को वस्तुओं में उसको देखने के लिए कल्पनाशक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती है जिसको प्रकृति ने स्वतः बनाया है वरन् उसका साक्षात्कार करने के लिए कल्पना की आवश्यकता होती है जिसको बनाने की यह चेष्टा में है। प्रतिभाशाली व्यक्ति के बौद्धिक क्षितिज का प्रसार यह कल्पनाशक्ति उन लौकिक वस्तुओं के गुणों और परिमाणों के परे तक करती है जो वस्तुतः उसके सामने प्रत्यक्ष हैं। अतएव असाधारण कल्पना-शक्ति प्रतिभाशक्ति के साथ रहती है और वस्तुतः प्रतिभा के लिए आवश्यक पूर्वभावी है।

परन्तु कल्पनाशक्ति और प्रतिभाशक्ति एकरूप नहीं हैं। क्योंकि उन मनुष्यों में भी जिनके पास रंचमात्र प्रतिभाशक्ति नहीं है प्रभूतकल्पना-शक्ति हो सकती है। क्योंकि किसी विशेषवस्तु का ज्ञान दो विभिन्न प्रकारों से हो

सकता है—(१) वस्तुनिष्ठ रूप में जो प्रतिभाशक्ति के ज्ञान का प्रकार है, एवं (२) आत्मनिष्ठ रूप में अर्थात् उन वस्तुओं से सम्बन्धित रूप में जिनके साथ उनका सम्बन्ध है एवं अपनी इच्छाशक्ति से सम्बन्धित रूप में। ज्ञान के प्रथम प्रकार से उस ज्ञप्ति का बोध करते हैं जिसको कला प्रकट करती है। ज्ञान के दूसरे प्रकार से उन हवाई किलों की रचना की जाती है जो अहंकार तथा व्यक्ति-स्वभाव के अनुकूल होते हैं एवं जो कुछ क्षणों तक भ्रमित तथा सन्तुष्ट करते हैं। जो मनुष्य इस प्रकार के मनोरंजनों में भाग लेता है उसको दिवास्वप्नदर्शी कहते हैं। यदि वह इस प्रकार के दिवास्वप्नों को लेखनी-बद्ध करता है तो वह उस उपन्यास की रचना कर सकता है जिससे उसी की भाँति स्वप्नद्रष्टा व्यक्तियों का मनोरंजन भी हो सकता है। क्योंकि पाठक अपने को नायक के स्थान पर रख देता है और उसके बाद कथा को रुचिकारी पाता है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति एवं सहृदय में भेद

ज्ञप्ति का साक्षात्कार करने की इस शक्ति का अल्पांश सभी व्यक्तियों में होता है। क्योंकि यदि उनमें इस शक्ति का पूर्णाभाव हो तो एक कलाकृति का अनुभव वे नहीं कर सकते। उनमें सौन्दर्य तथा भव्यता का अनुभव करने की शक्ति बिल्कुल ही न रह जाय। फिर भी उन व्यक्तियों में जिनमें कलाकृति से आनन्दित होने की रंचमात्र भी शक्ति नहीं होती इस (प्रतिभाशक्ति) का पूर्णाभाव होता है।

सहृदय से प्रतिभाशाली व्यक्ति के पास बहुत अधिक मात्रा में और चिरस्थायी रूप में यह प्रतिभाशक्ति होती है। वह जब इस प्रतिभाशक्ति के प्रभाव में होता है तो उसमें उस बुद्धि की जागरूकता बनी रहती है जो इस प्रकार से अपनी साक्षात्कृत वस्तु को निरूपित करने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार से साक्षात्कृत की हुई ज्ञप्ति को वह दूसरों को संसूचित करता है। संसूचना का यह साधन एक कलाकृति है।

प्रकृति एवं कला की कृति से कलात्मक अनुभव

शोपेनहावर के मतानुसार कलात्मक अनुभव एक रूप ही है चाहे वह एक कलाकृति से प्राप्त किया जाय तथा चाहे प्राकृतिक वस्तु से प्राप्त किया जाय। इसका विधायक ज्ञप्ति का साक्षात्करण है। परन्तु एक कलाकृति से

ज्ञप्ति का बोध हमको प्राकृतिक वस्तु की अपेक्षा अधिक सुगमता से होता है। और इसका कारण यह तथ्य है कि इस ज्ञप्ति को साक्षात् करने वाला कलाकार इसका निरूपण वास्तविक वस्तु के निकृष्ट सामान्यरूप (abstraction) में करता है एवं सभी विघ्नकारी घटनाओं का परित्याग कर देता है। वह हमको अपनी दृष्टि से संसार को दिखाता है।

कलात्मक चिन्तन

कलात्मक चिन्तन के दो अखण्डनीय विधायक अंश हैं (१)—प्लेटो-प्रतिपादित ज्ञप्ति (२) ज्ञान का शुद्ध इच्छाशून्य प्रमाता। वह दशा जिसमें दोनों सदैव सुसम्बद्ध दिखाई देते हैं ज्ञान प्राप्ति की उस विधि का परित्याग है जो पर्य्याप्त युक्ति-तत्त्व के नियम से सम्बन्धित है। और इस प्रकार की चिन्तना से उत्पन्न कलात्मक आनन्द कभी-कभी अधिकांश मात्रा में प्रमाता से और कभी-कभी अधिकांश मात्रा में विषयवस्तु से उत्पन्न होता है। इस मात्राभेद का कारण कलात्मक रूप से चिन्तनीय विषयवस्तु है।

कलात्मक अनुभव इच्छाशून्य अनुभव है

प्रत्येक प्रकार की व्यक्तिगत इच्छा की उत्पत्ति इष्ट वस्तु के अभाव से होती है। एक इच्छा की पूर्ति दूसरी इच्छा को उत्पन्न करती है। कोई भी प्राप्त वस्तु चिरस्थायी तुष्टि नहीं दे सकती। अतएव जब तक हमारी चेतना हमारी इच्छाओं से परिपूर्ण है तब तक हमको चिरस्थायी तुष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु जिस समय कोई बाह्य कारण अथवा आन्तरिक स्वभाव इच्छा की क्रिया की अन्तहीन धारा से हमको सहसा ऊपर उठा देता है, ज्ञान-शक्ति को इच्छाशक्ति की सेवा करने से मुक्त कर देता है, इच्छा के प्रयोजनों की ओर ध्यान आकृष्ट नहीं होने देता उस समय ध्यानशक्ति इच्छाशक्ति के सम्बन्ध से मुक्त होकर विषय-बोध करती है और इस प्रकार से व्यक्तिगत प्रयोजन के बिना ही उन (वस्तुओं) का पर्यवेक्षण करती है।

अध्याय १३

क्रोचे का सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पवादी (Intuitive) स्वतन्त्रकलाशास्त्र

तुलनात्मक कला-शास्त्र के लिए क्रोचे का महत्त्व

क्रोचे (सन् १८६६–१९५२ ई०) तुलनात्मक स्वतन्त्रकलाशास्त्र के दृष्टिकोण से इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि अनुभवकर्त्ता सहृदय को कलाकार की भूमि तक उठना होता है और कलाकार के साथ अपना आध्यात्मिक तादात्म्य स्थापित करना होता है यदि उसे अपने मानस चक्षुओं के सामने कलाकार के प्रातिभ चक्षुओं से साक्षात्कृत विषयवस्तु को पुनः प्रतिनिरूपित करना है। वे यह भी मानते हैं कि यह पुनः प्रतिनिरूपण अनुभवकर्त्ता सहृदय एवं कलाकार की मनोवैज्ञानिक दशाओं की एकरूपता के आधार पर होता है। क्योंकि भारतीय कलाशास्त्र के आचार्यों में भट्टतौत के सभी परवर्ती शास्त्रकारों ने सहृदय और कलाकार[1] के अनुभव को समरूप स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त के साथ भी उनकी इस कथन में पूर्ण सहमति है कि कलाकृतिजनित अनुभव में एक वस्तु के साथ दूसरे वस्तु की तुलना विद्यमान नहीं होती और न उसमें कोई देश-कालगत सम्बन्ध[2] विद्यमान होते हैं तथा यह बौद्धिक तत्त्वों से रहित सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पज्ञान (intuition) है।

हेगेल के अनुगामी एवं आलोचक के रूप में क्रोचे

क्रोचे हेगेल के अनुगामी भी हैं तथा आलोचक भी हैं। हेगेल की दार्शनिक विचारधाराविषयक देन वे स्वीकार करते हैं। उनके मत के अनुसार हेगेल की दो महत्त्वपूर्ण देनें निम्नलिखित हैं १—दार्शनशास्त्रीय तर्क-शास्त्र (Logic of philosophy) एवं २—विशिष्ट सामान्य (concrete universal)।

(१)—जिस प्रकार से गणित-शास्त्र के पास अपनी एक साधनविधि (method) है जिसका अध्ययन हम गणित-शास्त्र के तर्क-शास्त्र में करते हैं, और जिस प्रकार से कला तथा काव्य के पास अपनी साधनविधियां हैं

---

* १. ध्व० लो० ९२   २. स्व० कला० शास्त्र भाग १, १५९–६०

जिनका अध्ययन काव्य एवं कला के तर्कशास्त्र अर्थात् कलाशास्त्र में करते हैं उसी प्रकार से सामान्यतः दर्शनशास्त्र की भी अपनी एक साधनविधि है जिसको निर्धारित करना चाहिए यद्यपि बहुत कम विचारक इसको स्वीकार करते हैं। क्रोचे के मतानुसार हेगेल की प्रधान देन उन मुख्य नियमों की खोज तथा उनका विशदीकरण है जिनका अनुसरण दार्शनिक गवेषणा में करना चाहिए। उन्होंने दर्शनशास्त्र के तर्कशास्त्र को पूर्णत्व प्रदान किया है।

(२)—क्रोचे के मतानुसार हेगेल की दार्शनिक चिन्तना की दूसरी देन यह है कि उन्होंने विशिष्ट सामान्य के तात्त्विक स्वरूप का प्रतिपादन किया है जिसके आधार पर उन्होंने परस्पर विरोधी तात्त्विक स्वरूपों की समस्या का समाधान किया है। क्रोचे यह मानते हैं कि हेगेलकृत तद्विषयक समाधान के अतिरिक्त दूसरा कोई समाधान सम्भव नहीं है। क्योंकि हेगेल अविशिष्ट अद्वैतवाद (abstract monism) एवं द्वैतवाद का खण्डन समानरूप से करते हैं। वे यह मानते हैं कि जिस प्रकार के कवि[1] से साक्षात्कृत किया हुआ यथार्थतत्त्व अपने अन्तर में विरोध को रखता हुआ भी एकरूप एवं अखण्डित होता है उसी प्रकार से दार्शनिक से चिन्तित यथार्थ-तत्त्व भी एक ऐसा अखण्ड तत्त्व है जिसमें यद्यपि सभी प्रकार की अनेकताएँ तथा विरोध विद्यमान होते हैं तथापि यह अपनी अखण्डता को अखण्डित बनाए रखता है। हेगेल ने जिस परतत्त्व का प्रतिपादन किया है वह निर्विशेष न होकर सविशेष है। यह शुद्ध अद्वैत नहीं है वरन् अनेकता में एकता है। यह विरोधियों का संधान (synthesis) है। विरोधी एक दूसरे के प्रति ही विरोधी होते हैं परन्तु परतत्त्व के प्रति विरोधी नहीं होते। परतत्त्वात्मक अद्वैत गतिशून्य (static) न होकर गतिमान (Dynamic) है।

विरोधियों की समस्या के समाधान में हेगेल ने सुप्रसिद्ध तार्किक (Dialectical) साधनविधि का अनुसरण किया है। वे यह मानते हैं कि विरोध में निहित दो पदों में दूसरा पद (term) पहले पद का निषेध (negation) होता है। परन्तु वह तीसरा पद जो दो विरोधी पदों का संधान है निषेध का निषेध है। तीसरे पद में दोनों विलगरूप विरोधी पदों का निषेध होता है परन्तु साथ ही साथ यह तीसरा पद दैहिक पूर्णता (organic whole) के अंशों के रूप में उनको सुरक्षित रखता है जैसे कि (१) सत्ता (२) प्रतिसत्ता (Not-being) एवं (३) क्रिया (becoming)।

---

१. फिला० हे० १९

परन्तु इस प्रसंग में क्रोचे जिस बात पर जोर देते हैं वह यह है कि दार्शनिक ज्ञप्ति अथवा परतत्त्व (Philosophical idea) विविक्तों (distinct) का संधान है और परस्पर विरोधियों का भी संधान है। यह उस सीमा तक विविक्तों[1] का संधान है जहाँ तक 'दार्शनिक ज्ञप्ति' अथवा परतत्त्व (Philosophical idea) गतिशून्य न होकर गतिपूर्ण है और इसलिए अपनी क्रिया के विशिष्ट रूपों में अपने को प्रकट करता है अथवा अभिव्यक्त करता है, अर्थात् अपने उस स्वरूप को प्राप्त करता है जिसमें जो उसमें अव्यक्त है उसका सम्पूर्ण अभिव्यक्तीभवन होता है अथवा उसमें निहित आवश्यक तत्त्व का पूर्ण प्रकटीकरण होता है। पूर्ण आत्म-अभिव्यक्ति अथवा पूर्ण आत्म-प्रकटन तक पहुँचने का मार्ग विभिन्न विविक्त रूपों में विशिष्टीभवन है, यह तथ्य इस बात से सिद्ध होता है कि स्वयं दर्शन-शास्त्र पूर्ण आत्माभिव्यक्ति को केवल तभी पा सकता है जब कलाशास्त्र, तर्कशास्त्र, कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्र, मूलतत्त्व चिन्तन-शास्त्र आदि विविक्त रूपों से विशिष्ट होता है। ये तर्कशास्त्र आदि दर्शन-शास्त्र के रूप हैं और इनमें से प्रत्येक सबसे नितान्त विविक्त है।

परन्तु हेगेल के दार्शनिक मत का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि विरोधी तात्त्विक स्वरूपों तथा विविक्त तात्त्विक स्वरूपों के भेद को समझने में हेगेल इस सीमा तक असफल हुए हैं कि विविक्त तात्त्विक स्वरूपों का वर्गीकरण उन्होंने विरोधी तात्त्विक स्वरूपों के समान ही किया है।

विविक्तों के सिद्धान्त को विरोधियों के सिद्धान्त से उलझा देना हेगेल का वह तार्किक दोष है जो अन्य सिद्धान्तों के मूल में भी वर्तमान है। हेगेल के इस मौलिक दोष को समझने के लिए यह आवश्यक है कि परस्पर विरोधी तात्त्विक स्वरूपों एवं विविक्त तात्त्विक स्वरूपों के भेद को समझ लिया जाय।

विविक्त तथा विरोधी तात्त्विक स्वरूपों का भेद

तात्त्विक स्वरूप अथवा सामान्य प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं १—विविक्त एवं २—विरोधी। एक को दूसरे के समान नहीं मान सकते। क्योंकि तर्कशास्त्रीय 'विविक्तता' पदार्थ 'विरोध'[2] पदार्थ से सर्वथा भिन्न है। दो विविक्त तात्त्विक स्वरूप अथवा सामान्य प्रत्यय परस्पर संयुक्त होते हैं परन्तु दो विरोधी तात्त्विक स्वरूप अथवा सामान्य प्रत्यय एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं। एक विविक्त तात्त्विक स्वरूप पूर्व कल्पना के रूप में उस तात्त्विक स्वरूप के

---

१. फिला० हे० ८३ २. फिला० हे० १०

लिए आवश्यक होता है और उसमें यह निवास भी करता है, जो श्रेणियों की परम्परा में उसका अनुसरण करता है जैसे कि चिदात्मा के तात्त्विक स्वरूप के सम्बन्ध में कल्पना तथा बुद्धि। ये विशिष्ट दार्शनिक तात्त्विक स्वरूप हैं परन्तु ये चिदात्मा से बहिर्भूत नहीं हैं। वरन् ये चिदात्मा[1] के विशेष रूप हैं। इसके अतिरिक्त अपने पारस्परिक सम्बन्ध के प्रसंग में कल्पना एवं बुद्धि एक दूसरे से बहिर्भूत नहीं हैं वरन् एक दूसरे में आंशिक रूप से व्याप्त रहते हैं। अतएव कल्पना को बुद्धि का आधार मानते हैं और उसके लिए उसको (कल्पना को) आवश्यक समझते हैं।

परन्तु परस्पर विरोधी तात्त्विक स्वरूप एक दूसरे का निषेध करते हैं। एक की उपस्थिति का अर्थ दूसरे की अनुपस्थिति है। एक दूसरे को नष्ट कर देता है—जैसे सच और झूठ, इष्ट तथा अनिष्ट, सुन्दर और कुरूप।

विविक्तों के सिद्धान्त के अनुसार एक तात्त्विक स्वरूप अपने को स्वान्तर्गत गति से विभाजित कर लेता है फिर भी आत्म-विविक्तीकरण, आत्मप्रकटीकरण (Self-divestment) अथवा आत्म-विघटन में यह आत्म-स्वरूप को बनाए रखता है। इसके अतिरिक्त वे विविक्त जिनमें यह अपने को प्रकट करता है या अभिव्यक्त करता है एक दूसरे से पूर्णतया विलग नहीं होते वरन् तात्त्विक स्वरूप की ऊंची या नीची परिमाण मात्राओं (degrees) अथवा क्रमदशाओं (stages) के रूपों में सम्बन्धित होते हैं। निम्न परिमाणमात्रा अथवा क्रमदशा उच्चतर परिमाणमात्रा अथवा क्रमदशा में वर्तमान होती है।

यह सिद्धान्त विरोधियों के सिद्धान्त से भिन्न है। विरोधियों के सिद्धान्त में निहित केवल वे पद (terms) ही नहीं जिनके साथ इसका सम्बन्ध है वरन् उनका सम्बन्ध भी उस सम्बन्ध और उन पदों से भिन्न होता है जो विविक्तों के सिद्धान्त में वर्तमान होते हैं। विविक्तों, परिमाणभेदों अथवा क्रमदशाओं के सिद्धान्त में एक तात्त्विक स्वरूप दूसरे तात्त्विक स्वरूप[2] से भिन्न एवं संयुक्त होता है। इसमें दो ही पदों (terms) का सम्बन्ध निहित होता है। इसका प्रथम पद अपने में पूर्ण होता है अर्थात् बिना दूसरे पद के उसका अस्तित्व हो सकता है परन्तु दूसरा पद ऐसा होता है कि बिना प्रथम पद के उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए १—कला एवं २—दर्शन। इन दो विविक्त पदों के सम्बन्ध के विषय में विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम पद अर्थात् कला का अस्तित्व दूसरे पद

१. फिला० हे० ९ २. फिला० हे० ८८

अर्थात् 'दर्शन' के बिना हो सकता है परन्तु इसका विपरीत संभव नहीं है अर्थात् दूसरे पद अथवा दर्शनशास्त्र का अस्तित्व कला के बिना नहीं हो सकता। कला में दर्शन-शास्त्र निहित नहीं है परन्तु दर्शन-शास्त्र में कला आवश्यक रूप से निहित है। दर्शन-शास्त्र का एक पक्ष कला होता है अर्थात् बिना उस प्रकटन के उसका अस्तित्व नहीं हो सकता जो उसका कला-पक्ष है। भाषा में न प्रकट किए गए दर्शन-शास्त्र की कल्पना हम नहीं कर सकते। विविक्तों का सम्बन्ध द्वयनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु विरोधियों के सम्बन्ध में त्रिक सम्बन्ध होता है। विरोध के सिद्धान्त में तीन पद होते हैं भाव, प्रतिभाव एवं संधान जैसे कि सत्ता, प्रतिसत्ता एवं क्रिया। विरुद्धों के सम्बन्ध के प्रसंग में प्रथम दो पद, १—सत्ता एवं २—प्रतिसत्ता, तीसरे पद ३—क्रिया से विलग होकर केवल निष्कृष्ट सामान्य (abstractions) मात्र ही रह जाते हैं, परस्पर एक दूसरे से भिन्न कोई विशिष्ट अस्तित्व उनका नहीं होता। परन्तु विविक्तों के सम्बन्ध के प्रसंग में अर्थात् कला एवं दर्शन-शास्त्र के सम्बन्ध के प्रसंग में प्रथम पद कला का दूसरे पद दर्शन-शास्त्र से भिन्न तथा विशिष्ट अस्तित्व होता है। परिमाण मात्राओं (degree) के सम्बन्ध में प्रथम पद का यद्यपि वास्तव में अतिक्रमण हो जाता है फिर भी वह दूसरे पद में वर्तमान बना रहता है जैसे कि कला का अतिक्रमण दर्शन-शास्त्र करता है फिर भी दर्शनशास्त्र में उसका अस्तित्व बना रहता है अथवा यह कहें कि दर्शन-शास्त्र स्वतन्त्र विशिष्ट तात्त्विक स्वरुप में कला का दमन करता है फिर भी आत्म-प्रकटन के रूप में उसके अस्तित्व को बनाए रखता है। परन्तु विरुद्धों के सम्बन्धों के प्रसंग में प्रथम दो पदों का अतिक्रमण और उनके अस्तित्व को बनाए रखना केवल आलंकारिक रूप में होता है जैसे सत्ता, प्रतिसत्ता तथा क्रिया के त्रिक सम्बन्ध में अमूर्त होने के कारण प्रथम दो पदों का वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। अतएव यह कहना कि उनका अतिक्रमण भी होता है तथा उनका अस्तित्व तीसरे पद में बना भी रहता है भाषा का आलंकारिक प्रयोग है। इस प्रकार से द्वयनिष्ठ (dyadic) सिद्धान्त के अनुसार अथवा विविक्तों के सिद्धान्त के अनुसार परतत्त्व एक है। यह 'अद्वैत' अपने को विभाजित करता है—अपने को प्रकट अथवा अभिव्यक्त करता है, अपनी ज्ञतियों को ऐतिहासिक क्रम में अभिव्यक्त करता है तथा अपनी चरम दशा में पूर्ण आत्माभिव्यक्ति की दशा को प्राप्त करता है जिसमें उसकी सभी पूर्ववर्ती क्रमदशाएँ संग्रहीत होती हैं।

हेगेल की कलाशास्त्रीय मिथ्याधारणा

क्रोचे का मत यह है कि हेगेल का कलाशास्त्र तार्किक दोष से दूषित है क्योंकि उन्होंने दो प्रकार के संबंधों की भिन्नता को नहीं माना था अर्थात् (१) विविक्तों का संबंध एवं (२) विरुद्धों का सम्बन्ध। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने विरुद्धों के सिद्धान्त का प्रयोग उन प्रसंगों में किया है जहाँ पर केवल विविक्तों का सिद्धान्त ही प्रयुक्त हो सकता है क्योंकि उन्होंने त्रिकनिष्ठ सम्बन्धों के सिद्धान्त का प्रयोग द्वयनिष्ठ सिद्धान्त के प्रसंगों में किया है।

इस तार्किक दोष के कारण वे स्वभावतया कलाशास्त्रीय दोष को अपना बैठे (१) क्योंकि इसके कारण उन्होंने त्रिकनिष्ठ संबंध के सिद्धान्त का प्रयोग आत्मनिष्ठ चिदात्मा (subjective spirit) के सभी स्वरूपों पर किया, इसी के कारण उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि सूक्ष्म सविकल्प गर्भित निर्विकल्प (Intuition) 'भाव' है, प्रतिनिरूपण प्रतिभाव है और विचारणा (thinking) समभाव अथवा संधान है (२) क्योंकि अपने इसी सैद्धान्तिक दोष के कारण परतत्त्वात्मक चिदात्मा के क्षेत्र की व्याख्या करने में उनको इसी सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए इस परिणाम पर पहुंचना पड़ा कि (१) कला 'भाव' है (२) धर्म प्रतिभाव है एवं (३) दर्शनशास्त्र[1] संधान है।

त्रिक सिद्धान्त का यह प्रयोग दोषपूर्ण है। क्योंकि किस प्रकार से कोई यह मान सकता है कि धर्म, कला का विरोधीतत्त्व है, धर्म कला का निषेध किस प्रकार से है, कला किस प्रकार से 'भाव' एवं निर्विकल्प साक्षात्कार (immediacy) है, कला और धर्म को दो ऐसे निष्कृष्ट सामान्य (abstract) किस प्रकार से मान सकते हैं जिनकी सत्यता तीसरे पद अर्थात् दर्शन-शास्त्र में उपलब्ध होती है अथवा यह किस प्रकार से कह सकते हैं कि प्रतिनिरूपण, सूक्ष्म सविकल्प गर्भित निर्विकल्प का निषेध पद अथवा प्रतिभाव पद है ? त्रयी सम्बन्ध के सिद्धान्त के प्रयोग में यह निहित है कि जिस प्रकार से क्रिया से भिन्नस्वरूप में सत्ता और प्रतिसत्ता का विचार नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार से दर्शन-शास्त्र से भिन्न स्वरूप में कला और धर्म अचिन्तनीय हैं।

हेगेल ने विरुद्धों के सिद्धान्त का प्रयोग मिथ्याओं और सत्यों के प्रसंग में भी किया। उदाहरण के लिए उन्होंने विरुद्धों के सिद्धान्त का प्रयोग

---

१. फिला० हे० ९७.

उन सत्ता एवं प्रतिसत्ता (being and not-being) के विषय में किया जो अपने अमूर्त तथा विलग रूप में दो मिथ्याएं अथवा दो मिथ्या धारणायें हैं। वस्तुतः स्वयं हेगेल के मतानुसार 'सत्ता' का तात्त्विक स्वरूप वही है जो इलीएट सम्प्रदाय के दार्शनिकों से प्रतिपादित सरल सत्ता (simple being) के रूप में परतत्त्व का है। और प्रतिसत्ता का तात्त्विक स्वरूप वह है जो बौद्ध दर्शन में शून्यरूप परतत्त्व का तात्त्विक स्वरूप है। अतएव सत्ता एवं प्रतिसत्ता परस्पर विरुद्ध हैं। परन्तु वे दार्शनिक मिथ्यायें (error) भी हैं क्योंकि वे परतत्त्व को निर्विकल्प तथा अमूर्त अथवा निर्विशेष (abstract) रूप में निरूपित करते हैं। और आश्चर्य इस बात पर होता है कि हेगेल ने इसी सिद्धान्त का प्रयोग सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध (intuition) एवं विचारणा (thought) के भी प्रसंग में किया है जो दो मिथ्याएं न होकर सत्य हैं। क्योंकि प्रथम (सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध) में मनुष्य की सम्पूर्ण कल्पनात्मक क्रिया संगृहीत है और वह कलाशास्त्र को जन्म देता है तथा दूसरा (विचारण) सर्वोच्च वैज्ञानिक क्रिया है और तर्कशास्त्र को जन्म देता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ बातों के विषय में हेगेल के मत का निरूपण क्रोचे ने बिलकुल दोषहीन रूप में नहीं किया है। उदाहरण के लिए इस प्रसंग में क्रोचे ने सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध और विचार को भाव तथा प्रतिभाव मान लिया है यद्यपि हेगेल के मतानुसार 'विचार' तथा 'सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध' परस्पर विरुद्ध स्वरूप नहीं हैं वरन् 'विचार' सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध तथा निरूपण का संधान है।

हेगेल के कलाशास्त्रीय सिद्धान्त के विषय में क्रोचे का अभिमत

हेगेल की बुद्धि में विरुद्धों के सिद्धान्त एवं विविक्तों के सिद्धान्त के विषय में एक उलझाव था जिसके कारण कलाशास्त्रीय क्रिया अर्थात् कला[1] के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान उनको प्राप्त नहीं हो सका। कला के तात्त्विक रूप के विषय में उनकी आधारभूत अवधारणा (conception) मिथ्या है। यद्यपि कला की समस्या का समाधान करते हुए उन्होंने अत्यन्त मूल्यवान बातें कहीं हैं फिर भी कलाविषयक केन्द्रीय तात्त्विक स्वरूप से उनका मेल नहीं खाता। कला के तात्त्विक स्वरूप के विषय में उनकी आधारभूत अवधारणा इसलिये दोषपूर्ण है क्योंकि उनके उस त्रिक सिद्धान्त के अनुसार

१. फिला० हे० १२१

जिसका पालन वे हठपूर्वक करते हैं अन्तिम स्वरूप के अतिरिक्त चिदात्मा के अन्य स्वरूपों की अवधारणा वे नहीं कर सके सिवाय इसके कि वे परतत्व के तात्त्विक स्वरूप को निर्धारित करने के अस्थायी एवं परस्पर विरुद्ध साधन मात्र हैं। उनको इस बात का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सका कि सैद्धान्तिक चिदात्मा (Theoretic spirit) के आदि स्वरूप में परस्पर विरुद्धता का कोई अंश नहीं है। वे इस सत्य को भी नहीं जान सके कि सैद्धान्तिक चिदात्मा के आदि स्वरूप का क्षेत्र सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प का, शुद्ध कल्पना का एवं भाषा का क्षेत्र है। कला के क्षेत्र का वे पता नहीं लगा सके। वस्तुतः क्रोचे यह मानते हैं कि हेगेल ने 'फेनोमेनोलोजी आफ़ माइण्ड' का आरम्भ चिदात्मा के एक उस विशिष्ट स्वरूप से किया है जिसको 'इन्द्रियबोध्य निश्चय' (Sensible certainty) कहते हैं और जिसका क्षेत्र कलाशास्त्रीय क्षेत्र से परे है। वस्तुतः चिदात्मा का यह प्रथम स्वरूप नहीं है क्योंकि स्वयं हेगेल के कथनानुसार यह सर्वाधिक सम्पन्न तथा सर्वाधिक सत्य दिखाई देता है और इसलिए पहले से ही बौद्धिक चिन्तना का एक तत्त्व उस में वर्तमान होता है। अतएव क्रोचे का मत यह है कि हेगेल कलात्मक क्रिया के उस क्षेत्र का पता ठीक से नहीं लगा सके जो प्रथम सैद्धान्तिक रूप (Theoretic form) है।

क्रोचे का कलाशास्त्रीय सिद्धान्त

क्रोचे के मतानुसार कलाशास्त्र प्रथम सैद्धान्तिक रूप है। यह इन्द्रियबोध्य निश्चय[1] नहीं है जैसा कि हेगेल ने प्रतिपादित किया है। वरन् यह वैसा वास्तविक इन्द्रियबोध्य निश्चय है जैसा कि हमको कलात्मक अनुचिन्तना में प्राप्त होता है। इसका विशेष लक्षण यह है कि इसमें प्रमाता और प्रमेय का भेद नहीं होता। इसमें एक वस्तु की दूसरी वस्तु के साथ तुलना निहित नहीं होती अथवा इसमें कोई देश-कालगत सम्बन्ध निहित नहीं होता। यह शुद्ध रूप से प्रमातृनिष्ठ अनुभव है जिसमें विधेयपदी (Predicative) सम्बन्ध तक वर्त्तमान नहीं होता। बिना किसी बौद्धिक अंश के यह सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प (Intuition) है। यह वह भाव है जिसको एक कविता सूचित करती है।

क्रोचे यह मानते हैं कि कला सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प है और कलाकृतिजनित अनुभव सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध है।

---

१ फिला० हे० १२३

अतएव हम यह जानने की चेष्टा करेंगे कि क्रोचे 'सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प' का क्या अर्थ लगाते हैं। अपने 'एस्थिटिक' नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ही अत्यधिक विवरणपूर्णरूप में 'सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प' (Intuition) के अर्थ को उन्होंने स्पष्ट किया है। परन्तु 'सूक्ष्म सविकल्प-गर्भित निर्विकल्प' का क्रोचे-प्रतिपादित अर्थ तभी पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है जब इसको उनके दर्शनशास्त्र के उचित प्रकाश में रख कर देखा जाय। क्रोचे का अपना एक विलग दर्शनशास्त्र है और उसमें वे 'सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प' को एक विशेष स्थान प्रदान करते हैं। अतएव हम उनके दर्शन-शास्त्र का संक्षिप्त पर्यालोचन करेंगे और यह देखेंगे कि 'सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प' का अर्थ उनके अनुसार क्या है।

क्रोचे का चिदात्मा का दर्शनशास्त्र (Philosophy of Spirit)

क्रोचे उस सीमा तक हेगेल के अनुगामी हैं जहाँ तक वे हेगेल-प्रतिपादित सविशेष अद्वैतवाद (Concrete monism) को स्वीकार करते हैं। परन्तु वे उस सीमा तक हेगेल के आलोचक भी हैं जहाँ तक वे उनके त्रिक सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। अतएव क्रोचे के पास अपना चिदात्मा का दर्शनशास्त्र है। क्रोचे के कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को स्पष्टतया समझने के लिए इस दर्शनशास्त्र को समझना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि चिदात्मा के स्वरूपों के आधार पर ही उन्होंने शेक्सपियर-कृत दुःखान्त नाटकों के हेमलेट तथा इआगो जैसे पात्रों का स्पष्टीकरण किया है। क्रोचे एक सूक्ष्म सविकल्प-गर्भित निर्विकल्पवादी कलाशास्त्री हैं। उनके मतानुसार कला 'सूक्ष्म सवि-कल्पगर्भित निर्विकल्प' है। और चिदात्मा के इस दर्शनशास्त्र में सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प चिदात्मा (Spirit) का मूल तथा प्रथम स्वरूप है।

चिदात्मा के चार स्वरूप

क्रोचे का चिदात्मा का दर्शन हेगेल के तद्विषयक दर्शन से केवल इसी बात में भिन्न नहीं है कि चिदात्मा के तात्त्विक स्वरूप के विषय में दोनों का मतभेद है वरन् चिदात्मा के रूपों के विषय में भी मतभेद है। क्रोचे यह मानते हैं कि परमतत्त्व (Reality) अखण्ड स्वरूप है परन्तु निर्विशेष (Abstract) नहीं है। यह ऐसी सविशेष (Concrete) अखण्डता है जो सब अनेकताओं को अपने अन्तर में रखती है। यह अनेकता में एकता है। यह ज्ञप्तिस्वरूप है। यह रूपों की अनेकता में अपने को व्यक्त अथवा प्रकट

करती है। हेगेल-विषयक अध्याय में हमने चिदात्मा के हेगेल-प्रतिपादित विविध रूपों के संक्षिप्त विवरण को देने की चेष्टा की है। हेगेल के मत के विरुद्ध क्रोचे यह मानते हैं कि चिदात्मा के केवल चार स्वरूप हैं एवं इससे अधिक नहीं हैं[1]। अन्य दार्शनिकों ने जो उसके अन्य रूपों को माना है वे या तो असिद्ध हैं अथवा इन चार रूपों के मिश्रण मात्र हैं। (१) सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प (२) सामान्यस्वरूप प्रत्यय (Concept) (३) आर्थिक इच्छाशक्ति एवं (४) कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्रीय (Ethical) इच्छाशक्ति।

क्रोचे हेगेल के त्रिक-सिद्धान्त का खण्डन करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि इन रूपों का पारस्परिक सम्बन्ध विरुद्धता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है वरन् विविक्तता के सिद्धान्त पर आश्रित है। चिदात्मकरूप (Spiritual forms) परस्पर त्रिक सम्बन्ध अर्थात् सत्ता-प्रतिसत्ता-क्रिया के अनुसार सम्बन्धित नहीं हैं। वे परस्पर इस प्रकार से सम्बन्धित हैं जिस प्रकार एक मात्राक्रम (degree) दूसरे मात्राक्रम से अथवा एक अवस्थाक्रम (Stage) दूसरे अवस्थाक्रम से सम्बन्धित होता है। हेगेल का यह मत है कि चिदात्मा (Spirit) अपने को निम्नलिखित त्रिक में व्यक्त करती है—१—सैद्धान्तिक चिदात्मा २—व्यावहारिक चिदात्मा तथा ३—परतत्त्वात्मक चिदात्मा। क्रोचे के मतानुसार चिदात्मा अपने को केवल दो रूपों में प्रकट करती है। इन दो रूपों के नाम क्रोचे वही रखते हैं जो हेगेल ने रखे थे अर्थात् १—सैद्धान्तिक चिदात्मा तथा २—व्यावहारिक चिदात्मा। इन दो रूपों में से प्रत्येक रूप अपने को एक द्वयी में प्रकट करता है। सैद्धान्तिक चिदात्मा के दो रूप हैं। १. सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प एवं २. सामान्यरूप ज्ञप्ति (Concept)। इसी प्रकार से व्यावहारिक चिदात्मा के दो स्वरूप हैं। (१) आर्थिक इच्छाशक्ति एवं (२) कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्रीय इच्छाशक्ति।

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प एवं कला

इस प्रकार से क्रोचे के मतानुसार सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प चिदात्मा के शाश्वत रूपों में से प्रथम रूप है और यह कला का क्षेत्र है। कला सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प है और इसलिए चिदात्मा के रूप में यह शाश्वत है। यह सामान्य स्वरूप (Universal) न होकर विशिष्ट स्वरूप है।

---

१. क्रो०—१४०

इसकी कोई सामान्य ज्ञप्ति स्वरूप (Conceptual) आन्तर विषयवस्तु नहीं है। क्रोचे हेगेल के इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि इन्द्रियगम्य उपादान सामग्री में सामान्य को व्यक्त करना कला है वरन् वे यह मानते हैं कि यह केवल 'व्यक्ति' को प्रकट करती है। यह अभिव्यक्ति (Expression) मात्र है। सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प तब तक सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प नहीं है और इसलिए कला कला नहीं है जब तक इन्द्रियगत प्रभावों (Impressions) को एक शारीरिक सम्पूर्णता (Organic whole) में न सुगठित किया गया हो अर्थात् भाषा के शब्दों में एवं वर्णात्मक शब्दों से भिन्न प्रकटनकारी उपादानों जैसे रेखा-रंग-तथा ध्वनि आदि[1] में न प्रकट किया गया हो।

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प तथा सामान्य स्वरूप ज्ञप्ति (Concept)

क्रोचे के मतानुसार ज्ञान के दो रूप हैं—१. सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध (Intuitive) एवं २. तर्कशास्त्रीय बोध (Logical)। सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक ज्ञान वह ज्ञान है जिसको कल्पनाशक्ति की सहायता से प्राप्त करते हैं। यह व्यक्तिविषयक ज्ञान है। यह प्रतिच्छायाओं का उत्पादक है। यह तार्किक बोध से भिन्न है क्योंकि सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध के विपरीत तार्किक ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि से होती है। तार्किक ज्ञान सामान्य का ज्ञान है। यह विशिष्ट व्यक्तियों का बोध नहीं है वरन् उनके परस्पर सम्बन्धों का ज्ञान है। यह (तार्किक ज्ञान) प्रतिच्छायाओं को न उत्पन्न कर सामान्यस्वरूप ज्ञप्तियों (Concepts) को उत्पन्न करता है।

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध के विषय में कान्ट तथा क्रोचे में मतभेद

हम कान्ट-विषयक अध्याय में यह लिख आए हैं कि कान्ट के मतानुसार सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध इन्द्रिय-बोधात्मक ज्ञान है। यह ज्ञेय वस्तु के साथ अव्यवहितरूप में सम्बन्धित होता है। यह सब प्रकार की ज्ञप्तियों को विषय-सामग्री प्रदान करता है। यह ज्ञेय सामग्री से मानवीय

---

१. क्रो०—८

मन का प्रभावित होना है। यह आवश्यक रूप से इन्द्रियबोधशक्ति (Sensibility) के प्राग्भावी (A priori) रूपों अर्थात् देश-काल के रूपों के अनुकूल होता है। इसमें अनेक प्रकार की इन्द्रियगृहीत सामग्री रहती है जो देशकाल की व्यवस्था में व्यवस्थित होती है। यह बौद्धिक प्रतिक्रिया के पूर्व ज्ञान का स्वरूप है। इसमें दो संधान निहित होते हैं—१. अवबोध का सन्धान (Synthesis of apprehension) एवं पुनरुत्पादन का सन्धान (Synthesis of reproduction)। इस प्रसङ्ग में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि कान्ट के मतानुसार सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध बिना सामान्यज्ञप्ति के 'अन्ध' होता है।

निम्नलिखित बातों में कान्ट से क्रोचे का मतभेद है :—

क्रोचे यह मानते हैं कि सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध बुद्धि से सर्वथा स्वतन्त्र है। इसको बुद्धि की आंखों की आवश्यकता नहीं है। यह स्वप्रकाश है। वे यह मानते हैं कि प्रायः एक सामान्यस्वरूप ज्ञप्ति को हम एक सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध से मिश्रित रूप में पा सकते हैं। परन्तु इसके साथ-साथ वे यह भी कहते हैं कि कुछ सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध ऐसे भी होते हैं, जैसे एक चित्रकार से देखा गया चन्द्रमा का प्रकाश, जिनमें सामान्यस्वरूप ज्ञप्ति का कोई चिह्नमात्र भी नहीं होता। अतएव एक सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प में सामान्यस्वरूप ज्ञप्तिनिष्ठ अंश आवश्यक रूप से नहीं वरन् आकस्मिक होता है।

इसके अतिरिक्त वे सामान्यस्वरूप ज्ञप्तियां जो एक सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प से मिश्रित हैं सामान्यस्वरूप ज्ञप्ति होने पर भी ऐसी दशा में वे सामान्य ज्ञप्ति स्वरूप रह नहीं जातीं। क्योंकि एक सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प से मिश्रित होने पर वे (सामान्यस्वरूप ज्ञप्तियां) अपनी स्वतन्त्रता को नष्ट कर देती हैं। उदाहरण के लिए दुःखान्त नाटकों के नायकों के मुख से निकले हुए सिद्धान्त-वाक्य (Maxims) सामान्यस्वरूप ज्ञप्ति का काम नहीं करते वरन् नायकों के विशेष लक्षणों के रूप में उसी प्रकार से प्रकट होते हैं जिस प्रकार से चित्रित मनुष्याकृति (Portrait) के मुख पर लाल रंग का अर्थ एक भूतवैज्ञानिक का लाल रंग न होकर मनुष्याकृति का विशेष लक्षणात्मक तत्त्व होता है। क्रोचे यह मानते हैं कि सम्पूर्ण (whole) स्वगत अंशों के गुणों को निर्धारित करता है और इसलिए यह प्रतिपादित करते हैं कि यद्यपि एक कलाकृति दार्शनिक सामान्यस्वरूप

ज्ञप्तियों से परिपूर्ण हो सकती है फिर भी उनके होते हुए भी कलाकृति का समग्र प्रभाव एक सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प होता है।

क्रोचे के मतानुसार कलात्मक सूक्ष्म सविकल्प गर्भित निर्विकल्प देश-काल के सम्बन्धों से मुक्त होता है। कुछ सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पों में कालतत्त्व से शून्य देशतत्त्व को पाया जा सकता है एवं अन्य सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पों में देशतत्त्व शून्य कालतत्त्व को भी पा सकते हैं और उस दशा में भी जब देश-काल दोनों तत्त्व एक साथ उनमें (सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पों में) वर्त्तमान होते हैं तो उनका बोध परवर्त्ती चिन्तना की सहायता से होता है। देश और काल के सम्बन्धों से जो स्वतन्त्र है वही शुद्ध रूप में सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प है।

परन्तु यह कथन कि सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बौद्धिक सामान्य स्वरूप ज्ञप्तियों तथा इन्द्रियबोधशक्ति के रूपों से समानरूप से स्वतन्त्र होता है क्रोचे के लिए यह अर्थ प्रदान नहीं करता कि सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प केवल इन्द्रियबोध मात्र है अर्थात् केवल इन्द्रियगृहीत रूपहीन सामग्री (Formless matter) है। क्योंकि अपने निष्कृष्टरूप में इन्द्रिय-गृहीत सामग्री ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक सामग्री का एक अंशमात्र ही है। यह वह तत्त्व है जिसको मनुष्य सहन करता है परन्तु उसको उत्पन्न नहीं करता। यह अस्फुट तथा अनिश्चित स्वरूप होता है। यह अनुभव की वह विषय-सामग्री है जिसका बोध हमको तब होता है जब हम यह स्पष्टतया समझने की कोशिश करते हैं कि हमारे अन्दर क्या घटित हो रहा है जिसकी झलक हम ऐसे रूप में पाते हैं जो विषयीभूत और संगठित रूप में प्रतीत नहीं होता। क्रोचे के मतानुसार ऐन्द्रिय बोध केवल सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प तभी होते हैं जब उनको चिदात्मा के व्यापारक्षेत्र के अन्तर्गत किया जाता है अर्थात् जब उनको सुगठित, सन्धानित और प्रकट किया जाता है।

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प के विषय में हेगेल आदि से क्रोचे का मतभेद

हेगेल आदि दार्शनिकों से क्रोचे का सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प के विषय में मतभेद निम्नलिखित बातों में है :—

१. क्रोचे चिदात्मा के उस अस्फुट क्षेत्र (Obscure region) के अस्तित्व को नहीं मानते हैं जिसको जर्मन दार्शनिकों ने सामान्यतः कलाशास्त्र का क्षेत्र

माना था। उनके मतानुसार चिदात्मा का वह प्रथम स्वरूप सविकल्पगर्भित निर्विकल्प है जिसका विशेष लक्षण 'प्रकटीकरण' अथवा 'अभिव्यंजन' है। इस को वे कलानुभव (एस्थेटिक) से अभिन्न मानते हैं।

२. क्रोचे के मतानुसार सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प देश-काल के सम्बन्धों से स्वतन्त्र है। परन्तु कान्ट तथा हेगेल सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प के लिए देश-काल के सम्बन्ध को आवश्यक मानते हैं।

३. क्रोचे के मतानुसार सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प की विषय-सामग्री आन्तरिक या बहिर्भूत होती है। परन्तु कान्ट के मतानुसार यह बाह्य मात्र होती है और हेगेल के मतानुसार आन्तरिक मात्र ही होती है।

४. क्रोचे के मतानुसार सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प में इस अनुभव को करने वाला प्रमाता परिच्छिन्न अनुभविता के रूप में बहिर्भूत यथार्थ वस्तु को अपने विरोधी के रूप में नहीं देखता वरन् केवल प्रभावों को विषयीभूत करता है—वे प्रभाव चाहे जो कुछ हों। परन्तु हेगेल के मतानुसार सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प में मस्तिष्क अपनी उस विषय-सामग्री के विरुद्ध अपनी विशिष्ट आत्मभावना से क्रिया करता है जिसके साथ में इसका घनिष्ठतम सम्बन्ध है।

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प का प्रत्यक्ष से भेद

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा यथार्थ वस्तु के ज्ञान से अभिन्न नहीं है। कलाकार के मस्तिष्क में वर्तमान शुद्ध मानसिक प्रतिच्छायाएँ एवं बाह्य वस्तुओं से उत्प्रेरित प्रतिच्छायाएँ समान रूप से सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प हैं। यथार्थ एवं अयथार्थ का भेद सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध में नहीं होता। सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प यथार्थ वस्तु के प्रत्यक्ष तथा सम्भावित की सरल प्रतिच्छाया की भेदरहित एकता है। अपने सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प में हम परिछिन्न प्रमाताओं के रूप में बाह्य वस्तुओं को अपने से विरुद्ध रूप में नहीं देखते। वरन् हम अपने बोधसंस्कारों को केवल विषयीभूत ही करते हैं—वे चाहे जो कुछ भी हों।

सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प एवं ऐन्द्रियबोधों के अनुषङ्ग (Association of sensations) का भेद

अनुषङ्ग (Association) शब्द के तीन स्पष्ट अर्थ हैं :—

१. स्मृति से जनित ऐन्द्रियबोधों के सम्बन्ध अर्थात् सचेत अनुचिन्तना।

२. असंचेतित पूर्वानुभवांशों (Unconscious elements) का सरल सम्बन्ध ।

३. उत्पादनशील अनुषङ्ग अर्थात् वह सम्बन्ध जो सम्बन्धित ऐन्द्रियबोधों को विशिष्ट रूप प्रदान करता है ।

प्रथम पक्ष के प्रसङ्ग में, अर्थात् यदि 'अनुषङ्ग' को स्मृतिजनित माना जाय तो अनुषङ्ग को सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प से अभिन्न मानना मूर्खता होगी। क्योंकि ऐसी दशा में अनुषङ्ग सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प की पूर्व कल्पना पर आधारित होगा । क्योंकि स्मृति में केवल उसी का संचय कर सकते हैं और उसी को स्मृति से प्रकट कर सकते हैं जिसका हमने पूर्वकाल में सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध किया है अर्थात् जिसे चिदात्मा ने अन्य वस्तुओं से पृथक् रूप में अनुभूत और गृहीत किया है। दूसरे अर्थ के अनुसार अर्थात् यदि हम इसका अर्थ यह मान लें कि यह उन असंचेतित पूर्वानु-भवांशों या ऐन्द्रियबोधों का सरल सम्बन्ध है जिनका चिदात्मा से विविक्ती-करण एवं ग्रहण नहीं किया गया है एवं जिन पर चिदात्मा ने कोई क्रिया नहीं की है तो यह सम्बन्ध केवल ऐन्द्रियबोध की निश्चेष्टता (Passivity of sensation) के क्षेत्र तक में ही सीमित रहता है और इस प्रकार से उस सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प से भिन्न है जो एक चिदात्मा की क्रिया है। यदि अनुषङ्ग का अर्थ उत्पादनशील अनुषङ्ग है अर्थात् वह सम्बन्ध है जो सम्बन्धित ऐन्द्रियबोधों को निश्चित स्वरूप प्रदान करता है अर्थात् तीसरे अर्थ के प्रसङ्ग में अनुषङ्ग और सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प (Intuition) का भेद केवल नाममात्र का भेद है। क्योंकि उत्पादनशील अर्थात् रचना-विधायक (Formative) होने के लिए अनुषङ्ग को निश्चेष्टता तथा ऐन्द्रियबोध मात्र की भूमि से उपर उठना होता है। सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों को परस्पर भिन्न इसको इसलिए करना होता है जिससे कि वह एक निश्चित रूप में उनको रच सके। अतएव वह (अनुषङ्ग) इन्द्रियबोध की निश्चेष्टता से सम्बन्धित न होकर चिदात्मा की क्रियाशीलता से सम्बन्धित होता है और इस रूप में वह सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प (Intuition) से भिन्न नहीं है ।

सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प एवं प्रतिनिरूपण (Representation) में भेद

साधारणतया प्रतिनिरूपण को हम ऐन्द्रियबोध और सामान्यस्वरूप ज्ञप्ति

दोनों से भिन्न मानते हैं। इसको ऐसी मानसिक अवस्था मानते हैं जो ऐन्द्रियबोध तथा सामान्यस्वरूप ज्ञप्ति के मध्य में वर्तमान है। परन्तु प्रश्न यह है कि 'क्या यह ऐन्द्रियबोध से केवल परिमाण में भिन्न है?' क्या ऐन्द्रियबोध का प्रतिनिरूपण से भेद यह है कि ऐन्द्रियबोध की सरलता की अपेक्षा प्रतिनिरूपण में अधिक जटिलता होती है?' अथवा 'यह भेद गुणात्मक एवं रूपात्मक है?' 'क्या ऐन्द्रियबोध से प्रतिनिरूपण उस सीमा तक भिन्न है जहाँ तक वह रचा गया है?' प्रथम पक्ष में भेद के केवल परिमाणात्मक होने के कारण प्रतिनिरूपण मूलरूप से ऐन्द्रियबोध से भिन्न नहीं होता। अतएव सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प प्रतिनिरूपण से भिन्न है। दूसरे प्रसंग में क्योंकि प्रतिनिरूपण ऐन्द्रियबोध से गुणात्मक, रूपात्मक एवं तात्विक रूप में भिन्न होता है इसलिए प्रतिनिरूपण में ऐन्द्रियबोध का विशदीकरण होता है। अतः वह (प्रतिनिरूपण) सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प से अभिन्न है।

सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प का विशेष लक्षण

सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प का विशेष लक्षण अभिव्यक्तीकरण है। सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प केवल ऐन्द्रियबोधमात्र ही नहीं है वरन् अभिव्यक्तीकरण भी है। अभिव्यक्तीकरण एक चिदात्मक क्रिया है जो सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प को यांत्रिक तथा निश्चेष्ट ऐन्द्रियबोध से भिन्न करती है। यह एक कालाकार, एक व्याख्यानदाता, एक चित्रकार, एक संगीतकार अथवा एक कवि का चिदात्मक अभिव्यक्तीकरण (spiritual manifestation) है। यह बोध संस्कारों अथवा संवेदनाओं को केवल ऐन्द्रियबोधों के अस्फुट क्षेत्र से चिदात्मक स्पष्टता (Spiritual Clarity) के लोक में लाने का साधन है। जब यह सफल होता है तो इसके पश्चात् आन्तरिक-प्रकाशन[1] (Inner illumination) होता है।

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प उस ऐन्द्रियबोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो चिदात्मा की क्रिया से अनुशासित है, जिसको विषयीभूत किया गया है, जिसकी रचना की गई है तथा जिसको प्रकट किया गया है। यह उस समय उत्पन्न होता है जिस समय संवेदनायें अथवा बोधसंस्कार शब्दों की सहायता से (आन्तरिक वाणी से परन्तु बहिर्भूत उच्चारण से नहीं) ऐन्द्रियबोध के अस्फुट क्षेत्र से निकल कर चिन्तनात्मक चिदात्मा के स्फुट

१. क्रो०—९

क्षेत्र में आते हैं। प्रकटीकरण के माध्यम से, चाहे वह भाषा हो, चाहे ध्वनि हो, चाहे रंग अथवा रेखा हो, सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प के तात्विक स्वरूप में कोई भेद नहीं पड़ता।

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पबोध एक अभिव्यक्तियुक्त (expressive) बोध है। यह इन्द्रियबोधों का सन्धान (Synthesis) एवं आन्तरिक प्रकटीकरण है। बौद्धिक क्रियाओं से यह स्वतंत्र है। यह देश-काल के तात्विक स्वरूपों से भी स्वतन्त्र है। यह उस भूमि से उच्चतर है जिस पर हम यथार्थ तथा अयथार्थ का भेद करते हैं। यह कलात्मक तथ्य (Artistic fact) से अभिन्न है। कलाकृतियाँ सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक ज्ञान के उदाहरण हैं। इन कलाकृतियों में सूक्ष्म सविकल्प गर्भित निर्विकल्प के सभी गुण वर्तमान होते हैं।

सामान्य तथा कलात्मक सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्पों में भेद

सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प कलाकार ही का अपना विशेषाधिकार (Privilege) नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार का बोध होता रहता है। वस्तुतः सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प मानवजाति के व्यावहारिक जीवन का आधार है। परन्तु क्रिया को जन्म देने वाला सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प का संसार उस सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प के संसार की तुलना में बहुत छोटा है जिसको कलाकृतियों में प्रकट करते हैं। यह छोटे-छोटे प्रकटीकरण के साधनों अर्थात् उन शब्दों से रचित होता है जिनमें हम आन्तरिक रूप में अपने बोधसंस्कारों को उन मौन निगमनों (Judgements) में, उदाहरणतः 'यहाँ एक मनुष्य है' 'यह एक घोड़ा है' 'यह भारी है' आदि में प्रकट करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी मात्रा में एक कवि, एक चित्रकार, एक मूर्तिकार, एक संगीतज्ञ तथा एक वास्तुकलाकृति की रचना करने वाला होता है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के पास बोलने की शक्ति होती है और वह किसी न किसी मात्रा में चित्र बना सकता है या गा सकता है, और भवनादि की रचना कर सकता है। परन्तु एक वास्तविक कलाकार सामान्य मनुष्य से बहुत अधिक ऊँचा होता है, (१) क्योंकि जो कलाकार नहीं है उससे कलाकार की इन्द्रियाँ अधिक संवेदनाशक्ति से पूर्ण (Keener) होती हैं एवं इसलिए उसमें उन तथ्यों की देखने की शक्ति होती है जो

सामान्य इन्द्रियबोधशक्तिवाले व्यक्तियों की दृष्टि में नहीं आतीं एवं (२) क्योंकि कलाकार के पास प्रकट करने की शक्ति होती है जिसके कारण ध्यानपूर्वक देखे गये तथ्यों को वह पूर्णरूप से व्यक्त कर सकता है अथवा उनका सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध कर सकता है। उसकी दृष्टि विशालतर क्षेत्र में क्रियाशील होती है और उसके प्रकटीकरण में एक ऐसी जटिलता होती है जिसको हम उन व्यक्तियों के प्रकटीकरणों में कभी नहीं पा सकते जो कलाकार नहीं हैं। अतएव साधारण तथा कलात्मक सूक्ष्म-सविकल्पगर्भित निर्विकल्प में केवल परिमाणात्मक भेद है इसलिए तात्विक नहीं है।

व्यावहारिक चिदात्मा

चिदात्मा का व्यावहारिक रूप इच्छाशक्ति है अर्थात् चिदात्मा की यह वह क्रिया है जो चिदात्मा के सैद्धान्तिक रूप से इस बात में भिन्न है कि यह ज्ञान की उत्पत्ति न कर क्रिया की उत्पत्ति करती है। एक क्रिया तभी तक क्रिया है जब तक वह स्वतन्त्रतापूर्वक की जाती है। इसमें वह क्रिया भी सम्मिलित है जिसको सामान्यतः अक्रिया कहते हैं अर्थात् विरोध करने (To resist) की और त्यागने (To reject) की इच्छा। यह चिदात्मा के सैद्धान्तिक रूप पर निर्भर है। क्योंकि ज्ञान के बिना क्रिया सम्भव नहीं है। उस विषय के सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प ज्ञान के बिना जिसको इच्छाशक्ति परिवर्तित करना चाहती है इच्छा करना सम्भव नहीं है।

क्रोचे-प्रतिपादित व्यावहारिक चिदात्मा के प्रकाश में हेमलेट का चरित्र

क्रिया के लिए ज्ञान एक अनिवार्यतः आवश्यक पूर्वभावी है। क्रिया के अपने विशेष क्षेत्र में व्यावहारिक मनुष्य तभी कार्य कर सकता है यदि उसको अनुसरणीय कार्यविधि का स्पष्ट ज्ञान है और साथ ही साथ उस लक्ष्य का भी बोध है जिसकी सिद्धि की ओर क्रिया को उन्मुख करना है। चाहे जितनी सामान्य क्रिया हो उसको करने की इच्छा तब तक नहीं हो सकती जब तक इच्छित वस्तु का सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्पबोध न हो। उदाहरण के लिए एक राजनीतिज्ञ अपने देश के उत्थान के लिए किस प्रकार से कार्य कर सकता है जबतक उसको समाज की वास्तविक दशा का बोध न हो एवं सुधारकारी साधनों तथा उपायों का ज्ञान न हो। अतएव जिस

समय एक व्यावहारिक व्यक्ति को साध्यवस्तु का, उसको सिद्ध करने के उपायों एवं साधनों का स्पष्ट सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्पात्मक बोध नहीं होता अथवा मनोगत चिन्तित कार्य की युक्तियुक्तता के विषय में कर्ता यदि शङ्काग्रस्त होता है तो या तो कार्य का आरम्भ नहीं होता अथवा वह अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में सैद्धान्तिक क्षण (Theoretical moment) जो क्रियाओं के प्रबल वेगवान क्रमों में कठिनता से अवगत होता है चेतना पर अपना चिरकाल तक अधिकार किए रहता है। हैमलेट[1] जैसा पात्र, (१) कार्य करने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति एवं (२) परिस्थिति तथा विशेष परिस्थिति में अपने उद्देश्य की सिद्धि तक ले जाने वाले उपायों और साधनों के ज्ञान के अभाव, इन दोनों से उत्पन्न होता है।

व्यावहारिक चिदात्मा के दो स्वरूप

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं व्यावहारिक चिदात्मा के दो रूप हैं—(१) आर्थिक इच्छाशक्ति एवं (२) नैतिक अथवा कर्त्तव्यमीमांसा सम्बन्धी इच्छा-शक्ति। सैद्धान्तिक चिदात्मा के जो दो रूप (१) सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प तथा (२) सामान्य स्वरूप ज्ञप्ति हैं उनमें दूसरे रूप का आधार प्रथम रूप है। व्यावहारिक चिदात्मा के दोनों स्वरूपों के विषय में भी यही सत्य है। कर्त्तव्यमीमांसीय इच्छाशक्ति का आधार आर्थिक इच्छाशक्ति है। क्योंकि आर्थिक रूप से इच्छा करने का अर्थ एक साध्य की इच्छा करना है और नैतिक रूप से इच्छा करने का अर्थ एक युक्तिसंगत साध्य की इच्छा करना है। परन्तु किस प्रकार से एक व्यक्ति एक युक्तिसंगत लक्ष्य की इच्छा कर सकता है जबतक वह उसकी इच्छा अपने विशिष्ट लक्ष्य के रूप में भी न करे ?

क्रोचे-प्रतिपादित आर्थिक इच्छा-शक्ति के प्रकाश में 'इआगो' का चरित्र

क्रोचे यह मानते हैं कि जिस प्रकार से सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प सामान्यस्वरूप ज्ञप्ति से स्वतन्त्र है उसी प्रकार से आर्थिक इच्छाशक्ति कर्त्तव्य-मीमांसीय (नैतिक) इच्छाशक्ति से स्वतन्त्र है। नैतिक रूप से इच्छा किए बिना आर्थिक[2] रूप से इच्छा करना संभव है। एक अन्याय्य उद्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आर्थिक इच्छा से पूर्ण सामंजस्य (Economic coherence)

१. क्रो०—४९   २. क्रो०—५७

में काम करना संभव है। इस प्रकार का लक्ष्य चेतना की उच्चतर भूमि पर अनैतिक लगता है। बिना नैतिकता के एक कण के भी आर्थिक इच्छाशक्ति का श्रेष्ठ उदाहरण शेक्सपियरकृत ओथेल्लो नाटक में इआगो नामक पात्र है। उसकी आर्थिक इच्छाशक्ति की दृढ़ता अवश्य ही प्रशंसनीय है यद्यपि यह अपने को नैतिकता के सभी तात्त्विक स्वरूपों के विरुद्ध प्रकट करती है। उसके पास नैतिक चेतना का एक कण भर भी नहीं है। उसके अन्तःकरण में अनैतिकता तथा नैतिकता का संघर्ष नहीं है क्योंकि नैतिक भावना का विकास उसके अन्तःकरण में हुआ ही नही है।

जिस प्रकार से चिदात्मा के चार स्वरूप हैं उसी प्रकार से चार प्रकार की प्रतिभाएँ[1] भी हैं। परन्तु कलात्मक, वैज्ञानिक एवं नैतिक इच्छाशक्ति की प्रतिभाओं से युक्त मनुष्यों को लोक में मान्यता प्राप्त हुई है उसी प्रकार से शुद्ध आर्थिक इच्छाशक्ति की प्रतिभा वाले को समरूप मान्यता प्राप्त नहीं हो पाई है।

परन्तु क्रोचे इआगो की भाँति अनिष्टकारी प्रतिभा को भी एक स्थान देते हुए अर्थात् शुद्ध आर्थिक इच्छाशक्ति के क्षेत्र में स्थापित करते हुए अपने दर्शन में एक निश्चित स्थान प्रदान करते हैं। इस प्रकार की प्रतिभा किसी युक्तिसंगत लक्ष्य की ओर प्रेरित नहीं होती। यह भयमिश्रित प्रशंसा के भाव को उत्प्रेरित करती है।

हेगेल के भाषा-विषयक मत का क्रोचेकृत खण्डन

क्रोचे के मतानुसार हेगेल केवल सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प (Intuition) और इसलिए कला के विशेष लक्षण को जानने में ही असफल नहीं रहे वरन् चिदात्मा के राज्य में भाषा को उचित स्थान देने में भी असफल रहे हैं। हेगेल के दृष्टिकोण से, जैसा कि फ़िलासफ़ी आफ़ माइण्ड (पृष्ठ (२१८–२४) में प्रतिपादित किया गया है, अपनी ज्ञप्तियों को एक बाह्य माध्यम[2] में प्रकट करने के लिए सैद्धान्तिक मस्तिष्क अथवा बुद्धि ने भाषा की उत्पत्ति की है। उनके मतानुसार भाषा में प्रकटीकरण[3] का साधन अर्थात् एक शब्द, सामान्य का बोधक होता है। परन्तु भाषा के विषय में क्रोचे का अभिगत हेगेल के अभिगत से मूलतया भिन्न है। क्रोचे यह मानते हैं कि भाषा बुद्धि के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आती, उसका क्षेत्र सूक्ष्मसविकल्प-

१. क्रो०—६१ २. वै० २२१ ३. फिला० हे० १२५

गर्भित निर्विकल्प है। क्योंकि भाषा की प्रकटनीय विषयवस्तु सामान्य न होकर विशेष है। भाषा के साधन से हम उस व्यक्ति का बोध करते हैं जिसका बोध चिदात्मा सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प रूप में करती है और ध्वनियों में प्रकट करती है। भाषा के विषय में हेगेल का मत इसलिए दोषपूर्ण है क्योंकि उसका निहितार्थ यह है कि भाषारूप मानवीय क्रिया एक असफल क्रिया है क्योंकि यह व्यक्ति को प्रकट करने की चेष्टा करती है परन्तु सदैव सामान्य को ही प्रकट करती है।

परन्तु यदि ठीक रूप से समझा जाय तो उस भाषा के विषय में हेगेल का अभिमत जो 'चित्रलिपि, अथवा वर्णलिपि या ध्वनि रूप चिह्नों का संगठन है युक्तिसंगत लगता है। और क्रोचे ने जो इसका खण्डन किया है वह बहुत अधिक युक्तिसंगत नहीं लगता। क्योंकि हेगेल का यह अभिमत कि एक अकेला शब्द उसी सामान्य का द्योतक होता है जिसको एक सरल प्रत्यक्ष-ग्राह्य उस चिह्न में प्रकट करते है जो स्वयं अपने लिए किसी अर्थ का द्योतक नहीं होता और जिसका मुख्य प्रयोजन सरल ज्ञप्ति का प्रतिनिरूपण अथवा द्योतन होता है (वै० २२४) व्याकरण के उस भारतीय दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त के समान है जिसका प्रतिपादन भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् में और काश्मीर के अद्वैतवादी शैवमत के मुख्य प्रतिपादक अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में किया है।

यह सत्य लगता है कि हेगेल ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि एक शब्द-समूह से व्यक्ति विशेष का बोध किस प्रकार से होता है। परन्तु इसका कारण यह है, जैसा कि हेरक्रुग को उत्तर देते हुए हेगेल ने कहा था, कि उनका साध्य व्यक्ति विशेष का नहीं वरन् सामान्य का स्पष्टीकरण है।

एक प्रमुख भारतीय दार्शनिक मत अर्थात् काश्मीर के अद्वैतवादी दर्शन-शास्त्र में इस समस्या को हल करने की चेष्टा की गई है कि "किस प्रकार से उस शब्दसमूह से हमको व्यक्ति अथवा विशेष का बोध होता है जिसमें ऐसे शब्द होते हैं जो सामान्यों के द्योतक हैं ?"

इस समस्या की व्याख्या उस आभासवाद के प्रसङ्ग में की गई है जिसके अनुसार यह जगत उन आभासों के व्यवस्थित समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिनको पर-तत्त्व व्यक्त करता है। आभास का तात्त्विक-स्वरूप बहुत कुछ उस ज्ञप्ति के समान है जिसके तात्त्विक स्वरूप का प्रतिपादन शोपेनहावर ने प्लेटो के दार्शनिक मत से प्रभावित होकर किया था। प्रत्येक

एकाकी आभास एक सामान्य है और एक सामान्य द्योतक शब्द से द्योतित होता है। इस प्रसङ्ग में जो समस्या उठाई गई है वह यह है कि 'विशिष्ट वस्तु के बोध का कारण क्या है?' इसका उत्तर यह है कि विशिष्ट वस्तु उन आभासों अथवा ज्ञप्तियों[1] के व्यवस्थित समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिनको विषयरूप काल और देश से निर्मित सामान्य आधार पर प्रयोजनोन्मुख प्राणी एक सूत्र में संगठित करता है। अतएव अद्वैतवादी शैवमत के अनुसार यह माना जाता है कि शब्दों का एक वह समूह जो भलीभाँति एक उस वाक्य में सुसंगठित है जो ज्ञप्तियों अथवा आभासों के सुसंगठित समुदाय की सविकल्प चेतना को प्रकट करता है और उसको आवश्यक रूप से उस समय के साथ सम्बन्धित करता है जो विधेयपद से सूचित है, विशेष अथवा विशिष्ट वस्तु का बोध उत्पन्न करता है। क्योंकि विशिष्टता का द्योतन समय अथवा देश अथवा दोनों करते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि क्रोचे के मतानुसार एक शब्दसमूह (वाक्य आदि) से विशेष का बोध उस विधि से होता है जिसकी कुछ समानता उपर्युक्त मत के साथ है। यह निम्नलिखित अनुच्छेद में लिखित उद्धरण से ज्ञात होता है :—

एक शब्दसमूह (वाक्य आदि) से विशेष के बोध की प्राप्ति के सहायक साधनांशों के प्रसङ्ग में क्रोचे[2] यह कहते हैं "यदि मैं यह कहता हूँ—"ठीक यही कागज" तो इसका कारण यह है कि यह कागज मेरे सामने है और मैं इसको दूसरों को दिखा रहा हूँ। ये शब्द जो मेरे मुख से निकलते हैं अपने सम्पूर्ण अर्थ को उस सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक परिस्थिति से प्राप्त करते हैं जिसमें मैं अपने को पाता हूँ और इस प्रकार से (विशिष्ट कागज का बोध) उन अभिप्राय, स्वर उच्चारण और इंगितों से प्राप्त होता है जिनके साथ मैं उन (शब्दों) का उच्चारण करता हूँ। भारतीय कलाशास्त्र के आचार्यों ने इन साधनांशों (Factors) की व्याख्या उस तात्पर्यशक्ति के प्रसंग में की है जो भाषा की प्रसंगागत (Contextual) शक्ति है। भाषा की व्याख्या में हेगेल ने इन साधनांशों पर विचार नहीं किया है।

कला

हेगेल की भांति क्रोचे कलाशास्त्र की समस्या का समाधान तीन दृष्टिकोणों

१. भा० भाग २, ९५–१०३ और भाग ३, १४७–५०

२. फिला० हे० १२६

से करने की चेष्टा करते हैं (१) कलाकृति, (२) कलाकार एवं (३) सहृदय। कलाशास्त्र को उनका विशिष्ट योगदान उनकी सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध की अपनी परिभाषा है जिसके आधार पर कलाशास्त्र से सम्बन्धित सभी विषयों पर वे अपने मतों को प्रकट करते हैं। अतएव क्योंकि सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प के तात्विक स्वरूप का वर्णन हम कर चुके हैं इसलिए अब हम कला के तात्विक स्वरूप की व्याख्या करेंगे।

क्रोचे के मतानुसार, जैसा कि हम कह चुके हैं, कला सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प है परन्तु यह उस सामान्य सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प से अधिक उन्नत अधिक विशाल तथा अधिक अर्थवान है जो व्यावहारिक जीवन का आधार है। यह एक ऐसा प्रकटीकरण है जो जटिल तथा कठिन है और इसलिए इसको प्राप्त करना दुर्लभ है क्योंकि यह आत्मा की एक जटिल दशा का प्रकटीकरण है। परन्तु हम कह आए हैं कि क्रोचे के मतानुसार सामान्य तथा काव्यात्मक सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध में अन्तर केवल परिमाणात्मक ही है और इसलिए सारशून्य है। अतएव यदि हम यह प्रश्न करें कि उनके बीच में विभाग की रेखा क्या है तो क्रोचे का सङ्कोचशून्य उत्तर यह है कि इस प्रकार की रेखा[1] का खींचना असम्भव है।

कला शुद्ध सूक्ष्म सविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध है। यह बौद्धिक ज्ञान से तथा यथार्थ के प्रत्यक्ष से भिन्न है। बौद्धिक ज्ञान ही केवल ज्ञान नहीं है। सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध भी एक प्रकार का ज्ञान है यद्यपि यह सामान्यरूप ज्ञप्ति से स्वतन्त्र है और यथार्थ के प्रत्यक्षज्ञान से अधिक सरल है। अतएव संवेदना (Feeling) अथवा मानसिक विषयवस्तु (Psychic matter) का क्षेत्र कला का क्षेत्र नहीं है और न सामान्यरूप ज्ञप्तियों का क्षेत्र ही कला का क्षेत्र है। कला का अपना एक स्वतन्त्र राज्यक्षेत्र है।

कला में आन्तर विषयवस्तु (Content) तथा रूप (Form) में संबंध

हम गत पंक्तियों में यह लिख आए हैं कि क्रोचे के मतानुसार कला सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प है और सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प का विशेष लक्षण इन्द्रियगत प्रभाव का प्रकटन है। अतएव इस प्रसङ्ग में जो प्रश्न उठता है वह यह है कि 'एक कलाकृति में आन्तर विषयवस्तु और रूप में

---

१. क्रो०—१३

सम्बन्ध क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर क्रोचे यह देते हैं कि (कला की) आन्तर विषयसामग्री और रूप अर्थात् इन्द्रियगत प्रभाव तथा अभिव्यक्ति दो भिन्न वस्तुएँ नहीं है यदि हम (कला की) आन्तर विषय-सामग्री अथवा विषय का अर्थ वह शुद्ध आध्यात्मिक प्रभाव (Spiritual affection) लगाते हैं जो बाह्य अथवा आन्तरिक कारणों से उत्पन्न हुआ है, जिसका कलात्मक रूप से अभी तक विशदीकरण नहीं हो पाया है और यदि रूप का अर्थ हम एक रचनाकारी (Formative) आध्यात्मिक क्रिया समझते हैं। क्योंकि एक कलात्मक कृति (क्रिया) में प्रकटनकारी क्रिया को इन्द्रियगत प्रभाव से जोड़ा नहीं जाता वरन् प्रकटनकारी क्रिया से इन्द्रियगत प्रभावों का विशदीकरण करते हैं। इन्द्रियगत प्रभाव व्यक्त होकर उसी प्रकार से पुनः प्रत्यक्ष होते हैं जिस प्रकार[1] से छन्ने में रखा हुआ पानी छन्ने की दूसरी ओर पुनः जल ही के रूप में प्रत्यक्ष होता है फिर भी वह अपने प्रथम रूप से भिन्न होता है।' एक कलात्मक कृति में अर्थात् एक सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प में इन्द्रियगत प्रभाव (impression) व्यक्त करने की आध्यात्मिक क्रिया का आरम्भ विन्दु है। प्रकटनरूप क्रिया से भिन्नतया इन्द्रियगत प्रभाव का कोई स्पष्ट बोध नहीं होता। अर्थात् आन्तर विषयसामग्री के गुणों से रूप के गुणों तक पहुँचने का कोई संयोजक मार्ग नहीं है। एक कलाकृति की आन्तरिक विषयसामग्री का उस समय तक कोई विशिष्ट गुण नहीं होता जब तक इसकी रचना नहीं हो जाती अथवा जब तक यह प्रकट नहीं की जाती। इस प्रकार से क्योंकि आन्तरिक विषयवस्तु और रूप, विषय-सामग्री और प्रकटन रूप क्रिया दो ऐसी भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं जिनमें अपने विशिष्ट गुण हों इसलिए एक कलाकृति में आन्तरिक विषयवस्तु और रूप के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्रश्न करने का कोई अर्थ ही नहीं है। अतएव वे यह मानते हैं कि कलात्मक कृति रूप है—रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कला की अखण्डता

सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प और अभिव्यक्ति के रूप में कला एक अखण्डनीय आङ्गिक (Organic) पूर्णता (Whole) है। यह इन्द्रियगत प्रभावों का अखण्ड रूप में परस्पर घनिष्ठ मिलन है। परन्तु यह अखण्डता शुद्ध अथवा निर्विशेष न होकर अनेकता में एकता है। यह अनेकों का एक में

१. क्रो०—१५

संधान है । यह अभिव्यक्तों की अभिव्यक्ति (Expression of expressions) नहीं है । अभिव्यक्तिरूप कला अन्य अभिव्यक्तियों को अपने में समाविष्ट नहीं करती । यह अतीतकालीन तथा वर्त्तमान अभिव्यक्तियों का मिश्रित रूप नहीं है । यह केवल इन्द्रियगत प्रभावों का सन्धान मात्र है । अतीतकालीन अभिव्यक्तियाँ एक नूतन अभिव्यक्ति में सन्धानित हो सकें इसलिए उनको इन्द्रियगत प्रभावों की भूमि पर उतरना आवश्यक है । जिस प्रकार से एक नई किसी धातु की प्रतिमा को बनाने के लिए और उसमें पुरानी प्रतिमा का अंश बनाए रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी प्रतिमा के वर्त्तमान रूप को द्रवीभूत कर दिया जाय और उसको शुद्ध रूपहीन पदार्थ के रूप में बदल दिया जाय उसी प्रकार से पुरानी अभिव्यक्तियों को नया रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि उन अभिव्यक्तियों को इन्द्रियगत प्रभावों के रूप में बदल दिया जाय ।

सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध और कलाकृति

कलात्मक सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प एक कलाशास्त्रीय तथ्य है । यह कलात्मक प्रतिभाशक्ति से साक्षात्कृत वस्तु (Vision)[1] है । परन्तु एक कलाकृति एक वह भौतिक तथ्य है जो एक प्रतिभाशक्ति से साक्षात्कृत वस्तु की पुनः उत्पत्ति करने में सहायक के रूप में अथवा साधन के रूप में काम करती है । उनका परस्पर सम्बन्ध शुद्धरूप से बाह्य सम्बन्ध होता है । कला का वह अनुषङ्गवादी सिद्धान्त (Associationistic theory) सर्वथा निर्दोष नहीं है जो कलाशास्त्रीय तथ्य को उन दो प्रतिच्छायाओं के अनुषङ्ग (Association) से अभिन्न मानता है जिसमें से एक प्रतिच्छाया वह है जो कलाकृति का प्रतिनिरूपण करती है और दूसरी वह जो अनुषङ्ग के नियम के अनुसार अन्तःकरण से बहिर्भूत (Called forth) की जाती है । क्योंकि यह अनुभव से असिद्ध है—इसका कारण यह है कि कलात्मक अनुभव किसी द्वैत का अनुभव न होकर एक पूर्ण अखण्डता का अनुभव है ।

अनुषङ्गवादियों की इस मिथ्या-धारणा का कारण यह तथ्य है कि वे भौतिक एवं कलात्मक तथ्यों को भिन्न-भिन्न मानते हैं । वे उनको दो प्रतिच्छायाएँ स्वीकार करते हैं । वे भौतिक उत्प्रेरक वस्तु की प्रतिच्छाया और उसके अर्थ की प्रतिच्छाया के बीच एक भेदरेखा खींचते हैं । परन्तु क्रोचे यह

---

१. क्रो०—१०४

मानते हैं कि १. कलात्मक अनुभव की उत्पत्ति में इस प्रकार की दो प्रतिच्छायाएँ अनुभूत नहीं होती हैं, २. भौतिक तत्त्व चिदात्मा में एक प्रतिच्छाया के रूप में प्रवेश नहीं करता वरन् केवल उस सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प अर्थात् कलात्मक तथ्य के निरूपण का कारण बनता है जिसका वह उत्प्रेरक है; एवं ३. एक कलाकृति प्रतिनिरूपण की केवल भौतिक उत्प्रेरिका है। कलाकृति की सहायता से चिदात्मक स्मृतिशक्ति एक कलाकार के मौलिक सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प की पुनरुत्पत्ति को सहृदय में संभव करती है।

कलात्मक रचना के विकास-क्रम

कलात्मक रचना की प्रक्रिया चार विकास-क्रमों[1] में पूर्ण होती है। १. इन्द्रियगत प्रभाव, २. प्रकटीकरण अथवा इन्द्रियगत प्रभावों का चिदात्मक कलापूर्ण संधान, ३. इन्द्रिय सुख का सहचरत्व अथवा सौन्दर्यानुभवजनित आनन्द या कलात्मक सुख, एवं ४. कलात्मक तथ्य का भौतिक ध्वनि अथवा स्वर आदि में प्रतिनिरूपण।

कलात्मक पुनरुत्पादन (Reproduction) के विकास-क्रम

एक कलाकृति से एक सहृदय में जिस प्रक्रिया से कलात्मक अनुभव उत्पन्न होता है वह इस प्रकार[2] है :—

१. एक कलाकृति से कलानुभावक इन्द्रियों की उत्प्रेरणा।

२. कलात्मक सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प का पुनरुत्पादन।

३. इन्द्रियसुख का सहचरत्व।

कलाकार

जिस प्रकार से उस साधारण सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प का जो मानव के व्यावहारिक जीवन का आधार है और उस सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प का जो वास्तव में कलात्मक है केवल परिमाणात्मक भेद ही है उसी प्रकार से सामान्य मनुष्य और कलाकार का भेद है। कुछ व्यक्तियों में आत्मा की कुछ जटिल दशाओं को पूर्ण रूप से प्रकट करने की अधिक प्रवृत्ति तथा कुशलता होती है। इन्हीं लोगों को कलाकार कहते हैं।

कलाकार[3] के पास ऐन्द्रियबोधशक्ति तथा इन्द्रियबोध्य के प्रति उदासीनता (insensibility) दोनों ही अति मात्रा में होती हैं। उसके पास महान्

---

१. क्रो०—९६ २. क्रो०—९७ ३. क्रो०—२१

ऐन्द्रियबोधशक्ति इस रूप में होती है कि वह प्राकृतिक संसार से उपलब्ध प्रचुर सामग्री को अपने मन में बैठाल लेता है। इसी के समान उसमें महान् इन्द्रियबोध्य के प्रति उदासीनता अथवा अनुद्वेगिता (Serenity) होती है। क्योंकि वह अनुद्वेगिता ही है जो उसको एक 'रूप' में इस सामग्री को ग्रथित करने की शक्ति प्रदान करती है।

प्रकटीकरण की शक्ति अर्थात् सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करने की शक्ति एक कलाकार का विशेष गुण है। एक उस कवि अथवा[1] चित्रकार को जिसमें इस शक्ति का अभाव है कलाकार कहना उचित नहीं है।

एक वास्तविक कलाकार एक ऐसे लक्ष्य[2] को निर्धारित नहीं करता जिसको उसे अपनी कलाकृति में प्रकट करना है और न वह उस विषय सामग्री को ही चुनता है जिसको वह एक रूप प्रदान करता है। क्योंकि लक्ष्य अथवा विषय सामग्री के निर्धारण का अर्थ यह है कि इन्द्रियगत प्रभावों का प्रकटीकरण पहले से ही हो चुका है। इसका कारण यह है कि केवल भिन्नरूप वस्तुओं में से ही चुनना सम्भव है और इन्द्रियगत प्रभाव को केवल प्रकटीकरण से ही भिन्नस्वरूपता प्राप्त हो सकती है। स्वतन्त्र आन्तर प्रेरणा (Inspiration) से कलाकृति की सृष्टि होती है। इच्छाशक्ति से इसकी रचना नहीं होती। एक विषयवस्तु के साथ सच्चा कलाकार अपने मन को परिपूर्ण पाता है, एवं जब क्षण आता है तब एक कलाकृति स्वयं उत्पन्न हो जाती है। वह (कलाकार) उसकी इच्छा या उपेक्षा नहीं करता।

कलात्मक प्रतिभा से साक्षात्कृत वस्तु (Vision) का प्रकटीकरण।

उस कलाकृति की सृष्टि का कारण जो सहृदय में कलात्मक सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प के पुनरुत्पादन की उत्प्रेरणा करती है कलाकार में एक बौद्धिक साधन सम्पन्नता[3] है जिसका वर्णन निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

१. सचेत इच्छाशक्ति (Visilant will):—यह कलाकार की वह इच्छाशक्ति (Volitional power) है जो मन में से कुछ कलात्मक प्रतिभा से

---

१. क्रो०—२५ २. क्रो०—५१

३. क्रो०—१११

साक्षात्कृत वस्तुओं, सूक्ष्मविकल्पगर्भित निर्विकल्पों, को बाहर निकल जाने नहीं देती। ऐसा ज्ञात होता है कि यह अपने आप किसी मूलवृत्ति के कारण (Instinctively) क्रियावान होती है।

२. बोधः—कलात्मक प्रतिभा से साक्षात्कृत वस्तु (Artistic vision) का प्रकटीकरण तभी सम्भव है यदि कलाकार को विभिन्न प्रकारों का बोध हो। उदाहरण के लिए एक कलाकृति की रचना की व्यावहारिक क्रिया को आरम्भ करने के पूर्व यह आवश्यक है कि कलाकार को उत्पादन के विभिन्न साधनों का और उनका प्रयोग करने के उपायों का ज्ञान हो।

३. मनन-शक्ति (Contemplation):—कलाकार बोध-संस्कार (Impression) का अनुभव करता है। वह उसको प्रकट करने की चेष्टा करता है। वह विभिन्न शब्दों एवं शब्द समूहों का प्रयोग उस बोध संस्कार को प्रकट करने के लिए करता है परन्तु उनको वह प्रकटीकरण के अयोग्य पाता है। कुछ विफल चेष्टाओं[1] के उपरान्त सहसा वे शब्द उसके पास आ जाते हैं जिनकी खोज वह कर रहा था। यह उसको कलात्मक आनन्द प्रदान करता है। कलाकार की वह क्रिया जो उसको सफल अभिव्यक्ति की ओर ले जाती है मनन-शक्ति है।

४. प्रतिभाशक्ति :—कलाकार के पास ऐसी कल्पनाशक्ति होनी चाहिए जो कलात्मक प्रतिभा से साक्षात्करणीय वस्तु (artistic vision) की रचना करने में सक्षम हो। उस सृजनात्मक अथवा रचनात्मक कल्पनाशक्ति को प्रतिभाशक्ति कहते हैं जो कलात्मक प्रतिभा से साक्षात्करणीय वस्तु की रचना करती है।

सहृदय

एक कलाकृति से जो कलात्मक अनुभव[2] प्राप्त करना चाहता है उस सहृदय को कलाकार के दृष्टिकोण पर अपने को रखना चाहिए और उत्प्रेरक वस्तु (कलाकृति) की सहायता से प्रतिभा से साक्षात्कृत वस्तु की अपने अन्तःकरण में पुनः रचना करना चाहिए। तथा वह ऐसा कर सके इसलिए उसको अपने को जल्दबाजी, आलस्य,[3] भावावेश, सैद्धान्तिक संकीर्णता एवं व्यक्तिगत सहानुभूतियों तथा शत्रुताओं से मुक्त रखना चाहिए तथा अपनी

१. क्रो०—११८ २. क्रो०—११९
३. क्रो०—१२०

बुद्धि को केन्द्रित करना एवं मनन क्रिया में अपने को निमग्न कर लेना चाहिए। कलात्मक क्रिया कविप्रतिभा से साक्षात्कृत वस्तु की पुनः रचना करने वाली क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और इस क्रिया को उसी प्रकार से रुचि कहते हैं जिस प्रकार से इस प्रकार की कलात्मक सृष्टि को उत्पन्न करने वाली क्रिया को प्रतिभा कहते हैं। मूलरूप से कला-विषयक रुचि (Taste) और प्रतिभाशक्ति एक ही हैं।

सहृदय को कलाकार की भूमि तक उठना होता है और आध्यात्मिकरूप में उससे एकात्मता[1] स्थापित करनी होती है यदि वह अपने अन्तःकरण में प्रतिभा से साक्षात्कृतवस्तु (Artistic vision) को पुनः उत्पन्न करना चाहता है। कलाकृति के अनुभव में सहृदय एवं कलाकार आध्यात्मिक रूप से एकात्म होते हैं। पुनः उत्पन्न करने की क्रिया का आधार सहृदय तथा कलाकार की मनोवैज्ञानिक दशाओं[2] की एकरूपता है।

इन्द्रियसुख कलात्मक अनुभव से एकरूप नहीं है।

क्रोचे के मतानुसार संवेदना (Feeling) का अर्थ सविकल्पज्ञानजनक क्रिया से भिन्न एक विशिष्ट आध्यात्मिक क्रिया है। यह दो विरुद्ध रूपों[3] की होती है (अ)–सुख (आ)–दुःख। यह क्रिया के उन चार रूपों में से एक रूप है जिनका प्रतिपादन क्रोचे ने किया है। यह आर्थिक अथवा उपयोगिनी क्रिया है। इसकी उत्पत्ति विषयेषणा (Appetition) तथा सङ्कल्प (Volition) से होती है। यह एक मौलिक (Elementary) व्यावहारिक क्रिया है। अतएव संवेदना कलात्मक क्रिया का आवश्यक अङ्ग नहीं है। इसको सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प (Intuition) के समरूप नहीं मान सकते हैं क्योंकि संवेदना का सम्बन्ध व्यावहारिक क्रिया के साथ है जब कि सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प सैद्धान्तिक क्रिया का मूलरूप है।

परन्तु संवेदना यद्यपि कलात्मक क्रिया अथवा सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प बोध के समरूप नहीं होती फिर भी वह इसका आवश्यक रूप से सहचर होता है। क्योंकि क्रोचे यह मानते हैं कि चिदात्मक क्रिया के सभी रूप परस्पर घनिष्ठरूप से सम्बन्धित हैं और उनमें से प्रत्येक रूप के साथ मौलिक इच्छात्मकरूप सदैव बना रहता है और इसलिए अनिवार्यरूप से उसके साथ सुख-दुःख लगे रहते हैं। सुख का कारण एक चिदात्मक क्रिया के लक्ष्य

१. क्रो०—१२१ २. क्रो०—१२४ ३. क्रो०—७४

की पूर्ति है चाहे यह क्रिया सैद्धान्तिक हो या व्यावहारिक हो। परन्तु यद्यपि प्रत्येक चिदात्मक क्रिया की सहचरी मौलिक इच्छा एक स्वरूप ही होती है फिर भी वह सुख जो एक के साथ रहता है दूसरे से भिन्न है। परन्तु एक सुख का दूसरे सुख के साथ जो भेद है वह तात्त्विक नहीं है वरन् उसके कारण है जो उसका सहचारी है अर्थात् सुखों में पारस्परिक भेद का कारण चिदात्मा के वे विभिन्न रूप हैं जिनके साथ मौलिक इच्छा अनिवार्यरूप से सम्बन्धित है और जो सुख को भिन्नरूप से रञ्जित करते हैं। कलात्मक, तात्त्विक स्वरूपात्मक (Conceptual), आर्थिक एवं कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्र सम्बन्धी (Ethical) सुख एक दूसरे से भिन्न हैं क्योंकि सहचरी मौलिक इच्छारूपा क्रिया विभिन्न चिदात्मक रूपों से विभिन्न प्रकार से रञ्जित की जाती है। चिदात्मक क्रिया और सुख के प्रसङ्ग में हम काल की अथवा कार्य-कारणभाव की क्रम-व्यवस्था की चर्चा नहीं कर सकते क्योंकि चिदात्मा एक अखण्डता है और उसके विभिन्न रूप परस्पर न तो कारणता के सम्बन्ध से और न काल के सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं।

भासमान तथा वास्तविक संवेदना।

एक कलाकृति[1] से उत्पन्न संवेदना उस संवेदना से भिन्न है जो व्यावहारिक जगत में एक वास्तविक वस्तु से उत्पन्न है। परन्तु ये मूलरूप से अथवा गुणात्मक रूप से नहीं वरन् परिमाणात्मक रूपसे ही भिन्न हैं। हम नाटकों के नायकों के साथ हँसते-रोते हैं तथा भयभीत एवं आनन्दित होते हैं। परन्तु कला-जनित सुख-दुःख आदि की संवेदनाएँ उतनी गम्भीर नहीं होतीं जितना कि वास्तविक वस्तुओं के कारण उत्पन्न संवेदनाएँ होती हैं। कलाकृति से उत्पन्न संवेदना प्रकृति-जनित संवेदना के समान गम्भीर रूप से हमको क्यों नहीं प्रभावित करती है इसका कारण यह है कि कलात्मक संवेदना विषयरूप में सूक्ष्मसविकल्पगर्भित निर्विकल्प रूप में एवं अभिव्यक्तरूप में अनुभूत होती है। यह केवल रूप-मात्र है। कला-लोकगत यह संवेदना भूत-तत्त्व से सम्बन्धित वास्तविक संवेदना से कम तीव्र होती है। अतएव वास्तविक संवेदना से भिन्न इसको 'आभासी-संवेदना' (apparent feeling) ही कह सकते हैं।

---

१. औ०—८१

अध्याय १४

भारतीय स्वतन्त्रकला शास्त्र तथा पाश्चात्य स्वतन्त्रकला शास्त्र की संक्षिप्त तुलना

भारतीय कलाशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों की पाश्चात्य कलाशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों से विशदरूप तुलना करना इस ग्रन्थ के तृतीय भाग का विषय है। यहाँ पर हम उस तुलना की स्थूल रेखाओं को संक्षिप्त रूप से ही प्रतिपादित कर सकते हैं।

नाट्य रचना-विधान (Dramatic technique)

सिकन्दर (Alexander) ने भारत पर ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व आक्रमण किया था। इस ऐतिहासिक घटना के उपरान्त ही भारतीयों का यूनानियों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो सका था। परन्तु इसके बहुत पूर्व नाट्य कला का विकास भारत में यथेष्ट रूप से हो चुका था। क्योंकि उन पाणिनि ने जिनका उद्भव-काल ईसा से ४०० वर्ष पूर्व सामान्यतः मानते हैं नाट्यशास्त्र के विषय में दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है—एक जिसका प्रणयन कृशाश्व ने किया था और दूसरा जिसकी रचना शिलालि ने की थी। तथा भगवान बुद्ध के विख्यात शिष्य सारिपुत्र ने, जैसा कि उनके विषय में लिखा मिलता है, सांसारिक माया के बन्धनों को तोड़कर बौद्ध भिक्षु के जीवन को नाट्यप्रदर्शन को देखने से उत्पन्न प्रभाव के कारण अपनाया था। अतएव कुछ विद्वानों का यह मत कि भारतीय नाट्यकला का जन्म यूनानी प्रभाव के कारण हुआ था सर्वथा युक्ति-युक्त नहीं प्रतिभात होता।

परन्तु यह अत्यन्त दुर्भाग्य का विषय है कि कोई भी इतना अधिक प्राचीन नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। इन प्राचीन ग्रन्थों को हम उल्लेखों से ही जानते हैं। आज हमको जो सर्वाधिक प्राचीन नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध होता है वह भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र ही है। पौराणिक शैली और भाषा के आधार पर इस ग्रन्थ का रचना-काल ईसा की छठीं शताब्दि मानते हैं।

भारतीय नाट्य रचनाविधि तथा यूनानी नाट्य रचनाविधि की समानताओं

को स्पष्ट करने के लिए हमने स्वतन्त्रकला शास्त्र के प्रथम भाग के सातवें अध्याय में भरतमुनि और उनके व्याख्याकारों के दृष्टिकोणों से और यूनानी नाट्य-रचनाविधि का एरिस्टाटल के दृष्टिकोण के अनुसार स्वतन्त्रकला शास्त्र के इस दूसरे भाग के चौथे अध्याय में प्रयास किया है। इन अध्यायों का अगर ध्यान-पूर्वक अध्ययन करें तो निम्नलिखित समानताएँ स्पष्ट होती हैं :—

१. भरतमुनि तथा एरिस्टाटल दोनों ही यह मानते हैं कि नाटक में कथा, कथानक अथवा इतिवृत्त सर्वप्रधान होता है। भरतमुनि यह मानते हैं कि इति-वृत्त नाटक का शरीर है और रस उसकी आत्मा है क्योंकि उनके मतानुसार नाटक का प्रधान लक्ष्य रस का प्रदर्शन है। परन्तु एरिस्टाटल यह मानते हैं कि दुःखान्त नाटक का लक्ष्य अथवा आत्मा इतिवृत्त है क्योंकि उनके मतानु-सार नाटक अथवा अधिक उपयुक्त शब्दों में कहें तो दुःखान्त नाटक एक कार्य का अनुकरण है। भारतीय नाट्यशास्त्र में जिसको रस कहते हैं उसके समान किसी वस्तु का प्रदर्शन नाटक का लक्ष्य नहीं है।

२. दोनों ही कार्यावस्थाओं का वर्णन करते हैं। भरतमुनि ने पाँच क्रम-दशाओं का वर्णन किया है—प्रारम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। एरिस्टाटल ने अपने 'पोयटिक्स' नामक ग्रन्थ में नाटक के कार्य को सर्वप्रथम तीन अवस्थाओं में विभाजित किया है—(अ) आदि (आ) मध्य एवं (इ) अन्त। परंतु उनके मतानुसार 'मध्य' में दो भाग होते हैं। एक सरल इतिवृत्त में इनको (अ) उलझाव (Complication) एवं (आ) सुलझाव (Resolution) कहते हैं। जब इतिवृत्त जटिल होता है तो दो अन्य भाग इन दो भागों में और निहित होते हैं (अ) उत्क्रान्ति (Revolution) तथा (आ) रहस्योद्घाटन (Discovery)। इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि एरिस्टा-टल उन सब पाँच कार्यावस्थाओं को मानते हैं जिनका प्रतिपादन भरतमुनि ने किया है। वास्तव में शेक्सपियरकृत नाटकों के विषय में समीक्षात्मक साहित्य की रचना करने वाले वे साहित्य-समालोचक जो निश्चितरूप से एरि-स्टाटल के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं उलझाव तथा सुलझाव के तात्विक स्वरूपों से संकेत लेकर नाटक के कार्य को पाँच अवस्थाओं में विभाजित करते हैं—अंग्रेजी में सुखान्त नाटक के कार्य की अवस्थाओं को (१) कारण (Cause) (२) वृद्धि (Growth) (३) उच्चता (Height) (४) परिणाम (consequence) तथा (५) अन्त (close) कहते हैं। परन्तु दुःखान्त नाटक की अन्तिम दो कार्यावस्थाएँ (१) पतन तथा (२) महादुर्दैवपात

(Catastrophe) इसलिए कही जाती हैं क्योंकि इसका कार्य-परिणाम सुखान्त नाटक से भिन्न है। नाटकीय कार्य की पाँच अवस्थाओं के लिए संस्कृत भाषा में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनका अर्थ वही है जो अंग्रेजी भाषा के उन शब्दों का है जो एक सुखान्त नाटक की कार्यदशाओं का वर्णन करते हैं।

३. समान कारणों के आधार पर ही दोनों ने नाटक की विषयवस्तु का विभाजन सूच्य एवं प्रदर्शनीय भागों में किया है। और सूच्य अंशों को प्रकट करने के लिए समान साधनों को निर्धारित किया है। भरतमुनि के अनुसार सूच्यांशों को प्रकट करने के लिए विष्कम्भ, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार एवं प्रवेशक हैं। तथा एरिस्टाटल के मतानुसार उनको प्रोलोग (Prologue) कोरस (Chorus) दूत (Messenger) देवता (Gods) एवं भविष्यवक्ता (Prophets) कहते हैं।

४. दोनों ही काल, देश तथा कार्य की अखण्डता के महत्त्व को समझते हैं। हेगेल के कथनानुसार यद्यपि एरिस्टाटल ने देश की अखण्डता की चर्चा प्रत्यक्षरूप में नहीं की है फिर भी वे यह मानते हैं कि इस देश की अखण्डता को उन्होंने भी माना था क्योंकि यूनानी नाटक का रचना स्वरूप ही ऐसा है जिसमें दृश्यपरिवर्त्तन नहीं होता क्योंकि रंगमंच पर एक बार जब कोरस का प्रवेश हो जाता है तो वह नाटक के अन्त तक रंगमंच पर बना रहता है।

५. दोनों ही नाटक के प्रदर्शन के लिए संगीत और दृश्यों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

६. नाटक को रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए भरतमुनि नारी को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। परन्तु पाश्चात्य देशों में नारी का रंगमंच के लिए यह महत्त्व आधुनिक समय में ही माना गया है।

कलाकृतियों के उत्पादन के सिद्धान्त (Principles)

वर्त्तमान प्रसंग में 'सिद्धान्त' शब्द का अर्थ हमने वह 'सामान्य नियम' लगाया है जो एक कलाकृति की रचना करने वाले कलाकार का पथप्रदर्शन करता है। इसका सम्बन्ध 'कार्य' के साथ हो सकता है और उस विषय के साथ हो सकता है जिसके साथ कार्य को सम्बन्धित होना चाहिए। अथवा विषय के एक अंश या एक कलाकृति के स्वभाव (Nature) से इसका संबंध होता है। इस प्रकार से कलात्मक कृति की रचना के विभिन्न नियम हैं जैसे कि अनुकरण, भ्रान्ति (Illusion), प्रतिबिम्ब, ज्ञप्तीकरण (Idealization), आविष्कृति (Invention), सत्याभास (Verisimilitude), प्रतीकीकरण,

(symbolization) सामान्य का व्यक्तीकरण (Concretisation)। हम इन सिद्धान्तों का उल्लेख एक तार्किक व्यवस्था में करेंगे और यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त की ओर किस प्रकार से ले जाता है।

१. अनुकरण

ऐसा ज्ञात होता है कि कलात्मक रचना करने का 'अनुकरण' सर्वाधिक प्राचीन सिद्धान्त है। इसका कारण यह है कि 'अनुकरण' करने की कार्यशक्ति मनुष्यजाति में सर्वसामान्य और जन्मजात है तथा विख्यात वस्तुओं की अनुकृतियों को देखकर आनन्द प्राप्त करना नैसर्गिक है। यह वह सिद्धान्त है जिसका पालन यूनान के कलाकारों ने सोफिस्ट गोरजियास के पूर्व किया था।

'अनुकरण' शब्द का मूल रूप से अर्थ एक विषयभूत वस्तु की एक प्रतिकृति की रचना एक कलात्मक साधन से इस प्रकार से करना है कि वह रचना मूलवस्तु के इतना अधिक समरूप हो कि प्राकृतिक वस्तु को हम उसकी प्रतिकृति में पहचान सकें। चित्रकला तथा मूर्ति-रचनाकला की कृतियों की रचना करने के लिए इस प्रकार का सिद्धान्त आवश्यक है। क्योंकि इन कलाओं की कृतियों की रचना करने का एक सुप्रसिद्ध प्रयोजन स्मृति को चिरस्थायी बनाए रखना है। और विष्णुधर्मोत्तर पुराण के उस अध्याय में जिसमें चित्रकला का निरूपण किया गया है यह मानते हैं कि सादृश्य की रचना चित्रकला[1] का मुख्य ध्येय है। हरिवंश पुराण (अध्याय १७८–९०) में नीचे लिखी उषा अनिरुद्ध की कथा है जिससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवर्ष में चित्रकला की ऐसी कृतियों की रचना यथार्थ में की जाती थी जिनमें मूल वस्तु की प्रत्यभिज्ञा होती थी।

असुर राज वाण की कन्या का नाम उषा था। उसने स्वप्न में कृष्ण के पौत्र तथा प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को देखा और उन पर मुग्ध हो गई। उसने अपनी एक उस राजदासी चित्रलेखा को अपना रहस्य प्रकट किया जिसमें चित्रांकन की जन्मजात प्रतिभा थी। उसने यह वचन दिया कि वह तत्कालीन देवताओं एवं महान् व्यक्तियों के चित्रों का अंकन करेगी जिससे कि स्वप्नदृष्ट युवक को पहचाना जा सके। इस प्रकार से जब उषा ने अनिरुद्ध का चित्र देखा तो उसने अपने स्वप्नदृष्ट युवक को पहचान लिया। उसने अनिरुद्ध का हरण करवा कर उनको अपने नगर में मंगाया और उनसे विवाह किया।

---

१. वि० धर्मो० ३३५

मूर्तिरचनाकला की कृतियों की रचना करने में अनुकरण के सिद्धान्त का पालन गतपंक्तियों में कथित अर्थ में किया गया था यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि अत्यन्त प्राचीन समय में राजाओं और महापुरुषों की स्मारक प्रतिमाओं को प्रस्तरों में बनाते थे जिनसे उनकी स्मृति चिरस्थायी रहे। इस प्राचीन प्रथा का उल्लेख उन भास से रचित 'प्रतिमानाटक' के तृतीय अङ्क में है जो कालिदास से पूर्वकालीन नाटककार थे। जिस दृश्य में उसका उल्लेख है उसका सारांश निम्नलिखित है :—

भरत अपने मामा के घर से अयोध्या को लौट रहे हैं। उन्होंने अपने पिता की विकट रुग्णता का समाचार तो सुना है परन्तु उनको यह नहीं ज्ञात था कि उनकी मृत्यु हो चुकी है। अयोध्या के निकटवर्त्ती स्थान पर आकर वे कुछ समय के लिए रुक गए और उस प्रतिमागृह में प्रवेश किया जिसमें इक्ष्वाकुवंशीय दिलीप से लेकर सभी दिवङ्गत राजाओं की प्रतिमाएँ संगृहीत थीं। उन्होंने स्तम्भों में अङ्कित उन मूर्तियों की उत्कृष्टता की प्रशंसा की जिनमें दिव्यता तथा मानवता पूर्णतया समासित हुए थे। प्रतिमाओं में प्रकट भावावेग और जीवनप्रदर्शन पर उनको आश्चर्य हुआ। प्रतिमागृह के संरक्षकों ने राजाओं की प्रतिमाओं और भरत की शारीरिक रचना में वंशगत सदृशता का प्रतिबोध किया। और भरत जब अपने पिता की प्रतिमा के सामने आए तो उन्होंने तुरन्त दशरथ को उसमें पहचान लिया और उस प्रतिमा के अस्तित्व के निहितार्थ को विचारते हुए मर्माहत होकर उन्होंने यह प्रश्न किया—'क्या जीवित राजाओं की प्रतिमाएँ भी इस प्रतिमागृह में रखी जाती हैं ?'

वाक्यपदीयम्[1] पर हेलाराज ने जो टीका लिखी है उससे यह स्पष्ट होता है कि पतंजलि यह मानते थे कि नाट्यप्रदर्शन में अनुकृति ऐसा बोध कराती है कि नाट्यप्रदर्शन तथा मूलवस्तु समरूप हैं।

२. प्रतिविम्ब

कलाकृतियों की रचना के सिद्धान्त के रूप में प्रतिविम्ब अनुकृति के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। यह केवल अनुकृति के क्षेत्र को परिभाषित करता है। यह इस बात को प्रकट करता है कि अनुकरण करनेवाले कलाकार का अभिप्रेत विषय क्या है। इसमें यह अर्थ निहित है कि अनुकृतिमूलक कला विषयभूत वस्तु का केवल उतना ही अंश प्रदर्शित करती है जितना दर्पण

१. वा० प० काण्ड—३–१७७

अथवा जल के स्वच्छ तल पर वह प्रतिबिम्बित होता है। अनुकृतिमूलक कला की कृतियों की आत्मशून्यता को यह परिलक्षित करता है। प्रतिबिम्ब के इसी तात्त्विक स्वरूप के कारण प्लेटो ने उस कला को अपने आदर्श लोकतन्त्र से निष्कासित किया था जो अनुकृति के सहारे विषयभूत वस्तु के प्रतिबिम्ब मात्र की ही रचना कर सकती थी।

आनन्दवर्धनाचार्य ने अपनी कृति ध्वन्यालोक के चौथे अध्याय में सुकवियों को दी गई सामान्य शिक्षाओं के सारांश का उल्लेख करते हुए एक काव्यकृति की दूसरी काव्यकृति के साथ निम्नलिखित तीन प्रकारों की समानताओं की चर्चा की है :—१. वह समानता जो प्रतिबिम्ब की प्रतिबिम्बित वस्तु के साथ है (प्रतिबिम्बवत), २. वह समानता जो एक चित्राङ्कित आकृति की मूलवस्तु के साथ होती है (आलेख्याकारवद्) ३. वह समानता जो एक आत्मा की दूसरी आत्मा के साथ होती है। और उन्होंने कवियों को यह शिक्षा दी है कि वे प्रथम दो प्रकारों की समानताओं का परित्याग करें। क्योंकि प्रथम कोटि की समानता पूर्णतया आत्मा से शून्य (अनन्यात्मा) है और दूसरे प्रकार की समानता में यद्यपि यह दिखाई देता है कि इसकी अपनी एक आत्मा है फिर भी मूलवस्तु की आत्मा से वह भिन्नस्वरूप नहीं है अर्थात् वह तुच्छात्मा है। इस प्रकार से हमको यह ज्ञात होता है कि प्लेटो तथा आनन्दवर्धन समान युक्तियों के आधार पर प्रतिबिम्बमूलक कलात्मक कृतियों को निन्दनीय मानते हैं।

३. भ्रान्ति

कलात्मक रचना के सिद्धान्त के रूप में भ्रान्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध अनुकरण के साथ है। इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण को इतना अधिक मूलनिष्ठ होना चाहिए कि उस कृति के दर्शक कलाकृति को यथार्थ वस्तु अथवा निसर्गोत्पन्न वस्तु मान लें। इसका अर्थ यह हुआ कि या तो वह भ्रान्त हो जाय अथवा वञ्चित हो जाय। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सोफिस्ट गोरजियास ने किया था। प्लेटो ने सामान्य रूप से सभी अनुकृतिमूलक कलाकृतियों को तथा चित्रकला को विशेषरूप से निन्दनीय ठहराया था क्योंकि ये भ्रान्तिजनक होती हैं। सेन्ट आगस्टाइन ने रङ्गमञ्चगत भ्रान्ति का समर्थन परम्परा के आधार पर किया था। तथा यह ज्ञात होता है कि लाक ने इस सिद्धान्त की स्थापना यह मान कर की थी कि कलाकृतिजनित अनुभव एक सुखप्रद भ्रान्ति है।

भारतवर्ष में भी यह माना जाता है कि भ्रान्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन भट्टलोल्लट ने किया था। यह ज्ञात होता है कि श्रीशङ्कुक ने अपने सिद्धान्त की स्थापना में चित्रतुरगन्याय की चर्चा करते हुए इस सिद्धांत को माना था। और अभिनवगुप्त निश्चितरूप से यह कहते हैं कि नाट्यप्रदर्शन एक भ्रान्तिपूर्ण वस्तु नहीं है।

४. उत्कृष्टांशों की अनुकृति

उत्कृष्टांशों (Selective) की अनुकृति (Imitation) का सिद्धान्त अनुकृति, प्रतिबिम्ब एवं भ्रान्ति के सिद्धान्तों से अधिक उन्नत तथा विकसित सिद्धान्त है क्योंकि यह ज्ञप्तीकरण की ओर जाने के पथ की रचना करता है। इस सिद्धान्त की स्थापना साक्रेटीज़ ने की थी। उनका मत यह है कि कला की सुन्दर कृतियों की रचना उत्कृष्टांशों की अनुकृति पर अवलम्बित है अर्थात् इन्द्रियगोचर विभिन्न वस्तुओं के सुन्दर अंशों की संयोजना कलाकृति है। यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में इस सिद्धान्त को कालिदास मानते थे (सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन)।

५. ज्ञप्तीकरण (Idealisation)

यदि कलाकार का काम इन्द्रियगोचर वस्तुओं से सुन्दर अंशों को ग्रहण करना है और उनको एक सम्पूर्णता में संयोजित करना है तब प्रश्न यह उठता है: 'वह कौन सा नियम है जिसके आधार पर उनका चुनाव करना है और उन उत्कृष्टांशों को एक सम्पूर्णता में संयोजित करना है ?' इसका उत्तर 'ज्ञप्तीकरण' है। एरिस्टाटल ने ज्ञप्तीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कला के क्षेत्र में अपने दार्शनिक आधार पर किया था। उनके मतानुसार ज्ञप्तीकरण का अर्थ वस्तुओं का यथार्थरूप में निरूपण नहीं है वरन् उस रूप में निरूपण है जिस रूप में उनको होना चाहिए अथवा यह कहें कि ज्ञप्तीकरण का अर्थ विषयभूत संसार में वर्तमान रूप में वस्तुओं का प्रदर्शन नहीं वरन् उनको उस रूप में प्रदर्शित करना है जैसा कि उन ज्ञप्तियों की नियन्त्रक शक्ति के नियंत्रण में उनका रूप होना चाहिए जिनको केवल बुद्धि से ही जान सकते हैं।

भारतवर्ष में भी आदर्शीकरण के सिद्धान्त को शास्त्रकारों ने माना है। परन्तु आदर्शीकरण से उनका अर्थ वह नहीं है जो एरिस्टाटल का गत अनुच्छेद में लिखा हुआ अर्थ है। उनका अर्थ यह है ऐसी वस्तु का प्रदर्शन जो अपनी कोटि में सर्वोत्कृष्ट आदर्शस्वरूप है। उदाहरण के लिये नाटक के प्रसंग

में भरतमुनि तथा उनके अनुयाइयों ने यह प्रतिपादित किया है कि मानवीय स्वभाव अथवा चरित्र तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम तथा अधम। वे इस मत को निर्धारित करते हैं कि नाटक के नायक को एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिये। भारतीय नाट्यकलाशास्त्र में 'नायक भेद' एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय है।

६. आविष्कृति (Invention)

अपने 'आइओन' नामक ग्रन्थ में प्लेटो ने काव्य-रचना के प्रसङ्ग में आविष्कृति की चर्चा की है। ऐसा लगता है कि आविष्कृति का वे यह अर्थ मानते हैं कि यह वह काव्यरचना है जो अपनी विषयवस्तु में, अपनी प्रकटनीय ज्ञप्ति में तथा निरूपण रीति में सर्वथा नूतन है। प्लेटो यह मानते हैं कि कविगण अपनी बुद्धिमत्ता के सहारे नहीं वरन् एक प्रकार की प्रतिभाशक्ति अथवा आन्तरप्रेरणा की सहायता से काव्य रचना करते हैं और वे यह प्रतिपादित करते हैं कि उनमें तब तक 'आविष्करणशक्ति नहीं होती जब तक वे आन्तरप्रेरित नहीं होते'। इस प्रकार से प्लेटो के मतानुसार यह ज्ञात होता है कि आविष्कृति कलात्मक रचना का एक सिद्धान्त है। परन्तु वे यह मानते हैं कि इस आविष्कृति का कारण काव्यात्मक आन्तरप्रेरणा मात्र ही है। यह ज्ञात होता है कि कलाकृति की रचना करने में यह सिद्धान्त आदर्शीकरण के सिद्धान्त से अधिक उन्नत सिद्धान्त है क्योंकि यह प्रमातृनिष्ठ तत्त्व अर्थात् आन्तरप्रेरणा (Inspiration) को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। यह आन्तरप्रेरणा उस बुद्धितत्त्व से अधिक उन्नत मानी जाती है जो एरिस्टाटल के मतानुसार आदर्श वस्तु स्वरूप ज्ञप्ति के साक्षात्कार के लिये आवश्यक है।

भारतवर्ष में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आनन्दवर्धनाचार्य एवं उनके अनुयायिओं ने किया था। और इस बात में उनकी सहमति है कि 'सरस्वती'[1] के आवेश से ही नूतन काव्यरचना होती है। परन्तु डेकार्ट के युक्तितत्त्ववाद के ब्वालो आदि जैसे अनुयायिओं ने आविष्कृति का अर्थ सर्वाङ्गीण रूप से नूतन कृति की रचना करना नहीं लगाया वरन् चुनी गई विषयसामग्री को व्यवस्थित करना, उसका एक क्रम में निरूपण करना तथा उसे निश्चित आकार प्रदान करना (Designing) और उसको ऐसे वेश में प्रदर्शित करना

१. ध्व० लो—९ एवं—५३७

जिससे कि वह मनोवृत्ति (Mood) अथवा अवसर के अनुकूल बन जाए, अर्थात परिवर्तन, जोड़ना और उसमें से कुछ तत्त्वों का घटाना इस शब्द का अर्थ लगाया।

कलात्मक कृति की रचना के इस प्रकार के सिद्धान्त की स्थापना भरत मुनि और उनके मतानुयायिओं धनंजय आदि ने की है जो निश्चित रूप से यह कहते हैं कि चुने हुए विषय में जो कुछ भी प्रमुखरूप से प्रकटनीय रस के अनुकूल नहीं है उसको हटा देना चाहिए या बदल देना[1] चाहिए। इस प्रकार के प्रसङ्ग में आविष्कृति का अर्थ वस्तुओं को केवल वर्त्तमान रूप में प्रदर्शित करना नहीं वरन् उस रूप में प्रदर्शित करना है जैसा उनको होना चाहिए और इसलिए यह सिद्धान्त युक्तितत्त्ववादी दृष्टिकोण से आदर्शीकरण के सिद्धान्त के समरूप है।

७. सत्याभासन (Verisimilitude)

प्रकृतिवाद (Naturalism) तथा आदर्शवाद दो परस्पर विरोधी कलात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। अपने चरमरूप में प्रकृतिवाद कलाकृति की रचना के सिद्धान्त के रूप में अनुकरण को प्रतिपादित करता है और अपने चरमरूप में आदर्शवाद कलाकृति को प्रकृति से इतना विलग कर देता है कि सम्पूर्ण रचना अस्वाभाविक लगती है। सत्याभासन (Verisimilitude) का सिद्धान्त उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के मध्य विन्दु को प्रकट करता है। यह उपर्युक्त दोनों विरोधी सिद्धान्तों में सामंजस्य स्थापित करता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से यह प्रकृतिवाद (Naturalism) तथा युक्तितत्त्ववाद (Rationalism) का मध्य विन्दु है। यह सिद्धान्त युक्तिमूलक प्रकृतिवाद (Rational naturalism) पर अवलम्बित है। इसका अर्थ है 'विचारप्रधान दर्शनशास्त्र (Speculative Philosophy) के अनुकूल प्रकृति का निर्दोष चित्रण।' स्मृति से लेकर मनन तक की मानसिक कार्यशक्तियों का उपयोग करना इस सिद्धान्त में निहित है। यह कला के प्राकृतिक आदर्श का सामंजस्यपूर्ण रेखाचित्र (Design) के साथ संमिश्रण (Fusion) है। ब्वालो आदि के अनुसार कवि को प्रकृति से विमुख नहीं होना चाहिए, उसको प्रकृति तथा जीवन से पलायन नहीं करना चाहिए।

ऐसा लगता है कि यह विचार कि कवि को आदर्शीकरण में जीवन और

---

*१. द० रू०—७०

प्रकृति से विमुख नहीं होना चाहिए कुन्तक ने अपने ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित में प्रधानरूप में प्रकट किया है। इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित बातों को स्मरण रखना चाहिए :—

१. अलङ्कारशास्त्र कवि-प्रतिभा से साक्षात्कृत (Poetic vision) आदर्शरूप विषयवस्तु को भाषा में प्रकट करने के साधनों तथा रचना-विधियों के आविष्कारों का संग्रह है। अतएव इस विज्ञान की प्रगति की क्रमदशा के सूचक इस कोटि के प्रकटन के अधिक से अधिक उपाय तथा साधनविधियाँ हैं। इसका आरम्भ कुछ अलंकारों के आविष्कार से हुआ था। इन अलंकारों में अभिधेयार्थ अथवा प्राकृतिक वस्तु के मानसिक चित्र में उन कुछ गुणों को जोड़ने की शक्ति होती है जो उसमें नहीं होते। इस काम को ये एक रूढ शब्द को किसी सम्बन्ध में उस दूसरे रूढ शब्द के साथ रख कर करते हैं जिसके अर्थ में वे गुण वर्त्तमान होते हैं जो पूर्वकथित शब्द के अर्थ में नहीं हैं। इस प्रकार 'चन्द्रमा के समान मुख' में 'चन्द्रमा' शब्द मुख शब्द में कुछ गुणों को जोड़ता है, जैसे कि अत्यधिक सुख देने की शक्ति आदि, जो 'मुख' के साथ मिलकर एक ऐसे मिश्रित समुदाय को उपस्थित कर देते हैं जो ठीक उसके (मुख के) कविप्रतिभा से साक्षात्कृत आदर्शरूप के समरूप होता है।

२. कुन्तक के मतानुसार 'वक्रोक्ति' वह है जो शब्द और अर्थ[1] को अलंकृत करती है।

३. वे इस मत का खण्डन करते हैं कि स्वभावोक्ति अर्थात् प्रकृतिगत वस्तुओं का यथार्थ निरूपण एक अलंकार[2] है।

४. वे स्वभोवोक्ति को एक शरीर मानते हैं जिसका एक अलंकार[3] से अलंकरण हो सकता है।

५. वे इस मत का प्रचार करते हैं कि प्रकृति का अलंकरण अतिमात्रा में नहीं होना चाहिए और न यह अलंकरण कष्टसाध्य ही होना चाहिए। अर्थात् आदर्शीकरण स्वाभाविक रूप से होना चाहिए; परिश्रमसाध्य नहीं होना चाहिए।

६. वे यह कहते हैं कि कलाकृति में स्वाभाविकता का प्राधान्य होना चाहिए तथा शिक्षासाध्य निपुणता के साधन से आदर्शीकरण का परित्याग[4] करना चाहिए। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इस मत के समर्थक

---

*१. व० जी०—२२ *२. व० जी०—२३
*३. व० जी०—२४ *४. व० जी०—४७

हैं कि एक काव्यकृति में प्रकृतिवाद तथा आदर्शवाद में समुचित सामंजस्य होना चाहिए ।

८. प्रतीकीकरण (Symbolisation)

अभी तक हमने कलात्मक कृति की रचना के जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया है वे ऐसे हैं जो इन्द्रियगोचर वस्तुओं को कलाकृति में यथार्थरूप में अथवा आदर्शरूप में प्रदर्शित करने में सहायक होते हैं, ये वस्तुएँ चाहे प्रकृति के क्षेत्र में प्राप्त हों अथवा राष्ट्रीय इतिहास या महाकाव्य (Epic) में प्राप्त हों । परन्तु राष्ट्र के इतिहास अथवा महाकाव्य में दर्शित घटनाओं से संबंधित प्रकृति की सजीव वस्तुएँ सचेत प्राणी होते हैं और इस रूप में उनमें वे संवेदनाएँ, वासनाएँ तथा भावावेश होते हैं जो ऐन्द्रिय न होकर मुख्यरूप से मानसिक होते हैं । अतएव यदि कलात्मक कृति में उनका समावेश करना है तो प्रश्न यह उठता है कि 'क्या गत पृष्ठों में कहे गए कलाकृति की रचना के सिद्धान्तों में से कोई भी ऐसा सिद्धान्त है जो उनका निरूपण करने में पर्याप्त है ?' यदि ऐसा कोई एक सिद्धान्त नहीं है तो 'ऐसा कौन सा सिद्धांत है जिसका अनुसरण उनके निरूपण में करना चाहिए ?' और प्राचीन चिन्तकों का यह मत है कि 'यह सिद्धान्त प्रतीकीकरण है ।'

ऐसा ज्ञात होता है कि इस सिद्धान्त का उपयोग साक्रेटीज़ के समकालीन अथवा पूर्वकालीन कलाकारों ने किया था । क्योंकि साक्रेटीज़ ने अपनी समकालीन कलाकृतियों में प्रतीकात्मक अंश का पता लगाया था । उन्होंने यह पता लगाया था कि कलाकृतियों में केवल इन्द्रियगोचर को ही प्रकट नहीं करते वरन् उनको भी प्रकट करते हैं जो इन्द्रियबोधातीत हैं जैसे दुःख, मित्रता, आनन्द आदि की मानसिक दशाएँ । अतएव वे यह मानते थे कि क्योंकि मानसिक दशाओं को प्रत्यक्षतः प्रकट नहीं कर सकते इसलिए उनको उन (भावों) की शारीरिक अभिव्यक्तियों, भावाभिव्यञ्जक अनुभावों के द्वारा प्रकट करना चाहिये जो प्रत्यक्षणीय चिह्न हैं और इसलिए आन्तरिक दशाओं के प्रतीक हैं ।

इसका अर्थ यह है कि साक्रेटीज़ के मतानुसार प्रतीकीकरण का अर्थ परोक्ष कारण का अर्थात् मन की दशा का प्रत्यक्ष प्रभावों अथवा मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न शारीरिक विकारों के द्वारा प्रकटीकरण है । इस प्रकार के शारीरिक विकारों को जो विभिन्न मानसिक दशाओं से उत्पन्न होते हैं तथा

जिनके द्वारा काव्य तथा नाटक में भावावेग को प्रकट करते हैं भारतीय कलाशास्त्र के प्रतिपादक 'अनुभाव' कहते हैं।

परन्तु परवर्ती समय में 'प्रतीकीकरण' शब्द का अर्थ उससे बहुत अधिक हो गया है जितना कि गत अनुच्छेद में हमने लिखा है। इसका अर्थ भौतिक साधन की सहायता से एक अभौतिक वस्तु का निरूपण है क्योंकि भौतिक साधन-सामग्री के पास निरूपणीय अप्रत्यक्ष वस्तु के समान गुण होते हैं अथवा यह (भौतिक साधन-सामग्री) उसके (निरूपणीय अप्रत्यक्ष वस्तु) के साथ तथ्यतः सम्बन्धित होती है। इस प्रकार से शुद्धता तथा साहस को प्रतीक रूप में शुक्लवर्ण तथा सिंह से क्रमशः निरूपित करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्लोटाइनस् ने इस प्रकार के प्रतीकीकरण का प्रतिपादन किया था। वे यह मानते हैं कि एक कलाकृति भौतिक साधन-सामग्री द्वारा एक 'ज्ञप्ति' का प्रतीक बनती है। अतएव यह उतनी मात्रा में सुन्दर होती है जितनी मात्रा में यह यथार्थ (Real) का यथातथ्य निरूपण करती है। क्योंकि जो यथार्थ-स्वरूप है वही आदर्शस्वरूप है और जो आदर्शस्वरूप है वही सुन्दर है। यह उस बौद्धिक कल्पना की कृति है जिसका कार्यक्षेत्र इन्द्रियलोकोत्तर क्षेत्र तक विस्तृत है। अतएव बौद्धिक कल्पना के पास उसका चित्रांकन करने की शक्ति है जो प्रत्यक्षगत क्षेत्र के परे है तथा उसमें उन चित्रों को रचने की शक्ति है जो युक्तितत्त्व (Reason) की चरमोत्कृष्ट दशा के प्रतिबिम्ब होते हैं। कलात्मक रूप (Artistic forms) केवल प्रतीकात्मक रूप में ही बौद्धिक कल्पना (Intellectual imagination) की इस प्रकार की कृतियों का निरूपण करते हैं।

हमें यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में कलात्मक कृति के सिद्धान्त के रूप में प्रतीकीकरण के सिद्धान्त को कला के अत्यन्त प्राचीन युग में माना गया था। उदाहरण के लिए बौद्ध कलाकृति में हम पवित्र चक्र को देखते हैं जो उस शाश्वत सत्य का प्रतीक है जिसको भगवान बुद्ध ने बताया था और हिन्दू-कला में शिव का तीसरा नेत्र हम पाते हैं जो उनकी ध्वंस करने की विशेष शक्ति का प्रतीक है।

(९) व्यक्तीकरण (Concretisation)

कलात्मक कृति की रचना करने के सिद्धान्तों में व्यक्तीकरण का सिद्धान्त प्रतीकीकरण के सिद्धान्त से अधिक विकसित है। यद्यपि दोनों का प्रयोजन भौतिक साधन-सामग्री में अभौतिक विषयवस्तु का अथवा इन्द्रियबोध्य रूप

में 'ज्ञप्ति' का प्रकटीकरण है फिर भी प्रतीकीकरण की रचनाओं में 'ज्ञप्ति' का 'रूप' के साथ सामंजस्य अपूर्ण होता है अर्थात् कलाकृति और ज्ञप्ति में बाहरी सम्बन्ध मात्र ही होता है, और ज्ञप्ति अस्पष्टरूप, दुष्परिभाषित (Ill–defined) एवं अस्फुट होती है और इसलिए उसमें वह व्यक्तित्व नहीं होता जो इन्द्रियबोध्य निरूपण के लिए आवश्यक है। परन्तु व्यक्तीकरण का सिद्धान्त उस ज्ञप्ति पर आधारित है जो भली-भाँति परिभाषित है। यह वह सामान्य है जो निष्कृष्ट सामान्यरूप (Abstract) नहीं है वरन् विशेषरूप (Concrete) है और इन्द्रियबोध्य लोक में अपने को प्रकट अथवा व्यक्त करता है। अतएव कलाकृति की रचना करने के सिद्धान्त के रूप में व्यक्तीकरण का अर्थ अस्फुट रूप एवं दुष्परिभाषित ज्ञप्ति का एक असम्बद्ध प्रतीक में प्रकटीकरण नहीं वरन् एक सुस्पष्टरूप एवं सुपरिभाषित ज्ञप्ति का भौतिक संसार में उसकी अभिव्यक्तियों के द्वारा प्रकट करना है। व्यक्तीकरण उस सर्वोत्कृष्ट कला का सिद्धान्त है जिसका लक्ष्य किसी प्राकृतिक वस्तु को दर्शित करना नहीं वरन् परतत्त्व को प्रकट करना है। इस रचना-सिद्धान्त के अनुसार परतत्त्व का प्रकटीकरण प्रत्यक्षतः न होकर उसकी अभिव्यक्तियों के माध्यम से होता है। ये अभिव्यक्तियां अपनी स्वतन्त्रता में चिदात्मा, चिदात्मक शक्तियाँ, दिव्य एवं सत्य, वह आदर्श तथा सामान्य द्रव्य जो मानवीय लक्ष्यों, संघर्षों एवं नियतियों के मूल में वर्तमान है, एवं हमारी सामान्य मानवता के भावावेग हैं। इस व्यक्तीकरण को वह कल्पनाशक्ति करती है जो ज्ञप्तियों, संवेदनाओं अथवा भावावेगों को घटनाओं, कार्यों, मनोदशाओं एवं भावावेशों के प्रकटीकरणों में वस्त्रों के समान आच्छादित करती है और इस प्रकार से एक ऐसी वस्तु की रचना करती है जो इन्द्रिय-ग्राह्य विषय के रूप में अपने बाहरी पक्ष में तथा अपनी आन्तर विषयवस्तु के आदर्शमूलक महत्त्व (ideal significance) में समरूप से सम्पूर्ण होती है। अतएव व्यक्तीकरण का अर्थ सामान्य अथवा युक्तिमूलक तत्त्व (Rational principle) का प्रकटीकरण है अर्थात् यह आत्मा का अपनी उस स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बिता में, अपने उस प्रकटीकरण या आत्माभिव्यक्ति में, अपने उन कार्यों और उन भावावेगों में प्रकटीकरण है जो बाह्य प्राकृतिक वातावरण में सात्त्विक भावों और अनुभावों में प्रकट होते हैं। यह एक उस शारीरिक सम्पूर्णता को प्रदर्शित करता है जिसका प्रत्येक अङ्ग आध्यात्मिक तत्त्व से उसी प्रकार से सम्बन्धित है जिस प्रकार से शरीरविधायक सम्पूर्ण अङ्ग आत्मा अथवा जीवन तत्त्व से सम्बन्धित होते हैं।

कलाकृति की रचना के सिद्धान्त के रूप में व्यक्तीकरण के सिद्धान्त को भरतमुनि तथा उनके अनुयायियों ने नाट्यकला के प्रसंग में स्वीकार किया था और अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने काव्यकला की कृतियों की रचना करने के प्रसंग में माना था। यह माना गया था कि नाटक, कविता, संगीत एवं चित्रकला रस को अर्थात् उस परतत्त्व को या परमात्मा को (रसो वै सः) स्थायीभाव में व्यक्तीकृत कर स्थायि-भावजनक परिस्थिति में, व्यभिचारी भावों और उनके अनुभावों में प्रकट करते है। (विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्-रसनिष्पत्तिः)।

(१०) ध्वनि-सिद्धान्त

सामान्यतः यह मानते हैं कि कलाकृति की रचना के अन्य साधनों से अधिक कलात्मक ज्ञप्तियों को भाषा प्रकट करती है। इसका कारण यह है कि इसके पास वे परम्परागत शब्द होते हैं जो इन्द्रियबोध्य लोक से परे, मानसिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के द्योतक हैं। और यह सामान्यतः माना जाता है कि शब्द जिन अर्थों के द्योतक हैं वे आवश्यकरूप से सदैव परम्परागत ही नहीं होते, वरन् प्रायः लाक्षणिक और व्यंजक भी होते हैं। सी० के० ओगडेन, आई० ए० रिचार्डस्, क्रोचे तथा डेमीट्रियस वे प्रामणिक शास्त्रकार हैं जिन्होंने अन्य अनेक शास्त्रकारों के समान उनकी व्याख्या की है। भारतवर्ष में भी इन अर्थों को माना गया है तथा उनको अभिधेय, लक्ष्य, तात्पर्य और व्यङ्गय कहा गया है (स्व० क० शा० भाग १, अध्याय ५)।

केवल उस ध्वन्यर्थ के प्रसंग में जो हमारा वर्तमान प्रतिपाद्य विषय है हम यह कह सकते हैं कि डिमीट्रियस ध्वन्यर्थ की चर्चा उस रीति (style) के प्रसंग में करते हैं जिसकी व्याख्या करने में वे सामान्यतः एरिस्टाटल का अनुगमन करते हैं। निम्नलिखित उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं :—

(१) इस विषय में कि क्रियाशील रूपक (Active metaphor) सर्वोत्कृष्ट होता है एरिस्टाटल का अनुसरण करते हुए उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

'उत्कण्ठित पखनों पर उड़ता हुआ तीक्ष्ण बाण जनसमूह के बीच वेग से जा गिरा' और वे यह कहते हैं कि 'उत्कण्ठित पखनों पर' शब्द सजीव[1] क्रियाओं को ध्वनित करते हैं।

---

१. डिमी० स्टा० अनुच्छेद ८१

(२) क्सेनोफ़ोन की कृतियों से निम्नलिखित उद्धरण देने के उपरान्त जिसमें एक वाक्य के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग किया है :—

"एक जंगली गधे को पकड़ना तब तक असंभव है जब तक कि घोड़ों को थोड़ी-थोड़ी दूर पर खड़ा न कर दिया जाय और दौड़ते हुए घोड़ों के समूहों (Relays) से उसका शिकार न किया जाय।"

वे यह कहते हैं 'घोड़ों के समूहों' के अर्थ को अभिहित करने वाला जो ग्रीक भाषा में शब्द है वह यह ध्वनित करता है कि जो घोड़े पीछे खड़े थे वे उस गधे का पीछा कर रहे थे जब कि दूसरे घोड़े जो आगे खड़े थे उनसे मिलने के लिए आगे बढ़े—इससे गधा दो दलों[1] के बीच में पकड़ा गया।

इससे सम्बन्धित विषयों पर थियोफ्रेस्टस, स्टोइक्स, कोन्टीलियन तथा डिओनिसीयस के मतों का उल्लेख हम इसी ग्रन्थ में कर चुके हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि ये शास्त्रकार समस्या का स्पर्श तार्किक तथा मनोवैज्ञानिक विधि से नहीं करते हैं। भाषा की ध्वनि शक्ति की व्याख्या वे इस प्रकार से नहीं करते जिससे कि यह सिद्ध होता हो कि नाटक और काव्य आत्म-विहीन होंगे यदि भाषा की इस शक्ति का अस्तित्व न हो। ऐसा लगता है कि वे इस बात को महत्त्व प्रदान नहीं करते हैं कि अभिधेयार्थवाचक भाषा प्रतिभा से साक्षात्कृत वस्तु (Poetic vision) की आत्मा अथवा सर्वोत्कृष्ट तथ्य को प्रकट करने में असमर्थ है। हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि (१)—डेकार्ट का यह मत है कि जगतगत सत्य वस्तुओं के तुल्य भाषा भावावेगों का तात्कालिक कारण है और यह भी स्पष्ट किया है कि आनन्दवर्धन ने भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के तात्त्विक स्वरूप के प्रसंग में भाषा को इस प्रकार का कारण माना है परन्तु वे यह कहते हैं कि भाषा की यह अभिधाशक्ति न होकर उसकी ध्वनिशक्ति है जो भावावेगों को तत्काल जाग्रत करती है, इसका अर्थ यह नहीं है कि भावावेगों की उत्पत्ति में क्रमागत दशाओं का पूर्णतया अभाव रहता है वरन् इसका अर्थ यह है कि क्रमानुसरण इतना अधिक वेगवान होता है कि इसका बोध नहीं होता और (२)—बर्क का यह मत है कि समासित भावमूलक शब्द (Compound abstract words) जैसे कि वे शब्द जो भावावेगों के द्योतक हैं जैसे कि प्रेम और भय—केवल ध्वनि-समूहों से ही आत्मा पर प्रभावों को उत्पन्न करते हैं। इस क्रिया में अभिधेय वस्तुओं के चित्र शब्द श्रवण एवं प्रभावोत्पत्ति के बीच में नहीं आते,

---

१. डिमी० स्टा० अनुच्छेद ९३

और इसलिए वे भावावेगों को तुरन्त उद्‌बुद्ध करते हैं। इस प्रकार के मत का खण्डन अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी में किया है। इसका उल्लेख हम आगामी पृष्ठों में करेंगे।

ऐसा लगता है कि वे वामगार्टेन थे जिन्होंने इस बात का साक्षात्कार किया था कि सामान्य भाषा काव्यमूलक ज्ञप्ति को पूर्णतया प्रकट करने में असमर्थ है। ऐसा साक्षात्कार उन्होंने अस्फुट ज्ञान के अस्फुट रूप (Obscure knowledge as obscure) अर्थात् संवेदनारूप ज्ञान के (Knowledge in the form of feeling) स्वरूप के अवधारण (Conception) के प्रसंग में किया था जिसका अर्थ बोसान्केट के अनुसार वह ज्ञान है जिसको समुचित रूप में भाषा में प्रकट नहीं कर सकते। सामान्य रूप से कलात्मक कृति की आत्मा की चर्चा करते हुए हेगेल भी यह मानते हुए ज्ञात होते हैं कि कलात्मक कृति की आत्मा को प्रत्यक्षतः कला के माध्यम अथवा साधन से प्रकट नहीं कर सकते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं कि प्रत्यक्षांश केवल उस अन्तर्भूत कलाकृति की आत्मा के साक्षात्कार का साधनमात्र है जो उस (प्रत्यक्षांश) से परे है, जिसकी ओर यह (प्रत्यक्षांश) संकेत करता है एवं जो इसको सजीव बनाता है और जिसका साक्षात्कार कलात्मक अनुध्यान (Artistic contemplation) द्वारा ही हो सकता है।

परन्तु यह ज्ञात होता है कि बामगार्टेन एवं हेगेल ने केवल यह माना है कि कलाकृति की आत्मा को भाषा की अभिधाशक्ति प्रकट करने में अक्षम है और उन्होंने यह संकेत किया है कि एक कलाकृति का बाह्यांश केवल उस आत्मा की ओर संकेत भर करता है जिसका साक्षात्कार केवल कलात्मक चिन्तन से किया जाता है। इन शास्त्रकारों ने इस बात को स्पष्ट नहीं किया है कि भाषा की इस असमर्थता का कारण क्या है और किस विधि से यह आत्मा की ओर संकेत करती है अथवा किस प्रकार से उसका साक्षात्कार होता है। ठीक इसी काम को आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त जैसे भारतीय शास्त्रकारों ने किया है। वे ग्रन्थ जिनमें काव्य अथवा नाटक की आत्मा को प्रकट करने के लिए भाषा की अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य शक्तियों की असमर्थता की समस्या का समाधान किया गया है एवं अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यशक्ति से भिन्न उस ध्वनि शक्ति की समस्या का समाधान किया गया है जिससे काव्य की आत्मा का साक्षात्कार करते हैं निम्नलिखित हैं :—
(१) ध्वन्यालोक (२) लोचन (३) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी।

ध्वन्यर्थ की तार्किक व्याख्या

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यर्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ को तीन कोटियों में विभाजित किया है—१. वस्तु, २. अलंकार एवं ३. रसादि। और अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित किया है कि किसी भी दशा में 'रसादि' को अभिधेयार्थ वाचक शब्द से प्रकट नहीं कर सकते हैं (यस्तु स्वप्नेपि न स्वशब्दवाच्यो……रसः ध्व० लो० ५१)। इसके कारण को निम्नलिखित रूप में लिख सकते हैं:—

महाकवियों की रचनाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि १. कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें कलात्मक कृति से स्थायी भाव, सर्वप्रधान तथ्य अथवा उसकी आत्मा, का वाचक शब्द वर्तमान होता है जब कि अन्य रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता है। २. रसानुभव ऐसी काव्य रचनाओं से भी उत्पन्न होता है जिनमें स्थायिभाववाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। ३. जिन रचनाओं में स्थायी भाव वाचक शब्द का प्रयोग करते हैं उनसे जो रसानुभव उत्पन्न होता है उसका कारण स्वयं वह स्थायी भाववाचक शब्द न होकर उस स्थायी भाव के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का प्रदर्शन अथवा वर्णन है। ४.–ऐसी काव्यकृतियों से कोई रसानुभव उत्पन्न नहीं होता जिनमें रस अथवा स्थायी भाव (श्रृंगार अथवा रति आदि) वाचक शब्द तो होता है परन्तु उस स्थयी भाव के विभावादि प्रदर्शित नहीं किए जाते। अतएव यह मानना तर्कसंगत है कि रसात्मक मिश्रित समुदाय रूप सामग्री के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्वन्यर्थ द्योतक शब्द से ही प्रकट कर सकते हैं, परन्तु इसको अभिधेयार्थवाचक शब्द से प्रकट नहीं कर सकते—क्योंकि हम सदैव विभावादि के प्रकटीकरण से रसानुभव को प्राप्त करते हैं और उस अकेले शब्द से कभी नहीं प्राप्त करते जो स्थायी भाव अथवा काव्य रचना के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य का वाचक है। इसका कारण यह है कि विभावादि के प्रदर्शन के साथ रसानुभव का अविनाभाव सम्बन्ध है और उस शब्द के बिना भी रसानुभव हो सकता है जो अकेले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य अथवा सम्पूर्ण समुदायरूप मिश्रित सामग्री[१] (Configuration) का वाचक है।

इस प्रसङ्ग में यहाँ पर यह कह सकते हैं कि भारतीय स्वतन्त्र कलाशास्त्र के आचार्यों के मतानुसार अधिकांश स्थलों पर रसानुभव का कारण एक स्थायी भाव का प्रमातृनिष्ठ साक्षात्कार है। क्योंकि यह स्थायी भाव

*१. ध्व० लो० ७०–२

उप चेतनांश से चेतनांश पर नाटक के उस नायक के साथ में तादात्म्य करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है जिसको अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों के साथ सुखकारी परिस्थिति में प्रदर्शित करते हैं। और क्योंकि स्थायी भाववाचक शब्द से इसका उद्भव कभी नहीं हो सकता है अतएव यह मानते हैं कि इसको विभावादि से द्योतित करते हैं (व्यज्यते अथवा प्रकाश्यते)। वे रसानुभव के आनन्द को इस प्रकार के आनन्दप्रद अनुभवों से भिन्न मानते हैं जो अपने पुत्र[1] के जन्म के समाचार को सुनने से प्राप्त होता है। वे यह मानते हैं कि एक भावावेग के स्वरूप की बौद्धिक समझ तथा नाट्यकृति अथवा काव्यकृति पर चिन्तन करने के परिणामस्वरूप उस भावावेग के प्रमातृनिष्ट साक्षात्कार में परस्पर भेद है। हेगेल की भाँति वे यह मानते हैं कि काव्यकृति का आन्तर तत्त्व (Content) अपने सामान्यरूप में चिदात्मा का वह स्वरूप है जो कि स्थायीभाव से प्रभावित होने पर होता है और जो व्यक्तिविधायक सभी तत्त्वों से सर्वथा रहित है। परन्तु भारतीय कलाशास्त्र के आचार्य यह मानते हैं कि तार्किक रूप में यह स्वीकार नहीं कर सकते कि यह स्थायी भाव अभिधेयार्थवाचक शब्दों में प्रकट किया जा सकता है। वे यह मानते हैं कि उस स्थायी भाव को उन विभावादि के सुन्दरता पूर्ण प्रदर्शन से व्यक्त कर सकते हैं जो पाठक अथवा दर्शक[2] की कलात्मक सहृदयता के कारण सौन्दर्यपूर्ण दिखाई देते हैं।

ध्वन्यर्थ की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी में इस बात की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है कि वह शब्द जो शृङ्गार जैसे रसात्मक समुदायरूप मिश्रित सामग्री का वाचक शब्द है रसात्मक समुदायरूप मिश्रित सामग्री को इस रूप में क्यों नहीं प्रकट कर सकता जिससे कि रसात्मक अनुभव की उत्पत्ति हो। पाठक इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या को सम्पूर्णतया हृदयङ्गम कर सकें इसलिए हम आवश्यक प्रसङ्ग में इसका स्पष्टीकरण नीचे लिखते हैं :—

काश्मीर के शैव मत का आधारभूत मत यह है कि परमतत्त्व, महेश्वर अथवा अनुत्तर (Absolute) न तो ज्ञेय विषय है और न उसको ज्ञेय विषय बनाया ही जा सकता है। अतएव प्रमाणों का प्रयोग उसके विषय में नहीं कर सकते अथवा यह कहें कि उसके[3] सम्बन्ध में ये प्रमाण क्रियाशील नहीं

*१. ध्व० लो० ७९ *२. ध्व० लो० ५१–२

*३. ई० प्र० वि० वि० भाग १, ५५–६

होते। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि 'क्या ऐसा नहीं है कि आध्यात्मिक उपदेश के समय, जैसे कि उस समय जब गुरु शिष्य को परतत्त्व को जानने का आदेश देता है अर्थात् यह कहता है कि आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (वाज० उ० अध्याय ४ ब्रा० १) उस (परतत्त्व) का वर्णन एक वस्तु के रूप में नहीं होता है ? और इस प्रश्न का जो उत्तर अभिनवगुप्त देते हैं वह यह है कि यह वास्तविक अथवा परम आत्मा का ज्ञेय वस्तु के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है वरन् ऐसी किसी वस्तु का उल्लेख किया गया है जो कल्पना में रची गई (सृष्ट) है। परन्तु एक दूसरा प्रश्न यह उठता है कि 'क्या इससे शिष्य को वास्तविक आत्मा का बोध होता है या नहीं ?' और इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'उसको बोध होता है ?' और इस बोध का कारण यह है कि जो विषय के रूप में चित्रित है वह उस तत्त्व से एकात्मरूप माना जाता है जिससे प्रमेयरूप चित्र (Objective image) उत्पन्न होता है। और यह कहा गया है कि इस प्रकार का तादात्म्य व्यावहारिक जीवन में करते हैं। उदाहरण के लिये वह मानसिक प्रतिच्छाया जो एक बहिर्भूत विषयवस्तु के साथ इन्द्रियों के संसर्ग के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है, यद्यपि आवश्यक रूप से मानसिक है फिर भी सविकल्प प्रत्यक्ष में हम यह मान लेते हैं कि बहिर्भूत विषयवस्तु के साथ इसका ऐकात्म्य है (दृश्यविकल्प्यैकीकारन्यायेन)।

उपर्युक्त मत को विशद रूप में निम्नलिखित रूप से कह सकते हैं :—

जिस प्रकार से ज्ञान (१)—निर्विकल्प तथा (२) सविकल्प दो रूपों का होता है उसी प्रकार से अर्थ भी दो प्रकार के होते हैं। (१)—अव्यवहित एवं (२) व्यवहित। निम्नलिखित उदाहरणों से दोनों प्रकारों के अर्थों का भेद स्पष्ट हो जायगा :—

शब्द या तो प्रत्यक्षतः ज्ञात वस्तु का बोधक या एक सामान्य रूप उस मूल ज्ञप्ति (Notion) का वाचक होता है जिसको प्रत्यक्ष की गई वस्तुओं से उद्भावित किया गया है (Derived) जैसे कि शुक्ल और गुण। शुक्ल शब्द से जिस अर्थ की हमको प्रतीति होती है वह अव्यवहित है क्योंकि श्रोता के मन में यह अर्थ शब्द को सुनते ही तुरन्त उत्पन्न होता है। शब्द के सुनने और उसके अर्थबोध के बीच में अन्य कोई ऐसा चित्र नहीं आता जिसका उदय मन में होता हो। इसका साधारण सा कारण यह है कि व्यावहारिक

जीवन में सामान्य प्रयोग के कारण शब्द का अर्थ निश्चित कर दिया गया है और यह अव्यवहित रूप में प्रत्यक्षग्राह्य वस्तु से सम्बन्धित है। परन्तु जिस समय श्रोता 'गुण' शब्द को सुनता है तो श्रोता के मस्तिष्क में तुरन्त अर्थ-प्रतीति नहीं उत्पन्न हो जाती। इसके विपरीत इस अर्थबोध की उत्पत्ति और शब्द को सुनने के मध्य में शुक्ल आदि की वे प्रतिच्छायाएँ उत्पन्न होती हैं जिन पर 'गुण' का सामान्य प्रत्यय (Generalised concept) निर्भर है। तदनुसार व्यवहित अर्थ उसको मानते हैं जिसका बोध आवश्यकरूप से प्रत्यक्षणीय उन प्रतिभासों (Phenomena) के बोध के माध्यम से उत्पन्न होता है जिन पर सामान्य प्रत्यय अवलम्बित है (यो हि परामर्शो यत् परामर्शान्तरम् नियमेन मध्ये सोपानीकृत्य परामर्शनीयसमारोहणेन कृतकृत्यतामेति स तेन व्यवहित उच्यते (ई० प्र० वि० वि० भाग १–५६)

इस प्रकार से अभिधा को दो प्रकारों का माना गया है। (१) व्यावहारिक जीवन पर अवलम्बित तथा (२) व्यक्तिसमूह की सहमति पर निर्भर-चाहे यह व्यक्तिसमूह बड़ा हो या छोटा हो[1]। (पर्षदोपि सङ्कोचाऽसङ्कोचादिना भेदाः (ई० प्र० वि० वि० भाग १–५७)।

इस प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त इस मत को प्रतिपादित करते हैं कि शृङ्गार जैसे अत्यन्त पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट अर्थबोध न तो अव्यवहित रूप में होता है और न व्यवहित रूप में ही होता है। जिस युक्ति पर यह मत निर्भर है उसका उल्लेख निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

शृङ्गार शब्द से हमको ऐसा निश्चित अर्थबोध हो सके जो कि विशेष प्रकार के शृङ्गार का अनुभव हम में उत्पन्न कर सके—इसके लिए हमको दो परिभाषाओं का ज्ञान आवश्यक है (१) सामान्य रूप रस की सुप्रसिद्ध वह परिभाषा जिसका उल्लेख भरतमुनि ने अपने इस सूत्र में किया है—(विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः) तथा साथ ही साथ (२) उस शृङ्गार रस की परिभाषा का भी बोध हो जो रति के स्थायीभाव से उत्पन्न होता है (रतिस्थायिभावप्रभवः)। परन्तु इन दोनों परिभाषाओं का ज्ञान भी स्वयं ऐसे स्पष्ट अर्थ का बोध उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं है जो कि पाठक को रसानुभव कराने में सक्षम हो। इसका कारण यह है कि एक परिभाषा के अर्थ की सुस्पष्ट प्रतीति एक इन्द्रियबोध्य सुस्पष्ट दृष्टान्त का मानसिक चित्रण करने पर अवलम्बित है। परन्तु रस की परिभाषा का

*१. ई० प्र० वि० वि० भाग १, ५७

दृष्टान्त इन्द्रियानुभव की भूमि पर वर्तमान नहीं होता। अतएव रस के द्योतक शब्द का प्रयोग यद्यपि एक काव्य अथवा नाव्यकृति में करते हैं फिर भी वह शब्द ऐसे सुस्पष्ट अर्थ का बोध नहीं कराता जिससे कि रसानुभव उत्पन्न हो सके। क्योंकि उस दृष्टान्त के सुस्पष्ट चित्रण की सहायता से यह शब्द उस अर्थ को यद्यपि प्रदान करने की चेष्टा करता है जिस पर परिभाषा का स्पष्ट बोध निर्भर है और जिसका मध्य में चित्रण वांछित अर्थ को पाने के लिए करते हैं, फिर भी वांछित अभिप्राय को सिद्ध करने में यह असफल इसलिये हो जाता है क्योंकि यह उस निश्चित चित्र को उत्पन्न करने में असमर्थ है जो उस परिभाषा का दृष्टान्त बनता है, जो रसानुभव का एकमात्र साधन है। अतएव यह मानते हैं कि श्रृंगार ऐसे शब्दों में ऐसी कोई अभिधामूलक शक्ति नहीं होती जो रसानुभव की ओर ले जाने वाले[1] अर्थ को उत्पन्न करे। अतएव कला की मुख्य विषयवस्तु अर्थात् एक सामान्यरूप भावावेग से प्रभावित रूप में अपनी सामान्यता में चिदात्मा को अभिधामूलक शब्दों में अप्रकटनीय मानते हैं। एवं यह मानते हैं कि इसको भाषा की ध्वनि शक्ति से ही प्रकट कर सकते हैं।

कविता और नाटक से प्राप्त रसानुभव में भावावेग

पूर्व तथा पश्चिम दोनों देशों के स्वतन्त्रकलाशास्त्र के आचार्यों ने कविता अथवा नाटक से उत्पन्न कलात्मकानुभव में भावावेग (भाव) को एक आवश्यक तत्त्व माना है। भारतवर्ष में यह मत उस रस के सिद्धान्त में निहित है जो स्थायी भाव की उन व्यभिचारी भावों, अनुभावों और विभावों के साथ सामंजस्यपूर्ण रीति से एकता है जिसका उल्लेख रस की उस प्रसिद्ध परिभाषा में किया गया है जिसका अनुसरण सभी परवर्ती स्वतन्त्रकलाशास्त्र के प्रतिपादक करते हैं। उन्होंने यह माना है कि स्थायीभाव रसानुभव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। पाश्चात्य देशों में भी स्वतन्त्रकलाशास्त्र के सिद्धान्त की समस्या की व्याख्या सामान्यतः काव्य अथवा नाट्य कला की कृतियों से उत्पन्न भावावेगों के आधार पर की गई है।

प्लेटो-कृत विशेषतया नाट्यकला की निन्दा का आधार इस तथ्य की स्वीकृति है कि नाटक भावावेग को प्रदर्शित तथा जाग्रत करता है (अध्याय २)। एरिस्टाटल यह मानते हैं कि दुःखान्त नाटक उसको प्रदर्शित करता है जो करुणा तथा भय के भावावेगों को उत्पन्न करता है और इस प्रकार के भावावेगों

---

१. ई० प्र० वि० वि० भाग १ ५७

से अन्तः करण को शुद्ध करता है। ईसा के आदि युग में भी भावावेग को कलाजन्य अनुभव का आवश्यक तत्त्व मानते थे। उदाहरण के लिए सेन्ट आगस्टाइन यह मानते हैं कि कविता का लक्ष्य द्रवीकरण तथा जाग्रत करना है। पुनर्जागरण के युग में काव्यकला की कृतियों में भावावेग का प्रमुख स्थान बना ही रहा। क्योंकि इस युग के शास्त्रकार इस प्रश्न का कि 'काव्यकला की एक कृति में अखण्डता का जनक तत्त्व क्या है?' उत्तर यह देते थे कि 'वह भावावेग जिसको दर्शकों में जाग्रत करना कलाकृति का मुख्य लक्ष्य है पूर्ण कृति के विभिन्न अंगों को एकात्म करनेवाला तत्त्व है।

पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के आधुनिक युग को देखने से हमको यह ज्ञात होता है कि इसके आरम्भकाल में डेकार्ट जैसे महान् पूर्ण दार्शनिक यह मानते हैं कि कलाकृति के अनुभव में भावावेगात्मक तत्त्व होता है। क्योंकि वे यह मानते हैं कि विचित्र साहसपूर्ण कार्यों के काव्यगत अथवा नाटकीय प्रदर्शन कल्पना को कलात्मक रूप से प्रकटित की गई वस्तु के सम्पूर्ण मानसिक चित्र को बनाने के लिए उत्तेजित करते हैं। इसके परिणामस्वरूप विषयवस्तुओं की विभिन्नताओं के अनुसार सभी प्रकार के भावावेश तथा भावावेग हममें उत्पन्न होते हैं और हमको बौद्धिक आनन्द प्राप्त होता है यदि बोधशक्ति सभी निहितार्थों के साथ सम्पूर्ण कल्पनात्मक चित्र को चित्रित करने में सक्षम होती है एवं इसलिए आत्मा को यह अनुभव होता है कि उसके पास बुद्धि जैसी एक अच्छी चीज है।

इंगलैण्ड के शास्त्रकारों में हमको यह ज्ञात होता है कि लाक, एडीसन, ह्यूम तथा बर्क कलाकृतिजन्य अनुभव में भावावेगात्मक तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। लाक यह मानते हैं कि कवि से प्रयुक्त किए गए आलंकारिक एवं अन्य बनावटी शब्दों के प्रयोग व्यवहितरूप से गलत (Wrong) ज्ञप्तियों को जाग्रत करते हैं और भावावेगों को संचालित करते हैं। एडीसन के मतानुसार एक कलाकृति में भावावेगों को जाग्रत करने की जितनी अधिक शक्ति होती है उतना ही अधिक वह प्रसन्नतादायक होती है। ह्यूम ने कलाशास्त्र की समस्या का समाधान १. उपयोगात्मक युक्तिवादी (Utilitarian rationalist) तथा २. भाववादी (Emotionalist) के रूप में किया है। भाववादी दृष्टिकोण से वे यह मानते हैं कि कलाकृतिजन्य अनुभव का विधायक वह सुखदायी भावावेग है जिसको एक भलीभांति से रचित काव्य अथवा नाटक जाग्रत करता है। बर्क भी यह मानते हैं कि काव्य तथा नाटक भावावेगों को प्रदर्शित करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कलाकृतिजन्य अनुभव एक निर्विकल्प भावात्मक अनुभव है।

जर्मनी के प्रमुख शास्त्रकारों में से वामगार्टेन, लीबनीज़ तथा हेगेल ने कलाकृतिजन्य अनुभव में भावात्मक तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार किया है। क्योंकि हेगेल के मतानुसार जिस 'एस्थिटिक' शब्द को उन्होंने (वामगार्टेन से) लिया था उसका अर्थ 'इन्द्रियबोधों और भावावेगों का विज्ञान' था। क्योंकि उत्कर्षवादी दर्शनशास्त्र के युग में जर्मनी में कलाकृतियों का अध्ययन सुख, प्रशंसा, भय, करुणा आदि उन मूल भावों के प्रसंग में करते थे जिनको वे कलाकृतियाँ दर्शकों अथवा सहृदय व्यक्तियों में उत्पन्न करती थीं। लीबनीज़ यह मानते हैं कि कलाकृतिजन्य अनुभव की विभिन्न भूमियाँ हैं जिसकी निचली भूमियाँ ऊंची भूमियों की ओर ले जाती हैं। एवं वे यह भी मानते हैं कि एक उत्कृष्ट कलाकृति से हमको क्रमशः इन्द्रियबोधात्मक, भावात्मक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होते हैं। उनके मतानुसार काव्य के पास प्रभावित करने की अपार शक्ति है। हेगेल का यह मत है कि भावावेग तथा उसके शारीरिक प्रकटीकरण (अनुभाव) तथा विभाव नाट्यकला के महत्त्वपूर्ण अंश हैं। वे यह भी मानते हैं कि दुःखान्त नाटक उस भय को उत्पन्न करते हैं जो कर्त्तव्यमीमांसीय शक्ति (Might of ethical power) की सबलता से सम्बन्धित है तथा उस सहानुभूति को जाग्रत करते हैं जो उस नैतिक शक्ति के अधिकार के साथ अनुकूल (Accordant) मूलभाव अथवा संवेदना है जो अपने को उस पर प्रयुक्त करती है जो उसका विरोध करता है और इसलिए उसको अपना शत्रु बना लेता है।

भय के कलाजन्य अनुभव के विषय में मतभेद

पूर्व और पश्चिम के सभी प्रमुख शास्त्रकारों ने सभी युगों में सामान्यतः यह माना है कि कलाकृतिजन्य अनुभव में भावावेगात्मक तत्त्व होता है। परन्तु भावावेग दो प्रकार के होते हैं—सुखदायी तथा दुःखदायी। अतएव समस्या यह उठती है कि 'क्या वह कलाकृतिजन्य अनुभव एक दुःखदायी अनुभव है जो भयानक के भय उत्पादक कलात्मक प्रदर्शन से उत्पन्न होता है।' सभी शास्त्रकार यह मानते हैं कि यह अनुभव दुःखदायी नहीं है अतएव प्रश्न यह उठता है कि 'ऐसा क्यों नहीं है जब कि भय एक दुःखदायी भाव है?'

लाककृत व्याख्या और उसका खण्डन

संभवतः लाक ने इस समस्या को सर्वप्रथम उठाया था 'किस प्रकार से भय और करुणा जैसे वे भाव जो व्यावहारिक जीवन में दुःखदायी हैं एक कलाकृति से जाग्रत किए जाने पर सुखदायी हो जाते हैं?' और उनका उत्तर

यह है कि दुःखदायी भाव उस समय सुखदायी हो जाते हैं जब उनको एक कलाकृति जाग्रत करती है—क्योंकि ये कलाकृतियां मिथ्यास्वरूप होती हैं क्योंकि वे (भाव) उस भ्रान्ति से उत्पन्न होते हैं जिसको कि कला उत्पन्न करती है, क्योंकि मन की रचना इस प्रकार से की गई है कि इस प्रकार से वह प्रतारित होना चाहता है। परन्तु यह एक असन्तोषजनक व्याख्या है। क्योंकि प्रश्न यह उठता है 'क्या दर्शक के दृष्टिकोण से कलात्मक प्रदर्शन एक भ्रान्ति है ?' 'क्या दर्शक को इस बात का बोध होता है कि प्रदर्शन अयथार्थ रूप है ?' यदि ऐसा है तो उसमें भय का भावावेग उत्पन्न नहीं हो सकता ? क्योंकि जिस समय हमको यह ज्ञान होता है कि अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी केवल सर्प के रूप में दिखाई भर ही देती है परन्तु वास्तव में वह सर्प नहीं है तो हमारे अन्तःकरण में भय उत्पन्न नहीं होता। परन्तु जिस समय हम उसको मिथ्यारूप नहीं मानते अर्थात् यदि हम उसको यथार्थरूप मान लेते हैं तो भय की उत्पत्ति होती है और यह भाव दुःखदायी होता है। क्योंकि व्यावहारिक जीवन में भ्रान्तिजनित भय दुःखपूर्ण होता है।

एडीसनकृत व्याख्या और उसका खण्डन

एडीसन पूरी यथार्थ समस्या को केवल टाल भर ही देते हैं। पहले वे यह प्रतिपादित करते हैं कि व्यावहारिक जीवन के केवल सुखदायी भाव ही कलाकृति से जाग्रत होने पर अधिक सुखदायी नहीं हो जाते वरन् व्यावहारिक जीवन के दुःखदायी भाव भी सुखदायी हो जाते हैं जब उनको कलाकृति से अधिक तीव्र रूप में उत्प्रेरित किया जाता है। यह कहने के उपरान्त वे यह कहते हैं कि भयानक के एक कलात्मक प्रदर्शन से सुख की उत्पत्ति भयानक वस्तु से कल्पना के प्रभावित होने से नहीं होती वरन् उस विचार से होती है जिसको हम इस प्रकार के प्रदर्शन को देखकर अपने अन्तःकरण में जाग्रत करते हैं। जिस समय हम भयानक के एक कलात्मक प्रदर्शन को देखते हैं उस समय हमारे सुख का कारण संकट से मुक्त तथा सुरक्षित होने का मूल भाव है। क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि भयानक किसी भय को उत्पन्न नहीं करता ? तो किस प्रकार से यह स्पष्ट है कि एक दुःखदायी भाव सुखदायी हो जाता है ?

बर्क के मत में आत्म-विरोध

बर्क जब इस समस्या का समाधान करने की चेष्टा करते हैं तो वे केवल एक आत्मविरोधी बात कहते हैं। यह कहने के पश्चात् कि भय की उत्पत्ति

दुःख तथा मृत्यु की सम्भावना से होती है और इसलिए इस रूप में (सम्भावना) क्रियाशील होती है जिससे कि सम्भावित पीड़ा लगभग यथार्थ रूप में परिणत हो जाती है, वे शोकप्रधान नाटक से उत्पन्न अनुभव की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं कि भय वह भावावेग है जो उस समय सुखद हो जाता है जिस समय हमको यह अत्यन्त निकटता से स्पर्श नहीं करता है। इसके आगे वे समस्या को स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं करते हैं। उनकी व्याख्या स्पष्ट नहीं है। किस प्रकार से भय का वह स्पर्श जो अत्यन्त निकटता से स्पर्श नहीं करता है भय को सुखप्रद बना सकता है? इसकी व्याख्या की आवश्यकता है। परन्तु वे इसको स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं करते हैं। उनका मत यह है कि यदि हम इस बात को स्पष्टरूप से समझना चाहते हैं कि किस प्रकार से दुःखोत्पादक एक तथ्य हमको उस समय प्रभावित करता है जिस समय इसको काव्यात्मक अथवा नाट्यात्मक रूप से प्रदर्शित करते हैं तो यह जानना आवश्यक है कि एक दुःखोत्पादक तथ्य व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार से प्रभावित करता है। उस यथार्थ पीड़ा से जिसके वशीभूत हम एक व्यक्ति को पाते हैं हमको अति आनन्द प्राप्त होता है यह निम्नलिखित विचारों से सिद्ध है :—

यह एक तथ्य है कि जनसमूह यथार्थ संकट तथा पीड़ा के दृश्यों की ओर आकर्षित होते हैं और लोग ऐसे दृश्यों की ओर से उदासीन नहीं होते। इस प्रकार की बात असम्भव होती यदि इस प्रकार के दृश्य नितान्त सुख-विहीन पीड़ामात्रजनक होते अर्थात् इस प्रकार के दृश्यों से उत्पन्न अनुभव में आनन्द का कुछ तत्त्व वर्तमान न होता। इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य है कि जितना ही अधिक पीड़ित व्यक्ति महान् होता है और उस पीड़ा को जितना अधिक अन्याय्य रूप में सहता है उतना ही अधिक महान् उस दृश्य से आनन्द उत्पन्न होता है।

अतएव वे यह कहते हैं कि यह स्पष्ट है कि भय एक ऐसा भावावेग है जो हमको उस समय आनन्दित करता है जिस समय यह हमारा स्पर्श अत्यन्त घनिष्ठता से नहीं करता। इसके साथ वे यह भी मानते हैं कि करुणा के भावावेग के साथ सदैव आनन्द सहचररूप में रहता है क्योंकि इसकी उत्पत्ति प्रेम तथा सामाजिक स्नेह से होती है।

क्या उनके इस कथन में आत्मविरोध निहित नहीं है 'भय वह भावावेग है जो सुख देता है?' जिसको कि वे इसकी निम्नलिखित परिभाषा देने के उपरान्त कहते हैं :—

'पीड़ा तथा मृत्यु को सम्भावना के बोध से भय उत्पन्न होता है और इसलिये यह (सम्भावना) इस रूप में क्रियाशील होती है कि यह सम्भावित पीड़ा को लगभग यथार्थरूप पीड़ा में बदल देती है ?

हेगेल का स्पष्टीकरण

दुःखान्त नाटक के प्रदर्शन से उत्पादित भय तथा करुणा जैसे भावावेगों की सुखपूर्णता की व्याख्या हेगेल अपने कर्त्तव्यमीमांसा दर्शन (Philosophy of right) के आधार पर करते हैं। एरिस्टाटल की भाँति वे यह मानते हैं कि शोकप्रधान नाटक भय और करुणा के भावावेगों को उत्प्रेरित और शुद्ध करता है। परन्तु वे यह कहते हैं कि दुखान्त नाटक से जाग्रत किये गए भावावेग किसी व्यक्ति के निजी अनुभव के साथ संवादी (Concordant) अथवा विसंवादी मूलभाव नहीं हैं। इसके साथ वे यह भी कहते हैं कि दुःखान्त नाटक से उद्भूत भावावेग व्यावहारिक जगत के भावावेगों से अपने विषयनिष्ठ सम्बन्ध के कारण भिन्न होते हैं। हेगेल के मतानुसार 'भय' दो प्रकार से सम्भव है (१) यह उस समय जाग्रत हो सकता है जिस समय हमारा सामना एक ऐसी वस्तु से होता है जो भयानक परन्तु सीमित है। (२) यह उस कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्रीय नैतिक शक्ति (Ethical power) के साक्षात्कार से भी उत्तेजित हो सकता है जो सभी सामाजिक प्रतिमासों के मूल में वर्त्तमान है। यह वह शक्ति है जो अपने को परिवार, नागरिक समाज तथा शासन-सत्ता जैसी सामाजिक संस्थाओं के रूप में प्रकट करती है। उस मनुष्य जाति को जो पशुजाति से मुख्यतया अपनी तर्कशक्ति के के कारण भिन्न है पशुओं में भय को उत्पन्न करने वाली बाह्य भयानक शक्ति एवं उसके प्रकटीकरण से भयभीत नहीं होना चाहिये। इस प्रकार का भय उनकी शारीरिक आत्मसुरक्षा की भावना से सम्बन्धित है। वरन् उसको (मनुष्य को) उस नैतिक शक्ति से भयभीत होना चाहिये जो अपनी स्वतंत्र न्यायपरता में स्वयं परिभाषित है, जो शाश्वत तथा अनुल्लंघनीय है और जिसको एक व्यक्ति उससे विमुख होकर अपने विरुद्ध आमन्त्रित करता है। अतएव एक दुःखान्त नाटक से उत्पन्न भय हेगेल के मतानुसार दूसरी कोटि का है और सामान्यनैतिक शक्ति की प्रबलता से सम्बन्धित होता है। अतएव यह दुःखदायी नहीं होता क्योंकि यह शारीरिक आत्म-सुरक्षा की मूलवृत्ति से सम्बन्धित नहीं है।

इस प्रकार से हेगेल ने वैषयिक सम्बन्ध की भिन्नता के आधार पर एक

दुःखान्त नाटक के प्रदर्शन से जनित भय के सुखदायी होने की व्याख्या की है। उनके मतानुसार यह इसलिये दुःखप्रद नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध किसी सीमित बाह्यवस्तु के साथ न होकर सामान्य नैतिक शक्ति की प्रबलता के साथ है। यह एक सन्तोषप्रद व्याख्या ज्ञात होती है। क्योंकि जिस समय हम किसी भी बाह्य शारीरिक शक्ति से भयभीत होना नहीं चाहते उस समय हम कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्रानुसारी प्राणी के रूप में यह चाहते हैं कि हम कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्रीय शक्ति से भयभीत हों क्योंकि यही भय हमारे नैतिक चरित्र के उत्थान का कारण बनता है।

अभिनवगुप्त-कृत तद्विषयक व्याख्या

ऐसा ज्ञात होता है कि अभिनवगुप्त भी सुखद तथा दुःखद भावावेगों में एक भेद रेखा खींचते हैं। एक उस सुखद भावावेग के कलात्मक अनुभव का स्पष्टीकरण, जिसको एक नाट्य-प्रदर्शन में किसी विशेष परिस्थिति में स्थित एक नायक में प्रदर्शित करते हैं, वे नायक के साथ में तादात्म्यीकरण के आधार पर करते हैं। दर्शक पूरी परिस्थिति को नायक की दृष्टि से देखता है और इसलिए परिस्थिति से उत्पन्न भावावेग से प्रभावित होता है। इस व्याख्या को हमने स्वतन्त्रकलाशास्त्र भाग १ में किया है। परन्तु भय का अनुभव हम इस प्रकार से नहीं कर सकते हैं क्योंकि आदर्शस्वरूप व्यक्ति होने के कारण भारतीय नाटक का नायक सामान्यतः भयोत्पादक किसी वस्तु से न तो भयभीत होता है और न भयभीत हो सकता है। सम्भवतः अपने मन में इसी विचार को लेकर उन्होंने यह निश्चित रूप से बताया था कि एक नाट्य प्रदर्शन से किस प्रकार से भय की उत्पत्ति होती है। इसको स्पष्ट करने के लिये उन्होंने कालिदास-कृत अभिज्ञानशाकुन्तलम् के उस दृश्य को लिया था जिसमें रथस्थ दुष्यन्त से पीछा किये जाते हुए तपोवन के मृग का वर्णन है। राजा के बाण से अपने प्राणों को बचाने के लिये वह दौड़ रहा है। वह अत्यन्त भयभीत है। इस रूप में इसका (मृग का) निरूपण राजागत भयानक रस के अनुभव और उसके माध्यम से उस दर्शक में अभिव्यक्त भयानक रस के अनुभव का कारण कहा गया है जिसने अपना तादात्म्य नाटक के नायक राजा दुष्यन्त के साथ कर लिया है।

इस प्रसङ्ग में जिस बात को महत्त्वपूर्ण कहना उचित ज्ञात होता है वह यह है कि भयानक रस के अनुभव का कारण उस भय का आत्मनिष्ठ अनुभव नहीं है जो कि एक भयानक बाह्यवस्तु का प्रभाव है वरन् इसका

कारण विषयवस्तु का अर्थात् भयभीत मृग का विषयरूप में प्रत्यक्ष है। क्योंकि सामने कोई भयानक वस्तु होने के कारण राजा दुष्यन्त भयभीत नहीं हैं। इसके विपरीत वे स्वयं एक भयानक वस्तु हैं जिन्होंने मृग में भय उत्पन्न कर दिया है। दुष्यन्त में भय की अभिव्यक्ति मृग के साथ उनके तादात्म्य के कारण होती है और दर्शक में भय की अभिव्यक्ति नायक दुष्यन्त के साथ तादात्म्य के कारण होती है।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती (भाग १ पृ० २८०) में भयानक की उत्पत्ति को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है जैसा कि हम स्वतन्त्रकलाशास्त्र (भाग १) में लिख आए हैं। दर्शक 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' श्लोक को सुनता है। सम्पूर्ण रूप में श्लोक का अर्थ उसको बोधित होता है। सम्पूर्ण दृश्य का आन्तरिक साक्षात्कार होता है। परस्पर विरुद्ध होने के कारण काल देश आदि तत्त्वों का निराकरण हो जाता है। व्यक्ति के अर्थक्रियाकारित्व (Causal efficiency) के लिए काल एक महत्त्वपूर्ण तथ्य वस्तु है। उसके निषेधित हो जाने पर व्यक्ति का निषेध स्वाभाविक रूप से हो जाता है। इस दशा पर चेतना को 'भीतः' कहा जा सकता है। व्यक्ति भीत तभी हो सकता है जब कि भय के कारण की सत्ता हो। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यह कारण अपारमार्थिक है (अर्थात् इसकी कोई वस्तुनिष्ठ यथार्थता नहीं है) और इसलिये वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध से मुक्त होने के कारण भीत में से केवल भयमात्र ही अवशिष्ट रह जाता है। उस दर्शक की चेतनाशक्ति में यह भय प्रकट होता है जो व्यक्ति के विधायक सभी तत्त्वों से मुक्त है। यह भय उसके हृदय को इस प्रकार से प्रभावित करता है जैसे कि उसमें प्रवेश कर रहा हो और साक्षात्कृत हो जाने के कारण ऐसा दिखाई देता है जैसे कि आँखों के सामने नृत्य कर रहा हो। यही भय भयानक रस है। इस प्रकार से भय दुःखदायी नहीं होता क्योंकि यह सम्पूर्णतया सामान्यीभूत हो जाता है और सभी प्रकार के व्यक्ति-विधायक तत्त्वों से स्वतन्त्र प्रमाता के साथ सम्बन्धित होता है।

पाश्चात्य कलाशास्त्र के आचार्यों के विचारों की भारतीय कलाशास्त्र के आचार्यों के मतों के साथ विशद रूप तुलना इस ग्रन्थ के तृतीय भाग 'भारतीय एवं पाश्चात्य स्वतन्त्रकलाशास्त्र' 'एस्थिटिक्स इण्डियन एण्ड वेस्टर्न' का विषय है।

इति शुभम्

—oo✻oo—

परिशिष्ट—अ

ताराङ्कित पादटिप्पणियों से सङ्केतित मूलग्रन्थांशों के उद्धरण

पृष्ठ ५

१. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ॥
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ।

पृष्ठ १४

१. निर्मले म(मु)कुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥
सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु ।
तथा हि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते ॥

२. संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।
आलेख्याकारवत् तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥
तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना । यतस्तदनन्यात्म, तात्त्विकशरीरशून्यम् । तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम् ।

पृष्ठ ३३

१. महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् ॥

पृष्ठ ७०

२. ऊनद्विवर्षं निखनेन्न कुर्यादुदकं ततः ।
आश्मशानादनुव्रज्य इतरो ज्ञातिभिर्वृतः ॥
यमसूक्तं तथा गाथा जपद्भिर्लौकिकाग्निना ।
स दग्धव्य उपेतश्चेदाहिताग्न्यावृतार्थवत् ॥
सप्तमाद्दशमाद्वापि ज्ञातयोऽभ्युपयन्त्यपः ।
अप नः शोशुचदघमनेन पितृदिङ्मुखाः ॥

अथ च

प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि ।
इच्छातां तत्क्षणाच्छुद्धिं परेषां स्नानसंयमात् ॥ (पृष्ठ ३०२)

पृष्ठ १७८

२. यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥

३. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
आलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥
'प्रतिभा' अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।

पृष्ठ १९१

१. स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकाशविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।

पृष्ठ २४३

१. विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। तदिदमत्र तात्पर्यम् यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेनालङ्करणेन (न ?) योज्येते, किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलङ्कारः, तस्यैव शोभातिशय-कारित्वात्।

२. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥

पृष्ठ ३९०

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

पृष्ठ ४९८

१. वही उपरि लिखित।

पृष्ठ ५२३

१. यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—
'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'।

पृष्ठ ५५६

१. दृष्टं सुसदृशं कार्यं सर्वेषामविशेषतः।
चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम् ॥

पृष्ठ ५५७

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥

पृष्ठ ५६०

१. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

अथ च

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥

पृष्ठ ५६१

१. यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥

पृष्ठ ५६२

१. उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृति।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥

२. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥

३. शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धे क्वचिदप्यधिरोहति ॥

४. अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।
रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः ॥

पृष्ठ ५६९

१. तथा हि वाच्यत्वं स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात् विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्रापि अस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिमुखेनैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, नतु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। न हि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। नत्वभिधेयत्वं कथञ्चित्।

पृष्ठ ५७०

१. नचायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा। नापि लक्षणया। अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति।

२. यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपोरसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति।

३. प्रमेयप्रतिष्ठानं यतः प्रमाता, ततः प्रमेयो न भवति।.........नतु दृष्टः प्रमातरि प्रमेयताव्यवहार उपदेशादौ। न असौ प्रमातरि अपि तु नीलादि-

स्थानीये सृष्टे वस्त्वन्तरे एव।······प्रमातृत्वं च कथं सृष्टे संभवेत्। कथं च अतो वाक्यात् प्रमातरि आत्मनि प्रतिपत्तिर्भवेत्? सत्यमेवम्, किन्तु स्वप्रकाशस्वभावोऽनन्याधीनाहमिति विमर्शमयश्च प्रमाता। तत्स्वातन्त्र्यादुदितो यो मेयः, स तमेव मूलत्वेन अवलम्बमानो दृश्यविकल्प्यैकीकारन्यायेन विकल्परूपया सृष्ट्या तत्स्वप्रकाशरूपैकीकारेणैव सृज्यते। ·········न तु न प्रकाशते आत्मशब्दात् किञ्चित् नापि व्यतिरिक्तमेव प्रकाशते, अपि तु आत्मैव, अहंपरामर्शसोपानव्यवधानेन तु, यथा गुणः क्रिया शृङ्गार इति शब्दैः गुणाद्यर्थः, गुणोऽयं क्रियेयमिति हि विकल्पे यत् सृष्टम् शुक्लः पटः पचतीत्येतत् विकल्पारूढवस्तुपर्यवसानेन सृज्यते। यो हि परामर्शो यत्परामर्शान्तरं नियमेन मध्ये सोपानीकृत्य परामर्शनीयसमारोहेण कृतकृत्यतामेति, स तेन व्यवहित उच्यते।

पृष्ठ ५७२

१. सङ्केतवदनावलोकनप्राणितमात्रशब्दार्थव्यवहारवादिनोऽपि लोकदृढनिरूढव्यवहारसिद्धसङ्केतकैरेव शब्दैस्तद्विकल्पैश्च व्यवहिता एव सामयिकप्रायाः सङ्केता भान्ति। पचति, शुक्लः पट इति लोकनिरूढशब्दव्यवहारोपरि पाकः पचनं क्रिया, वर्णो गुणो धर्म इति पार्षदप्रायसङ्केतोपजीवीनि शब्दान्तराणि। तत्रापि पर्षदोऽपि सङ्कोचासङ्कोचादिना भेदाः।

पृष्ठ ५७३

१. तथा च।
   'कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य·········।'
   इति।
   'वक्त्रेन्दौ तव सति·········।'
   इति।
   'यत्त्वन्नेत्र·········।'
   इति अभिलाषसम्भोगविप्रलम्भभिन्ने काव्यरसे 'विभावानुभाव' इत्यादि सामान्यलक्षणम्, 'रतिस्थायिभावप्रभव' इत्यादि विशेषलक्षणम्। तावता शृङ्गारशब्दस्य अर्थसङ्केतनमिति लौकिकोदाहरणापेक्षिणि लक्षणवाक्यार्थे लोकनिरूढे पदवचनं पार्षदप्रायमिति सोदाहरणलक्षणवाक्यश्रवणप्रत्यये काव्यरसे शृङ्गारादिशब्दो निवेशितो पि तादृग्वाक्योचितपरामर्शव्यवहिताःमिव प्रतीतिं जिजनयिषुरपि नियतं किञ्चिद् वाक्यं लौकिकमनुस्मारयितुं सामर्थ्यमलभमानः सर्वार्पणस्वायत्तताऽप्रथनन्यायेन प्रधानब्रह्मभावापन्नभवन्यायेन च विशेषोल्लेखसाध्यास्वादाद्यर्थक्रियायोग्यपरामर्शसम्पादनासमर्थत्वात् साक्षादवाचक एव।

परिशिष्ट—आ

पारिभाषिक शब्दसूची

हिन्दी-अंग्रेजी

अ

अकेले दृष्टान्त, ३१३ Single example.
अखण्डता, २७६ Unity
अज्ञातमात्रा, ५११ Unknown quantity.
अतिमात्रा से शोधन, ३४ Katharsis.
अतिरहित दशा, ३२ Mean.
अतिरहित मध्य (अनतिरेक), ४२ Mean.
अतिरेक, १५३ Extreme.
अतिरेकताओं का सिद्धान्त, ४४ Doctrine of extremes.
अतिरंजना करना, ४५७ Exaggerate.
अतिवर्जित आचरण, ३३ Moderation.
अतीन्द्रिय, १४८ Transcendental.
अत्यन्त सादृश्यपूर्ण चित्रण, १८६ Verisimilitude.
अत्यन्त साम्य, २४१ Verisimilitude.
अधिकपदताभाव, १२१ Economy.
अधिकरण, १६ Substratum.
अधिक संवेदनाशक्ति से पूर्ण, ५३९ Keener.
अधिमानवीय, ५१९ Superhuman.
अध्यात्मवाद, ७५ Mysticism.
अनन्तता, ३०३ Infinity.
अनियमता, ४०४ Caprice.
अनिश्चित, ३६३ Indefinite : ३६७ Indeterminate.
अनुकरणीय स्वरूप, १४८ Model.
अनुकूल, ५७५ Accordant.
अनुकूल परिपोषण, १८६ Favourable nurture.
अनुकृति, ५५९ Imitation.
अनुकृति मात्र, २२ Mimesis.
अनुक्रम, ४५ Progression : ३०४ Gradation.
अनुक्रमिक, १०७ Graduation.
अनुक्रमिक व्यवस्था, १५० Hierarchy.
अनुचिन्तना, १५८ Contemplation. १७५ Recollection.
अनुत्तर, ३९३ Absolute.
अनुद्वेगिता (उदासीनता), ५४० Serenity.
अनुपात, १८९ Proportion.
अनुभवप्राग्भावी, ३१७ A Priori.
अनुभवप्राग्भावी दशा, ३४४ A priori condition.
अनुभवप्राग्भावी मूलतत्व, ३४४ Fundamental Principle.
अनुभवैक प्रमाणवादी, १९१ Empiricist.
अनुभवैक प्रामाण्यवाद, २४४ Empiricism.
अनुभूति उत्पन्न करना, २७९ Discern.
अनुमान, ३३८ Deduction.
अनुराग, २१६ Affection.
अनुरूपता, १९४ Correspondence.
अनुलंघनीय कर्तव्य ३४६ Categorical imperative.
अनुवर्ती, ३९५ Consequent.
अनुषङ्ग, ५३६ Association.
अनुषङ्गवादी सिद्धान्त, ५४७ Associationistic theory.
अनेकता, ३२८ Manifold.

इ

ई

उ

उत्कृष्टांश, ५५९ Selective.
उत्क्रान्ति, १०९ Revolution.
उत्प्रेरक, २३१, ४०८ Stimulus.
उत्प्रेरणा, २७९ Inspiration : २१४ Stimulus.
उत्प्रेरित, १९६ Stimulated.
उद्ग्रहण, १८३ Choice.
उद्घोषित, ३६३ Asserted.
उद्भववाद, १२४ Emanation.
उद्भावित किया गया, ५७१ Derived.
उन्मोचन, १०९ Resolution.
उपजाति, २१९ Species.
उपयोगात्मक युक्तिवादी, २७१ Utilitarian rationalist.
उपयोगितानिष्ट युक्तिवादी, २७१ Utilitarian rationalist.
उपलब्धि, २५४ Discovery.
उपादान, ४०७ Raw material.
उलझाव, ११० Complication.

ए

एकता, ११९ Unity.
एकता नामक पदार्थ, ३३५ Category of Unity.
एकपक्षीय, ४२६ Onesided.
एकाङ्गी अमूर्तता, ४४३ Onesided abstractness.
एकात्मता, ३३९ Identity.
एकान्तिक, ४६५ Exclusive.
एकीभाव, ४५७ Coalescence.
एषणा (रुझान), १९ Appetite.
एषणात्मक, ३८ Appetitive.
एषणेन्द्रिय, २०८ Appetite.

ऐ

ऐन्द्रिय अनुभव, ३४५ Sense experience.
ऐन्द्रिय कल्पना, ३७५ Sensuous imagination.
ऐन्द्रियक निर्विकल्प प्रत्यक्ष में इन्द्रियगत प्रभावों का संयोजन, ३२७ Synthesis of apprehension in intuition.
ऐन्द्रियक प्रेम, २० Sensuous love.
ऐन्द्रिय निश्चय, ४१४ Sense-certainty
ऐन्द्रियबोध की निश्चेष्टता, ५३७ Passivity of sensation.
ऐन्द्रियबोधात्मक आत्मा, १५५ Sensitive soul.
ऐसी क्रिया जिसमें सब अन्य क्रियाएँ अन्तर्भूत हैं, २५३ All embracing function.

ओ

ओजस्वी भाषण, ४८० Declamation.

औ

औचित्य, ३४३ Right.
औपचेतनिक, २३९ subconscious.

अं

अंगरहित, १४८ Inorganic.
अंश, ३५८ Aspect.
आंगिक, ५४६ Organic.

क

कर्त्तव्यबोध, ३४६ Sense of duty.
कर्त्तव्यमीमांसा दर्शन, ४८३ Philosophy of Right.
कर्त्तव्यमीमांसा शास्त्र, २१ Ethics.
कर्त्तव्यमीमांसा शास्त्रीय, ५३२ Ethical.
कर्त्तव्यमीमांसीय चेतना, २९ Ethical consciousness.
कर्त्तव्यमीमांसीय नैतिकता, ४२६ Morality.
कर्त्तव्यमीमांसीय शक्ति, ५७५ Might of ethical power.
कर्त्तव्यमीमांसीय सत्य, २४२ Moral truth.
कला की आत्मा, ३८६ Geist.
कलाकृतियों को बनाने का सामर्थ्य, १८६ Mechanical skill.

ख

ग

प

ब

य

वरिष्ठानुकृति के सिद्धान्त, ४ Theory of selective imitation.
वस्तुनिष्ठ नियम, ३६७ Objective law.
वहक्रिया जिसमें सामान्यस्वरूप प्रत्यय का उपयोग होता है, ४१४ Conceptual activity.
वाक्यविन्यास शैली, १०१ Diction.
वास्तविक, २७८ Concrete.
वास्तविक चेतना, ४१८ Consciousness prope r.
वास्तविक वस्तु, १९४ Entity.
विकारग्रस्त ४५८ Abnormal.
विकास, ११२ Development.
विकृत, ३२१ Distorted.
विघटन, ४७३, Resolution.
विचक्षणता, २८५ Wit.
विचार, ४० Thought : १७५ Notion.
विचारणा, ५२८ Thinking : ५२९ Thought.
विचारप्रधान दर्शनशास्त्र, ५६१ Speculative philosophy.
विचारशक्ति, १८७ Thought.
विज्ञानवादी, ३२४ Subjectivist.
विदेशीय, ४८८ Alien.
विधायक, ३१९ Constitutive.
विधायक तत्त्व, १४८ Principle.
विधि, १८ Law.
विधिधर्मी, २८८ Positive.
विधियों का सुव्यवस्थित रूप, १४५ System of laws.
विधेयपदी, ५३० Predicative.
विन्दु, ४५५ Point.
विपरीत प्रतिवस्तु, ३४१ Opposite counterpart.
विभ्रम, २०० Hallucination.
विमर्श, २१ Reason.
विमर्श का अनुशासन, २१ Rule of reason.
विमर्शपूर्ण मनोवृत्ति, ५५ Rational attitude.
विमर्श-शून्य, १५ Irrational.
विमर्शांश, १४९ Rational aspect.
विरोध करना, ५४० To reject.
विरोधाश्रित भेद, ५१४ Anti-thesis.
विरोधियों की एकात्मता, ३९७ Identity of opposites.
विरोधोपशम, ४८६ Reconciliation.
विलक्षण अनुपात, २४४ Strangeness in proportion.
विलक्षणता, ४९९ Idiosyncrasies.
विलक्षणरूप से भिन्न रूप, ४१५ Contradistinguished.
विलयीकरण, ४६१ Dissolurion.
विविक्त, ५२५ Distinct.
विविक्तता, ३०५ Privacy.
विवेकशक्ति, १५९ Reason.
विवेकशून्य, ५१४ Blind.
विशालता, ३७२ Magnitude.
विशाल रक्तधमनी, २०९ Great artery.
विशिष्ट बुद्धिशक्ति, ३८४ Talent.
विशिष्ट सामान्य, ५२३ Concrete universal.
विशिष्ट सौन्दर्य-बोध, २६१ Notion of beauty.
विशिष्टीकरण, ४२१ Specialization.
विशेष, १०७ Particular.
विशेषक, ३९९ Differentia.
विशेषण स्वरूप, १९५ Attribute.
विशेष योग्यता, २९० Distinction.
विशेषाधिकार, ५३९ Privilage.
विशेषीकृत सामान्यरूप, ४७७ Universal concretised.
विश्लेषण, ३१६ Analysis.
विश्व-आत्मा, १६ World-soul.
विश्व-सिद्धान्त, १९० World-view.
विषयरूप चित्, ३९४ Objective spirit.
विषयवस्तु, ४११ Content : ४९८ Subject matter.

परिशिष्ट—इ

पारिभाषिक शब्दसूची

अंग्रेजी-हिन्दी

A

Abnormal, 458 विकारग्रस्त
Absolute, 142 परतत्त्व : 393 अनुत्तर
Absolute good, 170 परमकल्याण (शिव)
Absolute idea, 400 परमज्ञप्ति : 401 परतत्त्वात्मक ज्ञप्ति
Absolute mind, 394 परतत्त्वरूप आत्मा
Absolute spirit, 6 परतत्त्व
Absolute totality, 375 सम्पूर्ण समग्रता
Absolutistic Æsthetics, 389 परतत्त्ववादी कलाशास्त्र
Abstract, 48 अमूर्त : 266 पृथक्कृत : 471 संक्षिप्त : 478 अविशिष्ट : 509 सामान्यरूप : 528 निष्कृष्ट सामान्य : 529 निर्विशेष
Absract ego, 413 निर्विशेष आत्मा
Abstraction, 148 निर्विशेषता : 248 पृथक्करण : 396 सारांश : 515 सामान्यीकरण : 521 सामान्यरूप
Abstract monism, 397 शुद्ध अद्वैतवाद : 524 अविशिष्ट अद्वैतवाद
Abstract universal, 442 अमूर्त सामान्य
Accidental, 268 दैवयोगवश
Accordant, 575 अनुकूल
Action, 206 क्रिया
Active, 39 सक्रिय : 267 व्यापृत : 411 चेष्टापूर्ण
Active cause, 18 निमित्त कारण
Active metaphor, 560 क्रियाशील-रूपक
Actual, 500 यथार्थ
Actual soul, 394 यथार्थभूत आत्मा
Æsthetic, 321 सौन्दर्य-ज्ञान
Æsthetical, 382 ललित
Æsthetic experience, 143 स्वतन्त्रकलास्वादन
Æsthetic judgement, 349 सौन्दर्यास्वादन-सम्बन्धी निर्णय
Æsthetics, 316 स्वतन्त्रकलाशास्त्र
Æsthetic senses, 146 कलाबोधक इन्द्रियाँ
Æsthetic taste, 308 रसिकत्व
Affection, 216 अनुराग
Affinity, 180 समता
Affirmative, 486 भावरूप
Aggregate words, 295 समष्टिवाचक शब्द
Akin, 143 सजातीय
Alien, 488 विदेशीय
Allegorical, 185 अन्यापदेशिक
Allegory, 12 विस्तृत रूपक
All embracing function, 253 ऐसी क्रिया जिसमें सब अन्य क्रियाएँ अन्तर्भूत हैं
Allude, 455 संकेत करना
Ambition, 289 महत्त्वाकांक्षा
Analysis, 316 विश्लेषण
Anatomy, 185 शरीरव्यवच्छेद विद्या
Animal sensibility, 406 पशु संवेदना

B

C

E

F

N

परिशिष्ट—ई

विशिष्टपद सूची

आ

इ

ग

ध

न

प

फ

ब

भ

म

य

श